पतञ्जलिकृत

महाभाष्य के श्लोकवार्त्तिक

डा० कमला भारद्वाज

NAG PUBLISHERS

महाभाष्य के श्लोकवार्त्तिक ग्रन्थ सूधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। इस विषय से सम्बद्ध आंशिक अध्ययन प्रो० कीलहार्न, प्रो० गोल्डस्टूकर, डा० वेद-पति मिश्र के द्वारा किया गया है जबकि विषय का विस्तृत एवं आलोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन अपे-क्षित है। महाभाष्य स्वयं ही दुरूह तथा दुःसाध्य ग्रन्थ है, जिसमें आचार्य पाणिनि द्वारा प्रारंभ विशाल व्याकरण-शास्त्रीय परम्परा को विभूषित किया गया है। सूत्रों सहित वार्त्तिकों का व्याख्यात्मक विवेचन पतंजलि ने प्रस्तुत किया है। सूत्रों तथा वार्त्तिकों पर श्लोकवार्त्तिकों के उद्धरण का प्रयोजन व्याकरण को रोचक एवं सरल बनाना है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में श्लोकवार्त्तिकों के प्रयोजन को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। लगभग २६० श्लोकवार्त्तिक महाभाष्य में आद्योपान्त अनुस्यूत हैं जिनमें सरस, रोचक शब्दों में व्याकरण के नियमों को उपनिबद्ध कर दिया है। अष्टाध्यायी के अध्याय क्रम की अपेक्षा श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन में प्रतिपादित विषय के आधार पर वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। समस्त श्लोकों में वार्त्तिकत्व प्रथमतः दो दृष्टियों से विचार किया गया है। प्रतिपाद्य विषय के आधार पर यथ्य उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ताकरत्वम् वार्त्तिक के लक्षण के अनुसार तथा द्वितीयतः सूत्रों से सम्बद्ध, प्रयोजनात्मक, प्रत्याख्यानात्मक, स्पष्टीकरणात्मक, सिद्धान्त प्रतिपादनात्मक, उदाहरणात्मक, निपात-नात्मक, किसी भी पक्ष का विवेचन होने पर श्लोकों में वार्त्तिकत्व स्वीकार किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त श्लोकवार्त्तिकों में परिलक्षित तत्कालीन पक्ष सामाजिक, आर्थिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक ग्रन्थ में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। आशा है शोधार्थियों के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ उपयुक्त सिद्ध होगा।
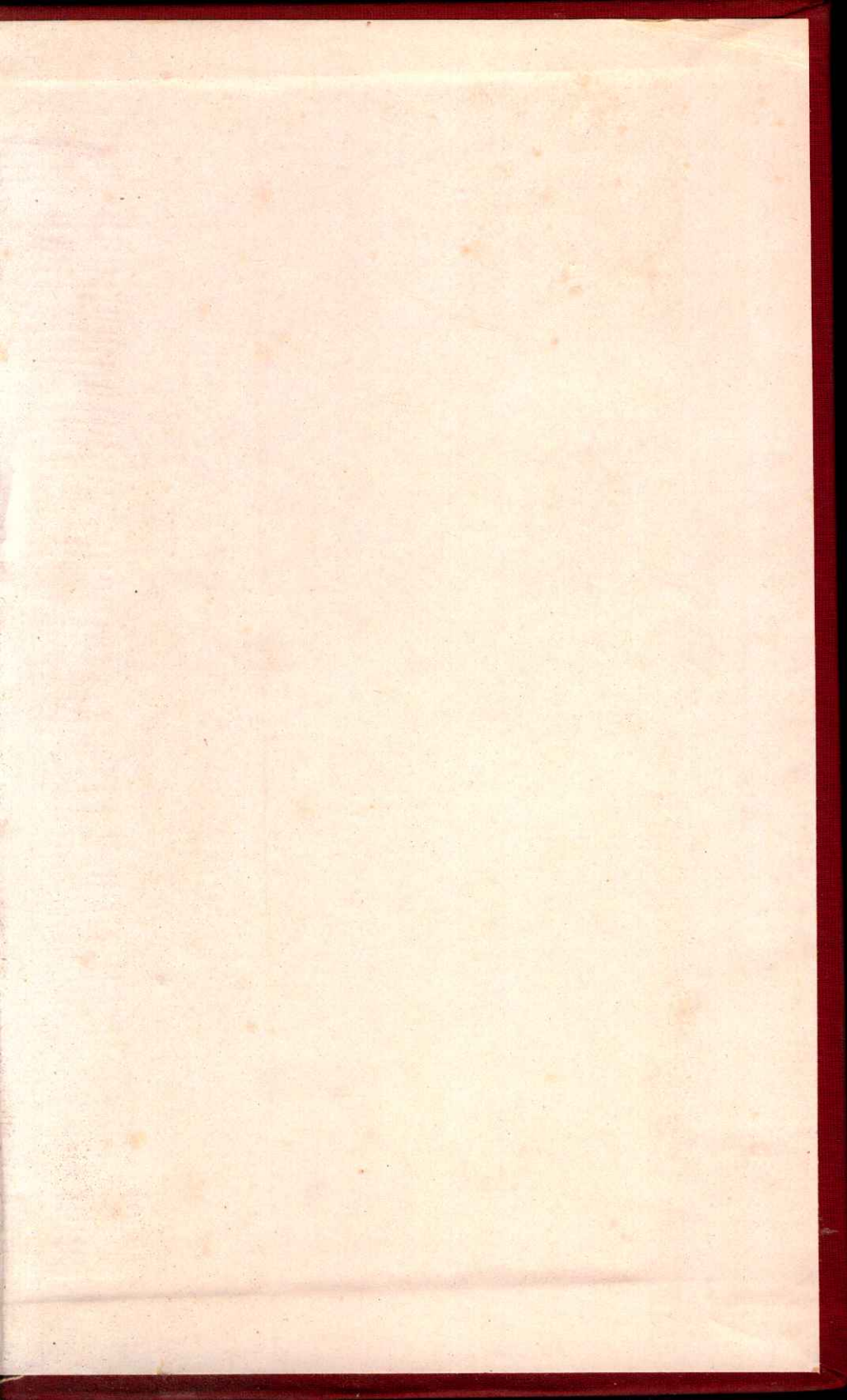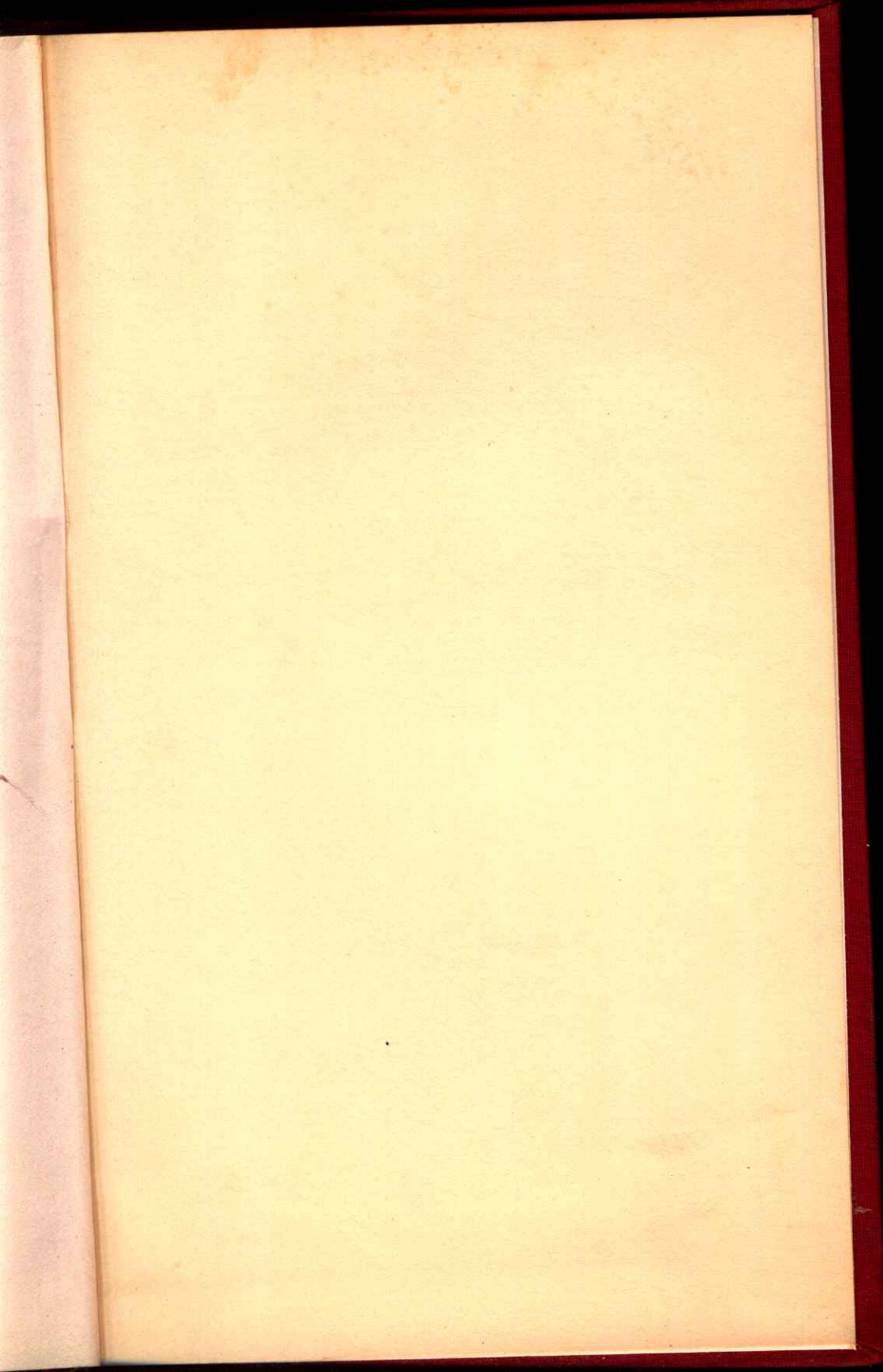
पतञ्जलिकृत

महाभाष्य के श्लोकवार्त्तिक

डॉ. कमला भारद्वाज

नाग पब्लिशर्स

पतञ्जलिकृत

महाभाष्य के श्लोकवार्तिक

पतञ्जलिकृत

महाभाष्य के श्लोकवार्त्तिक

डा. कमला भारद्वाज
श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
कटवारिया सराय
नई दिल्ली

नाग प्रकाशक
११ए/यू.ए.जवाहर नगर, दिल्ली ११०००७

प्राक्कथन

पातञ्जलमहाभाष्यचरक प्रति संस्कृतेः ।
मनोवाचकायदोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः ॥

'ब्राह्मणेन् निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' यह आगम वचन भाष्यकार मुनि पतञ्जलि ने उद्धृत किया है। शब्दानुशासन के मुख्य प्रयोजनों रक्षोहागमलध्वसंदेहा प्रयोजनम् की व्याख्या करते हुये भाष्यकार ने शिक्षाव्याकरणनिरूक्तछन्दकल्पज्योतिषाणि षडङ्गो में प्रधान व्याकरण शास्त्र के अध्ययन की अनिवार्यता परिपुष्ट की है। षडङ्गो में व्याकरण शास्त्र प्रधान च षट्स्वङ्गेषु सर्वप्रमुख स्थान पर प्रतिष्ठित है। व्याकरण तथा सर्वप्रधान में किया गया प्रयत्न सार्थक होता है अतः व्याकरण शास्त्र के अध्ययन में किया गया प्रयत्न साफल्यप्रद होता है। यही कारण है कि प्राचीन काल में ब्राह्मण के द्वारा व्याकरण-शास्त्र के अध्ययन का उल्लेख प्राप्त होता है। पुरा कल्प एतदासीत् संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मण व्याकरणं स्माधीयते। (भाष्यकार का कथन इस विषय में प्रमाण हैं। आगमं वेद है यह वैयाकरणों की मान्यता है। षडङ्गो में सर्वप्रधान व्याकरण वेदों की रक्षा के लिये सर्वमान्य है। वेदानां रक्षार्थमध्येयं व्याकरणम् पतञ्जलि स्वयंशब्दानुशासन अध्ययन के प्रयोजनों की व्याख्या करते हुये कहते हैं लोपागम वर्ण विकार को जानने वाला व्यक्ति ही वेदों की रक्षा करने मे समर्थ है। रक्षा आगम के अतिरिक्त असन्देहार्थ, लाघव तथा ऊह भी व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन है। व्याकरण वाणी के समस्त दोषों अशुद्धि, अनभीष्टार्थ सिद्धि, आदि की व्युत्पत्ति रूपी चिकित्सा है। अतः वेद उपनिषद्, मन्त्र, षडङ्गशास्त्र आदि समस्त विद्याओं में व्याकरण पवित्र विद्या हैं। 'साङ्ग वेदमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते' उक्ति में अङ्ग पद व्याकरण शास्त्र का द्योतक है क्योंकि यह उपकार अर्थ में प्रयुक्त है। समस्त शास्त्र का उपकारक होने के कारण व्याकरण शास्त्र श्रेष्ठ सिद्ध होता है। वेद ब्रह्म है, छन्दशास्त्र उसके चरण, कल्प हस्त, ज्योतिष नेत्र निरूक्त श्रवण-शिक्षा घ्राण तथा मुख व्याकरण शास्त्र है। अतः षडङ्ग सहित वेदाध्ययन अभीष्ट फल साधक है। सर्वज्ञानकोशमय वेदों से ही व्याकरण शास्त्र की प्राचीनता सिद्ध होती है। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः (ऋ-१.१६४.१०) तीर्थैस्तरन्ति। अर्ध्व १२.४.२१ येन देवाः पवित्रेणात्मान् पुनते सदा।'

इत्यादि व्युत्पत्तिपरक मन्त्रों के द्वारा स्पष्ट होता है। कि व्याकरणात्मक प्रक्रिया के बिना वेदों का अर्थ, समझना क्लिष्ट प्रतीत होता है। तदनन्तर ब्राह्मण ग्रन्थों में भी व्याकरण शास्त्र में उल्लिखित संज्ञाओं का प्रयोग प्राप्त होता है। गोपथ ब्राह्मण में प्रातिपदिक, नामाख्यात, लिङ्ग, वचन, विभक्ति, व्याकरण, विकार आदि पदों का उल्लेख है। ऋक्तन्त्र कार के अनुसार व्याकरण-शास्त्र का आदि प्रवक्ता ब्रह्मा हैं। ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाणाम्, भरद्वाजः ऋषिभ्यः, ऋषि, ब्राह्मणेभ्यः।

महाभाष्यकार की मान्यता है कि बृहस्पति के इन्द्र को दिव्य सहस्र वर्ष तक प्रतिपद व्याकरण का पारायण किया बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्ष सहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपरायणं प्रोवाच। इस प्रकार सुदूर प्राचीन काल से लेकर आज तक व्याकरण-शास्त्र महत्त्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित है। प्रति-पदोक्त पाठ की परम्परा से लोकप्रचलित शब्दों का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है अतः भाषा का वर्गीकरण प्रकृति प्रत्यय विश्लेषण, पदो के मूलभूत शब्दों का अन्वेषण, धातु-प्रत्यय के विषय में विचार, पदार्थ का परस्पर तादात्म्य व्याकरण-शास्त्र के मूलभूत आधार हैं। व्याकरण-शास्त्र से समस्त लोकत्रय आलोकित है। शब्द नामक प्रकाश पुञ्ज का अभाव होने पर सर्वत्र गहनं अन्धकार का साम्रज्य होता। निम्न उक्त इस विषय में प्रमाण है—

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र समस्त सिद्धियों को प्रदान करने वाला, मोक्ष की कामना करने वाले व्यक्तियों के लिये सर्वश्रेष्ठ राजमार्ग है।

इदमाध्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः॥

व्याकरण-उत्तरा विद्या है। इस ज्ञान कोश का प्रयोग प्रयत्न से ही सम्भव है। क्योंकि समस्त विद्याओं की प्रकाशिका व्याकरण विद्या दीपशिखा के समान अन्य विद्याओं को प्रदीप्त करती है। पदमञ्जरीकार का कथन प्रमाण है-

उपासनीयं यत्नेन शास्त्रं व्याकरणं महत्।
प्रदीपभूतं सर्वासां विद्यानां यदवस्थितम्॥

महाभाष्यकार ने सुदेवोऽसिं व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन की व्याकरण करते हुये सत्यदेवो स्याम् इत्यध्येयं व्याकरणम् कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि व्याकरण-शास्त्र के अध्ययन से व्यक्ति देवता के समान महत्त्व प्राप्त करता है। श्रीहरदत्त मिश्र के अनुसार देवता रूपान्तरण करके व्याकरण-शास्त्र के अध्ययन से पवित्र मुखवाले मनुष्यों के रूप में पृथ्वी पर विचरण करते हैं।

रूपान्तरेण ते देवा विचरन्ति महीतले।
ये व्याकरण संस्कार पवित्रमुख नराः॥

वास्तव में व्याकरण शास्त्र वह पवित्र ज्ञान है जिसके द्वारा परमब्रह्म तत्त्व की प्राप्ति सम्भव है। शब्द ब्रह्म तथा, परब्रह्म दोनों लोक में विद्यमान हैं शब्द ब्रह्म के द्वारा परब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है।

द्वे ब्रह्मणी लोके वेदितव्ये, शब्दब्रह्म पर ब्रह्म च।
शब्द ब्रह्मणि निष्णातः, परब्रह्माधिगच्छति॥

इस प्रकार व्याकरण-शास्त्र ज्ञान एवं मोक्ष का साधन है। अपवर्ग, स्फोट, ब्रह्म-ज्ञान, शब्दमया जगत् बोध आदि का प्रवेश द्वार व्याकरण-शास्त्र के प्रवक्ता निश्चय ही ब्रह्मा हो सकते हैं।

तदद्वारंमपवर्ग वाङ्मलानां चिकिस्तिम्।
पवित्रं सर्वविद्यानां विविधं प्रकाशते॥

यह पवित्र संकेत है। ज्ञान व्याकरण ही शब्दों का संस्कार कराता है। व्याकरण शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ की समीक्षा करें तो 'व्याकरणम्' पद में व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्, यह अर्थ अभिव्यक्त होता है क्योंकि वि+आङ् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु का अर्थ व्युत्पादन है। वि उपसर्ग का अर्थ है विविधार्थ ज्ञान का प्रकाशन। आङ् उपसर्ग का अर्थ है। समन्वयात्मक ज्ञान के साथ शब्द का शुद्ध संस्कार। ल्युट् प्रत्यय का अर्थ है साधन। व्युत्पादन का अभिप्राय है प्रकृति प्रत्यय तत्तदर्थ तत्तसम्बन्धादि विषयक यथार्थ-ज्ञानजनक संस्कार विशेषा व्युत्पत्तिः। शब्द अर्थ, सम्बन्ध के व्युत्पादित ज्ञान साधन संस्कार को व्याकरण कहते हैं। असाधु शब्दों से साधु शब्दों के ज्ञान का साधन व्याकरण शास्त्र अर्थात् शब्दानुशासन है। व्याक्रियन्ते असाधुशब्देभ्यः साधुशब्दाः येन तद् व्याकरणम्-करण व्यत्पत्ति के आधार पर साधु शब्दों का प्रतिपादक व्याकरण शास्त्र है।

साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः ।
तस्मान्निबध्यते शिष्टैः साधुत्वविषया स्मृतिः ॥

शब्द अर्थ तथा उनके सम्बन्ध का ज्ञान व्याकरण शास्त्र के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता ।

तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणाहते । अतः शाब्दबोध में पद पदार्थ शक्ति का ज्ञान कारण है । उसी शक्ति का ग्राहक व्याकरण है । व्याकरण में शब्द वाचक, अर्थ वाच्य तथा दोनों का वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध सिद्ध है । पद-पदार्थ के सम्बन्ध का सम्यक् प्रकार से ज्ञान प्राप्त होने पर शब्द संस्कारित ज्ञान में धर्म है इस तत्त्व का बोधक व्याकरण है । भाष्यकार ने एकःशब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति कथन से शब्द, अर्थ, सम्बन्ध और शिष्ट प्रयोग के द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति की सम्भावना की है । लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम् व्याकरण पदार्थ की व्याख्या करते हुये भाष्यकार ने सूत्र और उदाहरण दोनों का ग्रहण किया है अतः वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध से विद्यमान पद पदार्थ का बोधक शास्त्र शब्दानुशासन है जिसमें शब्दों का साधुत्व अनुशिष्ट है । अर्थ विशिष्ट शब्दनिष्ठः पुण्यजनकतावच्छेदको जाति विशेषः साधुत्वम् । अनुशिष्यन्ते साधुत्वेन ज्ञायन्ते शब्दाः अनेन इति व्याकरणम् । इस प्रकार व्याकरण-शास्त्र का ज्ञाता ही वेदों के परिपालन, परिरक्षण में समर्थ है ।

संस्कृत के वैयाकरणों में सर्वप्रथम प्रकृति प्रत्यय, धातु, प्रत्यय, प्रत्ययार्थ का निश्चय किया तथा शब्द ज्ञान का अनुपम, निश्चित, वैज्ञानिक, पूर्ण शास्त्र का प्रणयन किया जो समस्त विश्व की भाषाओं के व्याकरणों में अग्रगण्य है । 'त्रिमुनिव्याकरणम्' आभाणक से पाणिनि, कात्यायन एवं पतञ्जलि का कथन किया जाता है । आचार्य पाणिनि व्याकरण- शास्त्र के अधिष्ठाता हैं जिन्होंने सूत्र शैली में संस्कृत व्याकरण के सिद्धान्तों को निबद्ध किया । उनके महान् ग्रन्थ अष्टाध्यायी की विशालता, क्रमबद्धता, वैज्ञानिकता, तार्किकता के कारण संस्कृत व्याकरण शास्त्र विश्व की समस्त भाषाओं में अमर हो गया । उनके ग्रन्थ की विशेषतओं के कारण न केवल भारतीय विद्वान् अपितु पाश्चात्य विद्वान् भी उनके समक्ष नतमस्तक हैं ।

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥

पाणिनि ने शब्दपयोधर की जलधाराओं से उत्पन्न होने वाली वाणी की मलिनता को नष्ट कर दिया है । पाणिनीयं महत् सुविहितम् उक्ति प्रमाण है । पाणिनि

की भाषा का क्षेत्र छन्द और ब्राह्मणों की भाषा से कहीं अधिक विस्तृत था । पतञ्जलि के अनुसार संस्कृत उन शिष्ट लोगों के प्रयोग में आनेवाली भाषा है जो व्याकरण पढ़े बिना भी उसे शुद्ध-रूप में बोलते हैं । प्रयोगे सर्वलोकस्य वार्त्तिक के प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि पाणिनीय भाषा के शब्दों का शुद्ध प्रयोग लोक के विभिन्न स्तरों पर व्याप्त था । लोक प्रचलित भाषा को प्रमाण मानने के विषय में पाणिनि ने सूत्र-शैली में सिद्धान्तों को निबद्ध किया है । उनके अनुसार वैयाकरण को जीवन के समस्त क्षेत्रों में होने वाले शब्दों के व्यवहार तथा उनके अर्थों के विषय में विचार करना चाहिये ! महाभारत में कहा गया हैं

सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते ।
प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः ॥ उद्योगार्थ ४३.३६ ।

सर्वार्थ विचारक प्रत्यक्षद्दष्टा वैयाकरण ही समस्त शब्दों का संकलन कर सकता है । व्याकरण के अन्य प्रकरणों स्वर, सन्धि, समास, संप्रारण आदि के विषय में नियमो के विधान के साथ-साथ कृदन्त तथा तद्धित दो अन्य प्रकरणों की सहायता से पाणिनि ने सूक्ष्म दृष्टिकोण का परिचय दिया है ।

महती सुक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य काशिकाकार का यह कथन चरितार्थ प्रतीत होता है । प्रो.वेबर ने संस्कृत भाषा के इतिहास में अष्टाध्यायी को विश्व के समस्त व्याकरण-ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ माना है क्योंकि उसमें बहुत सूक्ष्मता से धातु एवं शब्द रूपों की संरचनां के विषय में नियम स्थापित किये हैं । अन्य जितने व्याकरण शांस्त्रों की रचना की गई वे इसकी प्रामाणिकता व वैज्ञानिकता के समक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं बन पाये । पाणिनि का ग्रन्थ शास्त्रीय परम्परा का मूलाधार है । बृहत-एवं सर्वांगपरिपूर्ण अष्टाध्यायी ग्रन्थ की रचना से पूर्व विकसित व्याकरण शास्त्र लुप्त प्राय हो गये । पाणिनि के व्याकरण की प्रामाणिकता को आधार मानकर आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत व्याकरण को संगणक यन्त्र के लिये सर्वोपयोगी व्याकरण स्वीकार किया है तथा संस्कृत भाषा को संगणक यन्त्र के द्वारा अनुवाद की जाने वाली भाषाओं के लिये माध्यम भाषा के रूपप में स्वीकार किया है । पाणिनि के सूत्र अत्यन्त संक्षिप्त है । उन्होंने मौलिक, सारगर्भित ढंग से स्पष्ट शैली में व्याकरण के दुरूह सिद्धान्तों को निबद्ध किया है । भाष्यकार के अनुसार शोभना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः । सूत्रों में अल्पाक्षरत्व,असन्दिग्धता, प्रशंसनी-यता, सारवत् विशद विषय का प्रतिपादन को दृष्टिगत करते हुये उन्हें प्रतिष्ठा प्रदान करना उपयुक्त प्रतीत होता है । सूत्रात्मक शैली में निबद्ध पाणिनीय शास्त्र की अष्टक, शब्दानुशासन, वृत्तिसूत्र तथा अष्टाध्यायी कहा जाता है । आठ अध्यायों में विभक्त

होने के कारण यह अष्टाध्यायी ग्रन्थ है तथा "अथेति शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्। भाष्यकार ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलार्थक 'अथ शब्दानुशासनम्' की व्याख्या में उक्त भाष्य पढ़ा है। वृत्तिसूत्र शब्द का प्रयोग भी भाष्यकार तथा नागेशभट्ट के द्वारा किया गया है। 'पाणिनीय-सूत्राणां वृत्रिसद्भावाद् वार्त्तिकानां तदभावाच्च तयोर्वैषम्यबोधनाभेदम्। २.२१७. भाक.प्रदीप.'

पाणिनीयाष्टक में आठ अध्यायों को पुनः चार पादों में विभक्त किया गया है। इस विशाल व महनीया कृति में लगभग ४००० सूत्रों में देववाणी का प्राचीन और अर्वाचीन समस्त वाङ्मय सुशोभित है। संस्कृत व्याकरण के साङ्गोपाङ्ग सुन्दर, सुसम्बद्ध, पदार्थ के द्योतकत्व में समर्थ इस ग्रन्थ को आधार मानकर एक महती व्याकरण ग्रन्थ परम्परा का आविभवि हुआ।

आचार्यपाणिनि के सूत्रों पर अनेक वार्त्तिर्त्तिककारों द्वारा प्रणीत वार्त्तिक उपलब्ध होते हैं यथा - कात्यायन, भारद्वाज, सुनाग, व्याधभूति, क्रोष्टा वाडव आदि। पाणिनीय व्याकरण पर जितने वार्त्तिकों की रचना की गई उनमें कात्यायन का वार्त्तिक पाठ प्रसिद्ध है। भाष्यकार ने कात्यायनीय वार्त्तिकों पर मान्य की रचना करते हुये कात्यायन का वार्त्तिककार शब्द से उल्लेख किया है—

न स्म पुरानद्यतन इति ब्रुवता कात्यायनेनेह।

इसके अतिरिक्त भाष्यकार ने सर्वाधिक प्रामाणिकता कात्यायनीय वार्त्तिकों को प्रदान की है। प्रोपाच भगवांस्तु कात्यः, वचन प्रमाण है। तथा 'एच्चकात्याय-नप्रभृतीनां प्रमाणरतानां वचनाद् विज्ञायते, न्यासकार का यह कथन कात्यायन पाठ पाणिनीय व्यांकरण को पूर्वता प्रदान कराने वाला महत्वपूर्ण शास्त्र है। व्याख्याना-त्मक शैली में निबद्ध होने पर भी मौलिकता एवं विशिष्टताओं से युक्त है। कात्यायन के वार्त्तिकों की निश्चितं संख्यां का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। भाष्यकार ने कात्यायन के साथ-साथ अन्य वार्त्तिककारों के मत भी नामोल्लेख के बिना किये हैं। अतः वास्तविक स्थिति का अनुमान लगाना दुष्कर है। कात्यायन के वार्त्तिकों में उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ताकरत्वम् प्रसिद्ध वार्त्तिक लक्षण चरितार्थ होता है। प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार उक्त, अनुक्त तथा दोषमुक्त पर विचार करना ही वार्त्तिकत्व है। वार्त्तिकों में पाणिनीय सूत्रों पर प्रत्येक दृष्टिकोण से विचार करते हुये काल के अन्तराल को कम करने का प्रयास किया गया है। पाणिनि पश्चात् लोकप्रचलित प्रयोगों की सिद्धि के लिये यह प्रयत्न सोपान का कार्य करता है। व्याकरणाध्ययन रूपी समुद्र में त्रियुनिव्याकरण परम्परा त्रिवेणी संगम के समान

सुशोभित होती है। कात्यायन के पश्चात् पतञ्जलि ने महाभारत ग्रन्थ के द्वारा प्रारब्ध विशाल व्याकरण शास्त्रीय परम्परा को विभूषित किया है। इसका कारण यह है कि पाणिनि की महनीया कृति से प्रभावित होकर कात्यायन ने वार्त्तिकों का प्रणयन किया तथा कात्यायनीय वार्त्तिकों को आधार मानकर पतञ्जलि ने आकर ग्रन्थ महाभाष्य की रचना की जो व्याकरण के दुरूह एवं क्लिष्ट नियमो को अपेक्षाकृत सरलता से स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होता है। भारतीय शास्त्रीय परम्परा में सूत्र, वार्त्तिक और भाष्य की श्रृंखला अतिप्राचीन है, भाष्य ग्रन्थ में वार्त्तिक सहित सूत्रों का व्याख्यान किया जाता है।

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाव्याविदो विदुः॥

भाष्य के लक्षण के अनुसार स्वव्याख्यान सहित सूत्र और वार्त्तिकों का विवेचन भाष्यग्रन्थ में उपलब्ध होता है। महाभारत ग्रन्थ के स्वरूप, महत्त्व तथा भाष्यकार सम्बन्धी विवेचन ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के अन्तर्गत दिया गया है। यहां विशेष रूप से श्लोकवार्त्तिक विषय पर प्रकाश डाला जा रहा है।

व्याख्यानात्मक ग्रन्थ होने के कारण अष्टाध्यायी के अनुसार ही अध्याय विभाजन क्रम भाष्य में रखा गया है। लगभग १७०० सूत्रों पर भाष्यकार ने व्याख्यान-भाष्य किया है। कुछ सूत्रों पर मात्र भाव्य-कथन है तथा जिन सूत्रों पर वार्त्तिक उपलब्ध नहीं ये उन पर मौलिक समीक्षा की है। सूत्रों सहित वार्त्तिकों का व्याक्यान प्रस्तुत करते हुये आचार्य पतञ्जलि ने छन्दबद्ध वार्त्तिकों का भी ग्रहण किया है। सूत्रों तथा वार्त्तिकों पर श्लोकवार्त्तिकों के उद्धरण का प्रयोजन व्याकरण को रोचक एवं सरल रूप में प्रस्तुत करना है। वार्त्तिकों की उपेक्षा श्लोकवार्त्तिकों को स्मरण करना अधिक रूचिकर होता है। अतः श्लोकवार्त्तिकों ने महाभाष्य की रोचकता एवं सरसता की वृद्धि करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इनमें सरस स्पष्ट शब्दों में व्याकरण के नियमों को उपनिबद्ध कर दिया गया है महाभाष्य में आदि से अन्त तक लगभग २६० श्लोकवार्त्तिक अनुस्यूत हैं। श्लोकवार्त्तिकों का अध्ययन करने के लिये सम्पूर्ण महाभाष्य का गम्भीर अध्ययन अभीष्ट है। श्लोकवार्त्तिकों के विषय में विस्तृत विवेचन के लिये यह सम्भव नहीं है कि सम्पूर्ण महाभाष्य का विस्तृत अध्ययन किया जा सके अतः जिन सूत्रों पर श्लोकवार्त्तिक उद्धृत हैं उन्हीं का विवेचन तथा अध्ययन प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है। यद्यपि इन श्लोकवार्त्तिकों के अतिरिक्त श्लोक भी भाष्य में उद्धृत हैं परन्तु समस्त श्लोक़ों में नहीं है। इस विषय में उक्तानुक्तदुरूक्त-चिन्ताकरत्व लक्षण को आधार माना

गया है । जिन श्लोकों में सूत्रोक्त पदों की व्याख्या, प्रत्याख्यान, शंका-समाधान, अथवा किसी अन्य पत्र की उद्‌भावना की गई है उन्हीं को श्लोकवार्त्तिक माना जा सकता है । इसी आधार पर श्लोकवार्त्तिकों का अध्ययन प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है । डा.वेदव्रत स्नातक द्वारा सम्पादित व्याकरण महाभाष्य के गुरूकुल झज्झर संस्करण में संकलित श्लोकवार्त्तिकों का अध्ययन ग्रन्थ में है । श्लोकवार्त्तिकों के स्वरूप सम्बन्ध में प्रो. कीलहार्न, प्रो. गोल्डस्टूकर, तथा डा. रामसुरेश त्रिपाठी ने अध्ययन प्रस्तुत किया है ।

श्लोकवार्त्तिकों के कर्तृत्व के विष्य में विद्वानों में विवाद है । कात्यायन के अतिरिक्त व्याघ्रभूति, गोनर्दीय आदि वैयाकरणों का उल्लेख प्राप्त होता है । श्लोकवार्त्तिकों में प्रतिपादित विषय को बुद्धिगत करने के लिये सूत्रों का वार्त्तिकों सहित स्पष्टीकरण आवश्यक है । श्लोकवार्त्तिकों के कर्तृत्व, स्वरूप, विषयप्रतिपादन आदि की दृष्टि से विशद विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है । अधिक चर्चा पिष्टपेषणवत् होगी ।

श्लोकवार्त्तिक शब्द से आचार्य कुमारिलभट्ट द्वारा मीमांसा शास्त्र पर रचित श्लोकवार्त्तिक ग्रन्थ का ग्रहण होता है । परन्तु व्याकरण शास्त्र के छन्द बद्ध वार्त्तिक ही महाभाष्य में उद्‌धृत हैं । उन्हीं का अध्ययन प्रस्तुत ग्रन्थ में करने का प्रयास किया गया है ।

सूत्रों तथा वार्त्तिकों को समझने में काशिकावृत्ति जो न्यास व पदमञ्जरी टीकाओं से संवलित है तथा श्रीशचन्द्र वसु द्वारा सम्पादित अष्टाध्यायी (अंग्रेजी, संस्करण) ग्रन्थ परम सहायक सिद्ध हुये हैं । सिद्धान्त कौमुदी (तत्वबोधिनी तथा बालमनोरमा टीकाओं से युक्त) ग्रन्थ भी सूत्रों तथा वार्त्तिकों के स्पष्टीकरण में महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है ।

महाभाष्य पर कैयट रचित प्रदीप टीका तथा नागेश रचित उद्योत टीका का श्लोकवात्तिकों के मौलिक तथ्यों को सुस्पष्ट करने में आश्रय लिया गया है ।

अष्टाध्यायी के अध्याय क्रम की अपेक्षा श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन में इनमें प्रतिपादित विषय के आधार पर वर्गीकरण प्रस्तुत किया है । सर्वप्रथम समस्त श्लोकों को श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है या नहीं इस दृष्टि से विचार किया गया है तथा प्रतिपाद्य विषय के आधार पर ही 'उक्तानुक्त-दुरुक्तचिन्ताकरत्वंवार्त्तिकत्वम् वार्त्तिक के लक्षण के अतिरिक्त सूत्रों से सम्बद्ध प्रयोजनात्मक प्रत्याख्यानात्मक, स्पष्टीकरणात्मक, सिद्धान्त प्रतिपादनात्मक किसी भी पक्ष का विवेचन होने

पर श्लोक को श्लोकवार्त्तिक माना जा सकता है। तत्पश्चात् विषयानुसार उनका वर्गीकरण निम्न रुपरेखा के आधार पर श्लोक-वार्त्तिकों के अध्ययन का प्रयास किया गया है–

प्रथम अध्याय परिचयात्मक अध्याय है जिसमें महाभाष्य के स्वरुप प्रतिपादित शैली तथा उसके महत्व की दृष्टि से विचार प्रस्तुत किया गया है। महाभाष्यकार के स्थिति-काल से सम्बद्ध मतवैभिन्नय की संक्षिप्त चर्चा इस अध्याय में की गई है।

द्वितीय अध्याय में श्लोकवार्त्तिकों के स्वरुप से सम्बद्ध अध्ययन प्रस्तुत है। श्लोकवार्त्तिकों के परिप्रेक्ष्य को दृष्टि में रखते हुये उनकी भाषा शैली तथा छन्दों पर विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय में श्लोकवार्त्तिकों पर हुये शोध-कार्यों का सर्वेक्षण प्रस्तुत है जिसमें श्लोकवार्त्तिकों के बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों पक्षों की दृष्टि से विचार है। इस विषय पर शोध-कर्ता विद्वानों में प्रो. कीलहार्न, प्रो. गोल्डस्टूकर, कार्डोना, डा. वेदंपति मिश्र आदि प्रमुख हैं। अन्तःपक्ष में इनके स्वरुप तथा कर्तृत्व से सम्बद्ध शोध-कार्यों का सर्वेक्षण प्रस्तुत है।

चतुर्थ अध्याय में श्लोकवार्त्तिकों के कर्तृत्व से सम्बद्ध विचार प्रस्तुत किया गया है। श्लोकवार्त्तिकों का प्रणयन भाष्यकार द्वारा किया गया है अथवा वार्त्तिककार कात्यायन इनके प्रणता हैं। इनके अतिरिक्त अनेक प्राचीन वैयाकरणों द्वारा इनकी रचना की गई, इन दृष्टिकोणों से विचार इस अध्याय में किया गया है।

पंचम अध्याय में प्रयोजनात्मक श्लोकवार्त्तिकों का अध्ययन है। भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से कहीं सूत्र का प्रयोजन स्पष्ट किया है कहीं सूत्रोक्त किसी विशिष्ट पद का अथवा वार्त्तिकों का प्रयोजन श्लोकवार्त्तिकों में निबद्ध है। इन्हीं श्लोकवार्तिकों का अध्ययन प्रस्तुत किया है।

षष्ठ अध्याय के अन्तर्गत उन श्लोकवार्त्तिकों का विवेचन प्रस्तुत है जिनके द्वारा भाष्यकार ने सूत्रोक्त पदों का प्रत्याख्यान किया है। कहीं तो सम्पूर्ण सूत्र अथवा सम्पूर्ण वार्त्तिक ही प्रत्याख्यात है।

सप्तम अध्याय में श्लोकवार्त्तिकों का विवेचन है जिनके द्वारा भाष्यकार ने सूत्र के विषय में, सूत्रोक्त पद के विषय में अथवा वार्त्तिक के विषय में किसी शंका की उद्भावना तथा उसका समाधान प्रस्तुत किया गया है।

अष्टम अध्याय में संग्रह या सार श्लोकवार्त्तिकों का अध्ययन है । वार्त्तिकों के समान अंशतः व्याख्यान करने के पश्चात् श्लोकवार्त्तिक को पूर्णरुप से अन्त में पढ़ा गया है । वे ही श्लोकवार्त्तिक संग्रहात्मक श्लोकवार्त्तिक हैं ।

नवम अध्याय में निर्वचनात्मक व व्युत्पत्यात्मक श्लोकवार्त्तिकों का अध्ययन है जिनमें सूत्रोक्त पदों का निर्वचन या व्युत्पत्ति प्रस्तुत की गई है ।

दशम अध्याय में व्याख्यानात्मक या स्पष्टीकरणात्मक श्लोकवार्त्तिकों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ।

अन्तिम अध्याय में विविध विषयों का प्रतिपादन करने वाले श्लोकवार्त्तिकों का एकत्र अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । इसमें सूत्रों के उदाहरणों की सिद्धि का निर्देश करने वाले उदाहरणात्मक सूत्रों, उदाहरणों का परिगणन करने वाले परिगणनात्मक, सामान्य व्यवहार अर्थात् तत्कालीन व्यापार, क्रीड़ा आदि से सम्बद्ध निर्देश प्रस्तुत करने वाले, सूत्रों का अधिकार निर्देश करने वाले सूत्र तथा वार्त्तिक दोनों से अस्पृष्ट विषय के प्रतिपादक तथा सूत्रोक्त पदों का निराकरण करने वाले निराकरणात्मक श्लोकवार्त्तिकों का अध्ययन है ।

अन्त में श्लोकवार्तिकों के अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षो का उल्लेख किया गया है ।

सूत्रों, वार्त्तिकों तथा श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन में,काशिकावृत्ति जो न्यास व पदमञ्जरी टीकाओं से संवलित है तथा श्रीशचन्द्र वसु द्वारा सम्पादित अध्यायी (अंग्रेजी, संस्करण डा. वेदपति मिश्र द्वारा कृत वार्त्तिका का समीक्षातमक अध्ययन प्रो. कीलहार्न के लेख, ON THE MAHABHSHYA ग्रन्थ परम सहायक सिद्ध हुये हैं । सिद्धान्त कौमुदी (तत्वबोधिनी तथा बालमनोरमा टीकाओं से युक्त) ग्रन्थ भी सूत्रों तथा वार्त्तिकों के स्पष्टीकरण में महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है ।

महाभाष्य पर कैयट रचित प्रदीप टीका तथा नागेश रचित उद्योत टीका का श्लोकवार्त्तिकों के मौलिक तथ्यों को सुस्पष्ट करने में आश्रय लिया गया है ।

अन्त में श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों का उल्लेख किया गया है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ रचना परमश्रद्धेय प्रेरणास्त्रोत, डा. मण्डन मिश्र, संस्थापक, कुलपति श्री लाल बहादुरशास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ के स्नेहसिक्त कल्याण-मय आशीर्वाद से सम्पन्न हुई है । ज्ञान रूपी दीपशिखा से अज्ञान रूपी अन्धकार

का अपनयन करने में समर्थ आदरणीय प्रो. वाचस्पति उपाध्याय, कुलपति श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ के प्रति मैं विनयावनता हूं । जिनके अमूल्य मार्गदर्शन एवं सहयोग से मैं अल्पबद्धि यह कार्य करने में सफल हो सकी हूं । प्रो. अवनीन्द्र कुमार संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय के स्नेहपूर्व सहयोग के प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करना उनके स्नेह को कम करना है । प्रो. सत्यपाल नारंग संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, ने समय-समय पर अपने वैदुष्यपूर्ण मार्गदर्शनं से मुझे अनुगृहीत किया । श्री राजेन्द्रप्रसाद शर्मा प्राचार्य श्री महावीर विश्व विद्यापीठ ने अपने अत्यन्त व्यस्त समय में से कुछ क्षणों का लाभ मुझे प्राप्त कराया है जो मूल पाठ संबन्धी मेरी अनेक ग्रन्थियों के समाधान में पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हुआ है । इनके पितृतुल्य मार्गदर्शन के प्रति मैं अनुगृहीत हूं । इनके अतिरिक्त जिन ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों से मुझे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी भी रूप में सहायता प्राप्त हुई है उनके प्रति मैं आभार प्रकट करती हूं । मैं अपने माता-पिता के प्रति अपना सादर आभार प्रकट करती हूं जिन्होंने मुझे इस लक्ष्य तक पहुंचने के लिये अनेक कठिनाइयों के होते हुये भी प्रेरणा प्रदान की । उनके अमूल्य आशीर्वाद से ही यह कार्य सम्पन हो सका है । समय-समय पर मुझे प्रोत्साहित करने वाले, मेरी प्रेरणा, श्री विश्वम्भरदत्त शर्मा के प्रति मैं अपना आभार प्रदर्शन करना उनके सम्मान व स्नेह को अल्प करना है । पति एवं बच्चों के सहयोग के बिना यह कार्य सम्पन्न होना असम्भव है अतः उनके प्रति मैं अपना आभार प्रकट करती हूं । विद्यापीठ में मेरे सहयोगियों ने मुझे अमूल्य सहयोग प्रदान कर मेरा उत्साह वर्धन किया है । उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना उनकी मित्रता का अपमान है । निदेशक, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के प्रति मैं आभार प्रकट करती हूं ज़िनके अनुदान से मेरी कृति पूर्ण हो सकी है । अन्त में नाग प्रकाशक, श्री सुरेन्द्र प्रताप एवं श्री नरेन्द्र प्रताप को मैं धन्यवाद अर्पित करती हूं जिन्होंने स्वल्प समय में इस रचना को प्रकाशित किया है ।

कमला भारद्वाज

संकेत-निर्देश सूची

अग्नि. प्रभु.	- अग्निहोत्री प्रभुदयाल
अभि.	- अभिनवगुप्त
अभि. शा.	- अभिज्ञानशाकुन्तलम्
अ. सू.	- अष्टाध्यायी सूत्र
अ. सू. वृ.	- अष्टाध्यायी सूत्र वृत्ति
इण्डि. एन्टी.	- इण्डियन एन्टीक्वरी
का. वृ.	- काशिकावृत्ति
किरात.	- किरातार्जुनीयम्
गो. ब्रा.	- गोपथ ब्राह्मण
चतु. गिरि.	- चतुर्वेदी गिरिधर
जिने.	- जिनेन्द्र बुद्धि
जोशी भा.शा.	- जोशी भार्गव शास्त्री
तत्व.	- तत्वबोधिनी
त्रिपाठी रा.सु.	- त्रिपाठी रामसुरेश
तै. सं.	- तैत्तिरीय संहिता
द्रा. गृ. सू.	- द्राह्यायण गृह्य सूत्र
पत.	- पतञ्जलि
पत. भा.	- पतञ्जलि कालीन भारत
पत. व्या. म.	- पतञ्जलि व्याकरण महाभाष्य
परि.	- परिभाषा
पृ.	- पृष्ठ संख्या

प्र.	- प्रकाश टीका
प्र. कौ.	- प्रक्रिया कौमुदी
प्र. सू.	- प्रत्याहार सूत्र
प्रा. प्र.	- प्राच्य प्रज्ञा
प्रो. कील इण्डि. एन्टी.	- प्रो. कीलहार्न इण्डियन एन्टीक्वरी
बाल.	- बालमनोरमा
बाण.	- बाणभट्ट
भर्तृ.	- भर्तृहरि
भा.	- भारवि
म. भा. प्र. व्या.	- महाभाष्य प्रदीप व्याख्यानानि
मीमां. युधि. सं. व्या. शा. इति.	मीमांसक युधिष्ठिर संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास
मीमां. को.	- मीमांसा कोश
मै. सं.	- मैत्रायणी-संहिता
य. मीमां.	- यज्ञ मीमांसा
या.	- यास्क
र. प्रका.	- रत्न प्रकाश
राज.	- राजतरङ्गिणी
लघु.	- लघुशब्दन्दुशेखर
वा.	- वार्त्तिक
वर्मा स. का. शा. उ. वि.	- वर्मा सत्यकाम संस्कृत व्याकरण का उद्‌भव और विकास
वा. प.	- वाक्यपदीय

वा. प्रा. - वाजसनेयि प्रातिशाख्य

वै. भू. - वैयाकरणभूषणसार

व्या. म. - व्याकरण महाभाष्य

व्या. वा. समी. अध्य. - व्याकरण वार्त्तिक एक समीक्षात्मक अध्ययन

श. कौ. - शब्द कौस्तुभ

श. वे. - शर्मा वेणी

शा. चा. - शास्त्री चारुदेव

शुक. - शुकनासोपादेश

श्लो. वा. - श्लोकवार्त्तिक

स. - संकर्ष

सा. का. - सांख्याकारिका

सि. कौ. - सिद्धान्तकौमुदी

सु. - सुबोधिनी

हर. पद. - हरदत्त पदमञ्जरी

ENGLISH BOOKS

Astā. - Astadhyayi of Panini

Crit. stu. MB. - Critical Studies on Mahabhashya

His.of Anc.Sans.LIt. - History of Ancient Sanskrit Literature

Ind. Ant. - Indian Antiquary

Ind. His. Qua. - Indian Historical Quarterly

Lec. Pat. MB. - Lecctures on Pat. Mahabhashya

on the MB.	- on the Mahabhashya
Prof. Kiel	- Professor Kielhorn
Prof. Gold.	- Professor Goldstuker
Skt. Pā to Patanjali	Sanskrit from Panini to Patanjali
Sys. Skt. Gra.	- Systems of Sanskrit Grammar
Stu. in Indo.	- Studies in Indology

विषयानुक्रमणिका

महाभाष्य : एक परिचय

संस्कृत भाषा में सामान्यतः प्रत्येक शास्त्र पर पांच प्रकार के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं – सूत्र, वृत्ति, भाष्य, वार्त्तिक और टीका। इनमें सूत्र अत्यन्त संक्षिप्त, असन्दिग्ध, सारवान् और प्रामाणिक होते हैं।[1] वार्त्तिक ग्रन्थों में उक्त, अनुक्त और दुरुक्त तथ्यों का विवेचन होता है,[2] तथा भाष्य में सूत्रानुसारी शब्दों के द्वारा सूत्रार्थ-चिन्तन के साथ-साथ मौलिक विवेचन के लिये भी अवसर प्रदान किया जाता है।[3] व्याकरणशास्त्र में आचार्य पाणिनि सूत्रकार, वार्त्तिककार कात्यायन तथा भाष्यकार आचार्य पतञ्जलि हैं। यही कारण है कि संस्कृत-व्याकरण 'त्रिमुनिव्याकरणम्' कहा जाता है। महाभाष्य का उपजीव्य ग्रन्थ अष्टाध्यायी है। पाणिनि ने प्रचलित भाषा-प्रयोगों के आधार पर व्याकरणात्मक नियमों की स्थापना की। इस कार्य में अतिसंक्षिप्तीकरण की प्रवृत्ति को प्रश्रय दिया है। सूत्रात्मक शैली में अपने ग्रन्थ की रचना करते हुये उन्होंने अधिक से अधिक प्रयोगों को सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है।[4]

व्याकरण की पूर्णता केवल सूत्रों से ही नहीं है अपितु उनकी व्याख्या के लिये अनेक वैयाकरणों ने वार्त्तिकों की रचना की। वार्त्तिक सहित सूत्रों की रचना की

---

१ अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्। अस्तोममनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥ – मिश्र, वेदपति, व्या. वा. समी. अध्य., पृ. ३३

२ उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते। तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्त्तिकज्ञाः मनीषिणः। – अग्नि. प्रभु. पत. भा., पृ. ३

३ सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥ – वही.

४ न हि सूत्रत एव शब्दा प्रतिपद्यन्ते। किं तर्हि। व्याख्यानतश्च। – पत. व्या. म. १, पस्पशा., पृ. ५७

पतञ्जलि के महाभाष्य प्रणयन की आधार-भूमि है ।[१] इसी कारण आचार्य पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि को 'मुनित्रयम्' आमाणक से विभूषित किया गया है ।[२] इन तीनों वैयाकरणों में से संस्कृत-व्याकरण-जगत् में पतंजलि सर्वाधिक महत्वपूर्ण है ।[३] मुनित्रयी में यथोत्तर का प्रामाण्य होने के कारण पतंजलि की वाणी के समक्ष समस्त वैयाकरण नतमस्तक हैं। अर्वाचीन वैयाकरण जहां सूत्र, वार्त्तिक और महाभाष्य में परस्पर विरोध होता है वहां महाभाष्य को ही प्रमाण समझते हैं ।[४] महाभाष्य के विषय में ज्ञान प्राप्त करने से पहले आचार्य पतंजलि के स्थिति-काल से परिचित होना आवश्यक प्रतीत होता है ।

पतंजलि ने अपने स्थिति-काल के विषय में अपनी रचनाओं में कोई संकेत नहीं दिया है अतः प्रश्न विवादास्पद है कि भाष्यकार ने किस समय भारतभुवि को अलंकृत किया तथा किस समय महाभाष्य की रचना की गई ।[५] अतः इस शंका का समाधान करने के लिये पर्याप्त अध्ययन किया गया है तथा महाभाष्य के अध्ययन से पतंजलि के काल-निर्णय सम्बन्धी निम्न तथ्यों को ग्रहण किया गया है ।

(१) प्रो. मैक्समूलर ने भाष्यकार को पिङ्गल से सम्बद्ध मानकर उनका समय तृतीय शताब्दी ई. पू. माना है ।[६]

(२) पाणिनीय सूत्र 'जीविकार्थे चापण्ये'[७] पर भाष्यकार ने 'मौर्योर्हरण्यार्थिभिरर्च्याः प्रकल्पिताः'[८] भाष्य लिखा है । इससे यह सिद्ध होता है कि पतंजलि मौर्य

---

१ भाष्यं कात्यायन प्रणीतानां वाक्यानां पतञ्जलिप्रणीतम् । – जिने. न्यास. का. वृ. भूमिका, पृ. ४

२ Pāṇini, Kātyāyana and Patañjali are traditionally Known as the three sage's Munitrayam. Belvelkar, S.K. - Sys. Skt. Gra. P.28.

३ ibid.

४ यथोत्तरं हि मुनित्रयस्य प्रामाण्यम् । कैयट प्रदीप. व्या.म. १, पृ. २१७

५ At what time says Prof. Muller the Mahābhāṣya was first composed it is impossible to say. –Prof. Gold. Pāṇini, p.247.

६ Ancient Sanskrit Literature, p.244.

७ अ. सू. ५.३.९९

८ व्या. म., भाग २, पृ. ६४२

वंश के प्रथम राजा चन्द्रगुप्त (३१५ ई. पू.) से पूर्व नहीं थे। अतः मौर्य वंश के अन्तिम सम्राट् के पश्चात अर्थात् १८० ई. पू. इनका स्थिति-काल स्वीकार किया जा सकता है।[१]

(३) 'अनद्यतने लङ्'[२] सूत्र पर अयोध्या तथा माध्यमिकों का संकेत प्राप्त होता है[३] जिसमें यवनों द्वारा इन दोनों को पराजित करने का उल्लेख है। माध्यमिक बौद्ध मत है जो नागार्जुन द्वारा स्थापित किया गया था।[४] नागार्जुन का समय बुद्ध के पश्चात् ४०० वर्ष मानने पर १४३ ई. पू. तथा ५०० वर्ष (बुद्ध के) पश्चात् मानने पर इसका समय ७७ ई, पू. या २३ ई. पश्चात् है।[५] इन दोनों मतों से यह स्पष्ट होता है कि अयोध्या की यवनों द्वारा विजय इस काल सीमा के मध्य में हुई थी। प्रो. गोल्डस्टूकर[६] के अनुसार साकेत और माध्यमिका का अवरोध करने वाला मिनाण्डर था जिसका समय ई. पू.. द्वितीय शती है। इस ऐतिहासिक तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि पतंजलि ने 'अनद्यतने लङ्'[७] सूत्र के वार्त्ति क पर भाष्य १४० ई. पू. से १२० ई. पू. के मध्य लिखा होगा। अतः प्रो. गोल्डस्टूकर[८] ने मिनाण्डर के काल को ध्यान में रखकर महाभाष्य का समय भी १४० ई. पू. से १२० ई. पू. माना है।

इन तथ्यों के अतिरिक्त महाभाष्य में कुछ अन्य संकेत उपलब्ध होते हैं जिनसे पतंजलि के स्थिति-काल के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है। 'यस्य चायामः'[९] सूत्र पर भाष्यकार द्वारा 'अनुशोणं पाटलिपुत्रम्' कहकर पाटलिपुत्र का उल्लेख किया गया है। इस उल्लेख से स्थिति-काल के प्रश्न का अंशतः समाधान सम्भव है। अन्य

---

१ He tells us on the contrary that he lived after the last King of dynasty, or in other words later than 180 before Christ. Prof. Gold. Pāṇini, p.249.

२ अ.सू.३.११.३

३ अरुणद्यवनं साकेतम्। – व्या.म.२, पृ.२०५

४ ibid.

५ Prof. Maxmullar - Prof. Gold. Pāṇini, p.253.

६ Prof. Gold. Pāṇini, p. 254.

७ अ.सू.३.२.३

८ Ibid.

९ अ.सू.,२.१.१५

सूत्रों[१] के भाष्य में भी पाटलिपुत्र का उल्लेख प्राप्त होता है। शक्य मुनि के समय में अजातशत्रु ने सोन नदी के तट पर पाटली ग्राम में दुर्ग की स्थापना की।[२] यह बुद्ध का समय था। इस आधार पर अजातशत्रु के पश्चात् पतञ्जलि का स्थिति-काल निर्धारित किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त 'इह पुष्यमित्रं याजयामः'[३] तथा पुंष्यमित्र सभा, चन्द्रगुप्त-सभा इन संकेतों से ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र ब्राह्मण राजा था[४] जिसने २०० ई. पू. के उत्तरार्ध में दो बार अश्वमेघ यज्ञ कराये। एक में स्वयं पतंजलि ही आचार्य थे। महाभाष्य में इस यज्ञ का संकेत 'याजयामः पद से उपलब्ध होता है। पुष्यमित्र के सिंहासनारुढ़ होने का समय १८५ ई. पू. माना जा सकता है। उसके शासन की निम्नतम सीमा' पौराणिक तथ्यों के आधार पर १४३ ई. पू. मानी गई है।[५] महाभाष्य में पाटलिपुत्र[६], वृषल, सांकेत और माध्यमिका पर यवन आक्रमण, चन्द्रगुप्त आदि के वर्णन की उपलब्धि से पुष्यमित्र के स्थिति-काल के समीप ही पतंजलि की स्थिति मानी जा सकती है क्योंकि पुष्यमित्र का शासन-काल ही पतंजलि द्वारा उसके लिये यज्ञ कराने का समय है। अतः पतञ्जलि का स्थिति-काल १६५ ई. पू. के लगभग स्वीकार किया जा सकता है। मिनाण्डर और पुष्यमित्र को समकालीन मानकर डा. भण्डारकर ने तृतीय अध्याय के भाष्य का रचनाकाल १४४ ई. पू. स्वीकार किया है।[७] जबकि मीमांसक[८] ने इह पुष्यमित्रं याजयामः में इह पद को पाटलिपुत्र का निर्देशक मानकर अधीमहे के साथ जोड़ा है अर्थात् उनके अनुसार पतञ्जलि अश्वमेघ यज्ञ के समाज पाटलिपुत्र में अध्ययनरत थे अतः इस वाक्य को अर्थाविशिष्ट है। तथापि पुष्यमित्र, चन्द्रगुप्त आदि के वर्णनों की प्राप्ति के आधार

---

१ अ. सू. ४,३.३६ पर पाटलिपुत्रं चाप्यवयवश आचष्टे ईदृशा अस्य प्रकारा इति। – व्या. म. २, पृ. ४५६

२ मीमां. युधि. व्या. शा. इति., १, पृ. ३२४

३ इह पुष्यमित्रं याजयामः। – अ. सू. ३.२.१२३

४ विकरणशुङ्गगच्छगलाद्वत्सभरद्वाजात्रिषु। – अ. सू., ४.१.११७

५ अग्नि. प्रभु., पत. भा., पृ. ६१

६ ज्ञेयो वृषलः। – अ. सू., १.१.५०

७ Patanjali must have written his commentary on the Vārttika to Pāṇini 3.2.111 between 140 and 120 B.C. Prof. Gold. Pāṇini, p.254.

८ सं. व्या. शा. इति., भाग १, पृ. ३१८

पर उन्होंने शुङ्गवंशीय पुष्यमित्र से पूर्व पतञ्जलि का स्थिति-काल स्वीकार नहीं किया है। डा. सत्यकाम[१] वर्मा ने अशोक के शिलालेखों के आधार पर अशोक का समय सिकन्दर से पचास वर्ष पश्चात् मानकर इसी पर पुष्यमित्र की स्थिति को निर्धारित किया है। अशोक के लेख के अन्तियोकस २[२] का समय २६१ से २४० ई. पू. है। भाष्य में यवन[३] शब्द से इन्हीं का संकेत है। प्रो. वेबर[४] के मतानुसार पतञ्जलि पुष्यमित्र के समय में नहीं हुये अपितु यज्ञ-विषयक उल्लेख ब्राह्मणों द्वारा की जानेवाली उसकी सरस स्मृति के परिणामस्वरूप किया गया है।[५] प्रो. कीथ[६] ने पतञ्जलि का स्थिति-काल १५० ई. पू. स्वीकार किया है। राजतंरगिणी के अनुसार महाभाष्य के प्रथम उद्धारकर्त्ता अभिमन्यु थे[७] इसका समय ई. पू. १०० वर्ष माना गया है। अतः इस आधार पर पतञ्जलि के स्थिति-काल की अधिकतम सीमा १४३ वर्ष ई. पू. तथा ई. पश्चात् ६० वर्ष मानी जा सकती है। मैक्समूलर[८] तथा बोथलिंक[९] ने पतञ्जलि को ई. पू. २०० वर्ष में माना है।

आचार्य पतञ्जलि को शेषनाग का अवतार कहा गया है अतः उन्हें अहिपति[१०], फणिभृत्, शैषराज, शेषाहि आदि आभाणकों से विभूषित किया गया है। इनकी कृति भाष्य का चूर्णि पद से तथा इनका उल्लेख चूर्णिकार नाम से प्राप्त होता है।[११] उक्ताभिधानों से यह ज्ञात होता है कि पतञ्जलि की विद्धद्समाज में शेषावतार रूप में प्रतिष्ठा है। पतञ्जलि ने न केवल व्याकरणशास्त्र पर अपितु योग-शास्त्र तथा

---

१ व्या. शा. उ. वि., पृ. ७

२ सिकन्दर के बाद सित्यूकस तथा उसका पौत्र अन्तियोकस हुआ। – अग्नि प्रभु. पत. भा., पृ. ६१

३ अरुणद्यवनः साकेतम्। – अ. सू., ३.२.१११

४ Weber - On the Date of Patanjali, Ind. Ant.II, p.57.

५ अग्नि. प्रभु. पत. भा., पृ. ६५

६ वही, पृ. ६५

७ चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वादेशं तस्मात्तदागमम्। प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम्। – राज. तरङ्ग १, श्लोक १७६

८ His. of Anc. Skt. Lit. p.244.

९ Pāṇini's Grammatique, p.11.

१० पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतेः। मनोवाक्कायदोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः। – चरक, १ । १ व्या. वा. समी. अध्य., पृ. ४४

११ मीमां युधि. - सं. व्या. शा. इति., भाग १, पृ. ३१३

वैद्यक-शास्त्र पर भी ग्रन्थों की रचना की है। अतः इन्हें वाणी, चित्त तथा शरीर तीनों की मलिनता का निवारण करने वाला कहा गया है।[१] इसमें महाभाष्य पाणिनीय व्याकरण का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। पतञ्जलि ने प्राचीन ग्रन्थों में प्रतिपादित व्याकरण नियमों का समीक्षात्मक रूप महाभाष्य में प्रस्तुत किया है। अन्य शास्त्रों पर रचित भाष्यों की अपेक्षा यह 'महाभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ है इसके दो कारण हैं प्रथमतः इसमें तार्किक ढंग से समस्त सिद्धान्तों का समावेश है।[२] द्वितीयतः यह ज्ञान शक्ति तथा ज्योति में महान्[३] है। भर्तृहरि ने महाभाष्य को न केवल समस्त व्याकरण-शास्त्र के लिये प्रमाण स्वीकार किया है अपितु समस्त विद्याओं का आगार माना है।[४] इसका कारण यह है कि उनकी निरुपण-पद्धति सर्वथा मौलिक और नैयायिकों की तर्क-शैली पर आधारित है। अपने से पूर्ववत्री समस्त वैयाकरणों के ग्रन्थों एवं समस्त वैदिक तथा लौकिक प्रयोगों पर सूक्ष्म दृष्टि से अनुशीलन करने के बाद महाभाष्य का सूत्रपात किया गया अतः समस्त व्याकरणात्मक सिद्धान्तों, उदाहरणों, प्रत्युदाहरणों का समावेश महाभाष्य ग्रन्थ में हुआ है।

व्याख्यानात्मक ग्रन्थ होने के कारण इसमें अष्टाध्यायी की योजना को ही स्वीकार किया गया है। चतुर्दश प्रत्याहार सूत्रों सहित अष्टाध्यायी के ३९९५ सूत्रों में से लगभग १७०० सुत्रों पर पतञ्जलि व्याख्यान-भाष्य किया है। अन्य सूत्रों को क्रम से परम्परानुसार ग्रहण किया है। लगभग १२६० सूत्रों पर भाष्यकार ने वार्त्तिकों सहित व्याख्यान किया है इन सूत्रों पर कात्यायन के अतिरिक्त अन्य वैयाकरणों[५] के वार्त्तिक भी उद्धत है। इनके अतिरिक्त ४४० सूत्रों पर भाष्यकार ने वात्त्रिक न देकर मात्र भाष्य-कथन किया है। इन सूत्रों पर वार्त्तिक उपलब्ध नहीं थे अतः इन

---

१ योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन। योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥ – पतञ्जलि चरित, रामभद्र दीक्षित

२ Mahābhāṣya because (for the first time) it has included in itself almost all the rules of Nayāya logic. Verma, S.K. -Stu. in Indo., p.121.

३ महान्तश्च महान्येव कृच्छ्राण्युत्तीर्य धैर्यतः। महतोऽर्थान् समासाद्य महच्छब्दमवाप्नुयात्॥ – मिश्र, वेदपति, व्या. वा. समी. अध्य. पृ. ४७

४ कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना। सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥ – वा. प. २-४८५

५ भारद्वाज, सौनाग, कुणारवाडव, आदि

पर भाष्यकार ने मौलिक, समीक्षात्मक दृष्टिकोण से चर्चा की है । सूत्रों तथा वार्त्तिकों पर व्याख्यान करते हुये प्रसंगवश भाष्यकार ने स्वयं वार्त्तिकों की रचना की है जो कात्यायनीय वार्त्तिकों को महत्वपूर्ण योगदान करते हैं तथा ये 'भाष्येष्टि'[१] नाम से अभिहित हैं । महाभाष्य में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्र विद्यमान हैं जबकि समस्त सूत्रों पर भाष्य-कथन नहीं किया गया परन्तु सूत्रों पर उपलब्ध समस्त वार्त्तिकों का व्याख्यान भाष्यकार ने किया है । अतः महाभाष्य को वार्त्तिकों पर रचित आलोचनात्क ग्रन्थ कहा जा सकता है ।[२] महाभाष्य को वार्त्तिकों पर रचित टीका ग्रन्थ कहना असंगत प्रतीत नहीं होता ।[३]

पतञ्जलि कात्यायनीय वार्त्तिकों के प्रथम भाष्यकार नहीं है अपितु सर्वश्रेष्ठ भाष्यकार हैं । भाष्य तथा वार्त्तिकों के अध्ययन से यह परिलक्षित होता है कि सूत्रों की न्यूनता का प्रदर्शन करना ही वार्त्तिकों की रचना का उद्देश्य है । भाष्यकार ने कात्यायन के आक्षेपों से सूत्रों को सुरक्षित रखने का प्रयास किया ।[४] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि आचार्य पतंजलि ने पाणिनि को समर्थन प्रदान किया है तथा सूत्रों का खण्डन करने वाले वार्त्तिकों का प्रत्याख्यान करने का प्रयास किया है । पाणिनि का उल्लेख आचार्य, भगवान्[५], मांगलिक[६], सुहृद् आदि सम्माननीय शब्दों के साथ किया है । सूत्रों को छन्दोवत् प्रमाण माना है इसीलिये सौत्र निर्देश को भी पतंजलि

---

१ Patanjali's Ishitis or "desiderata" which are his own additions to Kātyāyana's Vārttikas, since they are an essential portion of his own Great Commentary. Prof. Gold. Pāṇini, p.101.

२ Mahābhāsya is a critical discussion on the Vārttikas of Kātyāyana. –Ind. His. Qua. II, p.270.

३ The Mahabhasya is on the first instance a commentary of Katyayanas Varttikas. –Prof. Kiel. Katyayana and Patanjali, p.51.

४ महाभाष्यकारस्य तु पाणिनेर्गौरवरक्षार्थमेव दृश्यते प्रवृत्तिः । – चतु. गिरि. शर्मा व्या. म. १, भूमिका, पृ. ३१

५ कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम् । – पत. व्या. म. १ पस्पशा., पृ.स ४३

६ माङ्गलिक आचार्यो वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते । – व्या. म. १ (१.१.१), पृ. ११०

ने प्रामाणिक माना है।[१] 'किसी प्रयोग के सूत्रों द्वारा सिद्ध न होने पर पतंजलि ने उसे अपाणिनीय विधि स्वीकार किया है।[२] सूत्रों द्वारा परोक्ष रूप से सिद्ध सिद्धान्तों को जो सूत्र द्वारा संकेतित हैं उन्हें 'आचार' पद से अभिव्यक्त किया है।[३]

भाष्यकार ने व्याकरण के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुये सरलता का सर्वत्र ध्यान रखा है अपेक्षाकृत सरल होने के कारण भाष्य सर्वग्राह्य है। व्याकरणात्मक व्याख्यानों में लोकविज्ञान तथा लोक-व्यवहार का आश्रय लिया गया है।[४] व्याकरण के क्षेत्र में महाभाष्य की मौलिक देन अन्य व्याकरण-ग्रन्थों की अपेक्षा सर्वाधिक है। अन्य व्याकरणात्मक ग्रन्थों के समान यह शुष्क और एकांगी नहीं है। व्याकरण जैसे क्लिष्ट एवं शुष्क विषय को सरस व रोचक ढंग से बुद्धिगत कराया गया है। इसकी भाषा दीर्घ समासों से रहित, छोटे-छोटे वाक्यों से युक्त, अत्यन्त सरल एवं प्रांजल है। इसका कारण यह है कि इस ग्रन्थ में भाष्यकार ने शुष्क व्याकरणात्मक सिद्धान्तों को लोकाश्रय लोकव्यवहार के आधार पर सर्व-बुद्धि-गम्य बनाया है। पाणिनीय सूत्रों तथा कात्यायनीय वात्रिकों के अतिरिक्त भाष्य में मौलिक सिद्धान्तों का समावेश भी किया गया है। इन मौलिक तथ्यों के आधार पर ही यह ग्रन्थ व्याकरण-दर्शन ग्रन्थों की कोटि में परिगणित होता है। शैली की दृष्टि से महाभाष्य अद्वितीय ग्रन्थ है महाभाष्य को आदर्श मानकर मीमांसा-भाष्य की रचना की गई परन्तु उसमें भाष्य जैसी प्रांजलता का समावेश नहीं हो पाया। यही कारण है कि व्याकरण-शास्त्र में महाभाष्य का शब्द आप्त[५] माना जाता है तथा महाभाष्यानुक्त अप्रामाणिक माना गया। सूत्रकार व वार्त्तिककारों द्वारा अनुक्त विषय का ग्रहण भाष्यकार के द्वारा उक्त[६] होने के कारण प्रामाणिक

---

१ सौत्रौ निर्देशः। – व्या. म. ३ (७.१.१२) बृ. १९

२ सिद्धयत्येवमपाणिनीयं तु भवति। – व्या. म. १, पृ.

३ अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नानेन सम्प्रसारणस्य दीर्घो भवति। – व्या. म. १, आ. २, पृ.६५

४ **It explains many rigid and recondite Śastraic rules in terms of maxims derivedd from every day life. Śarma, K.M.K. -Panini Kātyāyana and Patanjali, p.78.**

५ अग्नि. प्रभु. पत. भा., पृ. ४३

६ योऽचि च। – अ. सू. २.४.७४ पर भाष्य – इष्टमेवैतत् संगृहीतम्। व्या. म. १, पृ. ५६८

हो गया परन्तु परवर्ती वैयाकरणों द्वारा संगृहीत तथ्यों को प्रमाण नहीं माना गया। काशिकाकार[१] द्वारा काव्यों में प्रयुक्त मुनित्रय द्वारा अनुक्त शब्दों को भी प्रमाण नहीं माना जाता। इस प्रकार महाभाष्य भाषा की सरलता, विशिष्ट व्याख्यान-शैली तथा रोचकता की दृष्टि से अद्वितीय ग्रन्थ प्रतीत होता है। विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण के कारण तथा अन्य विशिष्टताओं के कारण विद्वद् समाज में उनकी प्रतिष्ठा निम्न शब्दों से व्यक्त होती है।

"महाभाष्यं वा पठनीयं, महाराज्यं वा पालनीयम्।"[२] प्रस्तुत विवेचन के आधार पर महाभाष्य ग्रन्थ को पाणिनीय सूत्रों तथा कात्यायन-वार्त्तिकों का प्रामाणिक अध्ययन-स्रोत माना जा सकता है। भाष्य के बिना पाणिनीय-सूत्रों का अध्ययन अपूर्ण प्रतीत होता है।

---

१ ईदूदेद्द्विवचनंप्रगृह्यम्। – अ.सू.१.१.११ पर मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः।

२ Sarma K.M.K. Pāṇini Kātyāyana and Patanjali Pase 78.

श्लोकवार्त्तिकों का स्वरूप

व्याकरण निकाय में सरल, सरस तथा प्रामाणिक शास्त्रीय ग्रन्थ महाभाष्य की रचना का प्रेरणा-स्रोत वार्तिक-पाठ है, यह तथ्य सुतरां प्रतिपादित है। महाभाष्य की भाषा इस तथ्य के प्रमाण में देखी जा सकती है। जिन पाणिनीय सूत्रों पर वार्त्तिकपाठ उपलब्ध नहीं होता सम्भवतः भाष्यकार ने उनको इस कारण ही विशेष विवेचनीय नहीं समझा। यथा – 'वातातीसाराभ्यां कुक्च्'[1] सूत्र पर वार्त्तिक नहीं है, न ही व्याख्यानभाष्य है। इसी प्रकार 'तपः सहस्राभ्यां विनीनी'[2] है। वार्त्तिक न होने पर भाष्य कम ही प्राप्त होता है। अतः वार्त्तिक व्याख्यान ही भाष्य है।[3] इसका अभिप्राय यह है कि सूत्रों में उक्तानुक्त तथा दुरुक्त चिन्ता[4] वार्त्तिककार कात्यायन को अभीष्ट है। महाभाष्य में पाणिनीय सूत्रों की व्याख्या में सामान्य वार्त्तिकों के साथ-साथ श्लोकवार्त्तिकों की भी सहायता ली गई है। यहां तक कि अनेक सूत्रों पर वार्त्तिकों का ग्रहण न कर केवल श्लोकवार्त्तिक से ही अर्थ का स्पष्टीकरण किया है। यथा 'स्त्रीभ्यो ढक्'[5] सूत्र पर उक्त निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा अर्थ का स्पष्टीकरण है –

वडवाया वृषे वाच्ये, अण् क्रुञ्चकोकिला स्मृतः।
आरक् पुंसि ततोऽन्यत्र, गोधाया द्रग्विधो स्मृतः॥

---

१ अ.सू.,५.२.१२९
२ वही,५.२.१०२
३ इह तु वार्त्तिक व्याख्यानरूपं भाष्यमिति। – शर्मा गिरिधर, भूमिका व्या. महा. नवा., पृ. ३१
४ उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते। तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्त्तिकज्ञा मनीषिणः॥ – मिश्र. वेदपति, व्या. वा. समी. अध्य., पृ. २२
५ अ.सू.,५.१.१२०

वार्त्तिक तथा श्लोकवार्त्तिक में केवल छन्दोबद्धता का अन्तर है। अर्थात् छन्दोबद्ध वार्त्तिक ही श्लोकवार्त्तिक हैं। ये श्लोकवार्त्तिक व्याकरण के गहन सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करते हैं। इन्हें श्लोक नाम से अथवा छन्द के नाम से अभिहित किया गया है। प्रो. गोल्डस्टूकर[१] एवं प्रो. कीलहार्न[२] ने कारिका शब्द से श्लोकवार्त्तिकों का अभिधान किया है। कात्यायन के स्थिति-काल के अनुसार वार्त्तिकों का रचनाकाल इनमें प्रतिपादित विषय के आधार पर कात्यायन और पतञ्जलि के मध्य निश्चित किया जा सकता है।[३] महाभाष्य में उपलब्ध श्लोक-वार्त्तिकों की स्थिति निश्चित ही भाष्य से पूर्ववर्ती है क्योंकि उनमें से कुछ प्राचीन ग्रन्थों से लिये गये हैं यथा 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्'[४] सूत्र परभाष्यकार ने –

डावतावर्थवैशेष्यान्निर्देशः पृथगुच्यते।
मात्राद्यतिघाताय भावः सिद्धश्च डावतोः॥

श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किया है। उक्त डावतु प्रत्यय पूर्वाचार्य का है।[५] यह वार्त्तिक डावतु-प्रत्यय विधायक सूत्र पर लिखा गया है जिसमें वतुप् को ही डावतु प्रत्यय कहा गया है।[६]

श्लोकवार्त्तिकों की रचना का उद्देश्य व्याकरण में सरलता एवं रोचकता का समावेश करना है। यद्यपि सामान्यवार्त्तिकों तथा श्लोकवार्त्तिकों में प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से अन्तर नहीं है। तथापि सामान्य वार्त्तिकों के द्वारा व्याकरण के दुरुह

---

१ Another category of literary compositions which are either entirely or partly embodied in Mahābhāṣya, are the Kārikās. Prof. Gold. Pāṇini - His Place in Sanskrit Literature, p.102.

२ F. Kielhorn - On The Mahābhāshya, Ind. Ant. March, 1887, Vol. XV, p.233.

३ Belvalkar, S.K. : Sys. Skt. Gra., p.24.

४ अ.सू.,५.२.३९

५ डावताविति पूर्वाचार्यप्रक्रियापेक्षो निर्देशः। –कैय्यट प्रदीप, व्या. महा. ५.२.३९, भाग २, पृ.५६०

६ The word डावतु in the Kārikā is the name given to this affis वतुप् by the ancient grammarians. –Vasu,s.c. : Ashṭādhyāyī of Pāṇini, II, p.910.

सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करना अपेक्षाकृत कठिन प्रतीत होता है, जबकि श्लोक-वार्त्तिक व्याकरण के सिद्धान्तों का प्रतिपादन अपेक्षाकृत सरल ढंग से करते हैं। छन्दोबद्ध होने के कारण व्याकरण के नियमों में भी कुछ नवीनता व रोचकता की अनुभूति होती है। इसके अतिरिक्त वार्त्तिकों की अपेक्षा श्लोकवार्त्तिकों को स्मरण करना भी सरल एवं रोचक प्रतीत होता है। व्याकरण में अतिसंक्षिप्तीकरण की शैली विशिष्ट रूप से स्वीकृत है। व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों में भाष्यकार ने 'लाघव'[१] प्रयोजन की गणना की है जो संक्षिप्तीकरण की प्रवृत्ति का सूचक है। श्लोकवार्त्तिकों में अतिसंक्षिप्तीकरण की शैली दृष्टिगत होती है। लाघव से ही शब्द-ज्ञान कराना व्याकरण का प्रयोजन है। अतः श्लोकवार्त्तिक व्याकरण के इस प्रयोजन की पूर्ति में सहायक हैं।[२]

व्याकरण महाभाष्य में लगभग २६० श्लोकवार्त्तिक मिलते हैं। कुछ सूत्रों पर प्रसंग के अनुसार श्लोकवार्त्तिकार्ध अथवा श्लोक के पाद का ग्रहण किया गया है। यथा "तौ सत्"[३] सूत्र पर उक्त श्लोकवार्त्तिकार्थ 'तौ सदिति वचनमससंर्गा-र्थम्'। इसी प्रकार 'संख्याया गुणस्य निमाने मयट्'[४] सूत्र पर 'निमेये चापि दृश्यते' तथा 'वदव्रजहलन्तस्याचः'[५] सूत्र पर 'एकाचस्तौ वलीति वा' श्लोकवार्त्तिकांशों का ग्रहण किया गया है। यद्यपि इन श्लोकों से अतिरिक्त श्लोकों की प्राप्ति भी होती है, तथापि इन्हीं श्लोकों को श्लोकवार्त्तिक माना जा सकता है जिनमें वार्त्तिकत्व अर्थात् उक्तानुक्तदुरूक्तचिन्ताकरत्व है। अनेक व्यावहारिक प्रयोग जिनका समावेश सूत्रों और वार्त्तिकों में सम्भव नहीं हो सका उनकी सिद्धि श्लोक-वार्त्तिकों के द्वारा की गई है। श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से इनके स्वरूप का ज्ञान होता है श्लोकवार्त्तिकों के स्वरूप का परिचय प्रदान करने के लिये कुछ श्लोकवार्त्तिक प्रस्तुत हैं। व्याकरण के सिद्धान्तों को श्लोकवार्त्तिकों में निबद्ध करते हुये सरसता व रोचकता के साथ-साथ भाषा की सरलता की और भी ध्यान दिया गया है। सरल

---

१ रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्। –पत. व्या. म. १, पस्पशा., पृ. १५
२ लाघवेन शब्द ज्ञानमस्य प्रयोजनम्। –वही, पृ. १९
३ अ. सू. ३.२.१२७
४ अ. सू. ५.२.४७
५ अ. स. ७.२.३

व सरस भाषा के द्वारा प्रतिपाद्य विषय का ज्ञानप्रदान करना श्लोक वार्त्तिकों का उद्देश्य है । अतः सूत्रों का स्पष्टीकरण सरल भाषा में श्लोकवार्त्तिकों में प्रतिपादित है । यथा –'ञमङ्णनम्'[१] तथा 'झभञ्'[२] सूत्रों पर –

अक्षरं न क्षरं विद्यात्, अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम् ।
वर्ण वाहुः पूर्वसूत्रे, किमर्थमुपदिश्यते ॥

श्लोकवार्त्तिक उक्त है जिसमें किमिदमक्षरमिति' इस भाष्य वचन का स्पष्टीकरण किया गया है । श्लोकवार्त्तिक को पढ़ने से ही भाषा की सरलता का परिचय प्राप्त हो जाता है । 'अक्षर' का स्वरुप श्लोकवार्त्तिक के द्वारा स्पष्ट किया गया है । इसी प्रकार 'हयवरट्'[३] सूत्र पर भाष्यकार ने —

प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्झ्हणेषु न ।
आचारादप्रधानत्वाल्लोपश्च बलवत्तरः ॥

श्लोकवार्त्तिक का ग्रहण किया है । इसमें सरल व सरस शब्दों में प्रत्याहार में अनुबन्धों का अच् पद से ग्रहण न करने के प्रयोजन निर्दिष्ट हैं । अनेक श्लोकवार्त्तिकों की भाषा सरल होते हुये भी उनसे प्रतिपाद्य विषय का ज्ञान व्याख्यानभाष्य के अध्ययंन की सहायता से ही हो सकता है । यथा 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ'[४] सूत्र पर —

आरभ्यमाणे नित्योऽसौ परश्चासौ व्यवस्थया ।
युगपत् संभवो नास्ति, बहिरङ्गेण सिध्यति ॥

श्लोकवार्त्तिक उक्त है जिससे विषय का स्पष्टीकरण नहीं होता । भाष्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कर्त्र्या, हर्त्र्या उदाहरणों में परवर्ती ऋ के यण् को स्थानिवत् मानकर पूर्ववर्ती ऋ को यण् भी नित्य माना गया है । भाष्यकार ने इसका खण्डन करके असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे परिभाषा से स्वरसिद्धि की है । श्लोक-वार्त्तिककार ने इसका खण्डन किया है । वार्त्तिक का लक्षण 'उक्तानुक्तदुरुक्त-

---

१ प्र.सू.,६
२ वही,७
३ वही,५
४ अ.सू.,१.१.५७

चिन्ता' श्लोकों पर भी चरितार्थ होता है। यथा – 'कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ'[१] सूत्र पर भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किया है –

सुपि कुत्सने क्रियाया मकारलोपो तिडीतिचोक्तार्थम्।
पूतिश्च चानुबन्धो विभाषितं चापि बह्वर्थम् ॥

जिसके द्वारा कुत्सनार्थ में क्रिया के द्योत्य होने पर अनुदात्तत्व अभीष्ट है इसमें 'मकारलोपो' से अभिप्राय 'पूजनात्पूजितमनुदात्तं काष्ठादिभ्यः'[२] सूत्र पर उक्त वार्त्तिक 'मलोपश्च' से है। प्रस्तुत वार्त्तिक के द्वारा पहले ही इसके प्रयोजन का निर्देश किया जा चुका है अर्थात् वार्त्तिक से काष्ठादि समास में अनुदात्तत्व का कथनपूर्वोक्त है।[३] मयूरव्यंसकादि[४] समास होने पर विभक्त्यभाव में मकार लोप होने पर अनुदात्तत्व होता है। इस प्रकार वार्त्तिक में उक्त विषय का ग्रहण श्लोकवार्त्तिक में पादपूर्ति के लिये किया गया है।[५] इसी प्रकार 'वित्तो भोगप्रत्ययोः'[६] सूत्र पर भाष्यकार ने अत उत्तरं पठतिके पश्चात् निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किया है जिसमें विद् धातु में नत्व सम्बन्धी शंका का समाधान प्रस्तुत है 'यस्यविदेः श्नशकौ तपरत्वे तनवचने तदु वा प्रतिषेधौ। श्यन्विकरणान्नविधिश्चिच्छदितुल्यः, लुग्विकरणो वलिपर्यवपन्नः ॥ इस श्लोकवार्त्तिक में उक्त विषय का प्रतिपादन अन्य श्लोक-वार्त्तिककार के मतानुसार प्रस्तुत किया गया है –

वेतेस्तु विदितो निष्ठा विद्यतेर्विन्न इष्यते।
विन्तेर्विन्नश्च वित्तश्च वित्तोयोगेषु विन्दतेः ॥

---

१ अ.सू.,८.१.६९
२ अ.सू.८.१.६७
३ मलोपश्चेति यत् कार्य वचनं तत् मलोपश्चेत्यादिना पूर्वमेवोक्तप्रयोजन-मित्यर्थः। –जिनेन्द्र बुद्धि न्यास.का.वृ.६,पृ.३१७
४ मयूरव्यंसकादयश्च। -अ.सू.२.१.७२
५ श्लोकान्तरगतत्वादयं पादः पठितो न त्वत्रास्योपयोगः कश्चित्। –हरदत्त पददमञ्जरी, का.वृ.६,पृ.३१७
६ अ.सू.,८.२.५८

पाणिनीय सूत्रों अथवा सामान्य वार्त्तिकों में अनुक्त विषय का प्रतिपादन श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा किया गया है यथा 'हेतौ'[१] सूत्र पर भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिकांश का ग्रहण किया है।

'निमित्तकारण हेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम्।'

इसका प्रयोजन अनुक्त विषय का प्रतिपादन है। 'सर्वनाम्नस्तृतीया च'[२] सूत्र से सर्वनाम हेतु के द्योत्य होने पर तृतीया तथा षष्ठी का विधान किया गया है प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकार्ध के द्वारा असर्वनाम हेतु से भी तृतीया विभक्ति का ग्रहण होता है। इसी प्रकार 'अपो भि'[३] सूत्र पर अपोभि मासश्छन्दसि वार्त्तिक उक्त है जिसके द्वारा मकारादि प्रत्यय परे रहते अप् को विहित तादेश वैदिक विषय में मास शब्द से भी प्राप्त होता है। भाष्यकार ने प्रस्तुत वार्त्तिक के पश्चात् 'स्ववस्स्वतवसोमसि उषसश्च त इष्यते।' श्लोकवार्त्तिक का ग्रहण किया है जिसके द्वारा मास शब्द से विहित तकारादेश सुवस्, स्वतवस् तथा उषस् शब्दों से मकारादि प्रत्यय परे रहने पर वैदिक भाषा में अभीष्ट है।

सूत्रों अथवा वार्त्तिकों में प्रयोगों की सिद्धि में कुछ दोषयुक्त प्रसंग हैं जिनको श्लोकवार्त्तिकों में निबद्ध किया गया है। यद्यपि इस प्रकार के कथन अल्प हैं तथापि कुछ प्रसंग हैं जिनके विषय में श्लोकवार्त्तिककार ने दोष की उद्भावना की है। यथा 'स्त्रियां च'[४] सूत्र पर भाष्यकार ने

तृज्वतस्त्रियां विभक्तौ चेत्क्रोष्ट्रीभक्तिर्नसिध्यति।
ईकारे तन्निमित्तं सः, गौरादिषु न पठ्यते॥
तेनैव भावनं चेत्स्यादनिष्टोऽपि प्रसज्यते।'

श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण किया है। इस श्लोक वार्त्तिक के द्वारा अपूर्व ईकार की आनुमानिक स्थिति स्वीकार करने पर इतरेतराश्रय दोष की सम्भावना की गई है।[५] वार्त्तिक लक्षण को आधार मानकर श्लोकवार्त्तिकों में प्रतिपादित विषय का

---

१ अ.सू., २.३.२३
२ वही, २.३.२७
३ वही, ७.४.४८
४ अ.सू., ७.१.९६
५ अपूर्वस्य त्वीकारस्यानुमानमाश्रित्य श्लोकवार्त्तिकारेण दोष उपात्तः। —केय्यटः प्रदीप. व्या.म.७.१.९६, भाग ३ पृ.८३

स्वरुप जाना जा सकता है । महाभाष्य में उद्धृत कारिकायें अथवा श्लोकवार्त्तिक महाभाष्य के महत्वपूर्ण अंग हैं । जिस प्रकार भाष्यकार पतञ्जलि ने वाक्यवार्त्तिकों एवं पाणिनिसूत्रों का व्याख्यान किया उसी प्रकार श्लोकवार्त्तिकों के व्याख्यान में परीक्षक दृष्टिकोण से विचार किया है । सामान्य वार्त्तिकों तथा श्लोकवार्त्तिकों में वार्त्तिकों के समान सूत्र का प्रयोजन व्याख्यात है यथा – 'भूवादयो धातवः'[१] सूत्र में भ्वादयो के स्थान पर सूत्रकार ने भूवादयो पद का ग्रहण किया है भाष्यकार ने 'भूवादीनां वकारोऽयं मङ्गलार्थो प्रयुज्यते श्लोकवार्त्तिकार्ध का ग्रहण किया है जिससे सूत्र में उक्त भूवादयो पद का प्रयोजन मंगल विधान स्पष्ट होता है । 'इको झल्'[२] सूत्र में कित् ग्रहण का प्रयोजन निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा णि लोप स्वीकार किया गया है ।

इकः कित्वं गुणो मा भूद्दीर्धारम्भात्कृते भवेत् ।
अनर्थकं तु ह्रस्वार्थं दीर्घाणां तु प्रसज्यते ॥
सामर्थ्याद्धि पुनर्भाव्यमृदित्वं दीर्घसंश्रयम् ।
दीर्घाणांनाकृते दीर्घे णिलोपस्तु प्रयोजनम् ॥

इसी प्रकार 'तस्य विकारः'[३] सूत्र पर भाष्यकार ने बाधनार्थ कृतं भवेत्, उत्सर्गः शेष एवासौ । श्लोकवार्त्तिकार्ध उद्धृत किया है, जिसके द्वारा 'तस्येदम्'[४] सूत्र में तस्य पद का ग्रहण अपत्य, समूह, निवास तथा विकार अर्थों में किया गया है अतः 'तस्यविकार'[५] सूत्र निष्प्रयोजन प्रतीत होता है परन्तु श्लोकवार्त्तिकार्ध के द्वारा सूत्र में तस्य ग्रहण का प्रयोजन विकारावयवों में अणादि[६] प्रत्ययों के सिद्ध होने पर उनका पुनर्विधान शैषिक[७] प्रत्ययों के बाधनार्थ स्वीकार किया है ।[८] 'आर्धधातुके'[९] सूत्र

---

१ अ. सू. १.३.१
२ अ. सू. १.२.९
३ वही, ४.३.१३३
४ वही, ४.३.१२०
५ वही, ४.३.१३३
६ तस्येदम् अ. सू. ४.३.१२०
७ शेषे । अ. सू., ४.२.९२
८ हरदत्त, पदमञ्जरी का. वृ. ६, पृ. ७१०
९ अ. सू. ४.४.४६

पर भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक का ग्रहण किया है जिसके द्वारा सूत्रारम्भ के प्रयोजन स्पष्ट किये हैं—

अतो लोपो यलोपश्च णिलोपश्च प्रयोजनम्।
आल्लोपो ईत्वमेवं च चिण्वद्भावश्च सीयुटि॥

सूत्रोक्त पदों का प्रयोजन स्पष्ट करने के साथ-साथ भाष्यकार ने श्लोक-वार्त्तिकों के ग्रहण से वार्त्तिकों का प्रयोजन भी स्पष्ट किया है। यथा 'लोहितादिक-तन्तेभ्यः'[१] सूत्र पर 'लोहितादिषु शाकल्यस्योपसङ्ख्यानम्' वार्त्तिक उक्त है जिसके आधार पर लोहितादिगण में शाकल का उपसंख्यान अभीष्ट है श्लोकवार्त्तिककार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक पढ़ा है—

कण्वात्तु शकलः पूर्वः कतादुत्तर इष्यते।
पूर्वोत्तरौ तदन्तादी ष्फाणां तत्र प्रयोजनम्॥

इस श्लोकवार्त्तिक के द्वारा लोहितादि गण में शाकल का उपसंख्यान करने का प्रयोजनष्फ तथा अण् प्रत्ययों की प्राप्ति माना है। जिस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों में सूत्रों व वार्त्तिकों का प्रयोजनात्मक विवेचन उपलब्ध होता है उसी प्रकार श्लोकवार्त्तिकों में सूत्र अथवा वार्त्तिकों में प्रतिपादित नियम का प्रत्याख्यान भी किया गया है। यथा 'स्थाध्वोरिच्च'[२] सूत्र में गृहीत तकारान्त इकार का प्रत्याख्यान निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा किया गया है।

इच्च कस्य तकारेत्वं दीर्घो मा भूदृतेऽपि सः।
अनन्तरे प्लुतो मा भूत्, प्लुतश्च विषये स्मृतः॥

कहीं-कहीं श्लोकवार्त्तिककार ने सूत्र तथा श्लोकवार्त्तिक दोनों का प्रत्या-ख्यान किया है यथा 'असिद्धवदत्राभात्'[३] सूत्र के प्रयोजन भाष्यकार ने वार्त्तिकों के माध्यम से प्रस्तुत किये हैं इन प्रयोजनों का प्रत्याख्यान निम्न श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा किया गया है।

---

१ अ.सू.,४.१.१८
२ वही,१.२.१७
३ अ.सू.,६.४.२२

उत्तु कृञः कथमोविनिवृत्तौ णेरपि चेटि कथं विनिवृत्तिः।
अब्रवतंस्तव योगमिमं स्यात्, लुक् चिणो नु कथं न तरस्य॥
यं भगवान् कृतवांस्तु तदर्थ, तेन भवेदिटि णेर्विनिवृत्तिः।
म्वोरपि ये च तथाप्यनुवृत्तौ चिण्लु किच क्ङित् एव हिं लुक् स्यात्॥

सूत्र ग्रहण का भी कोई प्रयोजन नहीं है मात्र प्रतिपत्ति गौरव दोष का परिहार करने के लिये सूत्र का आरम्भ किया गया है।[१] सूत्रों का स्पष्टीकरण करने में भी श्लोकवार्त्तिक सहायक हैं। कुछ सूत्रों पर सामान्य वार्त्तिक उद्धृत नहीं है। अपितु श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा ही विषय का स्पष्टीकरण प्रस्तुत है। 'निपात एकाजनाङ्'[२] सूत्र पर निम्न कारिका उद्धृत है—

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः।
एतमातं ङित्तंविद्यात्, वाक्यस्मरणयोरङित्॥

सूत्र में अनाङ् का ग्रहण किया गया है परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि किस अर्थ में आकार ङित् नहीं है। श्लोकवार्त्तिक से यह स्पष्ट होता है कि वाक्य तथा स्मरण अर्थों में आकार ङित् नहीं है ईषदर्थ तथा क्रियायोग अर्थ होने पर आकार ङित् माना जाता है। कहीं-कहीं पाणिनि और कात्यायन के अभिप्राय की अभिव्यक्ति श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा की गई है। पाणिनीय सूत्र 'अन्तर्वत्पतिवतोनुक्'[३] पर कात्यायनीय वार्त्तिक 'अन्तर्वत्पतिवदिति गर्भभर्तृसंयोगे' उक्त है। पाणिनि ने लोकव्यवहार में प्रसिद्ध गर्भ और भर्तृसंयोग का उल्लेख आवश्यक नहीं समझा परन्तु वार्त्तिककार ने आवश्यक माना है दोनों का अभिप्राय निम्न श्लोकवार्त्तिक में उक्त है—

अन्तर्वत्पतिवतोस्तु मतुब्वत्वे निपातनात्।
गर्भिण्यां जीवपत्यां च वा च छन्दसिनुग् भवेत्॥

इस कारिका में छन्द में विकल्प से विधान ही श्लोकवार्त्तिक में उक्त है। शेष, सिद्धान्त का प्रतिपादन दोनों आचार्यों के मत को स्पष्ट करने के लिये है।[४]

---

१ अनेकपरिहाराश्रयणे प्रतिपत्ति गौरवं मा मूदित्येवमारभ्यमाणे। – कैय्यट प्रदीप, व्या.म. ४.११.२, भाग २, पृ. ९०९
२ अ.सू. १.१.१४
३ अ.सू., ४.१.३२
४ त्रिपाठी, रामसुरेश 'श्लोकवार्त्तिक तथा अन्य वार्त्तिक प्रा.प्र. १९६९, अंक १, पृ. ६

श्लोकवार्त्तिकों में परिगणन के द्वारा भी सूत्रों का स्पष्टीकरण किया गया है । यथा 'आकर्षात्ष्ठल्'[१] सूत्र पर निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत है—

आकर्षात् पर्पादिर्भस्त्रादिभ्यः कुसीदसूत्राच्च ।
आवसथात् किसरादेः षितः षडेते ढगधिकारे ॥

जिसमें ठगधिकार में पठित सूत्रों में से छः को षित् माना गया है । इस परिगणन का प्रयोजन भ्रान्ति का निराकरण करना है ।[२]

कुछ श्लोकवार्त्तिकों में परिगणन मात्र कर दिया गया है जिससे सूत्रों की व्याख्या में सहायता प्राप्त होती है । यथा – 'अव्ययात्त्यप्'[३] पर भाष्यकार के निम्न श्लोकवार्त्तिकार्ध उद्धृत किया है 'अमेहक्वतसित्रेभ्य-स्त्यब्विधिर्योऽव्ययात्स्मृतः । इसके द्वारा सूत्र से विहित त्यप् प्रत्यय का विधान अमा, इह, क्व, तसि प्रत्ययान्त, त्रल् प्रत्ययान्त अव्ययों से किया गया है । भाषा में प्रचलित कुछ प्रयोग जो सूत्रों अथवा वार्त्तिकों में उक्त है उनकी निपातन रूप में सिद्धि श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा की गई है यथा 'अमावस्यदन्यतरस्याम्'[४] सूत्र पर अमावस्यत् पद के विषय में यत् प्रत्ययान्त निपातन को असंगत मानकर ण्यदन्त पक्ष में निपातन सिद्धि के लिये निम्न श्लोकवार्त्तिक उक्त है—

अमावसोरहं ण्यतोर्निपातयाम्यवृद्धिताम् ।
तथैकवृत्तिता तयोः स्वरश्च मे प्रसिद्ध्यति ॥

इसी प्रकार 'कौमारापूर्ववचने'[५] सूत्र पर निम्न श्लोकवार्त्तिक उक्त है—

कौमारापूर्ववचने कुमार्या अण्विधीयते ।
अपूर्वत्वं यदा तस्याः कुमार्या भवतीति वा ॥

इसमें स्त्रीत्व तथा पुंस्त्व दोनों की विवक्षा में कौमार निपातन अभीष्ट है । निपातनात्मक श्लोकवार्त्तिकों के अतिरिक्त कुछ श्लोकवार्त्तिक ऐसे भी हैं जिनमें

---

१ अ.सू. ४.४.९

२ श्लोकवार्त्तिककारः संदिग्धानसंदिग्धांश्च भ्रांतिनिरासाय पर्यजीगणत् । –कैय्यट. प्रदीप. व्या.म.(४.४.९) २, पृ. ४७७.

३ अ.सू. ४.२.१०४

४ अ.सू. ३.१.१२२

५ वही, ४.२.१३

उदाहरण पठित हैं यथा 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ'[१] सूत्र पर उक्त निम्न श्लोक-वार्त्तिक—

स्तोष्याम्यहं पादिकमौदवाहिं ततः श्वोभूते शातनीं पातनीं च।
नेतारावागच्छतं धारणिं रावणिं च ततः पश्चात् स्रंस्यतेध्वंस्यते च॥

इसी प्रकार 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च'[२] सूत्र पर उक्त निम्न श्लोक वार्त्तिक के द्वारा सूत्रोक्त धातुओं से अतिरिक्त क्त प्रत्ययान्त उदाहरणों का परिगणन किया गया है।

शीलितो रक्षितः क्षान्त आक्रुष्टो जुष्ट इत्यपि।
रुष्टश्च रुषितश्चोभावभिव्याहृत इत्यपि॥
हृष्टतुष्टौ तथाक्रान्तस्तथोभौ संयतोद्यतौ।
कष्टं भविष्यतीत्याहुरमृता पूर्ववत्स्मृताः॥

लौकिक भाषा के उदाहरणों के साथ-साथ वैदिक उदाहरणों की चर्चा भी श्लोकवार्त्तिकों में उपलब्ध होती है यथा – 'अत एकहलमध्येऽनादेशादेर्लिटि'[३] सूत्र पर उक्त श्लोकवार्त्तिक में अनेशम्, मेनका, यजायेजे, वपावेपे आदि वैदिक उदाहरणों की चर्चा है—

नशिमन्योरलिट्येत्वम्, छन्दस्यमिपपयोरपि।
अनेशं मेनकत्येतद्, व्येमानंलिङि पेचिरन्॥
यज्ञायेजे वपावेपे, दम्भ एत्वमलक्षणम्।
शनसोरत्वे तकारेण, ज्ञायते त्वेत्वशासनम्॥

कुछ श्लोकवार्त्तिकों में सूत्रोक्त पदों की व्युत्पत्ति सम्बन्धी निर्देश है यथा, 'परोक्षे लिट्'[४] सूत्र पर सूत्रोक्त पद 'परोक्षे' की व्युत्पत्ति को स्पष्ट करने के लिये निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किया गया है—

---

१ अ.सू., १.१.५७
२ अ.सू., ३.२.१८८
३ वही, ६.४.१२०
४ वही, ३.२.११५

परोभाव: परस्याक्षे परोक्षे लिटि दृश्यताम्।
उत्वं वाऽऽदे: परादक्ष्ण: सिद्धं वाऽस्मान्निपातनात्॥

सूत्रोक्त पदों की परिभाषाओं का कथनभी कुछ श्लोकवार्त्तिकों में किया गया है। यथा 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्'[१] सूत्र पर जाति लक्षण के विषय में शंका का समाधान निम्न श्लोक वार्त्तिक प्रस्तुत करता है—

आकृतिग्रहणाज्जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणै: सह॥

शब्द के बाह्य स्वरूप के अतिरिक्त दार्शनिक पक्ष की विवेचना भी श्लोकवार्त्तिकों में उपलब्ध होती है। यथा – ञमङ्णनम्, झभञ्[२] सूत्र पर श्लोकवार्त्तिककार ने शब्द ज्ञान को ही वाणी का विषय माना है तथा वर्ण ज्ञान के द्वारा ही शब्द-ब्रह्म की प्राप्ति को स्वीकार किया है।

वर्णज्ञानं वाग्विषयो, यत्र च ब्रह्म वर्तते।
तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं, लध्वर्थं चोपदिश्यते॥

सूत्र से सम्बद्ध शंकाओं की उद्‌भावना तथा उनका समाधान करने में भी श्लोकवार्त्तिक सहायक सिद्ध हुये हैं यथा 'सौच'[३] सूत्र पर तीन श्लोकवार्त्तिक उक्त हैं।

दीर्घविधिर्य इहेन् प्रभृतीनां तं विनियम्य सुटीति सुविद्वान्।
शौ नियमं पुनरेव विदध्याद् भ्रूणहनीति तथास्य न दुष्येत॥
शास्मि निवर्त्य सुटीत्यविशेषे शौ नियमं कुरु वाऽप्यसमीक्ष्य।
दीर्घविधेरूपधानियमान्मे हन्ति (हन्त) यि दीर्घविधौ च न दोष:॥
सुट्यपि वा प्रकृतेऽनवकाश: शौ नियमो प्रकृत प्रतिषेधे।
यस्य हि शौ नियम: सुटि नैतत् ते न तत्र भवेद् विनियम्यम्॥

सर्वनामस्थान प्रकरण होने के कारण नियम द्वारा दीर्घ का व्यावर्तन सर्वनामस्थान संज्ञा[४] में ही होगा अन्यत्र नहीं। अत: असर्वनामस्थान में नियम के अभाव में दीर्घत्व की प्राप्ति होगी। इस दोष का परिहार करने के लिये योगविभाग का

---

१ अ.सू.,४.१.६३
२ वही,प्र.सू.,७८
३ वही,६.४.१३
४ सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ। – अ.सू.,६.४.८

आश्रय लेने पर तीन स्थिति स्पष्ट होती है जिनका क्रमशः प्रतिपादन श्लोकवार्त्तिकों में किया गया है।

(१) सर्वनाम स्थान ग्रहण की अनुवृत्ति के साथ दो योग से दो नियमों की सिद्धि।

(२) सर्वनामस्थान ग्रहण की उपेक्षा कर प्रत्ययमात्राश्रय से एक ही योग से कार्य की सिद्धि।

(३) सर्वनामस्थान ग्रहण के अनुवर्तन करने पर भी योगविभाग के बिना कार्य सिद्धि।

इन्हीं तीनों पक्षों पर आधारित शंका समाधान इन तीनों श्लोकवार्त्तिकों में उक्त हैं।

भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों के उद्धरण में विशिष्ट शैली का प्रतिपादन किया है। व्याख्यान-भाष्य के अन्तर्गत वे श्लोकवार्त्तिक का व्याख्यान सामान्य-वार्त्तिकों के रूप में करते हैं तथा व्याख्यान-भाष्य के अन्त में पूर्ण श्लोकवार्त्तिक को संग्रह[१] के रूप में पुनः पढ़ते हैं — यथा 'इकोयणचि'[२] सूत्र पर निम्न संग्रह (श्लोकवार्त्तिक उक्त हैं जिनमें सूत्रोक्त पद इग्ग्रहण सम्बन्धी शंका की उद्‌भावना तथा उसका समाधान प्रस्तुत किया गया है।

जश्त्वं न सिद्धं यणमत्र पश्य, यश्चापदान्तो हलचश्च पूर्वः।
दीर्घस्ययण् ह्रस्व इति प्रवृत्त सम्बन्धवृत्त्या गुणवृद्धिबाध्यम्॥
नित्यं च यः शाकलभाक्समासे, तदर्थमेतद्‌भगवांश्चकार।
सामर्थ्ययोगान्नहि किंचिदस्मिन्, पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्॥

इसी प्रकार 'तयोर्य्वावचि संहितायाम्'[३] सूत्र पर उद्धृत निम्न श्लोकवार्त्तिकों में सूत्र प्रयोजन सम्बन्धी शंका का समाधान प्रस्तुत है जिन्हें संग्रहश्लोक[४] माना गया है।

---

१ कहीं-कहीं सूत्र और वार्त्तिक के अभिप्राय को ही श्लोकबद्ध कर दिया गया है कैय्यट ने इन्हें संग्रह श्लोक माना है। त्रिपाठी, रामसुरेश, प्राप्र १९६९, अकं १, पृ.४

२ अ. सू., ६.१.७७

३ अ.सू., ८.२.१०८

४ पूर्वोक्तार्थसंग्रहश्लोकद्वयम् — किं नु यणेति। — कैय्यट प्रदीप. व्या. म. (८.२.१०८) ३, पृ.४३०

किं नु यणा भवतीह नसिद्धं यवाविदुतोर्यदयं विधाति।
तौच मम स्वरसन्धिषु सिद्धौ शाकलदीर्घविधी तु निवर्त्यौं॥
इक् तु यदा भवति प्लुतपूर्वस्तस्य यणं विदधात्यपवादम्।
तेन तयोश्च न शाकलदीर्घौं यण्स्वरबाधनमेव तु हेतुः।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों में व्याकरणात्मक सिद्धान्तों का विवेचन तथा प्रतिपादन प्रयोजनात्मक, प्रत्याख्यानात्मक, निर्वचनात्मक, निपातनात्मक, उदाहरणात्मक परिभाषात्मक व संग्रहात्मक दृष्टिकोण से किया गया है। श्लोकवार्त्तिकों के उक्त स्वरूप को दृष्टि में रखते हुये श्लोकवार्त्तिकों को निम्न श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।[१]

(१) अव्याख्यात श्लोकवार्त्तिक – महाभाष्य में अनेक कारिकाओं पर भाष्यकार ने व्याख्यान भाष्य नहीं दिया। इन्हीं कारिकाओं को प्रो. गोल्डस्टूकर[२] ने अव्याख्यात श्लोकवार्त्तिक नाम से अभिहित किया है। इन श्लोकवार्त्तिकों को भाष्यकार ने व्याख्यान प्रसंग में उद्धृत किया है। इन श्लोकवार्त्तिकों को भी दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। (१) प्रथम वे हैं जिनका व्याख्यान प्रसंगों के मध्य में पतञ्जलि ने ग्रहण कर लिया है। 'क्तेन नञ् विशिष्टेनानञ्'[३] सूत्र पर भाष्यकार ने निंम्न श्लोक वार्त्तिक उद्धृत किया है परन्तु इस पर व्याख्यान भाष्य नहीं किया है।

अवधारणं नञा चेन्नुडिड्विशिष्टेन न प्रकल्पेत।
अथ चेदधिकविवक्षा कार्यं तुल्य प्रकृतिकेन॥

इसी प्रकार 'तनादिकृञ्भ्यः उः'[४] सूत्र पर निम्न श्लोकवार्त्तिक उक्त है—

---

१ Some of these verses have been fully commented upon by Patañjali of others he has merely given the general import or he has appended to them an occasional remark only. Prof. Kiel. Ind. Ant. 1886, p.288.

२ One portion of the Kārikās is left by Patañjali entirely without comment. -Gold. Pāṇini, p.104.

३ अ.सू., २.२.६०

४ वही, ४.१.१६१

तनादित्वात्कृञः सिद्धं सिज्लोपे च न दुष्यति।
चिण्वद्भावेऽत्र दोषः स्यात्सोऽपि प्रोक्तोविभाषया॥

इस श्लोकवार्त्तिक पर व्याख्यान भाष्य उपलब्ध नहीं होता। श्लोकवार्त्तिक से ही कृञ् ग्रहण का प्रत्याख्यान किया गया है। 'मनोर्जातावञ्यतो षुक् च'[1] सूत्र पर अण् प्रत्ययान्त मानवः शब्द के स्थान पर माणवः शब्द की सिद्धि करने के लिये निम्न श्लोकवार्त्तिक उक्त है—

अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः।
नकारस्य च मूर्धन्यस्तेन सिध्यंति माणवः॥

इस श्लोकवार्त्तिक पर व्याख्यान भाष्य नहीं किया गया है। 'आद् गुणः'[2] सूत्र पर भाष्यकार ने सूत्रोक्त पद गुण के प्रयोजन से सम्बद्ध शंका की उद्भावना की है तथा समाधनार्थ निम्न श्लोकवार्त्तिक ग्रहण किये हैं—

आदेकश्चेद् गुणः केन, स्थानेऽन्तरतमो हि सः।
ऐदौतौ नैचि तावुक्तो ऋकारो नोभयान्तरः॥
आकारो नर्तिधातो सः, प्लुतश्च विषये स्मृतः।
आन्तर्यात् त्रिचतुर्मात्रास्, तपरत्वान्न ते स्मृताः॥

सम्पूर्ण श्लोकवार्त्तिकों के अतिरिक्त कहीं-कहीं श्लोक का केवल एक पाद अथवा श्लोकार्ध गृहीत है। यथा 'अइउण्'[3] प्रत्याहार सूत्र पर 'स्थानी प्रकल्पयेदे-तावानुस्वारो यथा यणम् तथा 'दाणश्च सा चैच्चतुर्थ्यर्थे'[4] सूत्र पर सहयुक्ते तृतीया स्यात् व्यतिहारे तङो विधिः' आदि श्लोकांशो का ग्रहण भाष्यकार ने प्रसंगवश किया है। ये श्लोकार्ध व्याख्यान में पूर्ण सहायक हैं। णिश्विभ्यां तौ निमातव्यौ'[5] जैसे श्लोक पादों का अध्याहार इसी श्रेणी में किया जा सकता है।

---

१ अ. सू., ४.१.१६१
२ अ. सू., ६.१.८७
३ प्र. सू., १
४ अ. सू., १.३.५५
५ इको गुणवृद्धी अ. सू., १.१.३

द्वितीय प्रकार के अव्याख्यात श्लोकवार्त्तिक सम्बद्ध सूत्र पर कृत व्याख्यान-भाष्य के अन्त में आते हैं। इन्हें सार या संग्रह श्लोकवार्त्तिक नाम से अभिहित किया गया है। सार श्लोक सूत्र के भाष्य के मध्य में तथा अन्त में पठित हैं।[१] यथा सप्तम्यधिकरणे च[२] सूत्र पर उक्त निम्न श्लोकवार्त्तिक—

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्।
केशेषु चमरीं हन्ति, सीम्नि पुष्कलको हतः॥

भाष्यकार ने व्याकरण के सिद्धान्तों का उपयुक्त व्याख्यान करने के लिये कहीं-कहीं सूत्र और वार्त्तिक के अभिप्राय को ही श्लोकबद्ध कर दिया है। इनमें सार[३] नहीं है अपितु इन्हीं संग्रह श्लोक नाम से अभिहित किया गया है। प्रथम प्रकार के श्लोकवार्त्तिक वे हैं जिनमें पूर्वकथित वार्त्तिक का ही व्याख्यान-सार पतञ्जलि देते हैं। द्वितीय श्रेणी संग्रह श्लोकों की है। यथा 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः'[४] सूत्र पर भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिकों में अर्थ संगृहीत किया है—

डा रौ रसः कृते टेरे यथा द्वित्वं संप्रसारणे।
समसंख्येननार्थोऽस्ति सिद्धं स्थानेऽर्थतोऽनन्तरः॥
आन्तर्यतो व्यवस्था त्रय एवेमे भवन्तु सर्वेषाम्।
टेरेत्वं च परत्वात्कृतेपि तस्मिन्निमे सन्तु॥

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के सम्बन्ध में कैय्यट का भी यही मत है।[५] इसी प्रकार 'आतोऽनुपसर्गे कः'[६] सूत्र पर निम्न सङ्ग्रह श्लोकवार्त्तिक उद्धृत हैं।

नित्यं प्रसारणं ह्वो यण् वार्णादाङ्गं न पूर्वत्वं हि।

---

१ Again there are verses to repeat in a summary way that has been already stated before in prose. –Prof. Kiel. Ind.Ant. 1886, p.228.

२ अ.सू., २.३.३६

३ The second class has not the character of summaries of the Varttikas. –Prof. Gold. PŚṇini, p.106.

४ अ.सू., २.४.८५

५ एष एवार्थः आर्यया प्रदर्शितः आन्तर्यत इति। – कैय्यट प्रदीप व्या.म., २.४.८५

६ अ.सू., ३.२.३

योऽनादिष्टादयः पूर्वस्तत् कार्ये स्थानिनत्वं हि ॥
प्रोवाच भगवान्कात्यस्ते नासिद्धिर्यणस्तु ते ।
आतः को लिण्नैङः पूर्वः सिद्धः आहवस्तथा सति ॥

कैय्यट ने उक्तार्थ के संग्रह के लिये इन श्लोकवार्त्तिकों को माना है । 'तस्य पुरणे डट्'[१] सूत्र पर भाष्यकार ने संग्रह श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं जिनमें वार्त्तिकों में उक्त विषय को निबद्ध किया गया है ।[२] इस प्रकार इन श्लोकवार्त्तिकों में पूर्वोक्त अर्थ की ही पुनरुक्ति प्राप्त होती है ।[३]

अव्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों में कुछ ऐसे श्लोकवार्त्तिक भी है जिनको भाष्यकार ने 'अन्ये' अथवा 'अपर आह' कथन से उद्धृत किया है ।[४] इनमें कुछ ऐसे श्लोक वार्त्तिक हैं जिनमें भाष्यकार के द्वारा व्याख्यात वार्त्तिकों के कुछ भिन्न मत का प्रतिपादन किया गया है । यथा 'कण्ड्वादिभ्यो यक्'[५] सूत्र पर भाष्यकार ने अपर आह कथन के पश्चात् निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किया है—

धातुप्रकरणाद्धातुः कस्य चासञ्जनादपि ।
आह चार्यामिमं दीर्घं मन्ये धातुर्विभाषितः ॥

यह श्लोकवार्त्तिक पूर्ण रूप से अव्याख्यात है । इसी प्रकार 'वोतो गुणवचनात्'[६] सूत्र पर भाष्यकार ने गुणवचन का विवेचन करते हुये अपर आह के पश्चात् निम्न कारिका पढ़ी है—

उपैत्यन्यज्जहात्यन्यद् दृष्टो द्रव्यान्तरेष्वपि ।
वाचकः सर्वलिङ्गानां द्रव्यादन्यो गुणो स्मृतः ॥

---

१ अ.सू.,५.२.४८
२ प्रकृत्यर्थादिति पूर्वोक्तार्थसङ्ग्रहश्लोकाः । – कैय्यट प्रदीप. व्या.म. २, पृ. ५६९
३ Prof. Kiel. Ind.Ant. 1886, p.233.
४ If we first examine the Kārikās withoutt comment we meent twice with the remark of Patañjali that "another" or 'other'. -Prof. Gold. Pāṇini, p.104.
५ अ.सू.,३.१.२७
अ.सू.,४.१.४४

जिस पर व्याख्यान-भाष्य उपलब्ध नहीं होता। इसी प्रकार 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्'[१] सूत्र पर उक्त निम्न कारिका अपर आह के पश्चात् उद्धृत है तथा अख्याख्यात है।

प्रादुर्भावविनाशाभ्यां सत्वस्य युगपद्गुणैः।
असर्वलिङ्गां बह्वर्थां तां जातिं कवयो विदुः॥

इस श्लोकवार्त्तिक में जाति लक्षण की चर्चा अन्य वैयाकरण के मतानुसार की गई है। 'अकथितं च'[२] सूत्र पर भाष्यकार ने शंका की उद्भावना की है कि लादिविधान कथित कर्म से होना चाहिये अथवा अकथित कर्म से इस विषय का समाधान करते हुये 'अपर आह' के पश्चात् निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किया है—

प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्।
अप्रधाने दुहादीनां, ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः॥

यह भी अव्याख्यात श्लोकवार्त्तिक है। इस प्रकार अव्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों के विवेचन के आधार पर अव्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों की श्रेणी में तीन प्रकार के श्लोकवार्त्तिकों का परिगणन संगत प्रतीत होता है।

(१) श्लोकांश या पूर्ण श्लोक जो व्याख्यान के मध्य में उपस्थित हैं।

(२) संग्रहश्लोक जो व्याख्यान के अन्त में संगृहीत है।

(३) 'अपर आह' कथन के साथ उद्धृत श्लोक जिन पर व्याख्यान-भाष्य नहीं किया गया।

(२) महाभाष्य में उद्धृत श्लोकवार्त्तिकों की द्वितीय श्रेणी में उन श्लोकवार्त्तिकों का अन्तर्भाव किया जा सकता है जिन पर भाष्यकार ने पूर्ण रूप से व्याख्यान किया है।[३] अर्थात् जिन श्लोकवार्त्तिकों पर भाष्यकार द्वारा सम्पुटीकरण शैली से व्याख्यान किया गया है वे व्याख्यात श्लोकवार्त्तिक कहे जा सकते हैं।

---

१ अ.सू., ४.१.६७
२ वही, १.४.५१
३ While he comments on another portion in the same manner as he does on the Vārtikas.–Prof. Gold. Pāṇini, p.104.

सम्पुटीकरण शैली से अभिप्राय भाष्यकार की विशिष्ट व्याख्यान शैली से है। श्लोकवार्त्तिकों की व्याख्या के प्रसंग में भाष्यकार की शैली है कि वे पहले वार्त्तिक व्याख्यान भाष्य लिखते हैं बाद में प्रायः उस सूत्र के भाष्य के अन्त में पूर्ण श्लोकवार्त्तिक को पुनः पढ़ते हैं। यही प्रक्रिया सम्पुटीकरण प्रक्रिया है।[१] इनमें से कुछ श्लोकवार्त्तिक कात्यायनीय वार्त्तिकों पर विचार करते हैं इनका व्याख्यान सम्पुटीकरण शैली में किया गया है। यथा 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे'[२] सूत्र पर भाष्यकार ने

ईदूतौ च सप्तमीत्येव, लुप्तेऽर्थग्रहणाद्भवेत्।
पूर्वस्य चेत्सवर्णोऽसावाडाम्भावः प्रसज्यते॥
वचनायत्र दीर्घत्वं, तत्रापि सरसी यदि।
ज्ञापकं स्यात्तदन्तत्वे, मा वा पूर्वं पदस्य भूत्॥

. श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं जिनमें वार्त्तिकों के सम्बन्ध में विचार किया गया है। इसका व्याख्यान पहले वार्त्तिकों के समान किया गया है तथा अन्त में पूर्ण श्लोकवार्त्तिक पुनः उक्त है। व्याख्यात श्लोकवार्त्तिक महाभाष्य में दो प्रकार से उद्धृत हैं। (१) प्रथम सूत्र के व्याख्यान-भाष्य के प्रारम्भ में कुछ श्लोकवार्त्तिक उक्त हैं[३] तथा (२) द्वितीय व्याख्यान के मध्य में कुछ श्लोकवार्त्तिक उद्धृत हैं।[४] इनमें भाष्यकार ने अनेक ऐसे श्लोकवार्त्तिकों की व्याख्या की है जो व्याख्यान में तर्क-वितर्क[५] प्रस्तुत करते हैं यथा 'अकथितं च'[६] सूत्र पर—

कथितेलादयश्चेत्स्युः षष्ठीं कुर्यात्तदा गुणे।

---

१ त्रिपाठी रामसुरेश, प्रा.प्र. वर्ष १९६९ अंक १, पृ.४

२ अ.सू., १.१.१९

३ Such Kārikās are met with at or near the beginning of the Bhāshya. –Prof. Gold. Pāṇini, p. 109.

४ ibid.

५ We again find many which form an essential part of the arguments in the discussion of Patañjali. –Prof. Gold. Pāṇini, p.109.

६ अ.सू., १.४.५१

अकारकं ह्यकथितत्वात् कारकं चेत्तु नाकथा ॥

तथा –

कारकं चेद्विजानीद्यां यां मन्येत सा भवेत् ।

कारिकाओं के द्वारा लादि विधान के सम्बन्ध में तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। प्रथम श्रेणी के श्लोकवार्त्तिकों का व्याख्यान भाष्यकार ने सूत्र-भाष्य के प्रारम्भ में किया है यथा – 'उणादयो बहुलम्'[१] सूत्र पर भाष्यकार ने सूत्रोक्त बहुलवचन के सम्बन्ध में शंका की उद्भावना की है तथा निम्न दो श्लोकवार्त्तिकों को व्याख्यान-भाष्य के प्रारम्भ में उद्धृत किया है—

बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः, प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम् ।
कार्यसंविशेषविधेश्च तदुक्तं, नैगमरूढिभवं हि सुसाधु ॥
नाम च धातुजमाह निरुक्ते, व्याकरणे शकटस्य च तोकम् ।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं, प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् ॥

इसी प्रकार 'स्त्रियाम्'[२] सूत्र के व्याख्यान-भाष्य से पूर्व निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत है जिनका व्याख्यान भाष्यकार ने किया है—

स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः ।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम् ॥
लिङ्गात्स्त्रीपुंसयोर्ज्ञाने भ्रूकुंसे टाप्प्रसज्यते ।
नत्वं खरकुटी पश्य खट्वावृक्षो न सिध्यतः ॥

इसमें स्त्रीत्व के लौकिक लक्षण की चर्चा की गई है। 'वाऽन्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति'[३] सूत्र पर भाष्यकार ने गोत्र संज्ञा[४] तथा युव संज्ञा[५] दोनों के समावेश के सम्बन्ध में शंका की उद्भावना की है तथा निम्न श्लोकवार्त्तिकों के

---

१ अ. सू., ३.३.१
२ वही, ४.१.३
३ अ. सू. ४.१.१६५
४ अपत्यं गोत्रप्रभृति गोत्रम् । – अ. सू., ४.१.१६२
५ जीवति तु वंश्ये युवा । – वही, ४.१.१६३

द्वारा इसका समाधान किया है ये श्लोकवार्त्तिक व्याख्यान भाष्य के प्रारम्भ में उक्त हैं।

गोत्रयूनोः समावेशे को दोषस्तत्कृतं भवेत्।
यस्कादिषु न दोषोऽस्ति, न यूनीत्यनुवर्तनात्॥
दोषो त्रिबिदपञ्चाला, न यूनीत्यनुवर्तनात्।
कण्वादिषु न दोषोऽस्ति, न यून्यस्ति ततः परम्॥
एकोगोत्रे प्रतिपदं गोत्राद्, यूनि च तत् स्मरेत्।
राजन्याद् वुञ् मनुष्याच्च ज्ञापकं लौकिकं परम्॥

सूत्र के व्याख्यान के मध्य प्रसंगवश श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये गये हैं। यथा 'एकोगोत्रे'[१] सूत्र पर भाष्यकार ने व्याख्यान-भाष्य के मध्य दोष का निराकरण करने के लिये निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किया है।

अपत्यं समुदायश्चेन्नियमोऽत्र समीक्षितः।
तस्मिन्सुबहवः प्राप्ता, नियमोऽस्य भविष्यति॥

इसका व्याख्यान सूत्र-व्याख्यान-भाष्य के मध्य में ही किया गया है। इसी प्रकार 'आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक्'[२] सूत्र पर संख्या तथा परिमाण का पृथक्त्व स्वीकार किया है। जिसका विवेचन व्याख्यान-भाष्य के मध्य में निम्न कारिका के द्वारा किया गया है—

ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं, परिमाणं तु सर्वतः।
आयामस्तु प्रमाणं स्यात्। संख्या बाह्या तु सर्वतः।
भेदमात्रं ब्रवीत्येषा, नैषा मानं कुतश्च न॥

'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्'[३] सूत्र पर निम्न श्लोकवार्त्तिक व्याख्यान में प्रसंगवश उद्धृत है—

शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थिकः।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः, सन्नतान्नसनिष्यते॥

---

१ अ.सू.,४.१.९३
२ वही,५.१.१९
३ अ.सू.५.२.९४

जिसमें सूत्रोक्त अस्ति ग्रहण के प्रयोजन का निर्देश है तथा मतुबन्त से मतुप् प्रत्यय का निषेध अभीष्ट है। 'दो दद्घोः'[१] सूत्र पर ददादेश के विषय में शंकाओं की उद्‌भावना तथा समाधान व्याख्यान-भाष्य में उद्धृत निम्न कारिका के द्वारा प्रस्तुत किया है—

तान्ते दोषो दीर्घत्वं, दान्ते दोषो निष्ठा नत्वम्।
धान्ते दोषो धत्वप्राप्ति, थान्तेऽदोषस्तस्मात्थान्तम्॥

व्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों में कुछ ऐसे श्लोकवार्त्तिक भी हैं जिनको भाष्यकार ने 'अपर आह' कथन के पश्चात् उद्धृत किया है तथा उनकी व्याख्या की है। अपर आह के संकेत से उक्त व्याख्यात श्लोकवार्त्तिक भी दो प्रकार के हैं। प्रथम वे हैं जिनमें कात्यायनीय वार्त्तिकों का विरोध किया गया है। यथा 'भृञोऽसंज्ञायाम्'[२] सूत्र पर वार्त्तिककार ने 'संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञशीङ्भृञिणः'[३] सूत्र के साथ 'न स्त्रियां भृञः' का न्यास करने पर भार्या शब्द की सिद्धि ण्यत् प्रत्यय से की है। भाष्यकार ने इसका खण्डन 'भावे इति तत्रानुवर्तते' वचन से किया है इसी अर्थ को 'अपर आह' के पश्चात् निम्न श्लोकवार्त्तिक में निबद्ध किया है।

संज्ञायां पुंसि दृष्टत्वान्न ते भार्या प्रसिध्यति।
स्त्रियां भावाधिकारोऽस्ति तेन भार्या प्रसिध्यति॥

इसी प्रकार 'उपेयिवाननाश्वानूचानश्च'[४] सूत्र पर अपर आह के पश्चात् निम्न कारिका का ग्रहण वार्त्तिककार के मत का खण्डन करता है।

नोपेयिवान्निपात्यो द्विर्वचनादिड् भविष्यति परत्वाद्।
अन्येषामेकाचां द्विर्वचनं नित्यमित्याहुः॥

द्वितीय महाभाष्य में अपर आह के पश्चात् कुछ ऐसे श्लोकवार्त्तिक भी व्याख्यात हैं जिनके द्वारा पूर्वोक्त श्लोकवार्त्तिक का प्रत्याख्यान किया गया है। यथा 'इद् गोण्याः'[५] सूत्र पर अपर आह के पश्चात् 'गोण्या इत्वं प्रकरणात् सूच्याद्यर्थमथापि वा' से पूर्व उक्त है। कारिका में सूत्र में गृहीत इत्व विधान

---

१ अ.सू.,७.४.४६
२ वही,३.१.११२
३ वही,३.३.९९
४ अ.सू.,३.२.१०९
५ वही,१.२.५०

निष्प्रयोजन माना गया है। श्लोकवार्त्तिक से प्रस्तुत मत का खण्डन करके इत्व-विधान का प्रयोजन सूच्यादि में ह्रस्वत्व विधान माना गया है। इसके अतिरिक्त 'अकथितं च'[१] सूत्र पर 'अपर आह' के पश्चात् उक्त श्लोकवार्त्तिक

प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्।
अप्रधाने दुहादीनां, ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः॥

के द्वारा पूर्वोक्त श्लोकवार्त्तिक—

कथितेऽभिहिते त्वविधिस्त्वमतिर्गुणकर्मणि लादिविधिः सपरे।
ध्रुवचेष्टितयुक्तिषु चाप्यगुणे, तदनल्पमतेर्वचनं स्मरत॥

का खण्डन किया गया है। इस कारिका में गत्यर्थक और अकर्मक धातुओं के प्रधान कर्म मेंतथा अकथित कर्म के गौण कर्म में लादि विधान अभीष्ट है जबकि प्रत्याख्यानात्मक कारिका में केवल प्रयोज्य में कर्म में लादि विधान निर्दिष्ट है।

इस प्रकार व्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों में सम्पुटीकरण शैली से व्याख्यात कात्यायनीय वार्त्तिकों का प्रत्याख्यान करने वाले श्लोकवार्त्तिकों का प्रत्याख्यान करने वाले तथा व्याख्यान भाष्यावयव के रूप में व्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों का अन्तर्भाव किया जा सकता है।

(३) अव्याख्यात तथा व्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों के अतिरिक्त अन्य श्लोक-वार्त्तिक भी महाभाष्य में उद्धृत हैं जिनका न तो पूर्ण रूप से व्याख्यान किया गया है तथा न ही पूर्ण रूप से वे अव्याख्यात हैं।[२] ऐसे श्लोकवार्त्तिकों को अंशतः व्याख्यात श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है। व्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों की भांति अंशतः व्याख्यात श्लोकवार्त्तिक हैं जिनमें वार्त्तिकों से भिन्न विचार प्रस्तुत है अथवा अनेक श्लोकवार्त्तिक वार्त्तिकों से सम्बद्ध नहीं हैं अपितु व्याख्यान भाष्य में उक्त हैं — यथा 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः'[३] सूत्र पर—

---

१ अ.सू., १.४.५१

२ There are a few Varttikas which are not altogether without a gloss, but the gloss on which is so scanty and so different from kind of comment bestowed on the Varttikas that they might seem to constitute on the third cate gory of Karikās. –Prof. Gold. Panini, p.109.

३ अ.सू., १.१.३८

कृत्तद्धितानां ग्रहणं तु कार्यं संख्या विशेषं ह्यभिनिश्चिता ये ।
तस्मात्स्वरादि ग्रहणं च कार्यं कृत्तद्धितानां ग्रहणं च पाठे ॥

श्लोकवार्त्तिक उक्त है जिसके पूर्वार्ध का भाष्यकार ने 'तेषां प्रतिषेधो भवतीति वक्तव्यम् । इह मा भूत् । एको द्वौ बहव इति' शब्दों में व्याख्यान किया है । इसका उत्तरार्थ अव्याख्यात है । इसी प्रकार 'कौमारापूर्ववचने'[1] सूत्र पर निम्न कारिका उद्धृत है—

कौमारापूर्ववचने कुमार्या अण्विधीयते ।
अपूर्वत्वं यदा तस्याः कुमार्या भवतीति वा ॥

इसके उत्तरार्ध की व्याख्या भाष्यकार ने अथवा कुमार्या भवः कौमारः । यद्येवं कौमारी भार्येति न सिध्यति पुंयोगादभिधानं भविष्यति । कौमारस्य भार्या कौमारी' इन शब्दों में किया है जबकि उत्तरार्ध अव्याख्यात है । 'नित्यं समासे नुत्तरपदस्थस्य'[2] सूत्र पर भाष्यकार ने—

ऐकार्थ्ये सामर्थ्ये वाक्ये षत्वं न मे प्रसज्येत ।
तस्मादिह व्यपेक्षां सामर्थ्यं साधुं मन्यन्ते ॥
अथ चेत्कृदन्तत्ततोऽधिकेनैव मे भवेत्प्राप्तिः ।
वाक्य च मे विभाषा प्रतिषेधो न प्रकल्पेत ॥

श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं इनमें से 'ऐकार्थ्ये सामर्थ्ये वाक्ये षत्वं न ये प्रसज्येत तथा वाक्य च मे विभाषा प्रतिषेधोन प्रकल्पेत अंश व्याख्यात है शेष अव्याख्यात है ।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों की तीन श्रेणियां अव्याख्यात, व्याख्यात तथा अंशतः व्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों में भाष्योक्त प्रायः समस्त श्लोकवार्त्तिकों का अन्तर्भाव हो जाता है । यह वर्गीकरण श्लोकवार्त्तिकों के स्वरूप को समझने में सहायक है ।

श्लोकवार्त्तिकों के विषय में अध्ययन करते हुये इनके छन्दों का परिचय आवश्यक प्रतीत होता है । जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है अधिकांश श्लोक वार्त्तिक

---

१ अ.सू.,४.२.१३
२ वही,८.३.४५

अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध है तथापि एक ही वैयाकरण की कृति न होने के कारण इनमें अन्य छन्द भी उपलब्ध होते हैं। अनुष्टुप् से लेकर दोधक तक अनेक प्रकार के छन्द इनमें प्रयुक्त हैं। श्लोक के अतिरिक्त जगती, आर्या, इन्द्रवज्रा, दोधक, तोटक, विद्युन्माला उपजाति आदि छन्दों में श्लोकवार्त्तिक उक्त हैं।[१] 'हयवरट्'[२] सूत्र पर—

अनुवर्तते विभाषा शरोऽचि, यद्वारयत्ययं द्वित्वम्।
नित्ये हि तस्य लोपे, प्रतिषेधार्थो न कश्चित्स्यात्॥

श्लोकवार्त्तिक आर्या छन्द में निबद्ध है।[३] 'क्तेन न विशिष्टेना' नञ्[४] सूत्र पर उक्त निम्न कारिका आर्या छन्द में उक्त है[५]—

अवधारणं नञाचेन्नुडिड्विशिष्टेन न प्रकल्पेत।
अथचेदधिकविवक्षा कार्यं तुल्यप्रकृतिकेन॥

'लुटः प्रथमस्य डा रौ रसः'[६] सूत्र पर उक्त निम्न कारिका भी आर्या छन्द में[७] है।

आन्तर्यतो व्यवस्था त्रय एवेमे भवन्तु सर्वेषाम्।
टेरेत्वं च परत्वात्कृतेऽपि तस्मिन्निमे सन्तु॥

'स्वरितेनाधिकारः'[८] सूत्र पर उक्त—

अधिकार गतिस्त्रयर्था, विशेषायाधिकं कार्यम्।
अथ योऽन्योऽधिकः, कारः पूर्वविप्रतिषेधार्थः सः॥

---

१ They form a verse - aśloka, an Indravajrā a Dodhaka an Āryā or the like. –Prof. Gold. Pāṇini, p.111.

२ प्र.सू.,५

३ वार्त्तिककारीयमार्याधार्मिति केचित्। – त्रिपाठी रामसुरेश, प्रा.प्र.१९६९, अंक १, पृ.४

४ अ.सू.,१.२.६०

५ पूर्वोक्त एवार्थः आर्यया संगृहीतः। – कैय्यट प्रदीप, व्या.म. १,पृ.४०५

६ अ.सू.,२.४.८५

७ एष एवार्थः आर्यया प्रदर्शिताः। – कैय्यट प्रदीप, व्या.म. २.४.८५

८ अ.सू.,१.३.२

तथा 'अज्झलोः प्रतिषेधे शकारप्रतिषेधोऽज्झलत्वात् श्लोकवार्त्तिकों में वक्तृ छन्द है।' 'अकथितं च'[१] सूत्र पर उक्त निम्न कारिका उपजाति छन्द में निबद्ध है—

कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञाह्यकर्मणाम्।
विपरीतं तु यत्कर्म, तत्कल्म कवयो विदुः॥

'परः सन्निकर्षः संहिता'[२] सूत्र पर उक्त निम्न कारिका विद्युन्माला छन्द में निबद्ध है।

बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्ता धीरस्तत्वन्नीतिः।
शब्देनार्थान् वाच्यान्दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात्पौर्वापर्यम्॥

इस प्रकार केवल अनुष्टुप् में अपितु अन्य छन्दों में भी श्लोकवार्त्तिक निबद्ध हैं। श्लोकवार्त्तिकों के स्वरूप, शैली, विषय तथा छन्दों के परिचय से व्याकरण सिद्धान्तों के प्रति इनका महत्वपूर्ण योगदान स्पष्ट परिलक्षित होता है। यह कथन असंगत प्रतीत नहीं होता कि 'श्लोकवार्त्तिक व्याकरण-शास्त्र को पूर्णता प्रदान करते हैं।

---

१ अ. सू., १.४.५१
२ वही, १.४.१०९

प्रस्तुत विधा में हुये शोध कार्यों का सर्वेक्षण

कात्यायन ने वार्त्तिकों के माध्यम से पाणिनि-व्याकरण का समीक्षात्मक व्याख्यान किया है। व्याख्यान परक वाक्य होने पर भी मौलिकता तथा व्याख्यान प्रकार के कारण वार्त्तिकों का व्याकरण-शास्त्र में विशिष्ट स्थान है। इनकी विशिष्टता के कारण ही वार्त्तिकों का व्याकरण-शास्त्र में विशिष्ट स्थान है। इनकी विशिष्टता के कारण ही वार्त्तिकों के अध्ययन में अनेक प्रयास किये गये हैं तथापि व्याकरण के इस अंश का जितना अध्ययन अपेक्षित है उतना इस दिशा में शोध-कार्य नहीं हुआ है। भर्तृहरि, कैयट, नागेश आदि प्राचीन व्याख्याता केवल शब्दार्थ व्याख्यान मात्र तक ही सीमित रहे। शब्दार्थ व्याख्यान के साथ-साथ वार्त्तिकों के उददेश्य, स्वरूप, सूत्रकार, वार्त्तिककार तथा भाष्यकार के पारस्परिक तारतम्य का अध्ययन तथा वार्त्तिकों के विशिष्ट ज्ञान के सम्बन्ध में अध्ययन अपेक्षित था।

अनेक आधुनिक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने इस पक्ष पर विचार करने का प्रयास किया है। वार्त्तिकों के अध्ययन के क्षेत्र में डा. वेदपति मिश्र का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने अपने ग्रन्थ 'व्याकरण वार्त्तिक एक समीक्षात्मक अध्ययन' में वार्त्तिकों का विस्तृत, गम्भीर दृष्टिकोण से अध्ययन प्रस्तुत किया है। वार्त्तिकों के अध्ययन के साथ-साथ श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन का भी प्रयास किया गया है—

श्लोकवार्त्तिकों से सम्बद्ध शोध-कार्य

(१) संकलन—

व्याकरणात्मक सामान्य वार्त्तिकों के समान श्लोकवार्त्तिकों का संग्रहण भी महाभाष्य में पतञ्जलि ने किया है। इसके अतिरिक्त काशिकाकार ने भी श्लोक-वार्त्तिकों को प्रायः उसी रूप में अथवा कुछ श्लोकवार्त्तिकों को किंचित् परिवर्तित रूप में ग्रहण किया है। श्लोकवार्त्तिकों को कारिका नाम से व्यवहृत किया गया

है।[१] कैयट ने 'गतिश्च'[२] सूत्र पर कारिका शब्द से श्लोकवार्त्तिक का ग्रहण किया है।[३] श्लोक के लिये कारिका शब्द का कथन नहीं किया गया।

व्याकरण सिद्धान्तों का विश्लेषण करने के लिए वार्त्तिक हैं जो छन्दोबद्ध हैं। महाभाष्य में श्लोकवार्त्तिकों की संख्या लगभग २६० मानी है।[४] व्याकरण महाभाष्य के गुरुकुल झज्जर संस्करण में डा. वेदव्रत स्नातक ने श्लोकवार्त्तिकों का संग्रह किया है। एस. सी. चक्रवर्ती तथा हरप्रसाद शास्त्री ने भी श्लोकवार्त्तिकों का संकलन किया है। श्री राजरुद्र ने 'श्लोकवार्त्तिक व्याख्यान' नामक ग्रन्थ की रचना की है वह अप्राप्य है परन्तु जार्ज कार्डोना ने इसकी एक पाण्डुलिपि प्राप्त की है।[५]

(१) आभ्यन्तरिक पक्ष से सम्बद्ध—

श्लोकवार्त्तिकों के बाह्य पक्ष के अतिरिक्त विद्वानों ने आभ्यन्तर पक्षों पर भी प्रकाश डाला है। इनमें उल्लेखनीय प्रो. कीलहार्न, प्रो. गोल्डस्टूकर, प्रो. बोटलिंक, प्रो. वेबर, डा. वेदपति मिश्र, पं. भार्गव शास्त्री जोशी आदि हैं। प्रो. कीलहार्न ने श्लोकवार्त्तिकों की परिभाषा वार्त्तिकानुसार स्वीकार की है। उनके मतानुसार ये श्लोकवार्त्तिक सम्पूर्ण महाभाष्य में अनुस्यूत हैं तथा इनमें व्याकरणात्मक सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्राप्त होता है।

स्वरूप से सम्बद्ध—

श्लोकवार्त्तिकों के स्वरूप के विषय में विवेचन डा. रामसुरेश त्रिपाठी[६] ने किया है। इन्होंने एक ही आचार्य की कृति न होने के कारण श्लोकवार्त्तिकों के स्वरूप तथा शैली में भिन्नता स्वीकार की है। कात्यायनीय वार्त्तिकों के समान

---

१ Another category of literary compositions, which are either entirely embodied in the Mahabhashya are the Karikas. –Prof. Gold. Panini, p.102.

२ अ.सू., १-४-५९

३ यस्तु श्लोकवाची कारिकाशब्दस्तस्य ग्रहणं न भवति। कैयट प्रदीप व्या.म.१, पृ.२८४.

४ The total number of these verses is about 260. Prof. Kiel. Ind. Ant. Vol.15, p.228.

५ Cardona George – Panini - A Survey of Researches, p.348.

६ प्रा.प्र.- १९६९ अंक १ पृ.५

श्लोकवार्त्तिकों में भी प्रयोजनात्मक, भ्रांति निवारणात्मक, प्रत्याख्यानात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। पूर्वाचार्य कृत पारिभाषिक शब्द भी कुछ श्लोकवार्त्तिकों में प्राप्त होते हैं इन्हें कात्यायन से पूर्व माना गया है।[१] इन कारिकाओं का किसी प्राचीन व्याकरण से सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता क्योंकि प्रत्ययों के विषय में उपलब्ध स्वतंत्रता से यह द्योतित होता है कि कात्यायन वार्त्तिकों में कुछ ही रूप प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त अत्यल्पमिदमुच्यते कथन से उद्धृत श्लोकवार्त्तिकों की सत्ता परवर्ती प्रतीत होती है तथापि यह निश्चित है कि श्लोकवार्त्तिकों में प्राचीन व्याकरणों का संकेत उपलब्ध होता है।

डा. वेदपति मिश्र[२] ने श्लोकवार्त्तिकों को भाष्य के व्याख्यान का महत्वपूर्ण अंग स्वीकार किया है तथा वाक्यवार्त्तिकों से भिन्न माना है। श्लोकवार्त्तिकों के स्वरूप का विवेचन करते हुये प्रो. कीलहार्न[३] तथा प्रो. गोल्डस्टूकर[४] ने श्लोक-वार्त्तिकों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है — व्याख्यात, अव्याख्यात तथा अंशतः व्याख्यात समस्त श्लोकवार्त्तिकों पर भाष्यकार ने सामान्य वार्त्तिकों के समान परीक्षक दृष्टिकोण से विचार किया है तथा कुछ श्लोकवार्त्तिकों की पूर्ण रूप से व्याख्या की है उन्हें व्याख्यात[५] श्लोकवार्त्तिक कहा गया है। अव्याख्यात[६] श्लोकवार्त्तिक वे हैं जिनका पतञ्जलि ने व्याख्यान नहीं किया। इनके अतिरिक्त कुछ श्लोकवार्त्तिक ऐसे भी हैं जिनके कुछ अंश का व्याख्यान किया गया है उन्हें अंशतः व्याख्यात श्लोकवार्त्तिक माना गया है। डा. वेदपति मिश्र[७] ने भी इस वर्गीकरण के आधार पर श्लोकवार्त्तिक का स्वरूप स्पष्ट किया है। इस वर्गीकरण के आधार पर यह सिद्ध होता है कि भाष्योक्त समस्त श्लोक श्लोकवार्त्तिक नहीं है तथा उन्हीं श्लोकों को श्लोकवार्त्तिक माना जा सकता है जिनमें वार्त्तिक लक्षण 'उक्तानुक्तदुरुक्त' चिन्तन निबद्ध हैं। उन श्लोकों को श्लोकवार्त्तिक कहा जा

---

१ प्रा.प्र.- १९६९ अंक १ पृ.५
२ व्या.वा.समी.अध्य.पृ.१६७
३ On the MB. Ind. Ant. Page. 228.
४ Prof. Gold. Panini - pp. Page.102-115.
५ Prof. Gold. Panini. Page.113.
६ Ibid. Page.104.
७ Ibid. Page. 115.

सकता है जिनमें सूत्रोक्त प्रयोजन, प्रत्याख्यान, निपातनात्मक निर्देश, उदाहरणों के परिगणनात्मक संकेत उपलब्ध होते हैं। सूत्र अथवा वार्त्तिक से सम्बद्ध विषय का विशिष्ट व्याख्यान श्लोकवार्त्तिकों में किया गया है। श्लोकवार्त्तिकों के छन्दों के विषय में प्रो. कीलहार्न[१] तथा प्रो. गोल्डस्टूकर[२] ने अध्ययन प्रस्तुत किया है। इनमें आर्या, वक्त्, विद्युन्माला, इन्द्रवज्रा, जगती, उपजाति, शालिनी, दोधक, तोटक आदि छन्दों में व्याकरणात्मक विवेचन निबद्ध है।

कर्तृत्व से सम्बद्ध—

श्लोकवार्त्तिक के कर्तृत्व के विषय में पर्याप्त अध्ययन किया गया है। इस शोध-कार्य के अन्तर्गत निम्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया है:

१. अनेककर्तृत्व

२. भाष्यकार

३. कात्यायन

४. अन्य प्राचीन वैयाकरण।

प्रो. कीलहार्न, प्रो. गोल्डस्टूकर ने श्लोकवार्त्तिकों के कर्तृत्व का विवेचन पूर्वोक्त अव्याख्यात, व्याख्यात तथा अंशतः व्याख्यात श्रेणियों के आधार पर किया है जबकि पं. भार्गव शास्त्री जोशी ने त्रिमुनि से अतिरिक्त वैयाकरण को इनका प्रेणेता सिद्ध करने का प्रयास किया है तथापि कुछ श्लोकवार्त्तिक भाष्यकार तथा कात्यायन प्रणीत भी स्वीकार किये गये हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीन वैयाकरण गौणर्दीय, व्याध्रभूति आदि के द्वारा भी कुछ श्लोकवार्त्तिकों का प्रणयन किया गया है। प्रो. बोटलिंक[3] ने कारिकाओं के अनेक कर्ता स्वीकार किये हैं क्योंकि इनमें एक ही

---

१ On the MB. Ind. Ant. Vol.15, page. 228.

२ Prof. Gold. Panini., page.101.

३ No doubt the Karika do not all belong to the same author since the same subject is treated sometimes in two different Karikas in a perfectly different manner. Prof. Gold. Panini page. 102.

विषय का प्रतिपादन पुनः भिन्न शैली में किया गया है। डा. वेदपति मिश्र[१] ने इनका भिन्न कर्तृत्व स्वीकार करते हुये कात्यायन, पतञ्जलि तथा अन्य आचार्यों को इनका कर्ता स्वीकार किया है।

इस प्रकार भाष्योक्त श्लोकवार्त्तिकों का अध्ययन पूर्वोक्त पक्षों के सन्दर्भ में किया गया है जबकि इनका विस्तृत अध्ययन अपेक्षित है।

---

१ व्या. वा. समी. अध्य. पृ. १७५.

श्लोकवार्त्तिकों के रचयिता

महाभाष्य कात्यायनीय वार्त्तिकों सहित पाणिनीयाष्टक पर परिष्कृत एवं सुसम्बद्ध ग्रन्थ है। कात्यायन ने वार्त्तिकों के माध्यम से पाणिनीय व्याकरण का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। कात्यायन का वार्त्तिकपाठ व्याख्यानात्मक होने पर भी मौलिकता तथा शैली की विशिष्टता से युक्त है। वार्त्तिकों के अतिरिक्त प्रसंगवश सूत्रों पर वार्त्तिकों का अभाव होने से अथवा स्वाभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये कहीं-कहीं श्लोकवार्त्तिक भी उद्धृत हैं। वार्त्तिक अथवा श्लोकवार्त्तिक के अभिप्राय को समझने के लिये वार्त्तिक शब्द की परिभाषा से परिचित होना आवश्यक प्रतीत होता है। प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार कथित, अकथित तथा अशुद्ध पर विचार करने वाला ग्रन्थ वार्त्तिक है। इस अर्थ का प्रतिपादन निम्न वार्त्तिक-लक्षणों में उपलब्ध होता है—

१. उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुवार्त्तिकज्ञाः मनीषिणः॥[१]

२. उक्तानुक्तदुरुक्तानां व्यतिकारी तु वार्त्तिकम्।[२]

३. उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्तिकम्।[३]

४. नागेश ने उपरोक्त अर्थ का ग्रहण करते हुये दो परिभाषयें दी हैं—

१. उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ताकरत्वं वार्त्तिकत्वम्।[४]

---

१ मिश्र वेदपति - व्या. वा. समी. अध्य., पृ. २२
२ वही, पृ.२२
३ वही, पृ.२२
४ उद्योत व्या. म. (३) पृ. २२० न क्वादेः। (अ. सू. ७.३.५९)

२. सूत्रेऽनुक्तदुरुक्तचिन्ताकरत्वं वार्त्तिकत्वम् ।[१]

वार्त्तिकों का रचयिता कात्यायन को मानते हुये शेषनारायण ने वार्त्तिक का लक्षण निम्न शब्दों में दिया है—

'तत्र च वार्त्तिके वररुचिरुक्तानुक्तदुरुक्ताधचिन्तयत्'[२]

इस आधार पर वार्त्तिक की परिभाषा 'उक्तानुक्त दुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते' की गई है । पाणिनि, कात्यायन एवं पतञ्जलि के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुये पदमञ्जरीकार[३] ने वार्त्तिक की निम्न परिभाषा की है—

यद्विस्मृतमदृष्टं वा सूत्रकारेण तत् स्फुटम् ।
वाक्यकारो ब्रवीत्येनं तेनादृष्टं च भाष्यकृत् ॥

अर्थात् सूत्रकार के द्वारा विस्मृत अथवा अदृष्ट पदों की सिद्धि वार्त्तिककार ने वार्त्तिकों के माध्यम से की है वार्त्तिककार के द्वारा अदृष्ट विषय का प्रतिपादन भाष्यकार के द्वारा किया गया है । तीनों ही एक दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं । उपरोक्त वार्त्तिक लक्षणों में से निम्न लक्षण सर्वाधिक प्रामाणिक माना गया है—

उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता यत्र प्रवर्तते ।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकंप्राहुर्वार्त्तिकज्ञाः मनीषिणः ॥

संस्कृत व्याकरण के व्याख्याकारों द्वारा कृत वार्त्तिक लक्षण को आधार मानकर पाश्चात्य विद्वानों ने वार्त्तिक-लक्षण निश्चित करने का प्रयास किया है । प्रो. गोल्डस्टूकर[४] ने नागेश द्वारा प्रतिपादित 'सूत्रेऽनुक्तदुरुक्तचिन्ताकरत्वं वार्त्तिकम्' लक्षण को स्वीकार किया है । गोल्डस्टूकर के मतानुसार कात्यायन पाणिनि के समर्थक नहीं है अपितु अनावश्यक दोषान्वेषक के रूप में ही उन्होंने

---

१ उद्योत - अ.सू.१.१.१ व्या.म.१,पृ.१०९
२ व्या.वा.समी.अध्य.पृ.२२
३ का.वृ.१,पृ.९
४ "The characteristic feature of a Vārttika, says Nāgoji Bhaṭṭ "is criticism in regard to that which is omitted or imperfectly expressed in Sūtra." –Prot. Gold. Pāṇini, p.132.

वार्त्तिकों की रचना की है। कात्यायन का अभिप्राय पाणिनीय सूत्रों की व्याख्या करना नहीं था अपितु सूत्रों को पूर्णता प्रदान करना ही वार्त्तिकपाठ की रचना का उद्देश्य था। प्रो. गोल्डस्टूकर[१] के इन विचारों से प्रभावित होकर ही प्रो. वेबर[२] ने कात्यायन की अपेक्षा पतञ्जलि को पाणिनीय सूत्रों का समर्थक स्वीकार किया है। इन दोनों विद्वानों के मतानुसार कात्यायन की वार्त्तिक रचना का उद्देश्य पाणिनि के सूत्रों में दोष निकालना ही था अन्य नहीं। प्रो. कीलहार्न[३] ने गोल्डस्टूकर तथा प्रो. वेबर के वार्त्तिक सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करके यह तथ्य प्राप्त किया है कि इन दोनों विचारकों में से किसी ने भी कात्यायनीय वार्त्तिकों के लक्षण सम्बन्धी विचार प्रस्तुत नहीं किया है। पूर्व आचार्यों द्वारा प्रतिपादित वार्त्तिक का लक्षण किन वाक्यों पर चरितार्थ होता है ? इसका निर्देश नहीं किया गया। प्रो. वेबर[४] ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि पतञ्जलि के महाभाष्य में जिन वाक्यों में पाणिनीय सूत्रों में दोष निकाले गये हैं वे ही वार्त्तिक हैं इसका आधार उन्होंने पस्पशाह्निक के वाक्यों को वार्त्तिक न मानना स्वीकार किया है क्योंकि पस्पशाह्निक में भाष्यकार ने पाणिनीय सूत्रों की व्याख्या नहीं की है। जिन वाक्यों के पश्चात् 'इति वक्तव्यम्' शब्दों का प्रयोग किया गया है, उन्हें ही वार्त्तिक मानना चाहिये। प्रो. कीलहार्न[५] ने इन दोनों विद्वानों के विचारों का खण्डन करते हुये वार्त्तिक की परिभाषा के विषय में मत स्थापित किया है कि सूत्र में किसी अभाव की पूर्ति करने वाला, सूत्र में व्यर्थ,

---

१ Kātyāyana does not leave the impression of an admiror or friend of Pāṇini but that of an antagonist. –Prof. Gold. Pāṇini, p.132.

२ ON THE MAHĀBHĀSYA, Indische Studien Vol.13, p.

३ Kātyāyana and Patanjali, Kliene Schriften, pp.6-7.

४ ON THE MAHĀBHĀṢYA, Indische Studien, Vol.13, p.

५ On the one hand to justify Pāṇini by defending him against unfounded criticism, and on the other hand to correct, reject and add to, the rules laid down by him, where defence and justification were considered impossible. And this is in my opinion the true meaning of Vārttika as recorded by Nagoji Bhaṭṭa. –Kātyāyana and Patañjali - Kliene Schriften, pp.6-7.

दोषयुक्त और आक्षेपयोग्य का निर्देश करने वाला वाक्य वार्त्तिक है । इस प्रकार प्रो. कीलहार्न ने गोल्डस्टूकर के मत का खण्डन करते हुये भी अंशतः समर्थन किया है इसका कारण यह है उन्होंने भी नागोजि भट्ट[१] द्वारा प्रतिपादित वार्त्तिक-लक्षण को स्वीकार किया है केवल उसकी व्याख्या अन्य ढंग से प्रस्तुत की है । 'कीलहार्न से पूर्व प्रो. कोलब्रुक[२] ने वार्त्तिकों की उपयुक्त एवं युक्तिसंगत परिभाषा प्रस्तुत की है । पाणिनि की विशाल कृति में जिन त्रुटियों की सम्भावना की जा सकती थी, कात्यायन ने उनका परिहार वार्त्तिकों के माध्यम से कर दिया । इन वार्त्तिकों में कात्यायन ने अस्पष्ट सूत्रों को स्पष्ट करके, सूत्र-सीमा का विस्तार करके तथा अपवादों का उल्लेख करके पाणिनीय सूत्रों को नियन्त्रित किया है । वार्त्तिक-लक्षण की इस व्याख्या से युक्तियुक्त व्याख्या अन्य प्रतीत नहीं होती । इस आधार पर कात्यायन को 'पाणिनि का सम्पादक' कहना संगत प्रतीत होता है ।[३]

वार्त्तिक शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या का अध्ययन करने से वार्त्तिक शब्द का लक्षण निश्चित किया जा सकता है । वार्त्तिक शब्द वृत्ति शब्द से व्युत्पन्न है । भाष्यकार ने भाष्य में 'वृत्ति समवायार्थः उपदेशः'[४] कथन के प्रसंग में वृत्ति शब्द की व्याख्या प्रस्तुत की है वृत्ति से अभिप्राय शास्त्र-प्रवृत्ति से है ।[५] निरुक्तकार[६] ने वृत्ति का अर्थ व्याकरणशास्त्र स्वीकार किया है । कात्यायन-वृत्ति शब्द के इस अर्थ से सहमत हैं । कैयट ने इसकी व्याख्या 'वृत्तिः शास्त्रस्य लक्ष्ये प्रवृत्तिः तदनुगतो निर्देशोऽनुवृत्तिः निर्देशः'[७] की है । इससे यह ज्ञात होता है कि शास्त्र के लक्ष्य में प्रवृत्ति ही वृत्ति है । लक्ष्य से भाष्यकार ने शब्द को स्वीकार किया है और लक्षण से शास्त्र को । यही कारण है कि उन्होंने उदाहरण प्रत्युदाहरण और वाक्याध्याहार

---

१ उक्तानुक्तदुरुक्तानांचिन्ताकरत्वं हि वार्त्तिकत्वम् ।

२ Prof. Colebrook's Miscellenous Essays, Vol.2,p.6. व्या. वा. समी. अध्य.,p.२७.

३ Prof. Muller confers upon Kātyāyana the title of 'editor' of Pāṇini, p.131.

४ पस्पशा. व्या. म. १,पृ.५९

५ का पुनर्वृत्तिः ? शास्त्रप्रवृत्तिः । –पस्पशा. व्या. म. १,पृ.५९

६ संशयवत्यो वृत्तयो भवन्ति । निरुक्त २.१.

७ प्र.सू.१,व्या.म.१,पृ.६६

को व्याख्यान माना है ।[१] 'वृत्तेर्व्याख्यानं वार्त्तिकम्'[२] यह व्युत्पत्ति स्वीकार करने पर सूत्रों के लघु व्याख्यान-ग्रन्थ जिनमें पदच्छेद, विभक्ति अनुवृत्ति, प्रत्युदाहरण द्वारा सूत्रों का तात्पर्य व्यक्त किया जाता है, उन्हें वृत्ति कहा जाता है उनकी व्याख्या करने वाले ग्रन्थ वार्त्तिक कहे जाते हैं । भाष्यकार के अनुसार व्याख्यान, अन्वाख्यान तथा प्रत्याख्यान पदों का प्रयोग वार्त्तिक के लक्षण के विषय में संकेत करता है । वार्त्तिकों की सूत्रों के साथ एकरूपता अर्थात् सूत्रों के अनुरूप व्याख्या करना ही अन्वाख्यान माना जा सकता है । पतञ्जलि ने इसका संकेत किया है ।[३] वार्त्तिकों द्वारा अक्रियमाण का विधान तथा क्रियमाण का प्रत्याख्यान किया जाता है ।[४] इस प्रकार वार्त्तिक की परिभाषा भाष्यकार के अनुसार निम्न मानी जा सकती है 'व्याख्यान, अन्वाख्यान, अक्रियमाण विधान एवं क्रियमाण प्रत्याख्यानात्मक वचन वार्त्तिक है ।'[५] वार्त्तिकों के प्रस्तुत लक्षण का महाभाष्य के प्रसंग में अध्ययन करने पर प्रयोजन, संशय, निर्णय, व्याख्या, विशेष, गुरु, लाघव, कृतव्युदास और अकृत शासन में आठ धर्मो से युक्त वचन वार्त्तिक माना गया है ।[६] इन आठ धर्मों का पतंजलि निर्दिष्ट व्याख्यान अन्व्याख्यान, अक्रियमाण-निर्देश तथा प्रत्याख्यान में अन्तर्भाव हो जाता है । वार्त्तिकों पर यह लक्षण पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है ।

भाष्यकार पतंजलि ने कात्यायनीय-वार्त्तिकों पर इष्टियों की रचना की है जिनमें सूत्रों के व्याख्यान के साथ-साथ वार्त्तिकों को योगदान किया है ।[७]

---

१ उदाहरणं-प्रत्युदाहरणं-वाक्याध्याहारः इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति । – पस्पशा. व्या. म. १, पृ. ५९

२ मीमां. यु.-सं. व्या.शा.इति., भाग १, पृ. २८१

३ किं पुनरिदं विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्व्याख्यायते । – व्या. म. (१) १.१.२, पृ. ६३

४ इह हि किंचिदक्रियमाणं चोद्यते किंचिच्च क्रियमाणं प्रत्याख्यायते (३.१.१२) व्या.म. २, पृ. ३९

५ व्या.वा.समी.अध्य., पृ. २९

६ प्रयोजनसंशयनिर्णयौ च व्याख्याविशेषं गुरु लाघवं च । कृतव्युदासो कृतशासनं च स वार्त्तिको धर्मगुणोऽष्टकश्च ॥ – व्या. वा. समी. अध्य., पृ. ३०

७ A critical discussion on the Vārttikas of Kātyāyana while its ishitis are on the other hand are original Vārttikas on such Sutras of Panini as called for his own remarks. Prof. Gold. Pāṇini, p.133.

प्रो. बोटलिंक[१] ने इष्टियों को ही कारिका माना है, परन्तु इष्टियों को कारिका का पर्याय मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। प्रो. गोल्डस्टूकर[२] एवं प्रो. कीलहार्न[३] ने कारिका शब्द से श्लोकवार्त्तिकों का अभिधान किया है जबकि इष्टियाँ श्लोकवार्त्तिक नहीं है। भाष्यकार ने महाभाष्य में कात्यायनीयवार्त्तिकों के अतिरिक्त अन्य भरद्वाज[४], सौनाग[५], आदि वैयाकरणों द्वारा उक्त वार्त्तिकों का भी व्याख्यान किया है। इसी प्रकार छन्दोबद्ध वार्त्तिक भी भाष्यकार ने उद्धृत किये हैं जो कारिका या श्लोकवार्त्तिक कहे गये हैं।[६] वार्त्तिक तथा श्लोकवार्त्तिक में दो अन्तर हैं प्रथम – श्लोकवार्त्तिक छन्दोबद्ध हैं तथा द्वितीय इनमें सूत्रों के अतिरिक्त वार्त्तिकों में उक्त, अनुक्त, दुरुक्त विषय का प्रतिपादन किया गया है। वार्त्तिकों की अपेक्षा श्लोकवार्त्तिक महाभाष्य की सरसता तथा रोचकता की वृद्धि में अधिक सहायक सिद्ध हुये हैं। वार्त्तिक अथवा श्लोक-वार्त्तिकों की रचना की आवश्यकता अनेक उद्देश्यों से की गई जिनमें से निम्न प्रमुख हैं।

आचार्य पाणिनि के स्थिति-काल से लेकर पतंजलि के समय तक व्याकर-णातत्मक तथा भाषावैज्ञानिक अध्ययन का सर्वोत्तम काल रहा है। प्रो. बेल्वल्कर[७] ने इस समय को 'संस्कृत व्याकरणविज्ञान का सृजनात्मक काल' कहा है। संस्कृत

---

१ A critical discussion on the Vārttikas of Kātyāyana while its ishitis are on the other hand are original Vārttikas on such Sutras of Panini as called for his own remarks. Prof. Gold. Pāṇini, p.133.

२ Another category of literary compositions, which are either entirely or partly embodied in the Mahābhāṣya are the Kārikās. Prof. Gold. Pāṇini, p.102.

३ ON THE MAHĀBHĀSHYA. Ind. Ant. March 1887, Vol.15,p.233.

४ भारद्वाजीयाः पठन्ति। धुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिद्विकृतार्थम्। – अ.सू., १.१.२०

५ एतदेव च सौनागैर्विस्तरतरकेण पठितम्। – अ.सू. २.२.१८ व्या.म. १, पृ. ४३६

६ That the terms Vārttika, śloka and Ślokavārttika when used with reference to verses are equalant. Prof. Kiel. Ind. Ant. Vol.15, p.229.

७ Sys. Skt. Grā. p.56.

व्याकरण सिद्धान्तों द्वारा प्रतिपादित भाषा को लोकव्यवहार के लिये प्रस्तुत नहीं करता अपितु लोक में प्रयुक्त पदों को ही नियमबद्ध करता है। दूसरी और शब्द नित्य हैं, कार्य नहीं। अतः व्याकरण निर्देशक मात्र है।[१] सूत्रों की रचना भी इसी भावना पर आधारित है। आचार्य पाणिनि ने पदों की सिद्धि अपने स्थितिकाल के आधार पर की। वात्तिकों की रचना की आवश्यकता पाणिनीय सूत्रों द्वारा अनुक्त विषय का प्रतिपादन करने के लिये हुई।

कुछ प्रयोग एक ही समय में एक स्थान पर शिष्ट समझे जाते हैं परन्तु दूसरे किसी अन्य स्थान पर उन्हें शिष्ट प्रयोग नहीं समझा जाता। इन प्रयोगों की सिद्धि के लिये वार्त्तिक सहायक सिद्धहुये हैं।[२] वार्त्तिकों की रचना का एक अन्य उद्देश्य पाणिनीय सूत्रों का परिष्करण करना था कात्यायन ने वार्त्तिकों में परिवर्तित प्रयोगों का स्पष्ट उल्लेख किया है।[३] पतञ्जलि ने इन परिवर्तनों को सूत्रों के पाठात्मक साधुत्व का प्रतिपादन निश्चित रहने तक ही स्वीकार किया है।[४] इसके अतिरिक्त पाणिनीय सूत्रों के साथ लोक प्रयुक्त प्रत्येक पद की व्यवस्था के लिये वार्त्तिकों की रचना की आवश्यकता हुई। कुन्हनराजा[५] के मतानुसार यदि सूत्रोक्त विषय के आधार पर समस्त लोक व्यवहृत शब्दों की सिद्धि सम्भव न हो तो परिवर्तित, संशोधित रूपों का प्रतिपादन करने के लिये उस नियम को नियम नहीं माना जा सकता। अतः उस नियम की व्याख्या इस प्रकार से की जाये जिससे सूत्र के शब्दों को परिवर्तित किये बिना भी अन्य अभीष्ट रूपों की सिद्धि हो जाये।[६] प्रो. कीलहार्न ने पाणिनीय सूत्रों

---

१ Science was only the guiding authority. –Laddu. S.D. Skt. Pa. to Ptj. p.8.

२ Laddu. S.D. Skt. Pā. to Ptj. p.8.

३ This amounted to modifications of the original rules of Pāṇini. ibid.

४ सूत्रं तर्हि भिद्यते। यथान्यासमेवास्तु। पत.व्या.म.

५ Kunhan Rājā, C. : Survey of Sanskrit Literature, Bombay Laddu. S.D. p.10.p.248.

६ There is a possibility of getting the necessary alteration in the rules without changing the word of original rules. Laddu. S.D. Skt. Pa. to Ptj. p.10.

के कार्यक्षेत्र का विस्तार करने के लिये वार्त्तिकों को आवश्यक माना है।[१] भाष्यकार ने अपने ग्रन्थ में वार्त्तिकों के उद्धरणों से तथा व्याख्यानभाष्य के माध्यम से पाणिनीय-सूत्रों को भूत भविष्यत् तथा वर्तमान तीनों स्थितियों में मान्य बना दिया।[२] वार्त्तिकों का एक अन्य उद्देश्य इष्ट[३]-सिद्धि की रक्षा करना भी है। यह उद्देश्य लोक-व्यवहार की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, क्योंकि लोक में कुछ ऐसे निश्चित व्याकरणात्मक सिद्धान्तों की आवश्यकता होती है जो प्रत्येक लौकिक भाषा के विकास से प्रभावित होकर परिवर्तित नहीं होते। कात्यायन द्वारा कृत वार्त्तिक रचना तथा पतञ्जलि कृत वार्त्तिक व्याख्यानों को दृष्टि में रखते हुये यह कथन असंगत प्रतीत नहीं होता कि योगदान तथा व्याख्यानों के द्वारा कात्यायन तथा पतञ्जलि पाणिनीय सूत्रों के प्रयोग को विस्तृत करते हैं जिससे लौकिक संस्कृत भाषा के सद्यः स्थापित विशिष्ट प्रयोग भी समाविष्ट हो सकें तथा जिनका शिष्टों द्वारा प्रयोग नहीं होता उन्हें अप्रामाणिक सिद्ध किया जा सके।[४] प्रो. गोल्डस्टूकर[५] ने आचार्य पाणिनि तथा कात्यायन को भिन्न-भिन्न स्थिति-काल में स्वीकार किया है। दोनों आचार्यों के मध्य में उन्होंने इतना अन्तराल ग्रहण किया है कि भाषागत विशिष्टताओं तथा लोक-व्यवहार की भिन्नता के कारण सूत्रों पर वार्त्तिकों की रचना आवश्यक प्रतीत होने लगी। वार्त्तिकों की रचना के निम्न कारण प्रो. गोल्डस्टूकर ने स्पष्ट किये हैं[६]—

(१) व्याकरणात्मक प्रयोग जो पाणिनि के समय में प्रचलित तथा मान्य थे वे परवर्ती समय में अप्रचलित होने लगे। यहां तक कि उन्हें असाधु माना जाने लगा।

---

१ So as to make them apply where at first sight they would seem to inapplicable. –Prof. Kiel. Ind. Ant. 16 (1887). p.244.

२ Patañjali has made Pāṇini valid and active for all times. SARMÁ. K.M.K. IC (1941) Laddu S.D. - Skt. Pa. to Ptj. p.11.

३ नित्यानां शब्दानां यथाकथञ्चित् अन्वाख्यानं कर्त्तव्यमिति मन्यते। कैयट

४ Laddu. S.D. Skt. to Pā. and Ptj. p.11.

५ Pāṇini and Kātyāyana belonged to different periods of Hindu Antiquity. Pāṇini, p.135.

६ ibid.

(२) पाणिनि के समय विशिष्टार्थ में मान्य शब्दों का अर्थ परिवर्तित होने लगा।

(३) शब्द तथा उनके अर्थ जो पाणिनि ने प्रयुक्त किये परवर्ती काल में पुरातन समझे गये तथा उनका परिहार होने लगा।

(४) पाणिनि से अवशिष्ट साहित्य का उत्थान करना।[१]

जो तथ्य वार्त्तिकों की रचना के लिये मान्य समझे गये वे ही श्लोकवार्त्तिकों के विषय में भी चरितार्थ होते हैं। श्लोकवार्त्तिकों का सन्निवेश सूत्रों सहित वार्त्तिकों की व्याख्या करने के लिये किया गया है। अतः स्पष्ट है कि इनमें सूत्रों के अतिरिक्त वार्त्तिकोक्त विषय का भी विवेचन उपलब्ध होता है। वार्त्तिकों की रचना से व्याकरण की व्याख्या में सहयोग प्राप्त हुआ परन्तु सरसता एवं रोचकता का समावेश करने के लिये छन्दोबद्ध वार्त्तिकों को भाष्यकार ने उद्धृत किया। इनमें व्याकरण के सिद्धान्तों का प्रतिपादन वार्त्तिकात्मक शैली में ही किया गया है। पतञ्जलि द्वारा अभिहित अन्व्याख्यान पद से वार्त्तिकों का लक्षण प्रयोजन[२] अभिलक्षित होता है। अनेक श्लोकवार्त्तिक सूत्रों में पठित शब्दों के प्रयोजन का विवेचन करते हैं यथा 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे'[३] सूत्र पर व्याख्यान करते हुए भाष्यकार ने सूत्रोक्त पद 'अर्थे' के सम्बन्ध में शंका की उद्भावना की है तथा निम्न कारिकाओं के द्वारा अर्थ ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट किया है।

ईदूतौ सप्तमीत्येव लुप्तेऽर्थग्रहणाद् भवेत्।
पूर्वस्य चेतसवर्णो सावाडां भावः प्रसज्यते॥
वचनाद्यत्र दीर्घत्वं तत्रापि सरसी यदि।
ज्ञापकं स्याद् तदन्तत्वे मा वा पूर्वपदस्यभूत्॥

अन्व्याख्यान के अन्तर्गत ही संशय और निर्णय वार्त्तिक धर्मों का भी अन्तर्भाव हो जाता है। सूत्रों तथा वार्त्तिकों की व्याख्या के प्रसंग में अनेक

---

१ Prof. Gold. Pāṇini, p.135.

२ प्रयोजनसंशयनिर्णयौ च व्याख्या विशेषं गुरु लाघव च। कृतव्युदासो कृतशासनं च स वार्त्तिको धर्मगुणोऽष्टकश्च॥ – व्या.वा.समी.अध्य., पृ.३०

३ अ.सू., १.१.१९

श्लोकवार्त्तिक उद्धृत हैं जिनमें शंका तथा समाधान सम्बन्धी विवेचन साथ-साथ निबद्ध हैं। यथा – 'सौ च'[१] सूत्र पर निम्न संग्रह श्लोकवार्त्तिक उद्धृत हैं जिनमें सूत्र के योग विभाग सम्बन्धी तथा हन हनादि में दीर्घत्व विधायक सूत्र का सुट् में विनिमय होने पर पुनः शि तथा सु परे रहते नियम का निर्धारण करने के लिये उद्भावित शंकाओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है—

दीर्घविधिर्य इहन्प्रभृतीनां, तं विनियम्य सुटीति सुविद्वान्।
शौ नियमं पुनरेव विदध्यात्, भ्रूहणनीति तथास्य न दुष्यते ॥
शास्मि निवर्त्य सुटीत्यविशेषे, शौनियमं कुरु वाऽप्यसमीक्ष्य
दीर्घविधेरुपधानियमान्मे, हन्तिभि दीर्घविधौ च न दोषः ॥

इसी प्रकार 'धि च'[२] सूत्र पर उद्धृत श्लोक वार्त्तिकों में भी भाष्यकार ने चकाद्धि रुप सिद्ध करने के लिये लुप्यमान सकार सम्बन्धी शंका तथा समाधानात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है—

धि सकारे सिचो लोपश्चकाद्धि प्रयोजनम्।
आशाध्वं तु कथं ते स्याज्जश्त्वं सस्य भवष्यतति ॥
सर्वत्रैव प्रसिद्धं स्याछ्रुतिश्चापि न भिद्यते।
लुङ्श्चापि न मूर्द्धन्यें ग्रहणं सेटि दुष्यति ॥
धसिभस्योर्न सिध्येत्तु तस्मात्सिज्ग्रहणं न तत्।
छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्टकर्तारमध्वरे ॥

सूत्र की व्याख्या के लिये अनेक श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये गये हैं। यथा 'गोत्रे लुगचि'[३] सूत्र के विषय में शंका उत्पन्न होती है कि अचि पद को परसप्तमी विषयक मानना संगत है अथवा विषयमसप्तमी विषयक, निम्न श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा भाष्यकार ने सूत्र की व्याख्या की है तथा विषय सप्तमीत्व को स्वीकार किया है—

भूग्नीति च लुक् प्राप्तो बाह्रो चार्थे विधीयतेऽजादिः।
बहिरङ्गमन्तरङ्गात् विप्रतिषेधादयुक्तं स्यात् ॥
भूम्नि प्राप्तस्य लुको यदजादौ तद्धिते लुकं शास्ति।

---

१ अ.सू., ६.४.१३
२ अ.सू., ८.२.२५
३ ४.१.८९

एतद् ब्रवीति कुर्वन् समानकालावलुग्लुक् च ॥

'इद् गोण्याः'[१] सूत्र के विषय में विवेचन किया गया है कि इद् के स्थान पर 'न' का ग्रहण किया जाना चाहिये 'न गोण्याः' सूत्र का रूप होगा इस प्रकार वार्त्तिक धर्म लाघव का प्रतिपादन निम्न श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा किया गया है—

इद्गोण्या नेति वक्तव्यं; ह्रस्वता हि विधीयते ।
इति वा वचने तावन्मात्रार्थं वा कृतं भवेत् ॥

श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा भाष्यकार ने पाणिनीय सूत्रों में अगृहीत प्रयोगों का ग्रहण किया है । यथा 'अकथितं च'[२] सूत्र से द्विकर्मक धातुओं की तथा 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म'[३] सूत्र से ईप्सिततम कथित की कर्म संज्ञा होती है । अकर्मक धातुओं का परिगणन सूत्र-क्षेत्र से अवशिष्ट रह जाता है – इसका कथन निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा किया गया है—

कालाभावाध्वगन्तव्याः कर्म संज्ञा ह्यकर्मणाम् ।
विपरीतं तु यत्कर्म तत्कल्म कवयो विदुः ॥

वार्त्तिक के लक्षण में 'कृतव्युदासः' पद का ग्रहण है जिसका अभिप्राय है 'प्रत्याख्यान' अर्थात् सूत्र अथवा वार्त्तिकों में प्रतिपादित विषय का प्रत्याख्यान श्लोकवार्त्तिकों में किया गया है । यथा 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च'[४] सूत्र में उपेयिवान् पद निपातित प्रयोग के रूप में उच्चारित है परन्तु इस निपातन को निष्प्रयोजन मानकर निम्न श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा प्रत्याख्यान किया गया है—

नोपेयिवान्निपात्यो द्विर्वचनादिड् भविष्यति परत्वात् ।
अन्येषामेकाचां द्विर्वचनं नित्यमित्याहुः ॥
अस्य पुनरिट च नित्यो द्विर्वचनं न विहन्यते ह्यस्य ।
द्विर्वचने चैकाच्त्वात्तस्मादिड् बाधते द्वित्वम् ॥

---

१ अ.सू.,१.२.५०
२ वही,१.४.५१
३ वही,१.४.४९
४ वही,३.२.१०९

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि अन्वाख्यान, व्याख्यान, प्रत्याख्यान, अक्रियमाण विधान का निर्देश करने वाले श्लोक श्लोकवार्त्तिक माने जा सकते हैं। अन्वाख्यान आदि का समावेश वार्त्तिक के प्रयोजन, संशय आदि आठ धर्मों में हो जाता है अतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि वे श्लोक-श्लोकवार्त्तिक हैं जिनमें प्रयोजन आदि में से किसी एक भी धर्म की प्राप्ति होती है। इस विवेचन के आधार पर उन श्लोकों को भी श्लोकवार्त्तिक माना जा सकता है जिनमें व्याकरणात्मक उदाहरणों की व्याख्या प्राप्त होती है अथवा उनका निर्वचन किया गया है या वे किन्हीं शब्दों को व्युत्पत्यात्मक दृष्टि से अथवा निपातनात्मक दृष्टि से सिद्ध किया गया हो। अतः निम्न श्लोक भी श्लोकवार्त्तिक माने जा सकते हैं। 'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ'[१] सूत्र पर निम्न उदाहरणात्मक श्लोकवार्त्तिक के द्वारा सूत्र के प्रयोजनों का निर्देश प्राप्त होता है—

स्तोष्याम्यहं पादिकमौदवाहिं ततः श्वोभूते शातनीं पातनीं च।
नेतारावागच्छतं धारणिं रावणिं च ततः पश्चात् स्रंस्यतेध्वंस्यते च॥

यह श्लोक भी श्लोकवार्त्तिक माना जा सकता है। इसी प्रकार सूत्रकार ने 'भृञो संज्ञायाम्'[२] सूत्र के द्वारा क्यप् प्रत्यय का विधान असंज्ञा में किया है जबकि भार्या पद की सिद्धि संज्ञा[३] में क्यप् प्रत्यय के विधान से होती है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिये भार्या पद की व्युत्पत्ति सिद्ध करने के लिये भाष्यकार ने इन श्लोकों को उद्धृत किया है—

संज्ञायां पुंसि दृष्टात्वान्न ते भार्या प्रसिध्यति।
स्त्रियां भावाधिकारोऽस्ति तेन भार्या प्रसिद्ध्यति॥
अथवा बहुलं कृत्याः संज्ञायामिति तत्कृतम्।
यथा यत्यं यथा जन्यं यथा भित्तिस्तथैव सा॥

श्लोकवार्त्तिकों में प्रतिपादित विषय को दृष्टि में रखते हुये यह कहा जा सकता है जिन श्लोकों का साध्य व्याकरण-शास्त्र प्रत्यक्ष रूप से है उन्हें श्लोक-वार्त्तिक माना जा सकता है इस प्रकार उन श्लोकों का अन्तर्भाव श्लोकवार्त्तिकों में

---

१ अ.सू., १.१.५७
२ वही, ३.१०.११२
३ संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ्भृञिणः। – अ.सू., ३.३.९९

किया जा सकता है जिनमें सूत्र और वार्त्तिकों का प्रत्यक्ष रूप से प्रयोजन, निर्देश, प्रत्याख्यान, व्युत्पत्ति, निपातन, उदाहरण, शंका, समाधान, परिगणन, स्पष्टीकरण, व्याख्यान, परिभाषा, समर्थन अथवा अधिकार के निर्धारण सम्बन्धी दृष्टिकोणों से विचार प्रस्तुत किया गया है । उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भाष्योक्त समस्त श्लोक श्लोकवार्त्तिक नहीं है ।

सूत्रों के व्याख्यान में भाष्यकार ने वार्त्तिक तथा श्लोकवार्त्तिक दोनों ही उद्धृत किये हैं परन्तु इनके ग्रहण में पतञ्जलि ने सूत्रों के व्याख्यान तारतम्य को अक्षुण्ण बनाये रखा है । कुछ सूत्रों पर प्रसंगवश वार्त्तिक प्रणयन का अभाव होने के कारण अथवा अपने व्याख्यानाभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये श्लोकवार्त्तिक गृहीत है । पं. भार्गव शास्त्री[१] ने कुण्डलना[२] से युक्त अर्थात् अन्यून भाष्याक्षर से युक्त वाक्यों को वार्त्तिक माना है । यथा 'भ्रस्जोरोपधयो रमन्यतरस्याम्'[३] सूत्र पर भाष्यकार ने 'भ्रस्जादेशात् सम्प्रसारणं विप्रतिषेधेन' वार्त्तिक उद्धृत किया है । इस वार्त्तिक पर 'भ्रस्जादेशात्सम्प्रसारणं भवति विप्रतिषेधे भाष्य उक्त है । इसके विपरीत यथाकथञ्चित् कुण्डलनाभाष्य से युक्त श्लोकों को श्लोकवार्त्तिक माना जा सकता है यथा 'सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपाधायाः'[४] सूत्र पर निम्न कारिका उद्धृत है—

तसीत्येष न वक्तव्यो दृष्टोदाशतयेऽपि हि ।
द्यौ लोपोऽन्तिषदित्यत्र तथाऽद्यौ येऽन्त्यथर्वसु ॥

इस कारिका के अन्तिम पाद 'तथाऽद्यौ येऽन्त्यथर्वसु' पर 'अन्ति ये च दूरके' भाष्य कथित है । भाष्यकार की कुण्डलना शैली को ही वार्त्तिक तथा श्लोक वार्त्तिकों में भेद का आधार मान लिया गया है ।[५] अतः भाष्य में उपलब्ध वार्त्तिकों तथा श्लोकवार्त्तिकों का व्याख्यान भिन्न प्रकार से किया गया है ।

---

१ व्या.म.,५, भूमिका, पृ.२
२ अन्यूनाक्षरैर्भाष्याक्षरैर्व्याख्यातम् । एतदेव कुण्डलनाभाष्यमित्युच्यते । –वही, पृ. २
३ अ. सू., ६.४.४७
४ वही, ६.४.१४९
५ एवञ्चवार्त्तिकानि भाष्यकृताऽन्यूनाक्षरकुण्डलनयासम्भाष्यन्ते । श्लोकवार्त्तिकानि च यथाकथञ्चित्कुण्डलनामात्रेणेत्ययं महान् भेदोऽनयोय-र्वार्त्तिकश्लोकवार्त्तिकयोः पर्यवतिष्ठते । –जोशी भार्गव, शास्त्री व्या. म. ५, भूमिका, पृ. २

महाभाष्य में व्याख्यान प्रसंगों में उद्धत सामान्य वार्त्तिकों के रचयिता के रूप में कात्यायन निश्चित एवं प्रसिद्ध हैं श्लोकवार्त्तिकों के रचयिता के विषय में अनेक सन्देह हैं । किसी एक वैयाकरण को अथवा कात्यायन को वार्त्तिकों का प्रणेता होने के कारण श्लोकवार्त्तिककार नहीं माना जा सकता । श्लोक वार्त्तिकों के रचयिता के विषय में श्लोकवार्त्तिककार शब्द से व्यवहार किया गया है ।[१] श्लोकवार्त्तिककार के विषय में स्पष्टतः संकेत न मिलने के कारण इनके रचयिता के विषय में विचार निम्न दृष्टिकोण के आधार पर किया जा सकता है—

(१) श्लोकवार्त्तिकों की रचना भाष्यकार ने की है ।

(२) श्लोकवार्त्तिकों के रचयिता कात्यायन हैं ।

(३) अन्य वैयाकरणों ने इन श्लोकवार्त्तिकों का प्रणयन किया तथा भाष्यकार ने इन्हें उद्धृत किया है ।

सर्वप्रथम प्रथम पक्ष को दृष्टि में रखते हुये स्वयं भाष्यकार का श्लोकवार्त्तिकों के कर्ता के रूप में विवेचन अभीष्ट है । श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन के आधार पर तथा प्राप्त निम्न प्रमाणों के आधार पर कुछ श्लोकवार्त्तिकों का रचयिता भाष्यकार को स्वीकार किया जा सकता है[२] यथा 'परः सन्निकर्षः संहिता'[३] सूत्र पर भाष्यकार के द्वारा निम्न कारिका का ग्रहण किया गया है ।

बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्ता धीरस्तत्वन्नीति ।
शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम् ।।

---

१ Sometimes they are called by the fuller name of śloka-vārttika or ascribed to the Ślokavārttikakara. Prof. Kiel. Ind. Ant. 1886, p.229.

२ But the commentators assign some verses also to the author of the Bhāshya. –Prof. Kiel. Ind. Ant. 1886, p.229.

३ अ.सू.,१.४.१०९

यह कारिका भाष्यकारकृत मानी गई है ।[१] जिन श्लोकवार्त्तिकों का पूर्व-वार्त्तिक से कोई सम्बन्ध नहीं है वे भाष्यकार द्वारा प्रणीत माने गये हैं ।[२] यथा 'हय-वरट्'[३] सूत्र पर निम्न श्लोकवार्त्तिक पठित है—

अनुवर्तते विभाषा शरोऽचि यद्वारयत्ययं द्वित्वम् ।
नित्ये हि तस्य लोपे, प्रतिषेधार्थो न कश्चित् स्यात् ॥

इस श्लोकवार्त्तिक को कात्यायन-प्रणीत नहीं माना गया ।[४] इसकी पतञ्जलि द्वारा पूर्ण व्याख्या की गई है तथा पूर्ववार्त्तिक से इसका सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया गया ।[५] परन्तु इस आधार को रामसुरेश त्रिपाठी ने भ्रामक माना है तथा इसे मात्र प्रासंगिक चर्चा स्वीकार किया है ।[६]

भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों की व्याख्या में एक विशिष्ट शैली का ग्रहण किया है । इस व्याख्यान प्रक्रिया में वे वार्त्तिक भाष्य लिखने के पश्चात् सूत्र के भाष्य के अन्त में पुनः श्लोकवार्त्तिक को पढ़ते हैं इस विशिष्ट प्रक्रिया का नाम सम्पुटीकरण है ।[७] सम्पुटीकरण की प्रक्रिया के आधार पर इनके कर्ता के विषय में यह अनुमान लगाया जा सकता है[८] कि जिन वार्त्तिकों पर सम्पुटीकरण प्राप्त होता है वे कात्यायन प्रणीत वार्त्तिक हैं जिस श्लोक पर यथाकथञ्चित् सम्पुटीकरण भाष्य है वह कात्यायन प्रणीत नहीं है अपितु श्लोकवार्त्तिककार द्वारा निबद्ध है । जिन श्लोकों पर सम्पुटीकरण का अभाव है वे या तो भाष्यकार के हैं अथवा किसी अन्य आचार्य के हैं । इस रचना शैली से यह स्पष्ट है कि जिन श्लोकवार्त्तिकों पर सम्पुटीकरण भाष्य नहीं है वे भाष्यकार द्वारा प्रणीत हैं । इस कथन की पुष्टि 'अणिञोरनार्षयोर्गुरुपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे'[९] इस सूत्र के अध्ययन से होती है । इस

---

१ Puṇyarāja ascribes to the Bhāsyakāra the verse in Vol.I, p. 356. ibid.
२ त्रिपाठी, रामसुरेश प्रा.प्र.१९६९ अंक १, पृ.३
३ प्र.सू.,५
४ Prof. Kiel. Ind. Ant. 1886, p.231.
५ भाष्यकारस्यत्वेष श्लोकः पूर्ववार्त्तिकसम्बन्धाभावात् । –प्रा.प्र.१९६९, अंक १, पृ.४
६ प्रा.प्र., १९६९, अंक १, पृ.४
७ वही, पृ.४
८ जोशी भार्गव शास्त्री व्या.म.५, भूमिका, पृ.३
९ अ.सू., ४.१.७८

सूत्र पर भाष्यकार ने अनेक श्लोकवार्त्तिकों को उद्धृत किया है जिनमें से निम्न को भाष्यकार प्रणीत माना गया है—

प्रकर्षे चेत्तमं कृत्वा दाक्ष्या नोपोत्तमं गुरु ।
आम्विधिः केन ते न स्यात् ? प्रकर्षे यद्ययं तमः ॥
उद्गतस्य प्रकर्षो यं गतशब्दोऽत्र लुप्यते ।
नाव्ययार्थप्रकर्षोऽस्ति, धात्वर्थोऽत्र प्रकृष्यते ॥
उद्गतोऽपेक्षते किंचित्, त्रयाणां द्वौ किलोद्गतौ ।
चतुष्प्रभृतिकर्तव्यो वाराह्यायां न सिध्यति ॥
भिद्यतेऽस्य स्वरस्तेन विधिश्चाजामो न लक्ष्यते ।
शब्दान्तरमिदं विद्याद् दृष्टमभ्यन्तरं त्रिषु ॥[१]

इसी प्रकार 'वित्तौ भोगप्रत्ययोः'[२] सूत्र पर भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक का ग्रहण किया है—

यस्य विदेः श्नशकौ तपरत्वे तनवचने तदु वा प्रतिषेधौ ।
श्यन् विकरणान्नविधिश्छिदितुल्यो लुग्विकरणो वलि पर्यवपन्नः ॥

इसके पश्चात् 'अपर आह' कहकर निम्न कारिका का ग्रहण है—
ययोर्विद्योः श्नशावुक्तो तयोर्नत्वस्य वा नञौ ।
ययोस्तु श्यंल्लुको ताभ्यां छिदिवच्चेट्च इष्यते ॥[३]

जिसके द्वारा वार्त्तिकार्थ का प्रतिपादन किया गया है । तत्पश्चात् अपर आह कहकर निम्न कारिका उद्धृत की है—

वेत्तेस्तु विदितो निष्ठा विद्यतेर्विन्न इष्यते ।
विन्तेर्विन्नश्च वित्तश्च वित्तौ भोगेषु, विन्दतेः ॥

इन श्लोकों पर भाष्यकार ने सम्पुटीकरण भाष्य नहीं लिखा है अतः इसे भाष्याकारकृत माना जा सकता है ।[४] 'वाक्यादेरामन्त्रितस्याऽसूयासंतिकोपकुत्स-

---

१ अ.सू.८.२.५८
२ एते श्लोकाः भाष्यकृत एव न वार्त्तिककृतः सम्पुटीकरणाभावात् । —नागेश - उद्योत व्या.म.२, पृ.३४४
३ इत्येवं वार्त्तिकार्थप्रतिपादक, श्लोक उक्तः । —जोशी, मा. शा. व्या.म. ५, भूमिका, पृ.३
४ आद्यः कदाचित् भाष्यप्रणेतुरपि स्यादित्येवानुमातुं शक्यम् । —वही, पृ. ३

नभर्त्सनेषु'[१] सूत्र पर असूया, कुत्सन तथा कोप और भर्त्सन का ऐकार्थ्यत्व लक्षित करके उसका ग्रहण होने पर विप्रत्तिपत्ति मानी है तथा सूत्र को इसी रूप में उचित माना है इसका प्रतिपादन निम्न श्लोकवार्त्तिक में किया गया है—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः ।
लालनाश्रयिणो दोषास्ता नाश्रयिणो गुणाः ॥

यह श्लोक वार्त्तिककार का नहीं है तथा इस पर सम्पुटीकरण की प्राप्ति भी नहीं होती । इसी प्रकार 'शाच्छोरन्यतरस्याम्'[२] सूत्र पर भाष्यकार ने निम्न श्लोक वार्त्तिक उद्धृत किया है—

देवत्रातो गलो ग्राह इति योगे च सद्धिधिः ।
मिथस्ते न विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः ॥

यह श्लोकवार्त्तिक भी भाष्यकार प्रणीत माना जा सकता है क्योंकि इस पर सम्पुटीकरण भाष्य नहीं है । 'अकथितञ्च'[३] सूत्र पर भाष्कार ने 'किमुदाहरणम्' शब्दों के साथ अपना मत निम्न कारिका में प्रस्तुत किया है —

दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचित्रामामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ ।
ब्रुविशासिगुणेन च यत्सचते तदकीर्तितमाचरित कविना ॥

व्याख्या रूपी सम्पुटीकरण भाष्य न होने के कारण यह श्लोक वार्त्तिक भाष्यकार द्वारा रचित माना जा सकता है ॥[४] 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति' सूत्र पर ल्यप् ग्रहण के प्रयोजन की व्याख्या करते हुये भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक का ग्रहण किया है—

जग्धिर्विधिल्यपि यत्तदकस्मात्सिद्धमदस्ति कितीतिविधानात् ।
हि प्रभृतींस्तु सदा बहिरङ्गो ल्यब्भरतीति कृतं तदु विद्धि ॥

---

१ अ.सू.,८.१.८
२ अ.सू.,७.४.४१
३ वही,१.४.५१
४ स्वकीयत्वं चास्य व्याख्यारुपकुण्डलनादर्शनाभावादवगम्यते । –जोशी, भा.शा., व्या.म. ५ भूमिका, पृ.४

इस श्लोकवार्त्तिक को कैयट ने व्याघ्रभूति[१] नामक वैयाकरण के द्वारा प्रणीत माना है इस श्लोकवार्त्तिक के पश्चात् एष एवार्थः के पश्चात् भाष्यकार निम्न कारिका पढ़ते हैं—

जग्धौ सिद्धेऽन्तरङ्गत्वात्ति कित्तीति ल्युबुच्यते।
ज्ञापयत्यन्तरङ्गाणानां ल्यपा भवति बाधनम्॥

यह पूर्व श्लोकवार्त्तिक की अपेक्षा भिन्न समानार्थक श्लोकवार्त्तिक है। 'एष एवार्थः' इस प्रतीक के पश्चात् उक्त श्लोकवार्त्तिक को उद्योतकार ने कात्यायन से अतिरिक्त किसी अन्य वैयाकरण को इस कारिका का कर्ता स्वीकार किया है।[२] यह द्वितीय श्लोकवार्त्तिक भाष्यकार द्वारा प्रणीत भी हो सकता है।[३] श्लोकवार्त्तिकों को संग्रह श्लोकों के नाम से अभिहित किया गया है। इन संग्रह श्लोकों के प्रणेता भाष्यकार माने जा सकते हैं। यथा 'आतोऽनुपसर्गे कः'[४] सूत्र पर भाष्यकार ने पहले सामान्य वार्त्तिकों के समान व्याख्यान किया है तथा बाद में इस व्याख्यान को निम्न श्लोकवार्त्तिकों में संगृहीत कर दिया है—

नित्यं प्रसारणं ह्वो यण् वार्णादाङ्गं न पूर्वत्वम्।
योऽनादिष्टादचः पूर्वस्तत्कार्ये स्थानिवत्त्वं हि॥
प्रोवाच भगवान् कात्यस्तेनासिद्धिर्यणस्तु ते।
आतः को लिण्णैडः पूर्वः सिद्ध आह्वस्तथा सति॥

प्रदीपकार[५] ने इन्हें संग्रहश्लोक माना है। इसी प्रकार 'इको यणचि'[६] सूत्र पर कात्यायन ने 'यणादेशः प्लुतपूर्वस्य च' वार्त्तिक पढ़ा है इसी सूत्र पर उक्त निम्न श्लोक वार्त्तिक हैं जिनमें भगवान् शब्द कात्यायन के लिये व्यवहृत है।

जश्त्वं न सिद्धं यणमत्र पश्य, यश्चापदान्तो हलचश्च पूर्वः।
दीर्घस्य यण् ह्रस्व इति प्रवृत्तं, सम्बन्धवृत्या गुणवृद्धिबाध्यम्॥

---

१ अयमेवार्थो व्याघ्रभूतिना प्युक्त इत्याह जग्धिविधिरिति –कैयट. प्रदीप. व्या.म. १, पृ.५५३
२ अन्येन निबद्ध इति शेषः। मया निबध्यत इति वा। –नागेश उद्योत व्या.म.१,पृ.५५३
३ जोशी. भा.शा.व्या.म.५ भूमिका पृ.५
४ अ.सू.,३.२.३
५ उक्तार्थसंग्रहाय श्लोकाः। नित्यं संप्रसारणमिति। –कैयट. व्या.म.२,पृ.१४९
६ अ.सू.६.१.७७

नित्ये च यः शाकलभाक् समासे, तदर्थमेतत् भगवांश्चकार।
सामर्थ्ययोगान्न हि किंचिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्॥

अतः सम्भव है कि इन श्लोकवार्त्तिकों की रचना भाष्यकार ने की है।[१] यणादेशः प्लुतपूर्वस्य च 'वार्तिक के आधार पर' तयोर्य्वावचि संहितायाम्[२] सूत्र पर सगृहीत श्लोकवार्त्तिकों में कात्यायनीय वार्त्तिकार्थ उक्त है—

किंनु यणा भवतीह न सिद्धं य्वाविदुतोर्यदयं विदधाति।
तौ च मम स्वरसन्धिषु सिद्धौ शाकलदीर्घविधी तु निवर्त्यौ॥
इक् तु यदा भवति प्लुतपूर्वस्तस्य यणं विदधात्यपवादम्।
तेन तयोश्च न शाकलदीर्घो यण्स्वरबाधनमेव तु हेतुः।

कैयट[३] ने इन्हें संग्रह श्लोक माना है इसके अतिरिक्त वार्त्तिकार्थ प्रतिपादक होने के कारण इनके रचयिता के रूप में भाष्यकार को स्वीकार किया जा सकता है। प्रो. कीलहार्न[४] ने 'अव्ययात्त्यप्'[५] सूत्र पर उद्धृत श्लोकार्थ के विषय में नागेशभट्ट[६] के मतानुसार भाष्यकार को अथवा कात्यायन से अतिरिक्त किसी अन्य श्लोकवार्त्तिककार को इसका रचयिता माना है।

इस प्रकार भाष्यकार को कुछ श्लोकवार्त्तिकों का रचयिता माना जा सकता है।

द्वितीय पक्ष वार्त्तिककार कात्यायन से सम्बद्ध है, वार्त्तिककार तथा श्लोक-वार्त्तिककार शब्दों के प्रयोग के विषय में यह कहा जा सकता है कि ये दोनों ही संज्ञायें भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का संकेत प्रदान करती है। प्रो. कीलहार्न ने इस विषय में भाष्य के टीकाकारों को प्रमाण माना है तथा वार्त्तिककार व श्लोकवार्त्तिककार

---

१ त्रिपाठी रामसुरेश प्रा.प्र.१९६९, अंक १, पृ.४
२ अ.सू., ८.२.१०८
३ पूर्वोक्तार्थसङ्ग्रहश्लोकद्वयम्। – प्रदीप, व्या. म. ३, पृ. ४३०
४ Half verse belongs either to the author of the Bhāshya or to another Vārttikakara. On the MB. Ind. Ant. 1886, p.230.
५ अ.सू., ४.२.१०४
६ परिगणनं भाष्यकृतोऽन्यवार्त्तिककारस्यवेति विप्रतिषेधवार्त्तिककारस्तन्न जानातीति भावः। – उद्योत. व्या. म. २, पृ. ४३३

को भिन्न-भिन्न माना है ।[१] कात्यायन ने वार्त्तिकों की रचना की यह तो निश्चित है परन्तु श्लोकवार्त्तिकों की रचना के विषय में यह विवादास्पद विषय है कि श्लोकवार्त्तिकों के रचयिता कात्यायन हैं अथवा नहीं । उक्त अथवा 'उक्तं वा' शब्दों के संकेत से वाक्य वार्त्तिकों का ही ग्रहण माना गया है । किसी एक भी प्रसंग में कात्यायन ने श्लोकबद्ध तर्क प्रस्तुत नहीं किये हैं ।[२] इसके अतिरिक्त यदि श्लोकवार्त्तिकों की रचना कात्यायन के द्वारा की गई होती तो वार्त्तिकों में उसी सिद्धान्त का कथन करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती जिसका प्रतिपादन श्लोकवार्त्तिक के द्वारा किया गया है । यथा 'परोक्षे लिट्'[३] सूत्र पर निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा 'परोक्षे' पद को स्पष्ट किया गया है—

परोभावः परस्याक्षे परोक्षे लिटि दृश्यताम् ।
उत्वं वाऽऽदेः परादक्ष्णः सिद्धं वाऽस्मान्निपातनात् ॥

यह श्लोकवार्त्तिक यदि कात्यायनरचित माना जाये तो सामान्य वार्त्तिक 'परोक्षे लिडत्यन्तापह्नवे च' पढ़ने का कोई प्रयोजन नहीं है । इसी प्रकार 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः'[४] सूत्र पर निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत हैं—

अन्यप्रकृतिरमहान् भूतप्रकृतौ महान् महत्येव ।
तस्मादात्वं न स्यात्पुंवत्तु कथं भवेत्तत्र ॥
अमहति महान् हि वृत्तस्तद्वाची चात्र भूतशब्दोऽयम् ।
तस्मात्सिद्ध्यति पुंवन्निवर्त्यमात्वं तु मन्यन्ते ॥[५]

---

१ Ślokavārttikakāra has been regarded by the commentators to be different from the ordinary Vārttikakāra in every case on the MB. Ind. Ant. 1886, p.229.

२ There is not a single instance in which Kātyāyana has thus alluded to a statement in verse. Prof. Kiel. On the MB. Ind. Ant. 1886, p.230.

३ अ.सू., ३.२.११५

४ वही, ६.३.४६

५ इनके अतिरिक्त निम्न श्लोकवार्त्तिक हैं—
यस्तु महतः प्रतिपदं समास उक्तस्तदाश्रयं ह्यात्वम् ।
कर्तव्यं मन्यन्ते न लक्षणेन लक्षणोक्तश्चायम् ॥

इसी सूत्र पर कात्यायन ने 'महदात्वे घासकरविशिष्टेषूपसंख्यानं पुंवद्वचनं चासमानाधिकरणार्थम्' वार्त्तिक दिया है। यदि इन श्लोकवार्त्तिकों के रचयिता कात्यायन हैं तो वे वार्त्तिक में 'महदात्वे' पद को सन्निविष्ट नहीं करते। 'इकोऽचि विभक्तौ'[१] सूत्र पर उद्धृत निम्न कारिका का सम्बन्ध वार्त्तिककार से नहीं माना जा सकता—

इकोऽचि व्यञ्जने मा भूदस्तु लोपः स्वरः कथम्।
स्वरो वै श्रूयमाणेऽपि लुप्ते किं न भविष्यति।

इसको कात्यायन प्रणीत मानने पर सूत्रोक्त वार्त्तिक 'इकोऽचि विभक्ताव-ज्ग्रहणं नुम्नुटोर्विप्रतिषेधार्थम्' निष्प्रयोजन प्रतीत होता है।[२]

पतञ्जलि द्वारा व्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों के कर्त्ता भी कात्यायन नहीं है 'हयवरट्'[३] सूत्र पर अण् प्रत्याहार में गृहीत अन्तःस्थ वर्णो (य्, र्, ल्, व्) का ग्रहण क्यों किया गया है ? इस प्रश्न का समाधान निम्न कारिका के द्वारा किया गया है—

अनुवर्तते विभाषा शरोऽचि यद्वारयत्ययं द्वित्वम्।
नित्ये हि तस्य लोपे प्रतिषेधार्थो न कश्चित्स्यात्॥

इस श्लोकवार्त्तिक का पूर्ण व्याख्यान किया गया है तथा इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण व्याख्यान में प्रसंगवश किया गया है। इनके विषय में यह कहा जा सकता है कि इनको भाष्यकार ने व्याख्यान में आवश्यकतानुसार उद्धृत कर लिया है।'[४] ईदूतौच सप्तम्यर्थे[५] सूत्र पर निम्न श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण किया गया है—

शेषवचनात्तु योऽसौ प्रत्यारम्भात्कृतो बहुव्रीहिः।
तस्मात् सिध्यति तस्मिन् प्रधानतो वा यतो वृत्तिः॥

१ अ.सू.,७.१.७३

२ If the verse with which the discussion opens were Kātyāyana's he would not have worded his first prose Vārttika. -Prof. Kiel. Ind. Ant. 1886, p.230.

३ प्र.सू.५

४ We assume that they have been borrowed by Patañjali from elsewhere. ibid.

५ अ.सू.१.१.१९

ईदूतो सप्तमीत्येव, लुप्तेऽर्थग्रहणाद्भवेत् ।
पूर्वस्य चेत्सवर्णोऽसावाडां भावः प्रसज्यते ॥
वचनाद्यत्र दीर्घत्वं तत्रापि सरसी यदि ।
ज्ञापकं स्यात् तदन्तत्वे मा वा पूर्वपदस्य भूत् ॥[१]

इनमें प्रतिपादित विषय का कथन 'ईदूदेद्विवचनं प्रगृह्यम्' सूत्र पर उक्त सप्तम्यामर्थग्रहणं ज्ञापकं प्रत्ययलक्षण प्रतिषेधस्य' वार्त्तिक के द्वारा किया गया है इसी प्रकार 'न माङ्योगे'[२] सूत्र पर गृहीत निम्न कारिकायें—

अजादीनामटा सिद्धं वृद्ध्यर्थमिति चेदटः ।
अस्वपो हसतीत्यत्रधातौ वृद्धिमटः स्मरेत् ॥
पररूपं गुणो नाट ओमोङोरुसि तत्समम् ।
छन्दोऽर्थं बहुलं दीर्घमिणिस्त्योरन्तरङ्गतः ॥

'आडजादीनाम्'[३] सूत्र में प्रतिपादित विषय का ही समर्थन करती हैं यह कात्यायन का मत नहीं है 'ओमाङोश्च'[४] सूत्र पर कथित 'उस्योमाङ्क्ष्वाट प्रतिषेधः' इस कात्यायनीय वार्त्तिक को इन कारिकाओं के माध्यम से निष्प्रयोजन सिद्ध किया गया है अतः स्वकीय मत का खण्डन श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा सम्भव न होने के कारण इन श्लोकवार्त्तिकों का रचयिता कात्यायन को नहीं माना जा सकता ।[५]

कात्यायनीयवार्त्तिक भाष्य में विधायक रूप में ही गृहीत हैं अनुवादक के रुप में नहीं जबकि श्लोकवार्त्तिकों को अनुवादक के रूप में ही उद्धृत किया गया है विधायक के रूप में उनका ग्रहण नहीं हुआ ।[६] यथा 'अमावस्यदन्यतरस्याम्'[७] सूत्र पर 'तकारः कस्यानुबन्धः' यह शंका उद्भावित है । ञित् तथा नित कोआद्यु-दात्तत्व की प्राप्ति न होने पर एवं तर्हि के पश्चात् भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किया है—

---

१ अ.सू. १.१.११
२ अ.सू. ६.४.७४
३ वही, ६.४.७२
४ वही, ६.१.९५
५ प्रो. कील. इन्डि. एन्टी., पृ. २३१
६ जोशी. भा.शा. व्या. म. ५ भूमिका, पृ. ५
७ अ.सू., ३.१.१२२

अमावसोरहं ण्यतोर्निपातयाम्यवृद्धिताम् ।
तथैक वृत्तिता तयोः स्वरश्च मे प्रसिद्धयति ॥

इस सूत्र पर वाक्यवार्त्तिक नहीं है, श्लोकवार्त्तिक के द्वारा सूत्र में निपातित पद को प्रदर्शित किया गया है । दो प्रकार से अमावस्यत् रुप सिद्ध किया है -- (१) अमापूर्वक वस् धातु से ण्यत् प्रत्ययत तथा वृद्धयभाव सिद्ध होने पर तथा (२) आमावस्यत् पद में प्रकृतित्व तथा अमावस्यत में विकृतत्व स्वीकार करने पर एकवृत्तित्व पद में प्रकृतित्व तथा अमावस्यत में विकृतत्व स्वीकार करने पर एकवृत्तित्व व अभीष्ट स्वर सिद्ध होता है ।[1] दोनों ही प्रकार से सूत्रकार द्वारा साधित निपातन का श्लोकवार्त्तिक के द्वारा प्रतिपादन किया गया है । यह अपूर्वविधि नहीं है । इसी प्रकार 'छन्दसिनिष्टर्क्यदेवहूयप्रणीयोन्नीयोच्छिष्यमर्यस्त-र्याध्वर्यखन्यखान्यदेवयज्यापृच्छ्यप्रतिषीव्यब्रह्मवाद्य-भाव्यस्ताव्योपचाय्यपृडानि'[2] सूत्र पर भाष्य में निष्टर्क्य निपातन को सिद्ध करने के लिये 'निष्टर्क्ये कृतेराद्यन्तवि-पर्ययश्छन्दसि कृताद्यर्थः' वार्त्तिक के द्वारा निपातन का प्रतिपादन होने पर 'अपर आह' के पश्चात् निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किया गया है—

निष्टर्क्ये व्यत्ययं विद्यान्निसः षत्वं निपातनात् ।
ण्यदाद्यादेश इत्येतावुपचाय्ये निपातितौ ॥
ण्यदेकस्माच्चतुर्भ्यः क्यप् चतुर्भ्यः यतो विधिः ।
ण्यदेकस्माद्यशब्दश्च द्वौक्यपौ ण्यद्विधिश्चतुः ॥

यह सूत्रनिपातनोपपादक श्लोकवार्त्तिक हैं । अतः सूत्र शेषार्थ का प्रतिपादन करने वाले श्लोकवार्त्तिक हैं । यह भाष्यकार का सिद्धान्त सिद्ध होता है ।[3] इसी प्रकार 'अतएकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि'[4] सूत्र पर भाष्य में 'दम्भ एत्वं नलोपस्या-सिद्धत्वात्' वार्त्तिक का ग्रहण किया गया है इसकी व्याख्या के पश्चात् निम्न कारिकाओं को उद्धृत किया है—

नशिमन्योरलिट्येत्वं छन्दस्यभिपचोरपि,
अनेशंमेनकेत्येत्यवेमानंलिडियेचिरन् ।

---

१ जोशी भा. शा. व्या. म.५, पृ.६
२ अ. सू., ३.१.१२३
३ जोशी. भा.शा.व्या.म.५ भूमिका, पृ.६
४ अ. सू., ६.४.१२०

यजायेजे वपावेपे दम्भ एत्वमलक्षणम्,
श्नसोरत्वेतकारेण ज्ञाप्यते त्वेत्वशासनम् ॥

तपरत्व को सप्रयोजन सिद्ध करने के लिये श्लोकवार्त्तिक के द्वारा ज्ञापित कराया है। इस श्लोकवार्त्तिक के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कात्यायन ने इन श्लोकवार्त्तिकों की रचना नहीं की। 'त्यदादीनामः'[१] सूत्र पर कात्यायनीय वार्त्तिक 'त्यदादीनां द्विपर्यन्तानामकारवचनम्' कहा गया है। इसके पश्चात् भाष्यकार ने निम्न कारिका उद्धृत की है—

त्यदादीनामकारेण सिद्धतत्वाद्युष्मदस्मदोः।
शेषे लोपस्य लोपेन ज्ञायते प्राक्ततोऽदिति ॥

यह श्लोकवार्त्तिक लोप[२] विधान सामर्थ्य के कारण 'त्यदादीनामः' सूत्र पूर्व प्रवर्तित होता है अतः वाक्यवार्त्तिक निष्प्रयोजन प्रतीत होता है। वाक्यवार्त्तिक का खण्डन होने के कारण यह श्लोकवार्त्तिक कात्यायनप्रणीत नहीं माना जा सकता।[३] तथा सम्पुटीकरण भाष्य का अभाव होने के कारण भाष्याकृत् भी नहीं माना जा सकता।[४] 'कौमारापूर्ववचने'[५] सूत्र पर कात्यायन ने 'कौमारापूर्ववचन इत्युभयतः स्त्रिया अपूर्वत्वे' यह वार्त्तिक पढ़ा है। इसी सूत्र पर भाष्यकार ने निम्न श्लोक वार्त्तिक का ग्रहण किया है—

कौमारापूर्ववचने कुमार्या अण्विधीयते।
अपूर्वत्वं यदा तस्याः कुमार्यां भवतीति वा ॥

यह श्लोकवार्त्तिक उपरोक्त वार्त्तिक का समानार्थक है। अतः इसे कात्यायनकृत् नहीं माना जा सकता। सम्पुटीकरण[६] होने के कारण इसे भाष्यकार द्वारा प्रणीत भी नहीं माना जा सकता। 'कुमार्या अण्विधीयते' ये शब्द सूत्रार्थमात्र को

---

१ अ.सू.,७.२.१०२
२ शेषे लोपः। –वही,७.२.९०
३ वाक्यरूपवार्त्तिकखण्डनाय प्रवृतमेतन्न कात्यायनस्येत्येतदपि स्फुटत्तरमेव। –जोशी.भा.शा.व्या.म.५ भूमिका,पृ.७
४ वही,पृ.७
५ अ.सू.,४.२.१३
६ अथवा कुमार्या भवः कौमारः इति सम्पुटीकरणप्रयोगात् भाष्यकारस्येदमित्यपि न। –जोशी.भा.शा.व्या.म.५ भूमिका,पृ.७.

प्रदर्शित करने के कारण कात्यायन की शैली से साम्य नहीं रखते।[१] अतः भाष्यकार तथा वार्त्तिककार से अन्य किसी वैयाकरण को श्लोकवार्त्तिकों का कर्ता माना जा सकता है।

इन श्लोकवार्त्तिकों के अतिरिक्त निम्न प्रमाण हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कात्यायन ने श्लोकवार्त्तिकों की रचना नहीं की।

'कुछ श्लोक वार्त्तिकों में कात्ययान का नामोल्लेख प्राप्त होता है यथा 'लट् स्मे'[२] सूत्र पर कात्यायनीय वार्त्तिकों स्मपुरा भूतमात्रे तथा 'न स्मपुराऽद्यतने' का ग्रहण करने के पश्चात्—

स्मादिविधिः पुरान्तो यद्यविशेषेण किङ्कृतं भवति।
न स्म पुराऽद्यतन इति ब्रुवता कात्यायनेनेह॥

श्लोकवार्त्तिक उक्त है जिसमें कात्यायन का नाम उद्धृत है। 'आतोऽनुपसर्गे कः'[३] सूत्र पर भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक का ग्रहण किया है—

प्रोवाच भगवान्कात्यस्तेनासिद्धिर्यणस्तु ते।
आत को लिण्नैड्, पूर्वः सिद्धः आह्वस्तथा सति॥

इसमें 'कात्य' शब्द वार्त्तिककार के लिये प्रयुक्त है। इस नामोल्लेख से यह प्रतीत होता है कि वाक्यवार्त्तिककार कात्यायन है तथा श्लोकवार्त्तिककार उनसे भिन्न वैयाकरण है।

वार्त्तिककार तथा श्लोकवार्त्तिककार को भिन्न-भिन्न माना गया है। महाभाष्य के टीकाकार इस विषय में प्रमाण हैं—

(१) 'ञमङ्णनम्'[४] तथा 'झभञ्'[५] सूत्रों पर भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं—

---

१ अथवा कुमार्या भवः कौमारः इति सम्पुटीकरणप्रयोगात् भाष्यकारस्येदमित्यपि न। –जोशी. भा.शा. व्या.म.५ भूमिका, पृ.७.

२ अ.सू., ३.२.११८

३ अ.सू., ३.२.३

४ प्र.सू.७

५ प्र.सू.८

अक्षरं न क्षरं विद्यात् अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्।
वर्ण वाहुः पूर्वसूत्रे, किमर्थमुपदिश्यते ॥

वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म वर्तते।
तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते ॥

इन श्लोकवार्त्तिकों की व्याख्या करते हुये भर्तृहरि[1] ने वार्त्तिककार तथा श्लोकवार्त्तिककार को भिन्न-भिन्न माना है।[2] 'असिद्धवदत्राभात्'[3] सूत्र पर वार्त्तिक तथा श्लोकवार्त्तिक दोनों में सूत्र के प्रयोजनों की चर्चा की गई है। वार्त्तिककार के प्रयोजनों का प्रत्याख्यान होने पर निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा प्रयोजन प्रस्तुत किये गये है—

उत्तु कृञः कथमोर्विनिवृत्तौ णेरपि चेटि कथं विनिवृत्तिः।
अब्रुवतस्तव योगमिमं स्यात्, लुक् च चिणो नु कथ नं तरस्य ॥[4]

श्लोकवार्त्तिक की व्याख्या में कैयट ने वार्त्तिककार तथा श्लोकवार्त्तिककार को विभिन्न माना है। कैयट के कथन की पुष्टि नागेश[5] भट्ट ने की है। इन श्लोकवार्त्तिकों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि श्लोकवार्त्तिकों की रचना कात्यायन ने नहीं की। इस विषय में एक अन्य प्रमाण यह भी है कि कुछ श्लोकवार्त्तिकों की रचना कात्यायन के समय से परवर्ती है।[6] उनमें से कुछ का उन्होंने प्रत्याख्यान किया है। यथा 'ब्रीह्यादिभ्यश्च'[7] सूत्र पर निम्न श्लोकवार्त्तिकार्ध उद्धृत है – 'शिखादिभ्य इनिर्वाच्य इकन् यवखदादिषु' यह वार्त्तिक पाणिनीय सूत्र

---

१ यदेवोक्तं वाक्यकारेण वृत्तिसमवायार्थ उपदेश इति तदेव श्लोकवार्त्तिककारोऽप्याह। – व्या.म. त्रिपाठी, पृ. ११६

२ Both of course denote different persons. Prof. Kiel. Ind. Ant. p.229

३ अ.सू., ६.४.२२

४ वार्त्तिककारोक्तेषु प्रयोजनेषु प्रत्याख्यातेषु श्लोकवार्त्तिककारोक्त प्रयोजनोपक्षेपः। – प्रदीप. व्या. म. २, पृ. ९०८

५ वार्त्तिककार कात्यायनः। श्लोक वार्त्तिकारस्त्वन्य एवेति भावः। – वही, पृ. ९०८

६ त्रिपाठी, रा. सु. प्रा. प्र. १९६९, अंक १, पृ. ३

७ अ.सू., ५.२.११६

में संशोधन करता है। शिखादि से केवल इनि प्रत्यय का तथा यवखदादि से इकन् प्रत्यय होता है, अवशिष्ट से इनि तथा इकन् दोनों प्रत्यय होते हैं। कात्यायन के सम्बन्ध में अन्य पक्ष भी विचारणीय है कि कुछ श्लोकवार्त्तिकों की रचना उन्होंने की है। यथा 'न माङ्योगे' सूत्र पर उक्त श्लोकवार्त्तिकों को कैयट ने वार्त्तिककार कृत् माना है।[१]

अजादीनामटा सिद्धंवृद्ध्यर्थमिति चेदटः।
अस्वपो हसतीत्यत्र धातौ वृद्धिमटः स्मरेत्॥
पररूपं गुणे नाट ओमाङोरूसि तत्समम्।
छन्दोऽर्थ बहुलं दीर्घ इणस्त्योरन्तरङ्गतः॥

'कश्चात्र विशेषः' तथा अत उत्तरं पठति के पश्चात् कात्यायनीय वार्त्तिक होना चाहिये। 'दो दद् घोः'[२] सूत्र पर अत उत्तरं पठति के पश्चात् निम्न श्लोक-वार्त्तिक कात्यायनीय माना जा सकता है—

यस्यविदेः श्नशकौ तपरत्वे तनवचने तदु वा प्रतिषेधौ।
श्यन्विकरणान्नविधिश्छदितुल्यः लुग्विकरणो वलिपर्यवपन्नः॥

इस प्रकार यह कथन असंगत प्रतीत नहीं होता है कि कुछ अपवादों को छोड़कर श्लोकवार्त्तिकों की रचना कात्यायन ने नहीं की। महाभाष्य में व्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों के विषय में यह कहा जा सकता है कि कात्यायन से इनका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता इनका संग्रह भाष्यकार ने अन्य वैयाकरणों से किया है।[३] यथा 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्'[४] सूत्र पर भाष्य में व्याख्यान के अन्त में—

शैषिकान्मतुपर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थिकः।
सरूप प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते॥

---

१ Kaiyata must have taken Kātyāyana to be the author of that verse. -Prof. Kiel. Ind. Ant. p.229.

२ अ.सू.,८.२.५८

३ They do not belong to Kātyāyana at all. but have been borrowed or quoted by Patañjali from other works. -Prof. Kiel. Ind. Ant. p.232.

४ अ.सू.५-२-९४

अन्य वैयाकरणों के संकेत महाभाष्य में उपलब्ध होते हैं। यथा 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति'[१] सूत्र पर भाष्यकार द्वारा निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किया गया है।

जग्धिर्विधिर्ल्यपि यत्तदकस्मात्सिद्धमदस्ति कितीति विधानात्।
हि प्रभृतीस्तु सदा बहिरङ्गो ल्यब्भरतीति कृतं तदु विदि॥

इसके विषय में कैयट का कथन है कि यह व्याघ्रभूति आचार्य द्वारा निबद्ध है।[२] पूर्ववार्त्तिक की अपेक्षा भिन्न तथा पूर्वश्लोक से समानार्थक होने के कारण यह भिन्न कर्तृत्व प्रकट करता है। नागेश ने इस मत की पुष्टि की है।[३] इसके अतिरिक्त 'न बहुव्रीहौ'[४] सूत्र पर 'गोनर्दीय आह' के पश्चात् निम्न कारिका उद्धृत है—

अकच्स्वरौ तु कर्त्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ।
त्वकपितृकः मकत्पितृकः इत्येव भवितव्यमिति।

इसके विषय में यहा कहा जा सकता है इसकी रचना गोनर्दीय आचार्य ने की है। 'ऋदुशनस्पुंरुदंसोऽनेहसां च'[५] सूत्र पर काशिकाकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक का ग्रहण किया है—

सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम्।
माध्यन्दिनिर्वष्टि गुणं त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः॥

इसमें उक्त 'व्याघ्रपदा' पद से व्याघ्रभूति का ही ग्रहण किया है।[६]

श्लोकवार्त्तिकों के कर्तृत्व सम्बन्धी विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि इस विषय में निम्न तथ्य प्राप्त होते हैं—

---

१ अ. सू., २.४.३६
२ अयमेवार्थो व्याघ्रभूतिनाप्युक्त इत्याह जग्धिविधिरिति। – कैयट प्रदीप. व्या. म. १, पृ. ५५३
३ एष एवार्थः इस प्रतीक के आधार पर अन्येन निबद्ध इति शेषः। मया निबध्यत इति वा। उद्योत व्या. म. १, पृ. ५५३
४ अ. सू., १.१.२९
५ अ. सू., ७.१.९४
६ तथा च व्याघ्रभूतिः सम्बोधने इति क्रातंत्र चतुष्ट्य। – मीमां. युधि. व्या. शा. इति. भाग १; पृ. २२३

(१) कात्यायन श्लोकवार्त्तिककार के रूप में।

(२) भाष्यकार श्लोकवार्त्तिककार के रूप में

(३) अन्य वैयाकरण श्लोकवार्त्तिककार के रूप में।

इन्हीं तीनों को दृष्टि में रखते हुये श्लोकवार्त्तिकों की व्याख्यान-शैली के आधार पर इनके कर्तृत्व के सम्बन्ध में यह वर्गीकरण किया जा सकता है—

(१) अव्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों के आधार पर।

(२) व्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों के आधार पर।

(३) अंशतः व्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों के आधार पर।

(१) अव्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों के कर्तृत्व के विषय में विचार करते हुये दो प्रकार के श्लोकवार्त्तिक उपलब्ध होते हैं। प्रथमतः 'अपर आह' के संकेत से उद्धृत श्लोकवार्त्तिक जो प्रश्नात्मक हैं ?[१] द्वितीयतः जिन श्लोकवार्त्तिकों में पूर्वोक्त वार्त्तिक का प्रत्याख्यान किया गया है।[२] इन श्लोकवार्त्तिकों के रचयिता न तो भाष्यकार[३] हैं तथा न ही वार्त्तिककार कात्यायन।[४] अव्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों के रचयिता के सम्बन्ध में आकर्षात्ष्ठल्[५] सूत्र की व्याख्या में कैयट ने निम्न श्लोक वार्त्तिक का प्रणेता 'श्लोकवार्त्तिककार' शब्द से कहा है—

आकर्षात् पर्पादिर्भस्त्रादिभ्यः कुसीदसूत्राच्च।
आवसथात् किसरादेः षितः षडेते ठगधिकारे॥

अतः भाष्यकार तथा कात्यायन दोनों को ही इनका रचयिता नहीं माना जा सकता। इन दो प्रकार के श्लोकवार्त्तिकों के अतिरिक्त अव्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों में 'सार श्लोकवार्त्तिक' भी आते हैं जिनका 'एष एवार्थः' के संकेत से ग्रहण किया

---

१ Prof. Gold., Pāṇini, p.104.

२ Ibid.

३ I believe, are not volunteered by Patañjali. ibid.p.105.

४ The merit of having an another occasion elicited the remark of Nagoji that this author is not Kātyāyana. ibid.

५ De. met., 4.4.9

गया है । इनका प्रणेता भाष्यकार को नहीं माना जा सकता ।[१] 'अपर' से अभिप्राय श्लोकवार्त्तिककार से है । यथा – 'वोतो गुणवचनात्'[२] सूत्र पर 'अपर आह' के संकेत के पश्चात् निम्न कारिका उद्धृत है—

उपैत्यन्ज्जहात्यन्यद् दृष्टो द्रव्यान्तरेष्वपि ।
वाचकः सर्वलिङ्गानां द्रव्यादन्यो गुणः स्मृतः ॥

इस कारिका का प्रणेता भाष्यकार या कात्यायन नहीं हैं 'अपर' से अभिप्राय अन्य वैयाकरण से है । अतः यह कहा जा सकता है कि अव्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों की रचना श्लोकवार्त्तिककारों के द्वारा की गई है जिनका नामोल्लेख प्राप्त नहीं होता ।[३]

पूर्णतः व्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों में भी दो प्रकार के श्लोकवार्त्तिक प्राप्त होते हैं प्रथम प्रकार के श्लोकवार्त्तिकों का संकेत 'अपर आह' के द्वारा किया गया है । जिनमें पूर्वोक्त वार्त्तिक का प्रत्याख्यान है यथा 'भृञो संज्ञायाम्'[४] सूत्र पर 'कात्यायनीय वार्त्तिक' सिद्धं तु स्त्रियां संज्ञाप्रतिषेधात् का ग्रहण करने के पश्चात् निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा वार्त्तिक का विरोध किया गया है – 'अपरआह'—

संज्ञायां पुंसि दृष्ट्त्वान्न त भार्या प्रसिध्यति ।
स्त्रियां भावाधिकारोस्ति तेन भार्या प्रसिध्यति ॥

अन्य प्रकार के श्लोकवार्त्तिक वे हैं जिनमें पूर्वोक्त श्लोकवार्त्तिक का खण्डन किया गया है । यथा 'अकथितं च'[५] सूत्र पर 'अपर आह' के पश्चात् निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत है—

---

१ It is very probable, however, that the author of the Mahābhāshya was not the author of the summary Kārikās. Prof. Gold. Pāṇini, p.108.

२ अ.सू.,४.१.४४

३ Such an uncommented Kārikā was composed by the śloka-vārttika-kāra or the author of the versified Kārikās. Prof. Gold. Pāṇini, p.105.

४ अ.सू.,३.१.११२

५ अ.सू., १.४.५१

प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुद्विकर्मणाम् ।
अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः ॥

इस श्लोकवार्त्तिक के द्वारा पूर्वोक्त निम्न श्लोकवार्त्तिक का खण्डन किया गया है—

कथितेऽभिहिते त्वविधिस्त्वमतिर्गुणकर्मणि लादिविधिः सपरे ।
ध्रुवचेष्टितयुक्तिषु चाप्यगुणे तदनल्पमतेर्वचनं स्मरत ॥

व्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों में 'अपर आह' के संकेत से उद्धृत श्लोकवार्त्तिकों के विषय में तो यह स्पष्ट है कि इनके रचयिता पतञ्जलि तथा कात्यायन नहीं है ।[१] द्वितीय प्रकार के व्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों में से जिन पर संपुटीकरण भाष्य नहीं है वे भाष्यकार द्वारा प्रणीत है । यथा 'अणिञोरनार्षयोर्गुरुपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे'[२] सूत्र पर अनेक श्लोकवार्त्तिक उद्धृत हैं जिनमें निम्न श्लोक वार्त्तिक भी उद्धृत है—

भिद्यतेऽस्य स्वरस्तेन विधिश्चामो न लक्ष्यते ।
शब्दान्तरं विद्याद् दृष्टमभ्यन्तरं त्रिषु ॥

इसकी व्याख्या में नागेश ने इन श्लोकवार्त्तिकों को भाष्यकार कृत माना है क्योंकि इन पर भाष्यकार ने संपुटीकरण भाष्य नहीं दिया है ।[३] इस प्रकार व्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों के द्वितीय प्रकार के रचयिता के रुप में कात्यायन को भी स्वीकार किया जा सकता है जिन श्लोकों में वार्त्तिकों से साम्य प्राप्त होता है जिन्हें कात्यायनकृत् माना जा सकता है ।[४] यह कहा जा सकता है कि व्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों में से कुछ के प्रणेता पतञ्जलि हैं तथा कुछ की रचना वार्त्तिककार के

---

१ No reason to doubt that the Kārikās to which this remark applies are neither Patañjali's nor Kātyāyana's. Prof. Gold. Pānini, p.113.

२ अ. सू., ४.१.७८

३ एते श्लोकाः भाष्यकृत एव व वार्त्तिककृतः सम्पुटीकरणाभावात् । –नागेश. उद्योत, व्या.म. २, पृ. ३४४

४ Prof. Gold. Pāṇini, p.113.

द्वारा की गई है 'अपर आह' से उद्धृत श्लोकवार्त्तिकों की रचना अन्य वैयाकरण द्वारा की गई है ।[१]

अंशतः व्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों का सम्बन्ध वार्त्तिककार से नहीं माना गया । इनमें से कुछ श्लोकवार्त्तिकों को भाष्यकार प्रणीत माना जा सकता है । इसका कारण यह है कि ये भाष्यकार द्वारा श्लोकों में निबद्ध व्याकरणात्मक सिद्धान्त हैं जिनका अंशतः व्याख्यान किया गया है ।[२] यथा 'तद्धितश्चास र्वविभक्तिः'[३] सूत्र पर भाष्यकार ने निम्न कारिका के पूर्वार्ध का व्याख्यान किया गया है उत्तरार्ध अव्याख्यात है—

कृतद्धितानां ग्रहणं तु कार्य, संख्याविशेषः ह्यभिनिश्चिता ये ।
तस्मात् स्वरादिग्रहणं च कार्य, कृत्तद्धितानां ग्रहणं च पाठे ॥

कुछ अंशतः व्याख्यात कारिकाओं की रचना अन्य वैयाकरणों द्वारा की गई है । यथा 'अतएकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि'[४] सूत्र पर उद्धृत निम्न कारिकाओं का कर्त्ता अन्य श्लोकवार्त्तिककार माना गया है—

नाशिमन्योरलिट्येत्वं, छन्दस्यभिपचोरपि ।
अनेशंमेनकेत्येतद्, व्येमानं लिङि पेचिरन् ॥
यजायेजे वपावेपे, दम्भ एत्वमलक्षणम् ।
श्नसोरत्वे तकारेण, ज्ञायते त्वेत्वशासनम् ॥

---

१ We find that they plainly ascribe some of these commented Kārikās either to the author of the Vārttikas or the author of the Great Commentary. Prof. Gold. Pāṇini, p.113.

२ We find that they plainly ascribe some of these commented Kārikās either to the author of the Vārttikas or the author of the Great Commentary. Prof. Gold. Pāṇini, p.116.

३ अ.सू.,१.१.३८

४ वही,६.४.१२०

इस प्रकार अंशतः व्याख्यात श्लोकवार्त्तिकों के कर्ता भाष्यकार तथा अन्य श्लोकवार्त्तिककार माने जा सकते हैं।[१]

अतः श्लोकवार्त्तिकों के कर्तृत्व सम्बन्धी समस्या का समाधान दो प्रकार से सम्भव है प्रथम श्लोकवार्त्तिकों से प्राप्त कर्त्ता से सम्बद्ध उल्लेखों के द्वारा तथा द्वितीय इनमें प्रतिपादित विषय के आधार पर ।श्लोकवात्तिकों में प्राप्त संकेतों का अध्ययन करने पर भाष्यकार को कुछ श्लोकवार्त्तिकों का रचयिता माना जा सकता है कात्यायन नाममात्र को ही श्लोकवार्त्तिकों का रचयिता सिद्ध हो सकते हैं तथा अन्य वैयाकरण जिनका अभिधानतः भाष्यकार ने ग्रहण किया है अथवा टीकाकारों ने उनके नाम का उल्लेख कर दिया है, भाष्योक्त श्लोकवार्त्तिकों के रचयिता माने जा सकते है कुछ श्लोकवात्तिकों से भाष्यकार तथा कात्यायन द्वारा प्रणीत न होकर अन्य वैयाकरणों के द्वारा प्रणीत होने का संकेत प्राप्त होता है, परन्तु उनका अभिधानतः उल्लेख न करके अन्य आचार्यो के मत के रूप में ग्रहण कर लिया गया है । श्लोकवार्त्तिकों में प्रतिपादित विषय के आधार पर भाष्यकार, वार्त्तिककार तथा अन्य वैयाकरण इनके प्रणेता सिद्ध होते हैं । दोनों ही दृष्टियों से इनके भिन्न कर्तृत्व का परिचय प्राप्त होता है । अतः श्लोकवार्त्तिकों का रचयिता एक वैयाकरण नहीं है अपितु अनेकों आचार्यों ने श्लोकवार्त्तिकों की रचना की है ।

---

१ **Gold. Pāṇini Page 116**

पंचम अध्याय

प्रयोजनात्मक श्लोकवार्त्तिक

भाष्यकार ने महाभाष्य का प्रणयन अष्टाध्यायी-क्रम के आधार पर किया है तथा इसी क्रम से सूत्रों पर प्रणीत वार्त्तिकों तथा श्लोकवार्त्तिकों का व्याख्यान किया है । महाभाष्य में ये श्लोकवार्त्तिक सूत्रों के व्याख्यान-भाष्य के अन्तर्गत प्रसंगवश उद्धृत किये गये हैं । श्लोकवार्त्तिकों का विषयगत तथा शैलीगत दृष्टि से अध्ययन करने पर कुछ श्लोकवार्त्तिकों का अन्य श्लोकवार्त्तिकों से सिद्धान्ततः साम्य दृष्टिगोचर हुआ इनमें प्रतिपादित विषय को दृष्टि में रखते हुये महाभाष्य में स्वीकृत सूत्र-क्रम के अन्तर्गत उद्धृत क्रम की अपेक्षा विषयगत-क्रम को स्वीकार करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । श्लोकवार्त्तिकों का व्याकरणात्मक सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में महत्वपूर्ण योगदान है इस तथ्य की पुष्टि करने के लिये श्लोकवार्त्तिकों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत करना अधिक उपयोगी प्रतीत होता है—

(१) प्रयोजनपरक श्लोकवार्त्तिक –जिनमें सूत्र अथवा वार्त्तिक का प्रयोजन स्पष्ट किया गया है ।

(२) प्रत्याख्यानात्मक श्लोकवार्त्तिक – जिनमें सूत्रोक्त पद सूत्र अथवा वार्त्तिकों का प्रत्याख्यान किया गया है ।

(३) शंका समाधानात्मक श्लोकवार्त्तिक – जिसमें पूर्वपक्ष की ओर से शंकाओं की उद्‌भावना तथा सिद्धान्त-पक्ष की ओर से उनका समाधान प्राप्त होता है ।

(४) संग्रहात्मक श्लोकवार्त्तिक – वाक्य-वार्त्तिकों के माध्यम से व्याख्यान करने के पश्चात् उसी सिद्धान्त को जिन श्लोकवार्त्तिकों में निबद्ध किया गया है उनको संग्रहात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है ।

(५) निर्वचनात्मक व व्युत्पत्यात्मक श्लोकवार्त्तिक – इनमें सूत्रोक्त पदों को व्युत्पत्यात्मक दृष्टि से सिद्ध किया गया है ।

(६) स्पष्टीकरणात्मक या विषय प्रतिपादनात्मक श्लोकवार्त्तिक

(७) विविध श्लोकवार्त्तिक ।

सर्वप्रथम प्रस्तुत अध्याय में प्रयोजनात्मक श्लोकवार्त्तिकों को अध्ययनार्थ लिया गया है । प्रयोजनात्मक श्लोकवार्त्तिक दो प्रकार के हैं – (१) सूत्र का प्रयोजन सिद्ध करने वाले, इनमें सूत्रोक्त पद का प्रयोजन भी स्पष्ट किया गया है । (२) वार्त्तिकों का प्रयोजन सिद्ध करने वाले । सूत्र अथवा वार्त्तिक का प्रयोजन-निर्देश करने वाले श्लोकवार्त्तिकों का अध्ययन अध्याय-क्रम से प्रस्तुत है—

प्रथम अध्याय – (१) 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः'[१]

सूत्र से सूत्रकार को असर्वविभक्तिक तद्धितान्त पद की अव्यय संज्ञा अभीष्ट है । जिस शब्द से सर्वविभक्तियों की उत्पत्ति नहीं होती वह पद असर्वविभक्ति है ।[२] भाष्यकार ने सूत्रोक्त असर्वविभक्ति पद का औचित्य सिद्ध किया है । वार्त्तिककार के मतानुसार असर्वविभक्ति पद के स्थान पर 'अविभक्तिरव्ययम्' तथा 'अलिङ्गमसङ्ख्यमव्ययम्' पद मानने पर इतरेतराश्रय दोष उत्पन्न होता है अर्थात् अव्यय से सुप् लोप[३], लोप होने पर अविभक्ति संज्ञा तथा अव्यय[४] संज्ञा का विधान माना है ।[५] 'असर्वविभक्तिः' पद की व्याख्या 'न सर्वाः – असर्वाः, असर्वाः विभक्तिर्यस्मात् स्वीकार की है अतः असर्वविभक्ति पद का ग्रहण उपयुक्त है ।[६] सूत्रोक्त तद्धित पद का प्रयोजन स्पष्ट करने के लिये भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण किया है –

एवं गते कृत्यपि तुल्यमेतन्मान्तस्य कार्यं ग्रहणं न तत्र ।
ततः परे चाभिमता न कार्यास्त्रयः कृदर्था ग्रहणेन योगाः ॥

---

१ अ.सू.,१.१.३८
२ सर्वा निरवशेषा येषां त्रयाणां वचनानां विभक्तिरिति संज्ञा कृता । तानि सर्वाणि यतो नोत्पद्यन्ते इत्यर्थः । जिने. न्यास. का. वृ. १, पृ. १४९
३ अव्ययादाप्सुपः । – अ. सू., ४.२.१०४
४ अव्यय की व्याख्या उव्वट – अन्तः शब्दो द्विविधः व्ययवान् अव्ययवांश्च । यस्य विभक्त्यादिभिर्विकारो न क्रियते सोऽव्ययवान् । – वा.प्रा.२.२६ (Crit. Stu. on MB Page 64)
५ तदन्तस्याव्ययसंज्ञा विज्ञायते । कैयट. प्रदीप. व्या. म. १, पृ. २२२
६ तत्रवृत्तिकारेण व्याख्यातम् असर्वा विभक्तिर्यस्य सो सर्वविभक्तिरिति । – कैयट प्रदीप. व्या. म. १, पृ. २२२

कृत्तद्धितानां ग्रहणं तु कार्य संख्या विशेषं ह्यभिनिश्चिता ये।
तस्मात् स्वरादिग्रहणं च कार्य कृत्तद्धितानां ग्रहणं च पाठे ॥

इन श्लोकवार्त्तिकों में तद्धित पद के प्रयोजन-निर्देश का कारण यह है कि अव्यय का लक्षण 'असर्वविभक्तिरव्ययम्' स्वीकार करने पर 'कृन्मेजन्तः'[१] कृत् प्रत्यय वाले सूत्र से 'स्मारं स्मारम्' उदाहरण में असर्वविभक्तितुल्यता होने के कारण अव्यय संज्ञा है। औत्सर्गिक एकवचन[२] होने के कारण सम्पूर्ण विभक्तित्व नहीं है। अतः असर्व विभक्तित्व है।

पाणिनि ने 'तद्धितश्चासर्वविभक्ति'[३] सूत्र के अतिरिक्त 'कृन्मेजन्तः'[४] 'क्त्वातोसुन् कसुनः'[५] 'स्वरादि निपातमव्ययम्'[६] तथा अव्ययीभावश्च[७] सूत्रों से अव्यय संज्ञा का विधान किया है। इनमें से प्रथम सूत्र में तद्धित का ग्रहण न होने पर 'कृन्मेजन्तः'[८] सूत्र में मान्त का ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं थी। यहां तक कि इस सूत्र से लेकर 'अव्ययीभावश्च'[९] सूत्र तक समस्त अव्ययसंज्ञा विधायक सूत्र निष्प्रयोजन प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने'[१०] तथा 'बहुषु बहुवचनम्'[११] सूत्रों से सिद्ध एको, द्वौ, बहवः पदों की भी असर्वविभक्ति होने के कारण अव्यय संज्ञा होने लगेगी। इनकी अव्यय संज्ञा का निषेध करने के लिये अव्यय संज्ञा विधायक सूत्रों में कृत् और तद्धित पदों का ग्रहण किया गया है। 'कृन्मेजन्तः'[१२] तथा 'क्त्वातोसुन् कुसुनः'[१३] सूत्रों में कृत् का ग्रहण किया गया है जिससे कृत् और तद्धित की अव्यय संज्ञा का विधान हो जाता है।

---

१ अ. सू., १.१.३९
२ एकवचनमेव तस्योत्सर्गत्वात्। तया चोक्तम् एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते। –जिने. न्यास. का. वृ. १, पृ. १४३
३ अ. सू., १.१.३८
४ वही, १.१.३९
५ वही, १.१.४०
६ वही, १.१.३७
७ वही, १.१.४१
८ अ. सू., १.१.३९
९ वही, १.१.४१
१० वही, १.४.२२
११ वही, १.४.२१
१२ वही, १.१.३९
१३ वही, १.१.४०

तद्धित प्रकरण में से जिन तद्धित प्रत्ययों की अव्यय संज्ञा का विधान होता है, उनका ग्रहण श्लोक वार्त्तिककार ने आवश्यक माना है। तद्धित पाठ का ग्रहण उचित है और तसिल् आदि से लेकर पाशप् से पूर्व तक परिगणित तद्धितों की अव्यय संज्ञा होनी चाहिये।[१] कृत् और तद्धित का परिगणन होने पर भी 'स्वरादिनिपातमव्ययम्'[२] सूत्र से स्वरादि जिन निपातों की अव्यय संज्ञा होती है उनका भी ग्रहण इष्ट है। प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों में श्लोकवार्त्तिककार ने सूत्र में तद्धित ग्रहण का प्रयोजन-निर्देश करते हुये कुछ विशेष तद्धित प्रत्ययों की ही अव्यय संज्ञा का विधानकिया गया है।

इससे 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' इस पाणिनीय परिभाषा से प्रत्यय के ग्रहण से तदन्त का जो ग्रहण होता है, उसका भी निषेध हो जाता है, अन्यथा औपगवः की तद्धितान्त होने पर भी अव्यय संज्ञा का निषेध नहीं होता। इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों से पाणिनीय सूत्रों में गृहीत पदों का प्रयोजन स्पष्ट किया है।

(२) 'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ'[३]

सर्वसामान्य सिद्धान्त है कि व्याकरण सदैव भाषा का अनुगमन करता है। पाणिनीय व्याकरण इस नियम का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। जो भाषा उस समय लोकव्यवहार में प्रचलित थी उसके आधार पर पाणिनि ने उन प्रयोगों को सूत्रों में निबद्ध करने का सफल प्रयास किया है। पतञ्जलि ने इन नियमों की व्याख्या में श्लोकवार्त्तिकों की सहायता ली है। एक समान प्रचलित रूपों को देखकर पाणिनि ने एक सूत्र की रचना के माध्यम से निबद्ध कर दिया। तत्पश्चात् उन सूत्रों से अवशिष्ट रूपों को अन्य सूत्र के द्वारा सिद्ध किया है। इसे उत्सर्ग अपवाद नियम कहा जा सकता है। यथा 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'[४] सूत्र से आदेश में स्थानिवद्भाव[५] अनल् विधि में होता है। इस उत्सर्ग नियम का अपवाद सूत्र 'अचः परस्मिन्

---

१ सिद्धं तु पाठात्तसिलादयः प्राक् पाशपः शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः मान्तः कृत्वोर्था तसिवती नानाञाविति। –पद.का.वृ.१,पृ.१५१

२ अ.सू.,१.१.३७

३ अ.सू.,१.१.५७

४ वही,१.१.५६

५ स्थानिवत् का अर्थ है जो धर्म स्थानी में हो वही आदेश में समझा जाये।

पूर्वविधौ है । इससे अल् विधि में भी स्थानिवद्भाव होता है । सूत्र की व्याख्या करते हुये पतञ्जलि ने सूत्र में गृहीत पदों के प्रयोजन की विवेचना की है । प्रस्तुत सूत्र पर भाष्य में 'कानि पुनरस्य प्रयोजनानि' कहकर सूत्रारम्भ के प्रयोजनों का उदाहरणात्मक निर्देश निम्न श्लोक वार्त्तिक[१] के द्वारा किया गया है—

स्तोष्याम्यहं पादिकमौदवाहिं ततः श्वोभूते शातनीं पातनीं च ।
नेतारावागच्छतं धारणिं रावणिं च ततः पश्चात् स्रंस्यते ध्वंस्यते च ॥

इस श्लोकवार्त्तिक में पादिकम्, औदवाहि, शातनी, पातनी, रावणि, स्रंस्यते ध्वंस्यते उदाहरणों के माध्यम से सूत्र-प्रयोजन सिद्ध किये गये हैं । सूत्रारम्भ न होने पर इन प्रयोगों की सिद्धि नहीं हो सकती थी । पादिकम् पद में पाद शब्द से ठन्[२] प्रत्यय है । ठ को इकादेश[३] होकर 'यस्येति च'[४] सूत्र से पाद के अकार को लोप प्राप्ति होती है तत्पश्चात् 'पादः पत्'[५] सूत्र से प्राप्त पदादेश अकार लोप की स्थानिवत् मानकर नहीं हुआ । औदवाहिः पद में उदवाह शब्द से इञ्[६] प्रत्यय होकर 'अकार'[७] लोप होने पर स्थानिवद्भाव होकर 'वाह ऊठ्'[८] सूत्र से ऊठ् नहीं होता ।

शातन, पातन में 'षिद्गौरादिभ्यश्च'[९] सूत्र से ङीष् प्रत्यय होकर अकार लोप को स्थानिवद् भाव होने से 'अल्लोपोऽनः',[१०] से प्राप्त लोप का निषेध हो जाता है । इसी प्रकार धारणि और रावणि पदों से ह प्रत्यय, अकार लोप होकर टि (अन्) लोप का निषेध स्थानिवद् भाव से होता है । स्रंस्यते ध्वंस्मते इन उदाहरणों में प्राप्त नकार[११] लोप का निषेध भी इस सूत्र का प्रयोजन है ।

---

१ व्याकरण महाभाष्य के झज्झर संस्करण में इसे श्लोकवार्त्तिक माना है जबकि मोतीलाल बनारसीदास संस्करण ने इसे केवल प्रयोजन-भाष्य माना है ।
२ अ. सू.,
३ ठस्येकः । वही, ७.३.५०
४ अ. सू., ६.४.१४८
५ वही, ६.४.१३०
६ अ. सू., अत इञ् ४.१.९५
७ यस्येति च । – वही, ६.४.१४८
८ अ. सू., ६.४.३२
९ वही, ४.१.४१
१० अ. सू., ६.४.१३४
११ अनिदितां हलः उपाधायाः क्ङिति । – अ. सू., ६.४.२४

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक से ये प्रयोजन स्पष्ट हो जाते हैं तथा पादिक, औदवाहि आदि उदाहरण सिद्ध हो जाते हैं। भाष्यकार की शैली है कि वे प्रथमतः सिद्धान्त का निरूपण करके प्रतिपक्षीय शंकाओं की उद्‌भावना करते हैं तत्पश्चात् उनका समाधान स्वयं प्रस्तुत करते हैं। प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के द्वारा 'अचः परस्मिन्'[१] पूर्व विधि सूत्र के निर्दिष्ट प्रयोजनों का पूर्वपक्ष की ओर से खण्डन करते हुये उदाहरणों के आधार पर सूत्र का प्रयोजन इनमें विभक्ति[२] स्वर उदात्त की सिद्धि माना है।

आरभ्यमाणे नित्योऽसौ परश्चासौ व्यवस्थया।
युगपत् संभवो नास्ति, बहिरङ्गेण सिध्यति॥

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि पूर्वपक्षी कर्तृ ई आ तथा हर्तृ ई आ इस स्थिति में परवर्ती ऋ के यण् को स्थानिवत् मानकर पूर्ववर्ती ऋ के यण् को भी नित्य स्वीकार करता है। इस नित्यता के कारण ऋ को यण् पहले होता है अतः विभक्ति स्वर स्वतः सिद्ध हो जाता है। भाष्यकार ने इसका खण्डन किया है क्योंकि परयणादेश भी नित्य होता है। इसके अतिरिक्त केवल स्थिति से ही यण् पूर्व या पर होता है।[३] एक में कार्यनिमितत्व होने के कारण विरोध होने से पर के द्वारा व्यवस्था होती है। दोनों यणों की एक साथ उपस्थिति सम्भव नहीं है। इसका कारण आदेश विधान के कारण आदेश कहा गया है।[४]

अतः भाष्यकार कर्त्र्यां और हर्त्र्यां उदाहरणों में स्वरसिद्धि असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे परिभाषा से स्वीकार करते हैं। इस मत का खण्डन करना श्लोकवार्त्तिक का प्रयोजन है।[५] अन्तिम पाद बहिरङ्गेण सिध्यति से भाष्यकार ने स्वकीय पक्ष प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि श्लोकवार्त्तिकों में पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष को एक साथ उपस्थित किया गया है। खण्डन और

---

१ अ.सू., १.१.५७
२ उदात्तयणो हल्पूर्वात्। – अ.सू., ६.१.१७४
३ एकमपि यण् लक्षणं पूर्वपरविषयभेदाद् भिद्यते। – कैयट् प्रदीप. व्या. म. १, पृ. ३११
४ प्रसङ्गं आदेशविधानादादेशसमये स्थानिनोऽसत्वम्, निमितत्वं च सत्वे। – नागेश. उद्योत. व्या. म. १, पृ. ३११
५ उदाहरणवादी अन्तरङ्गपरिभाषा क्षयणं विनाऽपि स्वरं साधयति। – वही, पृ. ३११

समर्थन भी साथ ही प्रस्तुत किया गया है । पूर्व श्लोकवार्त्तिक से एक अन्य तथ्य तत्कालीन शिक्षापद्धति पर भी प्रकाश पड़ता है । श्लोकवार्त्तिककार ने अपने श्वोभूति तथा नेता नामक शिष्यों को सम्बोधित किया है । इससे यह स्पष्ट होता है कि पतंजलि से पूर्ववर्ती काल में गुरु-शिष्य परम्परा विद्यमान रही होगी । इस श्लोकवार्त्तिक का कर्ता पतंजलि को मानने पर यह परम्परा उनके स्थिति काल (१५० ई. पू.) में प्रचलित थी यह कथन असंगत प्रतीत नहीं होता । सूत्रों के प्रयोजन सम्बन्धी निर्देश होने के कारण ये प्रयोजनात्मक श्लोकवार्त्तिक हैं ।

(१) इको झल्[१]—

भाष्य में पाणिनीय सूत्रों पर श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण करते हुये पतञ्जलि की एक विशेष शैली दृष्टिगोचर होती है । अनेक सूत्रों पर वे वार्त्तिकों के रूप में श्लोकवार्त्तिक की व्याख्या करने के लिये व्याख्यान भाष्य लिखते हैं और तत्पश्चात् अन्त में उस श्लोकवार्त्तिक को पुनः पढ़ते हैं ।[२] इस शैली को सम्पुटीकरण शैली कहा जाता है ।[३]

'इकोझल्'[४] सूत्र से इगन्त धातु से परे झलादि सन् कित् होता है । इस विषय में शंका उत्पन्न होती है कि कित् विधान का क्या प्रयोजन है ? इसका समाधान निम्न श्लोकवार्त्तिकों में प्रयोजन-निर्देश के द्वारा किया गया है—

इकः कित्वं गुणो मा भूद्दीर्घारम्भात्कृते भवेत् ।
अनर्थकं तु ह्रस्वार्थं दीर्घाणां तु प्रसज्यते ॥
सामर्थ्याद्धि पुनर्भाव्यमृदित्वं दीर्घसंश्रयम् ।
दीर्घाणां नाकृते दीर्घे, णिलोपस्तु प्रयोजनम् ॥

इन श्लोकवार्त्तिकों में श्लोकवार्त्तिककार ने सूत्र में कित्व ग्रहण के दो प्रयोजन स्पष्ट किये हैं प्रथम गुण का निषेध है, क्योंकि चिचीषति तथा तुष्टूषति उदाहरणों के

१　अ. सू., १.२.९

२　The explanation of a Slokavarttika is done here part by part and the whole Varttika is read at the end. Lec.Pat.MB. Vol.4, p.16.

३　त्रिपाठी, रा. सु. प्रा. प्र., १९६९ अंक १ 'श्लोकवार्त्तिक तथा अन्य वार्त्तिक, पृ. ४

४　अ. सू. १.२.९

विषय में शंका उत्पन्न होती है कि इनमें गुण का निषेध करने पर तो दीर्घत्व व्यर्थ हो जायेगा। यही कारण है कि इनमें गुण का निषेध[१] करने पर दीर्घत्व व्यर्थ हो जायेगा। अतः कित्व-विधान भी व्यर्थ है। इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि यदि कित्व-विधान न किया जाता तो दीर्घत्व[२] होने पर भी गुण[३] की प्राप्ति होने लगती। अतः दीर्घ[४] विधान अनर्थक हो जाता परन्तु सूत्रकार ने दीर्घत्व का विधान ह्रस्वों के लिये किया है यही कारण है कि दीर्घत्व की सार्थकता है और कित्व ग्रहण से गुण-निषेध हो जाता है। अतः 'इको झल्'[५] सूत्र का प्रथम प्रयोजन गुण का निषेध करना है यह स्पष्ट हो जाता है।

इस विषय में भी सन्देह होता है कि ह्रस्वों को गुण-निषेध करने पर भी दीर्घों को गुण-विधान सम्भव है। इसका समधान लोक-व्यवहार से किया गया है यद्यपि एक क्रिया में मनुष्य की पुनः प्रवृत्ति नहीं होती यथा भुक्तवान् पुनः भोजन में प्रवृत नहीं होता उसी प्रकार दीर्घ को पुनः दीर्घत्व की प्राप्ति नहीं होती।[६] तथापि सामर्थ्य विशेष से क्रिया में पुनः प्रवृत्ति के समान दीर्घों को दीर्घत्व की प्रसक्ति होती है। इस प्रसक्ति का प्रयोजन गुण का निषेध करना है। उदाहरणार्थ 'अज्झनगमां सनि'[७] सूत्र की प्रवृत्ति ह्रस्व और दीर्घ दोनों में ही होती है। 'इको झल्'[८] सूत्र में कित्व ग्रहण होने के कारण ह्रस्व और दीर्घ दोनों को ही गुण की प्रसक्ति का निषेध हो जायेगा।

कित्व ग्रहण का द्वितीय प्रयोजन 'णिलोपस्तु प्रयोजनम्' श्लोकांश से स्पष्ट किया गया है। कित्वविधान का प्रयोजन णिलोप है। प्रकारान्तर से यह अस्पष्ट ही है कि कित्व और णि ओर णि लोप का परस्पर क्या सम्बन्ध है जबकि कित्व णिलोप का निमित्त नहीं है।[९] इनका पारस्परिक सम्बन्ध यह है कि कित्व ग्रहण न करने पर

---

१ क्ङिति च। – अ. सू., १.१.५
२ अज्झनगमां सनि। – अ. सू., ६.१.१६
३ सार्वधातुकार्धधातुकयोः। – वही, ७.३.८४
४ अ. सू., ६.१.१६
५ वही, १.२.९
६ नहि दीर्घाणां दीर्घतर सम्पद्यत इत्यर्थः। – कैयटप्रदीप.व्या.म. १, पृ.८
७ अ. सू., ६.१.१६
८ वही, १.२.९
९ This question aariseees from the fact that kit is not the nimitta of nilopa. sastri P.S.S. Lec.Pat.MB.Vol.4, p.18.

परत्व गुण का बाधक दीर्घत्व णिलोप का भी निषेध करने लगेगा।[१] यथा ज्ञीप्सति उदाहरण में 'ज्ञपि सति' इस अवस्था में दीर्घत्व[२] विधायक सूत्र से दीर्घत्व प्राप्ति तथा 'णेरनिटि'[३] सूत्र से णि लोप की प्राप्ति है, परन्तु पर[४] होने के कारण णि लोप सिद्ध होता है।

'इको झल्'[५] सूत्र से जिस कित् का विधान किया गया है उसकी प्रसक्ति वहीं होती है जहां दीर्घत्व और णिलोप दोनों प्राप्त होते हैं। पाणिनीय सूत्रों के प्रयोजन का निर्देश श्लोकवार्त्तिकों में किया गया है। इस निर्देश से यह ज्ञात होता है कि सूत्र-निर्माण किन प्रयोगों को सिद्ध करने के लिये किया गया है।

(४) लुपियुक्तवद्व्यक्तिवचने[६]–

वार्त्तिकों सहित पाणिनीय सूत्रों की व्याख्या करने का पतंजलि का उद्देश्य है व्याकरण के दुरूह नियमों को अपेक्षाकृत सरल ढंग से प्रस्तुत करना। इस कार्य में श्लोकवार्त्तिकों का महत्वपूर्ण योगदान है। इनसे सूत्रों में गृहीत पदों का प्रयोजन स्पष्ट किया गया है जिससे व्याकरण के नियम स्पष्ट होते हैं। 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने'[७] सूत्र में लुपि शब्द से लुप्त प्रत्ययार्थ का अभिधान किया गया है।[८] युक्तवत् से अभिप्राय क्त वतु के द्वारा प्रकृत्यर्थं का कथन है। अभिधेयवत् लिंग और वचन की प्राप्ति होने पर यह सूत्रारम्भ है।[९] प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने तद्धित का लोप होने पर व्यक्ति और वचन का प्रकृत्यर्थ के समान विधान किया है। सूत्रोक्त 'व्यक्तिवचने' पद का प्रयोजन-निर्देश निम्न श्लोकवार्त्तिक का ग्रहण किया गया है—

---

१ असति कित्वे गुणवण्णिलोपस्यापि विशेषाभावाद्दीर्घत्वं बाधकं स्यादित्यर्थः। –कैयट. प्रदीप. व्या. म. १, पृ.१०

२ अज्झनगमां सनि। – अ. सू., ६.४.१६

३ अ. सू., ६.४.५१

४ पूर्वत्रासिद्धम्। – अ. सू. ८.२.१ सूत्र से पूर्व के प्रति पर असिद्ध है।

५ अ. सू., १.२.९

६ वही, १.२.५१

७ अ. सू., १.२.५१

८ तस्माल्लुप्संज्ञया लुप्तस्य प्रत्ययस्यार्थो लुपशब्देन विवक्षित। – जिने. न्यास. का. वृ. १, पृ. ३५३

९ अभिधेयालिङ्गवचनयोः प्राप्तयोरयमारम्भः। – पद.का.वृ. १, पृ. ३५२

प्रागपि वृत्तेर्युक्तं वृत्तं चापीहयावता युक्तम् ।
वक्तुश्च कामचारः प्राग्वृत्तेर्लिङ्गसंङ्ख्ये मे ॥

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के द्वारा तद्धित से पूर्व प्रत्ययार्थ प्रकृत्यर्थ से सम्बद्ध होता है तथा तद्धितोत्पत्ति के पश्चात् भी युक्त रहता है यह स्पष्ट किया गया है। यह प्रयोक्ता की इच्छा है कि वह तद्धितोत्पत्ति के पश्चात् जो लिंग और संख्या है उन्हीं का अतिदेश करे। यथा शिरीषाः इस उदाहरण में पुल्लिग बहुवचनान्त शब्द शिरीष से एक ग्राम अर्थ में अण्[१] प्रत्यय होता है। शिरीषा का अभिप्राय है एक ग्राम जो शिरीष नामक वृक्षों से दूर नहीं है।[२] 'वरणादिभ्यश्च'[३] सूत्र से अण् का लोप होकर (शिरीष) प्रकृति अवशिष्ट रहती है। एक ग्राम का वाचक होने के कारण शिरीष पद में एकवचन होना चाहिये था, परन्तु प्रस्तुत सूत्र[४] से युक्तवद् भाव होकर बहुवचनान्त रहता है।

ग्रामवाचक शिरीष शब्द से तस्य वनम् अर्थ में षष्ठी समास होकर शिरीषवनम् पद सिद्ध होता है। व्यक्तिवचने का सूत्र में ग्रहण न होने पर शिरीषवनम् पद में णत्व[५] की प्रसक्ति होती है। शिरीषवनम् पद में एकवचन का कारण उससे ग्राम अर्थ की अभिव्यक्ति है। वृक्ष विशिष्ट की अभिव्यक्ति शिरीष पद में नहीं होती।[६] वचन शब्द से एकत्वादि की अभिव्यक्ति होती है[७] अतः षष्ठी समास में एकत्व हुआ है। युक्त, व्यक्ति तथा वचन ये तीनों संज्ञायें प्रकृतिलिङ् तथा संख्या

---

१ अदूरभवश्च। – अ. सू., ४.२.६९

२ Thus in the secondary derivative word Sirishah means a village not far away from Sirishah trees. Vasu, S.C. - Aśtā. I, p.100.

३ अ. सू., ४.२.८१

४ लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने। – अ. सू., १.२.५

५ विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः। – वही, ८.४.६

६ Here the word Sirishah means village and not trees. Vasu, S.C. - Aśṭā. I. p.101.

७ वचनशब्दस्य ह्येकत्वादयः प्रत्ययाः। – कैयटप्रदीप. व्या.म. १, पृ. ६०

के स्थान पर प्रयुक्त हैं।[१] अतः शिरीष वनम् इस उदाहरण में एकत्व प्राप्त होता है।

इसी प्रकार कटुकबदरी उदाहरण से भी व्यक्तिवचने पद के ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट होता है। कटुकबदर्याः अदूरभवोग्रामः इस अर्थ में कटुकबदरी पद की षष्ठी विभक्ति युक्तवद्भाव से ग्रामवाचक कटुकबदरी पद में हो जाती। इस विषय में आशंका होती है कि षष्ठी भी एकवचन ही है। अतः ग्रामवाचक कटुकबदरी पद में षष्ठी का विधान होना चाहिये था ? इसका समाधान यह है कि वचन से संख्या अर्थ है। संख्या अर्थ मानने पर भी षष्ठी विधान होना चाहिये क्योंकि षष्ठी का भी कथन होता है परन्तु उक्त का पुनः कथन नहीं किया जाता[२] और षष्ठी से उक्त एकत्व अण् प्रत्यय के लुप् से उक्त है। सूत्र में युक्तवद्भाव होने से आतिदेशिक षष्ठी की प्राप्ति होती है जिसका समाधान श्लोकवार्त्तिक के द्वारा निम्न सिद्धान्त के द्वारा किया गया है। श्लोकवार्त्तिक में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि प्रकृत्यर्थ से प्रकृतिवाच्य वस्तु वाक्यावस्था और वृत्यवस्था दोनों में होती है। इस विषय में शंका उत्पन्न होती है कि वृत्ति से पूर्व अर्थनिष्ठ लिङ् और संख्या का अतिदेश करना चाहिये अथवा वृत्तिकाल से अवच्छिन्न लिङ्ग और संख्या का अतिदेश किया जाये।[३] प्रथम का ग्रहण होने पर संख्या का षष्ठी प्रतिपाद्य सम्बन्धवत् अर्थ होने के कारण तथा समान अतिदेश के कारण षष्ठी विधान होना चाहिये।[४] जबकि वृत्ति कालावच्छिन्न का अतिदेश करने पर प्रातिपदिक प्रतिपाद्य अर्थ निष्ठत्व होने के कारण प्रथमा[५] का विधान होना चाहिये। अतः श्लोकवार्त्तिक के माध्यम से पतञ्जलि ने सामान्य सिद्धान्त की स्थापना की है तथा इसमें सूत्रोक्त

---

१ The word Yukta, Vyakti and Vacana are the Samjnas of Pāṇini's predecessors for Prakrti (stem) linga (gender) and Sankhya (number). Sāstri, P.S.S. Lec.Pat. MB. Vol.4, p.111.

२ लुप्तसहचरित शब्देनोक्तत्वादित्यर्थः। – कैयट प्रदीप. व्या.म.१, पृ.६१

३ वृत्तिप्राक्कालावच्छिन्नार्थनिष्ठलिङ्गसंख्ययोरतिदेशः उत वृत्तिकालावच्छिन्नयोरिति। – नागेश. उद्योत. व्या.म.१, पृ.६१

४ कटुकबदरी के स्थान पर कटुकबदर्याः का ग्रहण होना चाहिये।

५ प्रातिपादिकार्थ-लिङ्गपरिमाणवचन मात्रे प्रथमा। – अ.सू., २.३.४६

पद का प्रयोजन स्पष्ट किया गया है। यह कहना असंगत प्रतीत नहीं होता कि सूत्रोक्त पदों का प्रयोजन स्पष्ट करने में वार्त्तिकों का महत्वपूर्ण योगदान है।

(५) भूवादयो धातवः[१]

भाष्य में सूत्रों पर अनेक ऐसी शंकाओं की उद्‌भावना की गई है जिनका समाधान कत्यायनीय वार्त्तिकों से सम्भव नहीं है। इनमें से कुछ शंकाओं का समाधान श्लोकवार्त्तिकों में प्रस्तुत किया गया है। 'भूवादयो धातवः'[२] सूत्र के विषय में शंका है कि भूवादयो पद में वकार ग्रहण का क्या प्रयोजन है। भू + आदयः पदों में यणादेश[३] होने पर भ्वादयः रूप प्राप्त होता है भूवादयः नहीं। इसका प्रयोजन निम्न श्लोकवार्त्तिकार्ध[४] से स्पष्ट किया गया है।

भूवादीनां वकारोऽयं मङ्गलार्थः प्रसज्यते।

'भूवादीना' पद से सूत्र में स्थित भूवादयः विवक्षित है। भूवादि पद, वाच्य धातु नहीं है। श्लोकवार्त्तिककार ने इसे वकार को आगम[५] माना है। वकारागम का प्रयोग मङ्गलार्थ किया गया है।[६] मङ्गल शब्द धर्म का पर्याय है जिस प्रकार वेद में त्रियम्बकं यजामहे में यकार का दृष्ट प्रयोजन न होकर अदृष्ट प्रयोजन धर्मार्थ के लिये उसका ग्रहण किया गया है उसी प्रकार वकार का ग्रहण भी धर्मार्थ किया गया है।

इसका एक अन्य कारण यह भी है कि भ्वादयः के स्थान पर उच्चरित 'भूवादयोः' पद अशुद्ध नहीं है अपितु साधु प्रयोग है। साधु शब्दों क प्रयोजन करना भी धर्म है और धर्म को मङ्गल कहा गया है।[७] भूवादि भी साधु है। अतः सूत्र में

---

१ अ.सू., १.३.१
२ वही, १.३.१
३ इको यणचि। – वही, ६.१.७७
४ कशिका में इसका उत्तरार्द्ध भी दिया गया है। 'भूवो वार्थ वदन्तीति भ्वर्थावा वादयः स्मृताः' – का.वृ.१, पृ.३९१
५ The author of this Vārttika takes va as the āgama. Sastri, P.S.S. Lec.Pat.MB., Vol.III, p.193.
६ अपूर्वस्य वस्तुनो लाभो लोके मङ्गलं सम्मतम् यथा प्रातर्दध्यादीनाम् तथेहाणि वकारस्यापूर्वस्य लाभो मङ्गलं प्रशस्तम्। – जिने. न्यास. का. वृ. १, पृ. ३९१
७ धर्मो वा मङ्गलम्। साधुशब्द प्रयोगेऽपि धर्मो भवति। – हर.पद.का.वृ. १, पृ. ३९१

प्रयुक्त किया गया है । वकार का दृष्ट प्रयोजन न होने पर भी अदृष्ट प्रयोजन है । मंगल को उत्पन्न न करता हुआ भी यह मंगल सूचक है ।

प्रत्येक शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति के लिये मंङ्गलकमना की जाती है । पाणिनि ने भी अष्टाध्यायी के प्रारम्भ में वृद्धि[१] शब्द मध्य में वकार[२] और अन्त में उदय[३] शब्द का उच्चारण करके 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते' उक्ति के आधार पर मङ्गल विधान किया है । युधिष्ठिर मीमांसक[४] यहां प्राचीन सन्धि नियम यण्-व्यवधान के अनुसार वकार को व्यवधान मानते हैं वकार-व्यवधान का प्रयोग मङ्गलार्थ मानते हुये मङ्गल से उनका अभिप्राय छात्रों को प्राचीन नियमों का परिज्ञान कराना है ।[५]

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक में वकार ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट किया गया है । प्रयोजन के अस्पष्ट होने पर भूवादयो का असाधु प्रयोग मानकर भ्वादयः पद रख दिया जाता । श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि व्याकरण से लोक व्यवहृत पदों का साधुत्व स्पष्ट होता है तथा साधु शब्दों के प्रयोग से ही धर्म-प्राप्ति मानी गई है । सूत्रों में उच्चरित पदों का प्रयोजन-निर्देश करने के कारण श्लोक-वार्त्तिक सूत्रों की रक्षा में भी सहायक हैं ।

(६) स्वरितेनाधिकारः[६]—

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने अधिकार को स्पष्ट किया है अर्थात् स्वरित स्वर विशेष वर्ण धर्म है जिस चिन्ह के द्वारा अधिकार का ज्ञान होता है । इसका तात्पर्य यह है कि सूत्रों में जहां भी स्वरित चिन्ह है वहां पर समझना चाहिये कि या तो यहां से किसी विशिष्ट विषय का प्रारम्भ है अथवा उस विशिष्ट विषय की समाप्ति

---

१ वृद्धिरादैच् । – अ.सू., १.१.१

२ भूवादयो धातवः । – वही, १.३.१

३ स्वरितोदयम् । – वही,

४ (१) इकां यणभिर्व्यवधानमेकेषामिति संग्रह । – जैनेन्द्र महावृत्ति १.२.१ (२) इकां यणभिर्व्यवधानमित्येके । -शाकटायना अमोघा वृत्ति, १.१.७३ – मीमां. युधि. व्या. म. १, पृ. २३३

५ निबन्धनं तु शिष्याणामप्यानुषङ्गिक मङ्गलसूचनार्थम् । – नागेश, उद्योत व्या. म. १, पृ. १११

६ अ.सू., १.३.११

हो रही है।[१] यथा अङ्गस्य[२] धातोः[३] आदि सूत्र अंग तथा धातु आदि संज्ञाओं का अधिकार निश्चय करते हैं तथैव प्रस्तुत सूत्र स्वर के द्वारा अधिकार का विधान करता है। प्रस्तुत सूत्र के प्रयोजन निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा स्पष्ट किये गये हैं—

अधिकारगतिस्त्रयर्था विशेषायाधिकं कार्यम्।
अथ योऽन्योऽधिकः कारः पूर्वविप्रतिषेधार्थः सः॥

स्वरित स्वरविशेष का वर्णधर्म है। इस चिन्ह से अधिकार जाना जाता है इस सूत्र में स्वरित से पारिभाषिक स्वरित का ग्रहण न होकर समस्त वर्णो (अच् एवं हल्) के स्वरित नामक वर्णधर्म के गुण का ग्रहण किया गया है।

इसका ग्रहण अधिकार का ज्ञान कराने के लिये है। सूत्र का प्रथम प्रयोजन है अधिकार के परिमाण का ज्ञान कराना। यह ज्ञान दो प्रकार से हो सकता है एक तो अनुबन्ध अल की संख्या जितनी है उतने ही सूत्रों तक अधिकार अनुवर्तित होता है।[४] यथा 'द्वित्रिपूर्वकान्निष्कात्'[५] सूत्र की अनुवृत्ति 'बिस्ताच्च'[६] सूत्र तक होती है अतः प्रत्याहार वर्ण पठित इ का ग्रहण होना चाहिये। अधिकार ज्ञान का द्वितीय प्रकार प्राक् कथन है। प्राक् शब्द का उच्चारण होने से उस सूत्र से पूर्व तक अधिकार विशेष बना रहता है।[७]

---

१ It denotes that it is either beginning of a subject and the subsequent sutras are governed by it or that it ends a subject and separates the previous sutra from the following. –Vasu, S.C. - Aśṭā.I, p.123.

२ अ.सू.,६.४.१

३ वही,३.१.६१

४ If the adhikara extends to two sutras, i should be read as anubandha u should be read if it is extend to three Sutras etc. –Sastri, P.S.S., Lec.Pat.MB. Vol.4,p. 255.

५ अ.सू.,५.१.३०

६ वही,५.१.३१

७ प्रत्याहाराऽर्थो वर्णोऽनुबन्धो व्यञ्जनम्। यावतिथस्तावतां तदादीनां ततः पराणाम् ऋक्तन्त्रकार। –मीमां. युधि.व्या.म. २ पाद टिप्पणी, पृ. ३००

प्रस्तुत सूत्र यह विधान करता है कि स्वरित कर देने से वहां तक उसका अधिकार रहता है। यथा 'गोस्त्रियोरु पसर्जनस्य'[१] सूत्र में स्त्री शब्द को स्वरित करने से गो टाप् का ग्रहण नहीं करना पड़ता 'स्त्रियाम्'[२] सूत्र के अधिकार में जो प्रत्यय विधीयमान है उनका स्वरित निर्देश से ही ग्रहण हो जायेगा।

श्लोकवार्त्तिक में सूत्र का द्वितीय प्रयोजन स्वरित करने पर अधिक कार्य करना है। यथा 'ध्रुवमपायेऽपादानम्'[३] सूत्र से अपादान संज्ञा का विधान होता है। यथा ग्रामाद् आगच्छति इस वाक्य में ग्राम से अपाय होने पर ही अपादान संज्ञा हुई है। यदि अपाय शब्द को स्वरित कर दिया जाये तो 'सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रकाः अभिरूपतराः' इन वाक्यों में भी अपादान संज्ञा सिद्ध होने लगेगी। जबकि इनमें साक्षात् निवृत्तिपूर्वक प्राप्ति न होकर बौद्धिक या मानसिक स्तर पर ही पार्थक्य दृष्टिगत होता है। इसी प्रकार अधिकरण संज्ञा 'आधारोऽधिकरणम्'[४] सूत्र से व्यापक आधार की ही होगी आकार को स्वरित करने पर अंशतः[५] व्यापक आधार भी अधिकरण संज्ञक होने लगेगा। अतः 'स्वरितेनाधिकारः' सूत्र को अपादान, अधिकरण संज्ञाओं का अपवाद सूत्र कहा जा सकता है।

सूत्र का तृतीय प्रयोजन पर विप्रतिषेध विधायक[६] सूत्रों के अपवाद स्वरुप पूर्वं विप्रतिषेध सूत्रों का पाठ न करना है। इनमें पूर्व विप्रतिषेध से होनेवाले कार्य[७] को स्वरित कर देने से पूर्वविप्रतिषेध सिद्ध हो जाता है। यथा गुण, वृद्धि औत्व तथा तृज्वद् भाव से नुम् पूर्वविप्रतिषिद्ध है, तथा उमाचिरतृज्वद्भाव से नुट् का विधान होता है अतः नुम् और गुण स्वरित होंगे। स्वरित से अधिकार होता है अतः नुम और नुट् का विधान होगा। अतः प्रस्तुत सूत्र सूत्र के प्रयोजन विशेषित करना, अधिक कार्य तथा अधिक कार अर्थात् पूर्वविप्रतिषेध की प्रसक्ति है।

---

१ अ. सू., १.२.४८
२ वही, ४.१.३
३ वही, १.४.२४
४ अ. सू., १.४.४५
५ यथा गङ्गायां गावः। कूपगर्गकुलम्। गङ्गासर्वावयवानामिव तत्समीपदेशस्यववियवानामपि व्याप्य भावात्। – नागेश उद्योत व्या. म., १ पृ. १४८
६ विप्रतिषेधे परं कार्यम्। – अ. सू., १.४.२
७ विप्रतिषेधे परं कार्यमिति वचनात्पूर्वो बाध्यः। स्वरितत्वप्रतिज्ञानेन बाधकः सम्पद्यते। – कैयट. प्रदीप. व्या. म. १, पृ. १४८

पाणिनीय सूत्रों की व्याख्या करते हुये भाष्यकार ने विभिन्न पक्षों की विवेचना की है । इस श्लोकवार्त्तिक में प्रयोजनात्मक पक्ष का विवेचन है । श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पाणिनिकाल में प्राप्त होने वाली स्वराकण-प्रक्रिया श्लोकवार्त्तिक की रचना के समय में भी उपलब्ध होती है । अधिकार का प्रयोजनों का ज्ञान हो जाने से अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों की सम्भावना का परिहार सरल हो जाता है ।

(७) प्राग्रीश्वरान्निपाताः[१]—

पाणिनीय अष्टाध्यायी में संज्ञा का विधान करने वाले सूत्र संज्ञा सूत्र कहे जाते हैं । 'चादयोऽसत्वे'[२] सूत्र संज्ञा सूत्र है जो च, वा, ह आदि की सत्वार्थ न होने पर निपात संज्ञा का विधान करता है । निपात संज्ञकों का अधिकार स्पष्ट करने के लिये 'प्रागीश्वरान्निपाताः'[३] सूत्र उक्त है जो अधिकार सूत्र है । यह 'अधिरीश्वरे'[४] सूत्र में स्थित रीश्वरे से पूर्व तक निपात संज्ञा के अधिकार का विधान करता है । चादि के अतिरिक्त प्रादि[५] की भी निपात संज्ञा प्राप्त होती है जो गतिसंज्ञक[६] भी हैं ।। इस स्थिति में यह शंका उत्पन्न होती है कि क्या रीश्वर पर्यन्त निपात संज्ञक निपात होते हुए ही उपसर्ग या गतिसंज्ञक होते हैं । प्राक् पद से इस शंका का निवारण किया गया है क्योंकि रीश्वर पद से पूर्व व्यवस्थित की निपात संज्ञा अभीष्ट है । प्रकृत सूत्र में रीश्वर पद को देखकर व्याकरण के प्रयोजन लाघव के विषय में सन्देह उत्पन्न होता है क्योंकि रीश्वर पद में ईश्वर शब्द के साथ रेफ का प्रयोग अधिक किया गया है । इस सन्देह की निवृत्ति करने के लिये निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा रीश्वर पद के ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट किया गया है—

रीश्वराद्वीश्वरान्मा भूत्; कृन्मेजन्तः परोऽचि सः ।
समासेष्वव्ययीभावः, लौकिकं चातिवर्तते ॥

---

१ अ.सू., १.४.५६
२ वही, १.४.५७
३ वही, १.४.५६
४ वही, १.४.९७
५ प्रादयः उपसर्गाः क्रियायोगे । –वही, १.४.५८
६ कुगति प्रादयः । –वही, २.२.१८

यह श्लोकवार्त्तिक रेफ ग्रहण की सार्थकता सिद्ध करता है। प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अनुसार रेफ ग्रहण का प्रथम प्रयोजन है अतिव्याप्ति दोष का परिहार। रीश्वर पद का ग्रहण न करने पर 'शकिणमुल्कमुलावीश्वरे'[१] तथा 'ईश्वरे तोसुन्कसुनौ'[२] सूत्र में ईश्वरे पद पठित होने के कारण निपात संज्ञा का अधिकार इन्हीं सूत्रों का प्राप्त होगा। जबकि निपाताधिकार 'अधिरीश्वरे'[३] सूत्र तक अभीष्ट है।

रीश्वरे पद का द्वितीय प्रयोजन व्यवधान— रहित ईश्वर पद का ग्रहण कराना है। 'कृन्मेजन्तः'[४] सूत्र से कृत्, मान्त और एजन्त की अव्यय संज्ञा करने पर निपात संज्ञा हो जाती है।[५] इसके पश्चात् एजन्त और मान्त और एजन्त की अव्यय कृत् का ग्रहण किया गया है[६] और ईश्वरे तोसुन्कसुनौ[७] सूत्र के बाद ही किया गया है।[८] अभिप्राय यह है कि सूत्र में रीश्वर पद का ग्रहण करने से निपात संज्ञा की सार्थकता बनी रहती है अन्यथा अव्यय संज्ञा होने पर निपात-संज्ञा का अधिकार-निर्देश व्यर्थ प्रतीत होता है। रेफाधिक ग्रहण का तृतीय प्रयोजन अव्ययीभाव समास की अव्यय संज्ञा को ज्ञापक मानकर पूर्व ईश्वर पद ही ग्रहण कराना है। ऐसा न होने पर निपाताधिकार अव्ययीभाव समास तक ही होगा।[९] इसका कारण यह है कि निपात संज्ञक होने के कारण ही अव्ययीभाव अव्यय संज्ञक है। इस प्रयोजन का खण्डन श्लोकवार्त्तिककार ने किया है। समासों में केवल अव्ययीभाव समास की ही अव्यय

---

१ अ.सू., ३.४.१२
२ वही, ३.४.१३
३ वही, १.४.९७
४ वही, १.१.३९
५ स्वरादिनिपातमव्ययम्। – वही, १.१.३७
६ कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः। – वही, ३.४.१४ से एजन्त
७ आभीक्ष्ण्ये ण्मुल् च। – वही, ३.४.२२ से मान्त
८ अ.सू., ३.४.१३
९ If the second Isvara is taken into account the Avyayibhava mentioned in the second adhyaya will take nipata Samjna and consequently avyaya Samjna since the former fis in the fourth Pada of the third chapter. Sastri, P.S.S. Lec. Pat. MB. Vol.5, p.128.

संज्ञा का विधान निपात संज्ञा का ज्ञापक नहीं है। केवल अन्य समासों से वैभिन्न्य प्रदर्शित करना ही प्रयोजन है।[१]

अन्त में श्लोकवार्त्तिककार ने लौकिक न्याय से रीश्वर ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट किया है। लोक में प्रियजन के साथ प्रथम जलस्थान या वनान्त प्रदेश तक जाने की परम्परा के समान ही यदि यह स्वीकार कर लिया जाये कि निपात संज्ञा व्यवधान रहित ईश्वरे पद पर्यन्त होगी तब रेफ ग्रहण निष्कार्य हो जाता है। इसका खण्डन प्रस्तुत किया गया है कि यह आवश्यक नहीं है कि प्रथम वनान्त या जलस्थान तक ही साथ जाया जाये अनेक बार प्रियजन से अधिक स्नेह होने के कारण द्वितीय या तृतीय जल स्थान या वनान्त प्रदेश तक जाना सम्भव है। इसी प्रकार सूत्र में मात्र ईश्वरे पद का ग्रहण करने से यह स्पष्ट नहीं होता कि किस ईश्वरे पद का ग्रहण अभीष्ट है। 'रीश्वरे' पद का ग्रहण होने से यह स्पष्ट हो जाता है अतः सूत्र में रेफ सहित ईश्वर पद का ग्रहण किया गया है।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सूत्रकार के द्वारा सूत्रकृत संहिताकार्य सार्थक है। यद्यपि 'प्राग्रीश्वर' के स्थान पर प्रागीश्वर पद होना चाहिये तथापि रेफ ग्रहण के सप्रयोजन सिद्ध होने से ज्ञात होता है कि सूत्रोक्त कोई भी वर्ण निष्प्रयोजन नहीं है। श्लोकवार्त्तिक के द्वारा सूत्रकार के मत का समर्थन किया गया है श्लोकवार्त्तिक के अन्तिम पाद 'लौकिकं चातिवर्तते' की भाष्यकार कृत व्याख्या से स्पष्ट होता है कि भाष्यकार के समय में भी शुभों की मान्यता प्रचलित थी। कालिदास विरचित अभिज्ञान-शाकुन्तलम्[२] नाटक में भी इस प्रकार का संकेत शकुन्तला की विदाई के समय प्राप्त होता है। अतः यह तथ्य ग्राह्य है कि कालिदास और पतञ्जलि के समय मे कुछ ही समय का अन्तर रहा होगा। पतञ्जलि का स्थिति काल १५० ई. पू. माना जा सकता है। अतः कालिदास के स्थिति-काल के विषय में प्रथम शताब्दी ई. पू. का मत अधिक प्रामाणिक समझा जा सकता है।

द्वितीय अध्याय— (१) अदौ जग्धिर्ल्यप्तिकिति[३]—

---

१ तुल्यजातीव्यावृत्तये नियमार्थमेतद् स्यात् न तु व्याप्त्यग्रहणज्ञापनमेतद्। –कैयट. प्रदीप. व्या. म. १, पृ. २८१

२ तत्रेदं सरस्तीरम्। अत्र संदिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि। कालिदास, अभि. शा. अङ्क ४. पृ. १३६.

३ अ. सू., २.४.३६

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा आचार्य पाणिनि ल्यप् तथा तकरादि कित् प्रत्यय परे रहते अद् को जग्धि आदेश का विधान करते हैं। भाष्यकार ने इस सूत्र पर शंका की उद्‌भावना की है कि सूत्र में ल्यप् ग्रहण का क्या प्रयोजन है जबकि ति किति (तकारादि कित् परे रहते) शब्दों से ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।[1] इस विषय में समस्या उत्पन्न होती है कि ल्यप् तथा जग्धि आदेश में से पूर्व क्या होना चाहिये ? पर होने के कारण ल्यप् प्रथम होता है तत्पश्चात् अन्तरंग होने के कारण (जग्धि) आदेश किया जायेगा। भाष्यकार ने 'अन्तरङ्गानत्पि विधीन् बहिरङ्गोल्यब्बाद्यते' इस परिभाषा के द्वारा ल्यप् ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट किया है। ल्यप् ग्रहण की सार्थकता सिद्ध करने के लिये निम्न श्लोकवार्त्तिक का ग्रहण किया है—

जग्धिविधिल्यपि यत्तदकस्मात्सिद्धमदस्ति कितीति विधानात्।
हि प्रभृतींस्तु सदा बहिरङ्गो ल्यत्भरतीति कृतं तदु विद्धि॥

सूत्र में ति किति कहने से कार्य-सिद्धि हो जाती है ल्यप् ग्रहण परिभाषा[2] का ज्ञापक है। प्रजग्ध्य इस उदाहरण में जग्ध्[3] आदेश हो इसलिये यहां ल्यप् का ग्रहण किया गया है। अतरंग परिभाषा के आधार पर ही प्र अद् क्त्वा[4] इस अवस्था में दो पदों की अपेक्षा रखने वाले समास की प्रतीक्षा करने वाले ल्यबादेश की अपेक्षा प्रथम उपस्थित होने वाला जग्धादेश तकारादि कित् को निमित्त मानकर नहीं होता। इसलिये अन्तरंग जग्धादेश को बाधकर बहिरंग[5] ल्यप् हो जायेगा अतः तकारादि कित्व के अभाव में भी जग्धादेश के विधान के लिये ल्यप् ग्रहण चरितार्थ है।

श्लोकवार्त्तिक के द्वारा सूत्र में ल्यप् ग्रहण प्रजग्ध्य उदाहरण के लिये निष्प्रयोजन माना गया है।[6] ल्यप् ग्रहण के द्वारा यह भी ज्ञापित नहीं कराया जा

---

१ यदि समानकर्तृकयोः पूर्वकाले 'सूत्र से प्र अद् क्त्वा इस स्थिति के पश्चात् कत्वा की स्थिति में ही जग्धि आदेश कर लिया जाये।

२ अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यब्बाधते। परिभाषा

३ इकार उच्चारणार्थः नानुबन्धः तेन नुम्न भवति। —का.वृ.१, पृ. २८५

४ समानकर्तृक्योः पूर्वकाले अ.सू. ३.४.२१ से क्त्वा प्रत्यय

५ तकारादिप्रत्ययमात्रापेक्षत्वात् त्यबादेशस्तु पूर्वपदापेक्षः समासाश्रयत्वात् बहिरङ्ग। —कैयट. प्रदीप. व्या. म. १, पृ. ५५२

६ भाष्ये कथितः —जग्धिवधिर्ल्यपि यत्तदकरणम्। अकरणं निष्प्रयोजनमित्यर्थः। —का. वृ. २, पृ.२८५

सकता है कि प्रकृति प्रत्यय निमित्तक कोई भी कार्य ल्यप् के विषय में प्रवृत्त नहीं हो सकता।[१] ऐसा ज्ञापन करने पर अधीत्य में तुगागम नहीं होगा क्त्वा में स्थित अनुबन्धों को निमित्त मानकर होने वाले कार्य ल्यप् के विषय में प्रवृत्त होते हैं ऐसा कहा जा सकता है, उदाहरणार्थ – अनुभूय, प्रोह्य प्रमथ्य आदि पदों में।[२] इसी प्रकार प्रजग्ध्य उदाहरण में प्र + अद् + क्त्वा इस अवस्था में अन्तरंग होने के कारण जग्धादेश हो जायेगा, ल्यप् ग्रहण ज्ञापन कराता है कि बहिरंग[३] ल्यप् अन्तरंग कार्यो का भी बाधक है। 'हि' प्रभृति आदेशों का ल्यप् सदैव बाध करे इस कारण सूत्र में ल्यप् का ग्रहण किया गया है। प्रधाय उदाहरण में 'दधातेर्हि'[४] सूत्र से हि आदेश की प्राप्ति है। 'हि' आदेश अन्तरंग होने के कारण पहले होगा तथा ल्यप् बाद में होगा.। इसका कारण यह है कि 'समासेऽनञ्-पूर्वो कत्वा ल्यप्'[५] सूत्र से अपेक्षित समास दो पदों की अपेक्षा करता है। अतः ल्यप् बहिरंग है इसी प्रकार प्रस्थाय उदाहरण में 'घुमास्थागापा जहातिसां हलि'[६] सूत्र से ईत्व होने पर ही ल्यप् आदेश हो सकेगा तब अभीष्ट रूप प्रधाय तथा प्रस्थाय सिद्ध नहीं हो सकेंगे। इसी प्रकार विहाय में हित्व[७] प्रदाय में ददादेश[८] प्रखायप्रखन्य में नित्य आत्व[९] प्रकम्य में दीर्घादेश[१०], आपृच्छय[११] में शकार प्रपठ्य में इट्[१२] नहीं होता क्योंकि ये समस्त आदेश ल्यप् के द्वारा बाधित होते हैं। ये विधान क्त्वा की अवस्था में ही प्राप्त होते हैं तथा बहिरङ्ग ल्यप् इनका निषेध करता है।

---

१ मिश्र हर्ष नाथ परि. टीका, पृ. ३६२
२ अनुभू + ल्यप् में गुण निषेध प्रवह ल्यप् में सम्प्रसारण तथा प्रमथ् ल्यप् में न लोप निषेध। – जिने. न्यास का. वृ. २, पृ. २८५
३ ल्यबादेशस्य तु बहिरङ्गत्वम् समासाश्रयत्वात्। – का. वृ. २, पृ. २८५
४ अ. सू., ७.४.४२
५ वही, ७.१.३७
६ अ. सू., ६.४.६६
७ जहातेश्च कित्व। – अ. सू., ७.४.४३
८ दो दद् घोः। – अ. सू., ७.४.४६
९ जनसनखनां सञ् झलोः। – वही, ६.४.४२
१० क्रमश्च कित्व। – वही, ६.४.१८
११ च्छ्वोः शूडनुनासिके च। – वही, ६.४.१९
१२ आर्धधातुकस्येड् वलादेः। – वही, ७.२.३५

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के मत की पुष्टि के लिये भाष्यकार ने एष एवार्थः के पश्चात् निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किया है—

जग्धौ सिद्धेऽन्तरङ्गत्वात्ति कितीति ल्यबुच्यते।
ज्ञापयत्यन्तरङ्गाणां ल्यपा भवति बाधनम् ॥

दो पदों की अपेक्षा करने वाले समास की अपेक्षा करने वाला ल्यप् बहिरङ्ग है। मात्र क्त्वा प्रत्यय की अपेक्षा करने वाला जग्ध्यादेश अन्तरङ्ग है। क्त्वा की अवस्था में ही जग्धि आदेश होकर प्रजग्ध्य रुप सिद्ध हो जाता है फिर भी ल्यप् ग्रहण ज्ञापित कराता है कि अन्तरंग (हि आदि) विधियों का ल्यप् बाध करता है। काशिकाकार ने केवल इसी श्लोकवार्त्तिक का ग्रहण किया है। भाष्यकार ने प्रथम श्लोकवार्त्तिक देकर इसे समानार्थक के रुप में उद्धृत किया है।

एष एवार्थः के पश्चात् दिया गया द्वितीय श्लोकवार्त्तिक पूर्व श्लोकवार्त्तिक की अपेक्षा भिन्न परन्तु समानार्थक है। इससे श्लोकवार्त्तिकों का भिन्न कर्तृत्व द्योतित होता है। नागेश[१] ने एष एवार्थ की दो व्याख्या दी हैं इनके मतानुसार या तो यह अन्य श्लोक वार्त्तिककार का है अथवा भाष्यकार द्वारा निबद्ध है। दोनों श्लोकवार्त्तिकों के कर्तृत्व के विषय में विभिन्न मत है कैयट[२] ने प्रथम श्लोकवार्त्तिक को व्याघ्रभूति रचित माना है। अन्य विद्वानों ने भी इसे स्वीकार किया है।[३]

श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने एक श्लोकवार्त्तिक के मत की पुष्टि के लिये अन्य समानार्थक श्लोक वार्त्तिकों का ग्रहण किया है। प्रथम श्लोकवार्त्तिक के द्वारा सूत्रोक्त ल्यप् पद का प्रयोजन स्पष्ट करने के पश्चात् द्वितीय श्लोकवार्त्तिक से मत की पुष्टि की है। यह तथ्य भी स्पष्ट होता है कि श्लोकवार्त्तिकों की रचना किसी एक वार्त्तिककार के द्वारा नहीं की गई अपितु उनका भिन्न कर्तृत्व स्वीकार किया गया है। भाष्यकार ने भी कुछ श्लोकवार्त्तिकों की रचना की है यह तथ्य भी पुष्ट होता है। श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है।कि इनके द्वारा भाष्यकार ने न केवल सूत्र से सम्बद्ध उदाहरणों का ही ग्रहण

---

१ अन्येन निबद्ध इति शेषः। मयानिबध्यते इति वा। – उद्योत, व्या.म. १, पृ. ५५३
२ अयमेवार्थो व्याघ्रभूतिनाप्याह – जग्धिविधिरिति। – प्रदीप. व्या. म. १, पृ. ५५३
३ मीमां. युधि., जोशी भा. शा. तथा झज्झर संस्करण में इसे उपयुक्त माना है।

किया है अपितु अन्य सूत्रों से सिद्ध होने वाले उदाहरणों का भी ग्रहण किया है ताकि परिभाषा की अन्य साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में भी पुष्टि हो सके।

तृतीय अध्याय – कर्तरि भुवः खिष्णुच् खुकञौ[१]

प्रस्तुत सूत्र में पूर्व[२] सूत्र च्वयर्थ तथा अच्च्यर्थ पदों की अनुवृत्ति होती है। च्वयर्थ[३] से अभिप्राय उन पदों से नहीं है जिनसे च्वि विहित है अपितु च्वि प्रत्ययार्थ का ग्रहण करने वाले शब्दों से है तथा अच्च्यर्थ[४] का अभिप्राय च्व्यर्थ ग्रहण न करने वाले पदों से है। सूत्र में कर्तरि पद का ग्रहण करण कारक की निवृत्ति के लिये है। अतः सूत्र च्व्यर्थ तथा अच्व्यर्थ आढ्यादि सुबन्त उपपद में रहते धातु से कर्ता कारक में खिष्णुच् तथा खुकञ् प्रत्ययों का विधान करता है। यथा आढ्यभविष्णुः इस उदाहरण में आढ्य सुबन्त उपपद परे रहते भू धातु से कर्ता अर्थ में खिष्णुच् प्रत्यय का विधान हुआ है।

प्रस्तुत सूत्र पर भाष्यकार ने शंका की उद्‌भावना की है कि सूत्र में खिष्णुच् पद को इकारादि पढ़ने का क्या प्रयोजन है ? प्रस्तुत शंका का समाधान वार्त्तिकों द्वारा किया गया है वही अभिप्राय निम्न श्लोकवार्त्तिक में प्रतिपादित है—

इण्णुच् इकारादित्वमुदात्तत्वात्कृतं भुवः।
नञस्तु स्वरसिद्ध्यर्थमिकारादित्वमिष्णुचः॥[५]

सूत्रोक्त खिष्णुच् पद को खित् ग्रहण करने का प्रयोजन मुमागम का विधान करना है। चकार का ग्रहण सूत्रकार ने आद्युदात्त[६] स्वर का विधान करने के प्रयोजन से नहीं किया है क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग में प्रत्यय स्वर ही अभीष्ट है। पद में उदात्त से इतर अन्य स्वर अनुदात्त होते हैं।[७] भू धातु उदात्त होने के कारण आढ्य भू ख्स्नु

---

१ अ.सू., ३.२.५७

२ आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्व्यर्थेषु कृञः करणे ख्युन्। – अ.सू., ३.२.५६

३ In the present sutra however the words that actually end in chvi have been excluded. –Vasu, S.C. - Aṣṭā. I, p.437.

४ ibid.

५ काशिकाकार ने प्रथम पंक्ति को इस रूप में ग्रहण किया है – उदात्तत्वाद्‌भुवः सिद्धमिकारादित्वमिष्णुचः। – का.वृ. २, पृ. ३.२.५७

६ चितः अ.सू. ६.१.१६३ – आद्युदात्तश्च – अ.सू., ३.१.३

७ अनुदात्तं पदमेकवर्जम्। – अ.सू., ६.१.१२८

इस अवस्था में वलादि[१] लक्षण इट् प्राप्ति सम्भव है क्योंकि अनुदात्त स्वर से ही इड् निषेध[२] की प्रसक्ति होती है। यदि इडागम विहित होगा तो खिष्णुच् को इकारादि करना निष्प्रयोजन हो जायेगा। श्लोकवार्त्तिक के पूर्वार्ध के द्वारा भाष्यकार ने उपरोक्त पूर्वपक्ष की स्थापना की है। श्लोकवार्त्तिक के उत्तरार्द्ध के द्वारा प्रयोजन स्पष्ट किया है। नञ् से परे खिष्णुजन्त की स्वरसिद्धि ही खिष्णुच् में इकारादि ग्रहण का प्रयोजन है। इकारादित्वाभाव पक्ष में इडागम होने पर भी 'कृत्योकेष्णुच्चार्वादयश्च'[३] सूत्र में ख्स्नु का ग्रहण सम्भव नहीं है क्योंकि चकारानुबन्ध का अभाव है। अतः अनाढ्यम्भविष्णुः आदि उदाहरणों में नञोत्तर उत्तरपद में अन्तोदात्तत्व की प्राप्ति नहीं होती जो अभीष्ट है। खिष्णुच् के स्थान पर ख्स्नुच् का ग्रहण करने पर भी स्वरसिद्ध नहीं होती क्योंकि सूत्र के प्रवृत्त होने से सिद्ध होनेवाला रूप लाक्षणिक होता है तथा प्रतिपदोक्त है।[४] लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण किया जाता है[५] इस परिभाषार्थके आधार पर ख्स्नुच् में षत्व[६] तथा णत्व[७] की असिद्धि हो जाती है क्योंकि षत्व, णत्व लाक्षणिक हैं तथा खिष्णुच् प्रतिपदोक्त है। अतः खिष्णुच् में इकारादि का ग्रहण किया गया है इष्णुच् प्रत्यय का ग्रहण इतर सूत्र[८] में किया गया है तथा अनुबन्ध कार्य के पश्चात् खिष्णुच् का भी इष्णु शेष रहता है अतः इष्णुच् का ही ग्रहण होना चाहिये क्योंकि खिष्णुच् द्वयनुबन्धकः प्रत्यय है 'तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य' परिभाषा ज्ञापित करती है कि जहां अनुबन्ध विशेष का ग्रहण है वहां उस अनुबन्ध से रहित का ग्रहण नहीं होता।

---

१ आर्धधातुकस्येड् वलादेः। – वही, ७.२.३५
२ एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्। – वही, ७.२.१०
३ अ. सू., ६.२.१६०
४ पदं पदं प्रतिपदम् प्रतिपदेन उक्त प्रतिपदोक्तम्। – मिश्र हर्षनाथ परि. टीका, पृ. ३८१
५ लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्। – वही, परिभाषा ११४
६ आदेश प्रत्यययोः। – अ. सू., ८.३.५९
७ अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि। – वही, ८.४.२
८ अलङ्कृञ्निराकृञ्प्रजनोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृतुवृधुसहचरः इष्णुच्। – अ. सू., ३.२.१२६

अतः इकार को उच्चारणसामर्थ्यार्थ स्वीकार करने से दोष का निराकरण हो जाता है। यद्यपि शब्द कौस्तुभकार[१] को इकार ग्रहण का प्रत्याख्यान अभीष्ट है तथापि इकार का प्रयोजन सिद्ध होने के कारण इकारादित्व आवश्यक है।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण सूत्रों का पदकृत्य स्पष्ट करने के लिये किया गया है। व्याख्यान के माध्यम से जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है उसे ही श्लोकवार्त्तिक के माध्यम से कहने का प्रयोजन रोचकता उत्पन्न करना है। अतः व्याकरणात्मक सूत्रों के प्रयोजनात्मक स्पष्टीकरण में श्लोकवार्त्तिकों का महत्वपूर्ण योगदान है।

(२) तौ सत्[२]—

सूत्रकार 'लटः शतृशानचावप्रथमा समानाधिकरणे'[३] सूत्र से अप्रथमान्त समानाधिकरण से लट् को शतृ तथा शानच् आदेशों का विधान करते हैं। अप्रथमान्त समानाधिकरण के अतिरिक्त लट् को सम्बोधन[४], लक्षण[५] तथा हेत्वर्थ में वर्तमान शतृ तथा शानच् सत् संज्ञक होते हैं। सत् का ग्रहण 'पूरण-गुणसुहितार्थसदव्ययतव्य'[६] सूत्र में किया गया है सत् संज्ञा विधायक सूत्र पर भाष्यकार ने शंका की उद्भावना की है कि सूत्र में तौ ग्रहण का क्या प्रयोजन है तथा 'अवधारणं लृटि विधानं योविभागतश्च विहितं सत्' श्लोकवार्त्तिकांश के माध्यम से तौ ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट किया है। प्रस्तुत शंका का समाधान वार्त्तिककार ने 'तौ सदिति वचनमसंसर्गार्थमम्' वार्त्तिक के द्वारा किया है। काशिकाकार ने तौ ग्रहण का प्रयोजन उपाध्यसंसर्गार्थम् स्वीकार किया है।[७] उपाधि से अभिप्राय है लट् स्थानिक होने के कारण वर्तमान काल में विहित होना। उपाधि से असम्बन्धार्थ तौ ग्रहण है। तौ ग्रहण से शतृशानच् मात्र की सत् संज्ञा का विधान होता है।[८] शतृ शानच् मात्र

---

१ हन्तैवं ख्ष्णुचयमस्तु तत्रेटि कृते चकारानुबन्ध सामर्थ्यादस्यापि ग्रहणमस्त्विति किमिकारेण। तस्माच्चिन्त्यमेतत्। – श. कौ., ३.२.१, पृ. ४४६

२ अ. सू., ३.२.१२७

३ वही, ३.२.१२४

४ सम्बोधने च – अ. सू., ३.२.१२५

५ लक्षणहेत्वोः क्रियायाः। – वही, ३.२.१२६

६ अ. सू., २.२.११

७ उपाधिना विशेषेणासंसर्गार्थ तौ ग्रहणमित्यर्थः। – का. वृ. २, पृ. ६४३

८ तत्छब्देन शतृशानचोः रूपमात्रं परामृश्यते। – कैयट प्रदीप. व्या. म. २, पृ. १९२

कथन उपाधि संग्रह का व्यवच्छेद करने के लिये है। तौ ग्रहण न होने पर शतृ शानच् प्रकृत लट् स्थानिक वर्तमान काल[१] के ही बोधक होंगे लडादेश से विहित नहीं होंगे। अतः भूत व भविष्यत् काल का बोध नहीं करायेंगे।

प्रस्तुत स्थिति में सत् संज्ञा विधान निष्प्रयोजन प्रतीत होता है परन्तु शतृ शानच् प्रत्ययों का ही भूत में विधान होता है सत् संज्ञा का नहीं। प्रत्ययाधिकार से प्रत्यय का ही अतिदेश होता है संज्ञा का नहीं[२] फलस्वरुप 'लृटः सद्वा'[३] सूत्र सत्संज्ञक प्रतिरूप शतृ शानच् का ही विधायक है। विहित शतृ शानच् प्रत्ययों से भविष्यदर्थक संज्ञा सिद्ध नहीं होती। अतः समास प्रतिषेध की प्रसक्ति भी नहीं होती यथा ब्राह्मणस्य पक्ष्यन् (पक्ष्यमाणः)।[४] सूत्र में तौ ग्रहण का प्रयोजन षष्ठी समास का प्रतिषेध भी सम्भावित है।[५] तौ ग्रहण सामर्थ्य से शतृ, शानच् आनुपूर्व्य मात्र से ग्रहण किये जाते हैं।[६] अन्यथा इनकी वर्तमानार्थ में ही सत् संज्ञा होती लृडादेश से नहीं। अतः षष्ठी समास का प्रतिषेध[७] भी प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार अमी पिष्टपिण्डाः सिंहाः क्रियन्ताम् प्रस्तुत उदाहरण में सिंह शब्द से मुख्यार्थ का बाध होने के कारण तदाकार मात्र परिलक्षित है उसी प्रकार प्रकृत में भी प्रत्यय का ही अतिदेश किया जाता है, संज्ञा का नहीं।[८]

प्रस्तुत प्रसंग में तौ ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट करने के लिये 'लृटः सद्वा'[९] सूत्र अवधारणार्थ उपस्थित है अर्थात् सूत्र का योग-विभाग करने पर 'तौ' और 'सत्' दो पद प्राप्त होते हैं। अभिप्राय यह है कि शतृ, शानच् प्रत्यय धातुमात्र से परेविहित प्रत्यय को होते हैं और वे सत्संज्ञक होते हैं। तौ योगविभाग से विहित सत्संज्ञा के विषय में 'लृटः सत्' पद योगविभाग नियम स्थापन करता है। तब ज्ञापित होता है कि लृट् से धातु मात्र से परे लृट् से विहित शतृ, शानच् विदित होंगे अन्य से नहीं

---

१ वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा। – अ. सू., ३.३.१३१
२ प्रत्ययाधिकारादि प्रत्यय एवातिदिश्यते। – हर. पद. का. वृ. २, पृ. ६४३
३ अ. सू., ३.३.१४
४ पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्य। – अ. सू., २.२.११
५ प्रयोजन पूरणसुहितार्थ सदिति। वार्त्तिक, अ. सू., ३.२.१२
६ तौग्रहणसामर्थ्यादिह शतृशानचोरानुपूर्वीमात्रं लक्ष्यते। – श.कौ. ३.२.१२७ पृ. ४६७.
७ पूरणगुणसुहितार्थ सदव्ययतव्य। – अ. सू. २.२.११
८ प्रत्ययाधिकाराद्धि प्रत्यय एवातिदिश्यते न तु संज्ञा। – कैयट्. प्रदीप. व्या. म. २, पृ. १९२
९ अ. सू., ३.३.१४

तथा शतृ, शानच् प्रत्यय विकल्प से सत्संज्ञक होंगे । तौ ग्रहण होने के कारण 'लृटः सद्वा'[१] ज्ञापक से तत् शब्द के द्वारा शतृ, शानच् का ही परामर्श ज्ञापित होता है ।[२] इस ज्ञापन में लट् स्थानिकत्वादि विशिष्ट का ग्रहण नहीं है । प्रथमासमानाधिकरणादि विषयों में शतृ-शानच् विकल्प से विहित होते हैं । इसी प्रकार लट् और लृट् दोनों विषयों में प्रथमा समानाधिकरण में सदादेश विकल्प से ही होंगे । तौ ग्रहण करने से शतृ, शानच् रूप मात्र से ही सत् संज्ञा का आख्यान अभीष्ट है अतः वर्तमानकाल[३] में विधान असंगत होने पर भी संज्ञा सिद्ध हो जाती है । अतः तौ ग्रहण सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है ।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकांश के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भाष्यकार ने सूत्रों के व्याख्यान के प्रसंग में न केवल पूर्ण श्लोकवार्त्तिकों को ही उद्धृत किया है अपितु आवश्यकतानुसार आंशिक रूप से भी उनका ग्रहण किया है । सूत्र गृहीत पदकृत्य का प्रयोजन स्पष्ट करने में श्लोकवार्त्तिक सहायक सिद्ध हुये हैं । यह कथन असंगत प्रतीत नहीं होता कि भाष्यकार सूत्रों में प्रतिपादित सिद्धान्तों की व्याख्या प्रयोजनात्मक श्लोकवार्त्तिकों से करते हैं ।

(३) ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः[४]

प्रस्तुत सूत्र में 'आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत् साधुकारिषु'[५] सूत्र से तच्छील[६] पद का अनुवर्तन है तथा 'णेश्छन्दसि'[७] सूत्र से प्राप्त छन्दसि की निवृत्ति है ।[८] अतः प्रकृत सूत्र ग्ला, जि, स्था तथा भू धातुओं से क्स्नु प्रत्ययान्त रूप ग्लास्नुः जिस्नुः,

---

१ अ. सू., ३.३.१४
२ तत्छब्देन शतृशानच्वाभ्यामेव परामशौ । – कैयट. प्रदीप. व्या. म. २, पृ. १९१
३ वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा । – अ. सू., ३.३.१३१
४ अ. सू., ३.२.१३९
५ वही, ३.२.१३४
६ The term tatchil means the natural inclination towards an action not prompted by a contemplation of its fruit or result. Vasu, S.C. Ashta, Vol.I,p.463.
७ अ. सू., ३.२.१३७
८ The Annvriti of the word 'chandsi' does not extend to this Sutra. –ibid.

स्थास्नुः तथा भूष्णुः प्राप्त होते हैं । प्रत्युत उदाहरणों में गुणनिषेध[१] तथा ईत्वाभाव[२] की प्रसक्ति है । गुण निषेध में कित्, ङित् प्रत्यय निमित्त हैं तथा ईत्वविधान में भी कित् प्रत्यय निमित्त है । यदि क्स्नु प्रत्यय को किदादि स्वीकार किया जाये तो गुणनिषेध तथा ईत्वाभाव की प्रसक्ति नहीं होती । भाष्यकार ने इस समस्या का समाधान क्स्नु प्रत्यय को गित् मानकर किया है । वार्त्तिकों में गित् ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट किया गया है । निम्न श्लोकवार्त्तिक में उसी विषय का प्रस्तुतीकरण है—

स्नोर्गित्वान्न स्थ ईकारः क्ङित्तोरीत्वशासनात् ।
गुणाभावस्त्रिषु स्मार्यः श्र्युकोनिट्त्वं गकोरितः ॥

श्लोकवार्त्तिक में क्स्नु प्रत्यय को गित् स्वीकार किया गया है ।[३] ग्स्नु में स्थित आदि गकार को चर्त्व[४] विधान से ककार हुआ है । यदि प्रत्यय को कित् स्वीकार किया जाये तो स्था धातु से ईत्व [५]प्राप्ति होगी तथा ईत्व-विधान के लिये कित् प्रत्यय अपेक्षित होने के कारण अनभीष्ट रूप सिद्ध होगा । ईत्व विधायक शास्त्र कित्, ङित् प्रत्यय परे रहते ही घुसंज्ञक[६] मा, स्था, गा, पा आदि धातुओं को ईत्व करता है । यदि प्रत्यय को गित् मानें तो जिष्णुः पद में गुण[७]-प्राप्ति होती है । क्योंकि गुण निषेधक सूत्र[८] में मात्र कित् ङित् का ग्रहण होता है । प्रस्तुत आशंका गुणविधान का निराकरण कित् ङित् तथा गित् तीनों का ही गुण-निषेधक सूत्र में अन्तर्भाव हो जाने पर स्वयमेव हो जाता है । 'क्ङिति च'[९] सूत्र में गकार की विद्यमानता तथा चर्त्व विधान[१०] स्वीकार करने पर प्राप्त गुण का भी निषेध हो जाता है । गित् मानने

---

१ क्ङिति च । – अ. सू., १.१.५
२ घुमास्थागापाजहातिसां हलि । – अ. सू., ४.४.६६
३ The indicatory letter of this affix is really ga and not ka. –Vasu, S.C. Ashṭa. Vol.I,p.465.
४ (१) गकारस्य चर्त्वेन निर्देशो व्याख्यास्यते इत्यर्थः । – कैयटप्रदीप.व्या.म. २, पृ. १६५
(२) गकारस्य त्वश्रवणं चर्त्वभूतस्य निर्देशात् । – जिने. न्यास.का. वृ. २, पृ. ६५२
५ घुमास्थागापाजहातिसां हलि । – अ.सू., ४.४.६६
६ दाधाध्वदाप् । – वही, १.१.२०
७ सार्वधातुकार्धधातुकयोः । – वही, ७.३.८४
८ क्ङिति च । – वही, १.१.५
९ अ. सू., १.१.५
१० खरि च । – वही, ८.४.५५

पर गुणनिषेध हो जाता है परन्तु भूष्णुः रूप में प्राप्त इट्[१] का निषेध नहीं होता क्योंकि इट् निषेधक[२] सूत्र में कित् का ग्रहण होता है। इस शंका का समाधान सूत्र[३] कित् के साथ गकार का ग्रहण मानकर तथा चर्त्व-विधि से ककार मानकर किया गया है। परिणामस्वरूप कित् तथा गित् दोनों ही प्रत्यय परे रहते इट् प्रतिषेध सम्भव हो जायेगा[४] चर्त्व के असिद्ध हो जाने पर उत्व[५] प्राप्ति की आशंका का निराकरण संहिता-रहित सौत्र निर्दिष्ट प्रयोग मानकर हो जाता है।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सूत्रों का पदकृत्य-प्रयोजन स्पष्ट करने के लिये भाष्यकार श्लोकवार्त्तिक उद्धृत करते हैं। वार्त्तिकों के रूप में सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के पश्चात् भाष्यकार ने उन्हीं वार्त्तिकों को छन्दोबद्ध रूप में प्रस्तुत कर दिया है। इसका प्रयोजन प्रतिपादित सिद्धान्तों को और अधिक स्पष्टता प्रदान करना है। इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से सूत्रोक्त पदों का प्रयोजन स्पष्ट किया गया है।

(५) करणे हनः[६]—

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने करण उपपद में रहते हन् धातु से णमुल् प्रत्यय का विधान किया है। सूत्र में णमुल् प्रत्यय की अनुवृत्ति 'पाणिघातं वेदिं हन्ति' इस उदाहरण में पाणिना वेदिं हन्ति इस अर्थ में हन् धातु से णमुल् प्रत्यय विहित है। भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र द्वारा विहित णमुल् प्रत्यय का विधान निष्प्रयोजन माना है।[७] हिंसा से अभिप्राय पाण्युपघात है तदर्थक समानार्थक धातुओं से तृतीयान्त उपपद में रहते णमुल् प्रत्यय का विधान हुआ है। इस प्रकार णमुल् प्रत्यय का विधान[८] होने पर पुनः णमुल् का विधान अनर्थक है। प्रस्तुत सूत्र में हन् धातु हिंसार्थक[९] न होकर अहिंसार्थक है। अतः अहिंसार्थक[१०] हन् धातु से णमुल् का

---

१ आर्धधातुकस्येड् वलादेः। – अ.सू.,७.२.३५
२ श्र्युकः किति। – अ.सू.,७.२.११
३ ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः। – वही, ३.२.१३९
४ श्र्युकः कितीत्यत्र गकारप्रश्लेषान्नेट्। – सि.कौ. भाग २, पृ. ४४९
५ हशि च। – अ.सू.,६.१.११४
६ अ.सू.,३.४.३७
७ हनः करणेऽनर्थकं वचनं हिंसार्थेभ्यो णमुल्विधानात्। – व्या.म. २, ३.४.३७, पृ. २५४
८ हिंसार्थानां च समानकर्मकाणाम्। – अ.सू., ३.४.४८
९ बाहुल्येन हन्तिर्हिंसार्थो दृश्यत इति मत्वाह। – कैयट. प्रदीप. व्या.म. २, पृ. २५४
१० अहिंसार्थोऽयमारम्भः इति। – जिने. न्यास. का.वृ. ३, पृ. १७९

पुनर्विधान संगत प्रतीत होता है। भाष्यकार ने निम्न श्लोक वार्त्तिकार्ध के द्वारा प्रस्तुत सूत्र का प्रयोजन सिद्ध किया है—

'हन्तेः पूर्वविप्रतिषेधो वार्त्तिकेनेव ज्ञापितः।'

प्रस्तुत सूत्र के दो प्रयोजन हैं प्रथमतः अहिंसार्थक हन् धानु से करण अर्थ में णमुल् प्रत्यय का विधान करने के लिये प्रस्तुत सूत्रकी आवश्यकता संगत प्रतीत होती है। यथा पाण्युपधातं वेदिं हन्ति'[१] इस उदाहरण में हन् धातु का अर्थ हिंसार्थक नहीं है।[२] द्वितीयतः 'तृतीया प्रभृत्यन्यतरस्याम्'[३] सूत्र के द्वारा वैकल्पिक समास होता है अतः नित्य समास का विधान करने के लिये प्रस्तुत सूत्र आवश्यक है। अर्थात् 'उपपदमतिङ्'[४] सूत्र से नित्य उपपद समास का कथन यह सूत्र करता है।[५] कषादिषु 'यथाविध्यनुप्रयोगः'[६] सूत्र से जिस धातु से णमुल् प्रत्यय का विधान है उस धातु का ही अनुप्रयोग किया जाता है। यदि हन् धातु को हिंसार्थक मानते हैं तो पर होने के कारण हिंसार्थक णमुल् प्रत्यय की प्राप्ति होती है अतः नित्य समासार्थ तथा यथाविधि अनुप्रयोग सूत्र के प्रयोजन नहीं हो सकते भाष्यकार ने श्लोक-वार्त्तिकार्द्ध के द्वारा यह ज्ञापित कराया है कि हिंसार्थक हन् धातु से भी णमुल् 'करणे हनः'[७] सूत्र से विहित होता है।[८]

हिंसार्थक हन् धातु से भी नित्य समास तथा अनुप्रयोग होने के कारण 'दण्डोपघातः गाः कालयति' इस उदाहरण में असंगति नहीं होती क्योंकि जहां एक

---

१ He strikes the vedi with the hand. Vasu, S.C. Aśṭā. Vol.I, p.571.

२ Han here does not mean to Kill. -ibid.

३ अ.सू.,२.२.२१

४ वही,२.२.१९

५ This Sutra may be for the sake of forming Invariable compounds with Upapadas. -Vasu, S.C.Asta., Vol.I,p.511.

६ अ.सू.,३.४.४६

७ वही,३.४.३७

८ According to Patanjali this affix comes after Han under this aphorism. -Vasu, S.C. Aśṭā.Vol.I,p.511.

ही धात्वर्थ सामान्य तथा विशेष भाव से भेद सम्बन्ध से उक्त है ।[१] धात्वर्थ होने पर विशेष्य का ग्रहण करता है वह इस सूत्र का विषय है । अत्यन्त भिन्न धात्वर्थ[२] का सम्बन्ध होने पर हिंसार्थक[३] निमित णमुल् की प्राप्ति होती है । अतः वैकल्पिक समास के स्थान पर नित्य समास का विधान सूत्र का प्रयोजन है । णमुल् प्रत्यय विकल्प से होने पर समास भी विकल्प से होता है नित्य णमुल् का विधान होने पर नित्य समास होता है ।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने सूत्र का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण किया है । प्रसंगवश सूत्र के व्याख्यान के मध्य श्लोकवार्त्तिकार्ध का ग्रहण किया गया है ।

चतुर्थ अध्याय – 'सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः'[४]

सूत्रकार ने 'प्राचां ष्फः तद्धितः' सूत्र के द्वारा प्राच्यों के मतानुसार स्त्रीत्व विवक्षा में यञन्त से ष्फ प्रत्यय का विधान किया है तथा इसे तद्धित संज्ञक माना गया है । इस सूत्र के द्वारा केवल प्राच्यों के मत में ही ष्फ प्रत्यय विहित है[५] जबकि प्रकृत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने सर्वत्र अर्थात् नित्य रूप से ष्फ प्रत्यय का विधान किया है । लोहितादि गण से लेकर कतपर्यन्त यञन्त से स्त्रीत्व विवक्षा में ष्फ प्रत्यय का विधान है ।[६] यथा लौहित्यायनी पद में लोहित शब्द से यञ्[७] विहित होने पर ष्फ प्रत्यय होता है । कत शब्द स्वतन्त्र प्रातिपादक है क्योंकि यह अन्य का अवयव नहीं होता ।[८] यथा कपि शब्द से परे कत शब्द स्वतन्त्र प्रातिपादक है जबकि कुरु शब्द से परे कत

---

१ यत्र एक एव धात्वर्थो सामान्यविशेषभावेन भिद्यमानो विशेष्यभाव-मनुभवति सोऽस्य विषयः । – कैयट. प्रदीप. व्या. म. २, पृ. २५५

२ यत्र भेदसंबन्धेनान्वयस्तत्र तेनैवेति भावः । – नागेश, उद्योत व्या. म. २२, पृ. २५५

३ हिंसार्थानां च समानकर्मणाम् । – अ. सू., ३.४.४८

४ अ. सू., ४.१.१८

५ पूर्वत्र च प्राचां मते ष्फो विहितः इह तु सर्वत्र मते । – हर. पद. का. वृ. ३, पृ.३०२

६ The affix shffa is invariably added in the feminine after the words beginning with lohita and ending with kata. –Vasu, S.C. -Aśṭā I,p.617.

७ गर्गादिभ्यो यञ् । – अ. सू., ४.१.१०५

८ योऽन्यस्यावयवो न भवति तत्स्वतन्त्रप्रातिपदिकम् । – हर. पद. का. वृ. ३, पृ. ३०२

शब्द समुदाय में प्रतिबद्ध होने के कारण स्वतन्त्र प्रातिपादिक नहीं है ।[१] भाष्यकार ने 'लोहितादिषु शाकल्यस्योपसंख्यानम्' इस वार्त्तिक के आधार पर शाकल का उपसंख्यान भी लोहितादि गण में अभीष्ट है । यथा शाकल्यस्य छात्राः शाकलाः इस पद में अण्[२] का निषेध हो जायेगा गणपाठ में शब्दों का पौर्वापर्य निम्न श्लोक-वार्त्तिक के द्वारा स्पष्ट किया गया है तथा इनके प्रयोजन का निर्देश किया है—

कण्वात्तु शकलः पूर्वः कतादुत्तर इष्यते ।
पूर्वोत्तरौ तदन्तादी ष्फाणौ तत्र प्रयोजनम् ॥

गणपाठ में कण्व शब्द से पूर्व तथा कत शब्द से परे शकल शब्द का ग्रहण किया जाना चाहिए ।[३] अर्थात् कत, शकल, कण्व इस प्रकार सन्निवेश किया जाना चाहिये । गर्गादि पाठ में कपिकत, कुरुकत, अनडुह, कण्व शकल, यह गण संनिवेश होना चाहिये ।[४] अनुडुह तथा कुरुकत शब्द अन्यत्र पढ़ने चाहिये शकल शब्द कत और कण्व शब्दों के मध्य में पढ़ा जाना चाहिये मध्य में ग्रहण होने पर पूर्वोत्तर गण शकल शब्दादि तथा शकल शब्द अन्त होंगे ।[५] लोहितादि शकल शब्दान्त पूर्व गण होगा तथा उत्तर गण कण्वादि शकलशब्दादि होता है ।[६] दोनों ही गणों में पठित शकल शब्द ष्फ तथा अण् दोनों का विधायक है ।[७] पूर्व गण शकलान्त है अतः ष्फ प्रत्यय का विधान होता है । उत्तरगण का प्रयोजन अण् प्रत्यय का विधान करना है ।

कतान्त का अभिप्राय है कतस्य अन्तः अर्थात् समीपभूत कतन्त तत्पुरुष समास से शकल शब्द का अभिधान होना है ।[८] कत शब्दोऽन्ते येषाम्' लोहितादीनां

---

१ यस्तु कुरुकतशब्दस्यावयवः कतशब्दस्तस्य स्वातन्त्र्यं नास्ति समुदाय-प्रतिबद्धत्वात् । —जिने. न्यास. का. वृ. ३, पृ. ३०२

२ कण्वादिभ्यो गोत्रे । —अ. सू., ४.२.१७

३ हर. पद. का. वृ. ३, पृ. ३०२

४ कैयट. प्रदीप. व्या. म. २, पृ. ३१६

५ शकलशब्दोऽन्त आदिश्च यथाक्रमं ययोः पुर्वेतरयोर्गणयोस्तौ तदन्तादी पूर्वोत्तरगणौ । —जिने. न्यास. का. वृ. ३, पृ. ३०३

६ पूर्वो गणे लोहितादि शकलशब्दान्तो भवति, उत्तरश्चः गण शकलशब्दादि भवति । —जिने. न्यास. का. वृ. ३, पृ. ३०३

७ कैयट. प्रदीप. व्या. म. २, पृ. ३१६

८ कतस्यान्तः समीपभूतः कतन्तः इति तत्पुरुषेण शकलशब्द उच्यते । —हर. पद. का. पृ. ३, पृ. ३०३

ते कतन्ता इसमें बहुव्रीहि समास है । बहुव्रीहि व तत्पुरुष समास का एक साथ कथन होने पर बहुव्रीहि अवशिष्ट रहता है ।[१] जिस प्रकार कतन्त से एकशेष रहता है उसी प्रकार कण्वादि से भी बहुव्रीहि अवशिष्ट रहता है ।[२] अतः तत्पुरुष वृत्ति से प्राप्त कतन्त व कण्वादि गणों के मध्य में स्थित यञन्त शकल शब्द ष्फ तथा अण् दोनों ही प्रत्ययों.की प्राप्ति कराता है । तत्पुरुष वृत्ति से शकल शब्द का संग्रह होने पर सूत्र का अभिप्राय कतन्त शकल शब्द से तथा यञन्त कतन्त शब्द से लोहितादि यञन्त से स्त्रीत्व विवक्षा में ष्फ प्रत्यय होता है । अतः शकल शब्द से ष्फ प्रत्यय प्राप्त होता है यथा शाकल्यायनी इस उदाहरण में 'कण्वादिभ्यो गोत्रे'[३] सूत्र में तत्पुरुष वृत्ति से शकल शब्द का संग्रह होने पर सूत्र का अभिप्राय यह है कि कण्वादि से शब्दान्त गोत्र प्रत्ययान्त से कण्वादि से गोकक्षान्त गोत्र प्रत्ययान्त से शेषार्थ में अण् प्रत्यय होता है । इस प्रकार शकल शब्द से अण् प्रत्यय का विधान भी होता है । यथा शकलाः इस उदाहरण में शाकलयस्येमे छात्राः अर्थ में अण् प्रत्यय विहित है । अन्य[४] आचार्य के मतानुसार पूर्वगण का तदन्त ग्रहण होना चाहिये उत्तरगण शकलादि होना चाहिये । तथा इसका प्रयोजन ष्फ तथा अण् प्रत्ययों की प्राप्ति है ।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सूत्रों के साथ-साथ वार्त्तिकों के प्रयोजन का निर्देश भी श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा प्रतिपादित है । सूत्र की व्याख्या करते हुये भाष्यकार प्रसंगवश उपस्थित अन्य शंकाओं का समाधान भी करते हैं ।

(२) यूनि लुक्[५]—

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने प्राग्दीव्यतीयाधिकार में पठित अजादि प्रत्यय विवक्षित होने पर बुद्धिस्थ होने पर अनुत्पन्नावस्था में ही युवप्रत्यय का लोप विधान किया है ।[६] लोप होने पर जिस शब्द से जो प्रत्यय विहित है वह उस शब्द से निहित

---

१ स्वरभिन्नानां यस्योक्तस्वरविधि सः शिष्यते । – वही, पृ.३०३
२ कण्वादयः पूर्ववदेशकेषः । – जिने. न्यास. का. वृ. ३, पृ. ३०४
३ अ. सू., ४.२.११
४ अपर आह पूर्वोत्तरौ तदन्तादी ग्राह्यविति । – हर. पद. का. वृ. ३, पृ. ३०४
५ अ. सू., ४.१.९०
६ Vasu, S.C. Aṣṭā.I,p.657.

होता है। सूत्र में 'प्राग्दीव्यतीयोऽण्'[१] सूत्र से प्राग्दीव्यतः तथा पूर्वसूत्र[२] से अचि की अनुवृत्ति होती है। सूत्रोक्त यूनि पद में व्यत्यय[३] से षष्ठ्यर्थ में सप्तमी प्रयुक्त है। अचि पद में विषय सप्तमी है यदि पर सप्तमी का ग्रहण किया जायेगा तो जहां छ प्रत्यय अभीष्ट नहीं है वहां भी इसकी प्रसक्ति होने लगेगी।[४] अतः प्रस्तुत सूत्र अजादि प्रत्यय विवक्षित होने पर उत्पन्न न होते हुये युव प्रत्यय का लोप करता है। भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र पर शंका की उद्भावना की है कि प्रकृत सूत्र का क्या प्रयोजन है ? प्रयोजनों की सिद्धि निम्न श्लोकवार्त्तिकोक्त ज्ञापन से की है—

'राजन्याद् वुञ् मनुष्याच्च ज्ञापकं लौकिकं परम्।'

भाष्यकार ने सूत्र का प्रथम प्रयोजन सौवीर गोत्र से ण, ठक् तथा छ का विधान माना है। 'जीवति तु वंश्ये युवा'[५] सूत्र से पित्रादि के जीवित रहते पौत्र प्रभृति अपत्य की युवसंज्ञा होती है। युवन् प्रत्यय का मानसिक रूप से लोप ही प्रकृत सूत्र के द्वारा अभीष्ट है।[६] अतः प्रागदीव्यतीय[७] अधिकारोक्त उपयुक्त प्रत्यय का ही विधान शब्द से करना चाहिये यथा फाण्टाहृतः इस गोत्र शब्द से इञ्[८] का विधान हुआ है। तस्यापत्यम् युवा' इस अर्थ में ण[९] प्रत्यय विहित है। ठक् का विधान भी इस सूत्र का प्रयोजन है। यथा भागवित्ताः इस उदाहरण में इञ्[१०] प्रत्यय के पश्चात् युवन् अर्थ में ठक् प्रत्यय विहितहै। तस्य छात्राः इस अर्थ में ठक् का लोप होने पर अण्[११] प्रत्यय से यह रूप सिद्ध होता है। छ प्रत्यय के विधानार्थ सूत्रारम्भ किया गया है।

---

१ अ.सू., ४.१.८३
२ गोत्रेऽलुगचि। – वही, ७.१.८९
३ व्यत्ययो बहुलम्। – वही, ३.१.८५
४ परसप्तम्यां तु वृद्धाच्छ एव स्यात्। – हर.पद.का.वृ.३, पृ.४१९
५ अ.सू., ४.१.१६३
६ The elision of the Yuvan affix must take place mentally. Vasu,S.C. Aśṭā.I,p.657.
७ प्राग्दीव्यतीयोऽण्। – अ.सू., ४.१.८३
८ अत इञ्। – अ.सू., ४.१.९५
९ फाण्टाभिहृतिभि मताभ्यां णफिञौ। – वही, ४.१.१५०
१० अत इञ्। – वही, ४.१.९५
११ वृद्धाट्ठक सौवीरेषु बहुलम्। – अ.सू., ४.१.१४८

यथा तैकायनीयाः इस उदाहरण में 'तिकस्यापत्यम्' अर्थ में फिञ्[1] प्रत्यय निष्पन्न है। युवन् अर्थ में छ[2] प्रत्यय का विधान होकर तस्य छात्राः अर्थ में छ लोप होने पर वृद्ध लक्षण छ[3] प्रत्यय विहितहै। इसी प्रकार अण् तथा ण्य्[4] प्रत्यय का विधान भी सूत्र का प्रयोजन है। यथा कपिञ्जलादस्यापत्यं कपिञ्जलादिः तस्यापत्यं युवा अर्थ में कुरु आदि से ण्य प्रत्यय होने पर कपिञ्जलाद्यः शब्द सिद्ध होता है। तस्य छात्राः अर्थ में ण्य् की निवृत्ति होने पर अण्[5] का विधान होता है। अन्यथा छ प्रत्यय विहित होता।

इसी प्रकार ग्लुचुकायनेः अपत्यं गोत्रम् इस अर्थ में फिन्[6] प्रत्यय होकर युवन् अर्थ में अण् प्रत्यय हुआ है।[7] उसका लोप होकर ही अण् प्रत्यय होता है अन्यथा छ प्रत्यय की प्राप्ति होती है। प्राग्दीव्यतीयाधिकार[8] में युवन् का वृद्धवदतिदेश करना चाहिये क्योंकि गोत्राश्रित वुञ्[9] प्रत्यय का विधान गोत्र अर्थ होने पर ही होता है। यदि वृद्धवदतिदेश होता है तो इञ् प्रत्ययान्त से गोत्र अर्थ में अण् प्रत्यय प्राप्त होता है। वृद्धवत् से अभिप्राय गोत्रवद् से है अन्यथा युवसंज्ञा से गोत्रसंज्ञा का बाध होने के कारण गोत्रावयव कार्य प्राप्त नहीं होते। यथा गार्ग्यायणानाम् इस उदाहरण में यञ्[10] प्रत्यय के पश्चात् फकन्त[11] शब्द से समूह[12] अर्थ में इदमर्थ[13] भक्ति[14] अर्थ में वुञ् प्रत्यय विहित होता है। अतः अतिदेश होने पर 'प्रस्तुत सूत्र

---

१ इञश्च। – वही, ४.२.११२
२ तिकादिभ्यः फिञ्। – वही, ४.१.१५४
३ फेश्च छः। – अ. सू. ४.१.१४९.
४ कुर्वादिभ्योण्यः – वही, ४.१.१५१
५ इञश्च। – वही, ४.२.११२
६ प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम्। – वही, ४.१.१६०
७ इञश्च। – वही, ४.२.११२
८ प्राग्दीव्यतो येऽर्थास्तेषु विवक्षितेष्वित्यर्थः। – कैयट प्रदीप. व्या. म. २, पृ. ३६६
९ गोत्राचरणाद् वुञ्। – अ. सू., ४.३.१२६
१० गर्गादिभ्योयञ्। – अ. सू., ४.१.१०५
११ यञिञोश्च। – वही, ४.१.१०१
१२ गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्य पुत्रवत्सभनुष्याजाद् वुञ्। – वही, ४.२.३९
१३ गोत्रचरणाद् वुञ्। – अ. सू., ४.३.१२६
१४ गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यो बहुलंवुञ्। – अ. सू., ४.३.९९

का प्रत्याख्यान होकर इञ् का लोप न होने के कारण वृद्ध-वदतिदेश से अण्[१] प्रत्यय की प्राप्ति होती है परन्तु प्रस्तुत दोष का परिहार किया गया है जिस प्रकार गोत्र में युवप्रत्यय नहीं होता उसी प्रकार प्राग्दीव्यतीयाधिकार में युवन् प्रत्यय नहीं होता।

अतः अण् प्रत्यय की उत्पत्ति भी नहीं होती। अतिदेश तथा अतिदेशाभाव दोनों अनभीष्ट है।[२] यदि प्रस्तुत सूत्र का प्रत्याख्यान किया जाता है तो 'फक्फि · ञोरन्यतरस्याम्'[३] सूत्र का विधेय कार्य का निर्देश न होने के कारण प्रत्याख्यान हो जायेगा। अतः गार्गीयाः तथा गार्ग्यायणीयाः ये दोनों रूप सिद्ध नहीं होते। वृद्ध देश होने पर फक् की अनुत्पत्ति होती है।[४] फक् प्रत्यय होने पर गोत्रलक्षण वुञ् प्रत्यय प्राप्त नहीं होता।[६] युवन् का गोत्रत्व में अतिदेश होने के कारण युव प्रत्यय का अभाव होने से लोप नहीं होता।[७]

गोत्र संज्ञा का अभाव होने से पूर्व गोत्र की अनुवृत्ति होने से शास्त्रीय गोत्राभिधायक राजन्य तथा मनुष्य शब्दों से गोत्र ग्रहण से ही वुञ् सिद्ध हो जाता है। अतः 'राजश्वशुराद्यत्'[८] तथा 'मनोर्जातावञ्यतौ'[९] को ग्रहण करने का प्रयोजन ज्ञापक है कि सूत्र में राजन्य तथा मनुष्य लौकिक गोत्र परक है यद्यपि लोक में राजन्य मनुष्य शब्द अपत्यार्थकत्व में प्रसिद्ध नहीं है किन्तु जाति विशेष वाचक अर्थ में ही प्रसिद्ध है।[१०] लौकिक गोत्र अपत्यमात्र परक है।[११]

---

१ सत्यतिदेरो 'यूनि लुक्' इत्यस्य प्रत्याख्यानादिञो लुगभावाद्वृद्धवदति-देशात् इञश्च इत्यण् प्रसङ्गः। – कैयट, प्रदीप. व्या. म. २, पृ. ३६६

२ उभयथाऽतिदेशस्यानिष्टत्वादाह। – नागेश. उद्योत. व्या. म. २, पृ. ३६७

३ अ. सू., ४.१.४१

४ यदेवातिदेशस्तदैव फकोऽनुत्पत्तिरिति भावः। – नागेश, उद्योत, व्या. म. २, पृ. ३६७

५ गोत्रचरणाद्वुञ्। – अ. सू., ४.३.१२६

६ यस्मिंस्तु पक्षे वृद्धवदतिदेशाभावात् फक श्रवणं तत्र गोत्रलक्षणो वुञ् न प्राप्नोति। – वही,

७ यूनो गोत्रत्वातिदेशाद् युवप्रत्ययस्याभावाल्लुङ्न विधेयः इत्यर्थः। – कैयट. प्रदीप. व्या. म. २, पृ. ३६७

८ अ. सू., ३.१.१३७

९ वही. ४.१.१६१

१० राजन्य मनुष्य शब्दौ च लौकिके प्रयोगे जातिविशेषवाचित्वाल्लौकिकगोत्रोमिधायिनौ न भवतः। – कैयट प्रदीप. व्या.म. २, पृ. ३६७

११ लौकिकं च गोत्रमपत्यमात्रम्। – वही

गोत्राधिकार में उक्त होने के कारण पौत्र प्रभृत्यपत्य अर्थ में प्रत्यय विधान होने के कारण शास्त्रवासना से अपत्यार्थ के अभिधायक हैं।[१] शास्त्रकल्पित अर्थ ही शास्त्र-प्रक्रिया में निमित्त है अतः मनुष् शब्द से कुत्सित अर्थ में मानुषः जात्यः यह प्रयोग सिद्ध होता है। राजन्य शब्द से फिञ्[२] प्रत्यय का निषेध होता है क्योंकि राजन्य व मनुष्य शब्दों का गोत्राधिकार में पाठ होने के कारण उनमें भी शास्त्रीय गोत्रत्व सिद्ध होता है। शास्त्रीय गोत्र का ग्रहण होने के कारण सूत्र की सार्थकता स्पष्ट होती है। लोक में अपत्यार्थ के द्वारा बोधजनक अपत्याधिकार विहित प्रत्ययान्त[३] का ग्रहण होता है। अतः राजन्य, मनुष्य शब्दों से शैषिक वुञ् प्रत्यय का विधान नहीं होता क्योंकि इनमें लौकिक गोत्रत्व का अभाव है। इस प्रकार राजन्य मनुष्य यह ज्ञापक है कि अपत्याधिकार से पर होने पर भी लौकिक गोत्र का ग्रहण किया गया है। शास्त्रीय गोत्र का ग्रहण किया गया है। शास्त्रीय गोत्र का ग्रहण अभीष्ट नहीं है।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से सूत्र के प्रयोजन स्पष्ट करते हुये प्रसंगवश आगत सिद्धान्त की स्थापना की है। भाष्यकार को लौकिक गोत्र का ग्रहण ही अभीष्ट है शास्त्रीय का नहीं। यह कहा जा सकता है कि श्लोकवार्त्तिक सूत्रों के प्रयोजन स्पष्ट करने में पूर्ण रूप से सहायक हैं।

(३) तस्यापत्यम्[४]

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने तस्य षष्ठी समर्थ से अपत्यार्थ में यथा विहित प्रत्यय का अभिधान किया है।[५] सूत्र में अण् प्रत्यय की अनुवृत्ति[६] दीव्यतीय

---

१ नागेश उद्योत व्या. म. २, पृ. ३६७

२ उदीचां वृद्धादगोत्रात्। – अ. सू., ४.१.१५७

३ लोकेऽपत्यत्वेन बोधजनकमपत्याधिकारविहितप्रत्ययान्तामत्यर्थः। – नागेश, उद्योत, व्या. म. २, पृ. ३६८

४ अ. सू., ४.१.९२

५ The affix Anu mentioned in 4.1.83 and those which follow it denote the descendant of some one. Vasu, S.C. Aṣṭā.I, p.658.

६ प्राग्दीव्यतोऽण्। अ. सू., ४.१.८३

अधिकार से है अतः यथाविहित से अभिप्राय अण् प्रत्यय से है ।[१] यह सूत्र प्रत्ययों के अर्थ का निर्देश करता है तथा पूर्व प्रत्ययों अण्, ण्य, अञादि से सम्बद्ध है । यदि पूर्व प्रत्ययों से सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जाता तो 'तस्यापत्यमत इञ्' एक ही सूत्र पठित होता । दोनों सूत्रों का असंयुक्त कथन है अतः पूर्व प्रत्ययों से सम्बन्ध स्वीकार्य है ।[२] स्वरितत्व होने के कारण तथा साकांक्ष होने के कारण उत्तर सूत्रों से भी इसका सम्बन्ध है ।[३] सूत्र में तस्य पुंस्त्व और नपुंसकत्व एकवचनान्तनिर्देश है अतः अन्य लिंग व वचन नहीं होता । यथा उपगोरपत्यम् औपगव इत्यादि अपत्यम् यह नपुंसकान्त एकवचनान्त निर्देश है । अतः स्त्रीत्व पुंस्त्व तथा द्विवचन या बहुवचन से निर्देश नहीं हो सकता इस शंका का निराकरण करने के लिये प्रकृत्यर्थ विशिष्ट षष्ठ्यार्थ अपत्यमात्र का ग्रहण किया गया है ।[४] भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र का प्रयोजन निम्न श्लोकवार्त्तिक से स्पष्ट किया है—

तस्येदमित्यपत्येऽपि बाधनार्थं कृतं भवेत् ।
उत्सर्गः शेष एवासौ, वृद्धान्यस्य प्रयोजनम् ॥

प्रस्तुत सूत्र तस्याधिकार के अन्तर्गत आता है । अतः तस्य के कथन से 'तस्येदम्'[५] सूत्र अपत्यार्थ में भी अण् प्रत्यय का विधान करता है । 'इदम्' से अपत्य, समूह, निवास, विकार आदि का अन्तर्भाव हो जाता है ।[६] यदि अपत्यार्थक अण् पूर्वसिद्ध है तो पुनः तस्य का ग्रहण होने से प्रकृत सूत्र निष्प्रयोजन प्रतीत होता है[७] परन्तु अपत्यार्थ में पूर्वविहित अण् प्रत्यय का छ[८] प्रत्यय बाधक है । अतः छ का बाध करने के लिये पुनः तस्य शब्द का ग्रहण किया गया है । यह प्रयोजन असंगत

---

१ प्राग्दीव्यतोऽण् इत्यादिभिर्यो यतः विहितः स तस्मादित्यर्थः । – हर.पद.का.वृ.३,पृ.४२२
२ It refers to the affixes that have preceded beginning from An, nya and Any. –Vasu, S.C. Aśṭā,I,p.658.
३ जिने.न्यास,का.वृ.३,पृ.४२१
४ प्रकृत्यर्थ उपग्वादिशब्दानामर्थः तेन विशिष्टः षष्ठ्यर्थोऽपत्याऽपत्यवत्सम्बन्धः । – जिने.न्यास.का.वृ.३,पृ.४२२
५ अ.सू.,४.३.१२०
६ हर.पद.का.वृ.३,पृ.४२३
७ An may be applied in the sense of apatgam also what is the necessity of this present Sūtra ? Vasu, S.C. Aśṭā of Pāṇini,I, p.659.
८ वृद्धाच्छ । – अ.सू.,४.२.११४

प्रतीत होता है क्योंकि विधीयमान अण् प्रत्यय का बाधक जो छ प्रत्यय है वह शैषिक[1] है अपत्यादि चतुर्थ अध्याय पर्यन्त से भिन्न जो अर्थ शेष है[2] अपत्यार्थ में विहित अण् प्रत्यय शैषिक नहीं है। एक ही अर्थ में विद्यमान होने पर बाध्य भाव होता है परन्तु शेषार्थ छ तथा अपत्यार्थ अण् भिन्नार्थक हैं।[3] अतः बाध्यबाधक भाव असंगतप्रतीत होता है। इस शंका का समाधान श्लोकवार्त्तिक के द्वारा किया गया है। उत्सर्ग अण् ही शेष है। यदि तस्यापत्यमत इञ् में योगविभाग नहीं किया जायेगा तो प्रकृतिविशेष अपत्यार्थ का ही ग्रहण होगा इससे अन्य अपत्यार्थ शेष ही है अपत्यार्थ में छ प्रत्यय भी हो सकता है।[4] उत्सर्ग से उत्पन्न अण् के द्वारा वही अर्थ उत्सर्ग साहचर्य से गृहीत होता है।[5] योगविभाग करने पर अपत्यार्थ के अणादिविधि में उपयुक्त होने के कारण शैषिक न होने के कारण छ की प्राप्ति नहीं होती।[6] क्योंकि 'तस्येदम्' सूत्र शैषिक अण् का विधान नहीं करता। छ प्रत्यय की अप्राप्ति ही बाधन है।[7] इदम् 'सामान्यभूत अर्थ उत्सर्ग है उसी में अपत्यार्थ का अन्तर्भाव हो जाने के कारण तस्यापत्यम् सूत्र न होने पर अपत्यार्थ उत्सर्ग ही शेष होता है।[8] अतः अण् प्रत्यय व छ प्रत्यय में बाध्यबाधक भाव का प्रयोजन वृद्ध प्रातिपदिक से छ का बाध[9] करना है यथा – मनोरपत्यम् मानवः इस उदाहरण में अण् सिद्ध है।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने सूत्रों का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं। यदि सूत्र की सार्थकता सिद्ध नहीं की जाती तो पाणिनीय सूत्रों में भी दोष की प्रसक्ति होती तथा

---

१ शेषे। – अ.सू.,४.२.९२ सूत्र के अधिकार में होने के कारण यह शेषार्थ हैं।
२ अपत्यादिचतुर्थपर्यन्तेभ्योयोऽन्योर्थः सः शेषः। -हर.पद.का.व.३,पृ.४२३
३ अयं चापत्याण्छविषये नास्त्येव। – जिने.न्यास.का.वृ.३,पृ.४२३
४ कैयट.प्रदीप.व्या.म.२,पृ.३६७
५ उत्सर्गउत्पन्नेनाप्यणा स एवार्थ उत्सर्गसाहचर्यादुच्यते। – जिने. न्यास. का. वृ. ३, पृ. ४२४
६ वही,पृ.४२४
७ ततश्चाशेषत्वादपत्ये छप्रत्ययस्य प्राप्तिनास्त्येव सैवाप्राप्तिर्बाधनशब्देनोक्त। – वही
८ तदन्तर्भावादसत्यस्मिन् पृथग्योगेऽपत्यार्थं उत्सर्गः शेष एव भवगति – कैयट प्रदीप., व्या.म,२,पृ.३६९
९ Thus these affixes An debar the cha. in the Vriddham under certain certain circumstances. Vaasu, S.C. Aśṭā of Pāṇini - I P.659.

उन्हें निष्प्रयोजन मानकर असाधु मान लिया जाता । सूत्र का दृष्ट प्रयोजन न होने पर भी अदृष्ट प्रयोजन साधुत्व का प्रतिपादन तो होता ही है ।

(४) वामदेवाद् ड्यड्यौ[१]

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने तृतीया समर्थ वामदेव शब्द से 'दृष्टं साम' इस अर्थ में ड्यत् तथा ड्य प्रत्ययों का विधान किया है । सूत्र में तृतीया समर्थ[२] तथा दृष्ट साम[३] पदों की अनुवृत्ति हुई है । अणाधिकार[४] में आने के कारण तथा प्रत्यय का विधान करने के कारण यह अण् का अपवाद है ।[५] अतः वामदेवेन दृष्ट साम वामदेव्यं उदाहरण सिद्ध होता है । ड्यत् प्रत्यय को तित्[६] करने का प्रयोजन यकार को स्वरित करना है ।

भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र पर शंका की उद्भावना की है कि ड्यत तथा ड्य प्रत्ययों में डकार को इत् करने का क्या प्रयोजन है । इस शंका का समाधान निम्न श्लोकवार्त्तिक में किया गया है—

सिद्धे यस्येति लोपेन, किमर्थं ययतौ डितौ ।
ग्रहणं मा तदर्थे भूद्वामदेव्यस्य नञ्स्वरे ॥

ड्यत् तथा ड्य प्रत्ययों का प्रयोग होने पर वामदेव्यम् वामदेव्यम् रुप सिद्ध होते है प्रथम में तित् होने के कारण अन्त स्वरित है तथा द्वितीय में प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त सिद्ध है ।[७] प्रथमतः वामदेव्यम् उदाहरण में अकार लोप की प्राप्ति होती है अतः प्रत्यय को डित् करण अनर्थक प्रतीत होता है ।[८] परन्तु डित् प्रत्यय होने के

---

१ अ. सू., ४.२.९
२ तेन रक्तं रागात् । – वही, ४.२.१
३ दृष्ट साम । – वही, ४.२.७
४ प्राग्दीव्यतोऽण् (४.१.८३) से लेकर तेन दीव्यति खनति जयति जितम् (४.४.२) तक अणाधिकार है ।
५ This debars An. Vasu, S.C. Aśṭā-I,p.700.
६ तित्करणं स्वरार्थम् । – का. वृ. ३, पृ. ५१५
७ The indicatory ta in dyat shows that ya has Svarita accent. – Vasu, S.C. - Ashta-I, p.700.
८ एकस्तित्स्वरेणान्तः स्वरितः द्वितीयः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । – जिने. न्यास. का. वृ. ३, पृ. ५१५

कारण अन्त्याच् को लोप हो जाता हैं अतः डित् करण का प्रयोजन टि का लोप करना हैं ।[१] द्वितीयतः अवामदेव्यम् इस उदाहरण में नञ् गुणप्रतिषेध में नञ् की अनुवृत्ति[२] होने पर य और यत् प्रत्यय अतदर्थ में विहित उत्तरपद को अन्तोदात्त[३] का विधान होता है अतः प्रत्ययों को डित् करने का कोई प्रयोजन नहीं है परन्तु डित्करण का प्रयोजन यह है कि अवामदेव्यम् उदाहरण में अन्तोदात्तत्व नहीं होता अपितु आद्युदात्तत्व[४] होता है[५] जबकि नञ् स्वर का विधान करने पर अन्तोदात्तत्व की प्राप्ति होती है ।श्लोकवार्त्तिक[६] प्रस्तुत उदाहरण की सिद्धि में आचार्य पाणिनि की ये परिभाषायें ज्ञापक हैं ।[७] अर्थात् निरनुबन्ध का ग्रहण होने पर सानुबन्ध का ग्रहण नहीं होता अतः य प्रत्यय का ग्रहण होने पर ड्य ड्यत् प्रत्यायों का ग्रहण नहीं होता । एकानुबन्ध का ग्रहण होने पर द्वयनुबन्ध का ग्रहण नहीं होता इस परिभाषा के अधार पर सूत्र मे ङ्यत् ग्रहण का अभाव हो जाता है । इन परिभाषाओं का अस्तित्व ही ङित्करण में कारण है ।[८] इस प्रकार श्लोकवत्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने सूत्रोक्त पदों के प्रयोजन निर्देश करने के लिए श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं ।अस्तित्व तथा उनका समाधान श्लोकवार्त्तिकों की सहायता से की गई है ।

(५) खण्डिकादिभ्यश्च[९]

---

१ टेः । – अ. सू., ६.४.१४३
२ सम्पाद्यर्हतितालमर्यास्तद्धिताः । – वही
३ ययतोश्चातदर्थे । – वही, ६.२.१५६
४ तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययाद्वितीयाकृत्याः । – अ. सू., ६.२.२
५ Therefore Avamdevyam is not finally acute but has acute on the first syllable, –Vasu, S.C. - Aśṭā-I, p.700.
६ नञाश्रयेऽन्तोदात्तत्वे विधीयमाने इत्यर्थः । – कैयट, प्रदीप, व्या. म. २, पृ. ४१०
७ The author here indicates by jnapaka the existence of these two maxims of interpretations. –Vasu, S.C.Aśṭā-I, p.700
८ अनयोश्च परिभाषयोरस्तित्वं एतदेव डित्करणं लिङ्गम् । जि.न्यास.का.वृ.३, पृ.५१५.
९ अ. सू., ४.२.४५

प्रस्तुत सूत्र विधि सूत्र है जिसके द्वारा आचार्य पाणिनि ने खण्डिकादि गण में पठित शब्दों से 'तस्य समूहः इस विषय में अञ् प्रत्यय का विधान किया है ।[१] प्रस्तुत सूत्र में पूर्व-सूत्र[२] से अनुदात्तादि अञ् शब्दो की अनुवृत्ति होती है । अतः आद्यनुदात्त पदों तथा प्राणरहित वस्तुओं के अभिधान से ही अञ् प्रत्यय का विधान यह सूत्र करता है ।[३] यथा खण्डिकम् इस उदाहरण में 'खण्डिकानां समूहः इस अर्थ में खण्डिका शब्द से अञ् प्रत्यय हुआ है ।'

भाष्यकार ने खण्डिकादिगण में पठित क्षुद्रकमालव शब्द के विषय में शंका की उद्भावना की है तथा निम्न श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से तत्ग्रहण सम्बद्ध प्रयोजन का निर्देश किया है—

अञ् सिद्धिरनुदात्तादेः, कोऽर्थः क्षुद्रकमालवात् ।
गोत्राद् वुञ् न च तद्गोत्रं, तदन्तान्न च सर्वतः ॥
ज्ञापकं स्यात्तदन्तत्वे तथा चापिशलेर्विधिः ।
सेनायां नियमार्थं च यथा बाध्येत चाञ् वुञा ॥

क्षुद्रकमालव पद में द्वन्द्व समास[४] है जो क्षत्रियों[५] की जातियों की ओर संकेत करता है । क्षुद्रक पद से क्षत्रियवाची होने के कारण अपत्यार्थ में अञ्[६] प्रत्यय का लोप[७] किया गया है । मालव शब्द से वृद्ध लक्षण ञ्यङ्[८] प्रत्यय का विधान किया है । क्षुद्रक मालव इस समस्त पद में अन्तोदात्तत्व[९] होता है तथा अञ् अनुदात्तत्व

---

१ The affix अञ् comes in the sense of colleection there of after the words khandika–Vasu, S.C. Aṣṭā-I,p. 711.

२ अनुदातादेरञ् । – अ. सू., ४.२.४४

३ The Sutra applies towards having anudatta on the first syllable and being names of non-living things. Vasu,S.C. - Aṣṭā-I, p.711.

४ चार्थे द्वन्द्वः । – अ. सू., २.२.२९

५ The words Kshudrka and Malava denoting tribes of Kshatriyas. Vasu, S.C. - Aṣṭā-I,p.711.

६ जनपदशब्दात्क्षत्रियाद । – अ. सू., ४.१.१६८

७ तद्राजस्य । अ.स. २.४.६२

८ अ.सू.८.१.१७ तथा वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्

९ समासस्य ६.१.२२.

होने के कारण अञ् प्रत्यक्ष का विधान होता है।[१] प्रकृतगण में क्षुद्रकमालव शब्द के पाठ का क्या प्रयोजन है ? यह शंका उत्पन्न होती है।[२] गण-पाठ में क्षुद्रक, मालव पदों के ग्रहण का प्रयोजन गोत्र-लक्षण वुञ् प्रत्यय का निषेध करना नहीं है क्योंकि ये गोत्र पद नहीं है।[३] जिस प्रकार जनपद शब्द जनपद-समुदाय का बोध नहीं होता।[४] यथा काशिकोसलीयाः पद में वुञ्भाव है। अतः वुञ्[५] प्रत्यय का बाधा करना इसका प्रयोजन नहीं है। यद्यपि क्षुद्रकमालव पद लौकिक गोत्र नहीं है तथापि गोत्रत्व होने के कारण गोत्र है।[६] अर्थात् समुदायार्थ में क्षुद्रकमालव शब्द न होने पर भी गोत्रावयव अर्थ में प्रयुक्त है अतः तदन्त विधि से वुञ् प्रत्यय की प्राप्ति होती है[७] परन्तु तदन्त-विधि सर्वत्र नहीं होती अपितु परिगणित कार्यों में ही होती है।

भयाद्यादिगण[८] में जिनसे तदन्त विधि अभीष्ट है उनकी गणना की गई है परन्तु इसकी परिगणना नहीं की गई है अतः तदन्त विधि से वुञ् का निषेध हो जाता है। क्षुद्रकमालव शब्द का गणपाठ में ग्रहण दो तथ्यों की ओर संकेत करता है।

(१) वुञ् प्रत्यय विवादास्पद प्रयोगों में विप्रतिषेध[९] करता है। अतः औपगव और कापटव अनुदात्तादि पद हैं क्योंकि अष्टप्रत्ययान्त हैं तथा वुञ् भी होता है परन्तु वुञ् इनका विप्रतिषेध करता है तो औपगवकम्, कापटवकम् रूप सिद्ध होते हैं।

(२) सामूहिक प्रत्ययों में तदन्तविधि होती है।[१०] 'येन विधिस्तदन्तस्य' इस सूत्र पर उक्त 'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः तथा 'उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्' वार्त्तिकों के

---

१ अनुदात्तादेरञ्। वही ४.१.४४.

२ Where is the necessity of its being included in this list? Vasu, S.C. - Aśṭā-I,page. 711.

३ न च तत्क्षुद्रकमालवेतिशब्दरूपगोत्रमित्यर्थः। – हर.पद.का.वृ. ३, पृ.५४१

४ Vasu, S.C. - Aśṭā-I, page.711.

५ गोत्राद् वुञ्। – अ.सू., ४.२.३९

६ यद्यपि क्षुद्रकमालवो न लौकिक गोत्रं तथापि तत्वारोपो बोध्यः। – कैयट. प्रदीप. व्या. म. २, पृ. ४१७

७ जिने. न्यास का. वृ. ३, पृ. ५४

८ येषु तत्र च तदन्तविधि रिष्यते ते तत्रैव भयाद्यादिग्रहणम्, इत्यादिना परिगणिताः।– कैयट. प्रदीप. व्या. म. २, पृ. ४१७

९ वुञ् affix supersedes a subsequent affix in case of conflict. –Vasu, S.C. - Aśṭā-I, p.712.

१० सामूहिकेषु च तदन्तविधिरस्ति। – जिने. न्यास. का. वृ. ३, पृ. ५४०

आधार पर प्रतिषेध के स्थान पर तदन्त-विधि का ग्रहण किया गया है।[१] यथा वानहस्तिकम्, गांधेनुकम् आदि उदाहरणों के द्वारा तदन्त-विधि ज्ञापन का प्रयोजन स्पष्ट होता है। अर्थात् क्षुद्रक मालव पद का ग्रहण ज्ञापक है कि सामूहिक प्रत्ययों में तदन्तविधि होती है।[२] ज्ञापक स्वीकार करने पर अपिशलि आचार्य की विधि भी उपपन्न प्रतीत होती है।[३] आचार्य के अनुसार धेनु शब्द से समूहार्थ में टक् की उत्पत्ति यदि शब्द नञ् से परे न हो तो यथा धेनूनां समूहो धैनुकम्। यदि सामूहिक अर्थ में तदन्तविधि का ग्रहण नहीं किया जायेगा तो सूत्र में प्रतिषेध निष्प्रयोजन हो जायेगा।[४] क्षुद्रकमालव ग्रहण का प्रयोजन 'क्षुद्रकमालवात्संज्ञायाम्'[५] सूत्र का प्रारम्भ नियमार्थ करना है अर्थात् सेना संज्ञा में ही क्षुद्रकमालव शब्द से अञ् प्रत्यय होता है यथा क्षाद्रकमालवी सेना अथवा अन्यत्र वुञ्[६] प्रत्यय होता है यथा क्षौद्रकमालवम्। पूर्वविप्रतिषेध से वुञ् प्रत्यय से अञ् का बाधन हो जाता है।[७] क्षुद्रकमालव तथा सेनासंज्ञायाम् का योग-विभाग करने पर पहले पद से वुञ् प्रत्यय प्रतिषेध करता है यथा सामूहिक प्रत्ययों में तदन्तविधि का ग्रहण होता है।[८]

द्वितीय पद सूत्र के प्रयोग में बाधक होते हैं क्योंकि केवल सेना के समूहार्थ में ही अञ् प्रत्यय का विधान करता है। क्षुद्रकमालवों से सम्बद्ध अन्य बातों के लिये क्षोद्रकमालवक शब्द व्यवहृत किया गया है। क्षोद्रकमालवी सेना भाष्यकार के समय में सर्वाधिक व्याख्यात सेना थी। सिकन्दर के लगभग १५० वर्ष बाद तक इस सेना का यश स्थिर बना रहा।[९]

---

१ Vasu, S.C. - Aśṭā-I, page. 712.

२ इदं हि क्षुद्रकमालवग्रहणं ज्ञापनार्थं भवेत्। एतज्ज्ञापयति, सामूहिकेषु तदन्तविधिरस्ति।- जिने. न्यास. का. वृ. ३, पृ. ५४२

३ Vasu, S.C. - Aśṭā-I, page.712.

४ तदन्तिविध्यमापे ह्यनजिति प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यादित्यर्थः। - कैयट. प्रदीप. व्या. म. २, पृ. ४१७

५ वही

६ यदा सेनारूपः समूहः तदाऽञ् प्रत्ययः अन्यदा तु वुञेवेत्यर्थः। - जिने. न्यास. का. वृ. ३, पृ. ५४२

७ पूर्वविप्रतिषेधेन वुञाऽञोबाधनं यथा स्याद्। - जिने. न्यास. का. वृ. ३, पृ. ५४२

८ The first portion denotes the existence of the above two rules. Vasu, S.C. - Aśṭā-I, p.712.

९ अग्नि. प्रभु. पत. भा., पृ. ४००

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के द्वारा गणपाठ में क्षुद्रकमालव पद के ग्रहण का प्रयोजन सिद्ध किया गया है। श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है। कि श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से सूत्रोक्त गणपाठ में पठित विशिष्ट पद के प्रयोजन की सिद्धि की गई है। आचार्य पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या में अन्य आचार्यों के सूत्रों को भी उद्धृत किया गया है। श्लोकवार्त्तिक में उक्त क्षुद्रकमालव पद क्षत्रियों को जातियों के लिये आया है। इसका अभिप्राय यह है कि श्लोकवार्त्तिककार के समय क्षत्रियों की सेना होती थी तथा उसमें भी भिन्न-भिन्न नामों के समूह बने हुये थे।

(६) तस्य विकारः[१]

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा षष्ठी समर्थ से विकार विषय में यथाविहित प्रत्यय का विधान होता है।[२] अण् प्रत्यय को अनुवृत्ति[३] इस सूत्र में हुई है। अतः यथाविहित से अण् प्रत्यय गृहीत होता है। सूत्र में विकार शब्द से अभिप्राय प्रकृति के कारण का अवस्थान्तर[४] है। यथा अश्मनः विकारः आश्मः अथवा आश्मनः इस उदाहरण में अश्मन् शब्द मनिन्[५] प्रत्यय से निष्पन्न है। यह आद्युदात्त पद है तथा इसमें नित् स्वर विहित है। यह प्राण्यर्थक नहीं है अन्यथा अञ्[६] प्रत्यय विहित होता अण् नहीं।[७]

भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र पर निम्न श्लोकवार्त्तिकार्ध का ग्रहण किया है इसके द्वारा प्रकृत सूत्र का प्रयोजन सिद्ध किया गया है—

'बाधनार्थं कृतं भवेत्, उत्सर्गः शेष एवासौ'

---

१ अ.सू.,४.३.१३३
२ Vasu, S.C. - Ashta, Vol-I, p.796.
३ प्राग्दीव्यतोऽण्। – अ.सू.,४.१.८३
४ प्रकृतेः कारणस्यावस्थान्तरम् अन्यथात्वम्। – जिने. न्यास. का. वृ. ३, पृ. ७०९
५ उणादि,४.१४५,१४६
६ प्राणिरजतादिभ्योऽञ्। – अ.सू.,४.३.१५४
७ That is the word must not denote a living animal for to it applies. –Vasu, S.C. - Aśṭā. Vol-I, p.796.

सूत्र में तस्य पद उक्त है जिसकी अनुवृत्ति पूर्व[१] सूत्र से सम्भव है परन्तु शेषाधिकार[२] की निवृत्ति के लिये पुनः 'तस्य' पद का सूत्र में ग्रहण किया है।[३] अर्थात् विकारावयव शेषाधिकार में विहित घ खादि प्रत्ययों की निवृत्ति प्रस्तुत सूत्र करता है।[४] तस्य पद का ग्रहण यदि अधिकार में माना जाता है तो अधिकार में प्राप्त प्रत्ययों की निवृत्ति तस्य ग्रहण से होगी। 'तस्येदम्'[५] सूत्र से प्राप्त प्रत्ययों की तस्य ग्रहण से निवृत्ति मानने पर असंगति[६] होती है। तस्य का ग्रहण अपत्य, समूह, निवास, विकास आदि अर्थों में किया गया है विकार अर्थ का ग्रहण होने के कारण 'तस्येदम्'[७] सूत्र से ही विकारार्थ में प्रत्यय-विधान हो जायेगा। अतः 'तस्य विकारः'[८] सूत्र निष्प्रयोजन प्रतीत होता है तस्य ग्रहण सामर्थ्य से प्रधानभूत होने पर भी घादि की निवृत्ति होती है।[९] 'प्राग्दीव्यतोऽण्'[१०] तथा 'प्राग्भवनात्'[११] सूत्रों के अधिकार में विहित अणादि प्रत्ययों की निवृत्ति नहीं होती। श्लोकवार्त्तिककार ने प्रस्तुत सूत्र का प्रयोजन विकारावयवों में अणादि प्रत्यय के सिद्ध होने पर उनका पुनर्विधान शैषिकों के बाधनार्थ स्वीकार किया है।[१२]

'तस्येदम्'[१३] सूत्र में गृहीत अणादि तथा घादि प्रत्यय अणादि प्रत्ययों के अपवाद हैं विकार तथा अवयव में विहित अणादि प्रत्यय ही हों उनके अपवाद

---

१ तस्येदम्। – अ.सू.,४.३.१२०
२ शेषे। – अ.सू.,४.२.९२
३ In order to show that the governing force of (4.2.92) does not extended further, –Vasu, S.C. Aṣṭā-I, p.796.
४ विकारावयवोर्घादयो मा भूवन्नित्येवमर्थं तस्य ग्रहणमित्यर्थः। – कैयट. प्रदीप. व्या. म. २, पृ. ४६६
५ अ.सू.,४.३.१२०
६ असौ नोपपद्यते उत्तरार्थत्वादस्य योगस्य तत्रैव चरितार्थत्वात्। – वही
७ अ.सू.,४.३.१३३
८ वही,४.३.१२०
९ कैयट. प्रदीप. व्या. म. २, पृ. ४६६
१० अ.सू.,४.१.८३
११ वही
१२ हर. पद. का. वृ. ३, पृ. ७१०
१३ अ.सू.,४.३.१२०

घादि प्रत्ययों की निवृत्ति करने के लिये प्रस्तुत सूत्र की आवश्यकता है।[१] विकार विशिष्टार्थ में प्रतिपादित अण् प्रत्यय अशेषिक अर्थात् शेषाधिकार में विहित नहीं है। तत्र जातः इत्यादि सूत्रों से 'शेषे' सूत्र का सम्बन्ध है अतः जहां सम्बन्ध है वहां शैषिकत्व[२] है।[३] अर्थात् शेषाधिकार[४] में विहित नहीं है। अतः विकार से पृथगर्थ में विधीयमान शैषिक घादि प्रत्ययों की निवृत्ति में सन्देह उत्पन्न होता है।[५] प्रकृत सूत्र का आरम्भ न होने पर विकारार्थ का भी 'तस्येदम्'[६] सूत्र में अन्तर्भाव होने के कारण शेष होता है। अतः घादि प्रत्ययों की प्राप्ति होती है। उत्सर्ग के शेष होने पर शेषार्थ प्रत्ययों की निवृत्ति उपयुक्त प्रतीत होती है। विकार का प्रकृति विशिष्ट से सम्बन्ध न होना ही उत्सर्गत्व है।[७] सूत्र का योगविभाग न करने पर अणादि विधान सप्रयोजन प्रतीत होता है यदि 'तस्य विकार'[८] तथा 'बिल्वादिभ्योऽण्'[९] अपवाद विधान के लिये उक्त है तो हल् का विकार इस अर्थ में 'तस्येदम्'[१०] सूत्र से प्रत्यय का विधान होगा तथा अण् का बाध होकर ठक्[११] की प्राप्ति होती है।

प्रकृति विशेष से सम्बद्ध होने के कारण विकार उपयुक्त होने के कारण अशेषत्व है।[१२] सूत्र का योगविभाग करने पर विकार का अण् विधि में उपयोग

---

१ तदपवादाः घांदयो मा भूवन्नित्येवमर्थमिदमुच्यते। – कैयट. प्रदीप. व्या. म. २, पृ. ४६६
२ नागेश उद्योत व्या. म. २, पृ. ४६६
३ तस्य विकारः इत्यस्य पृथङ्निर्देशादनेन विधीयमानोऽण्प्रत्ययो शैषिकः। – नागेश उद्योत व्या. म. २, पृ. ४६६
४ शेषे। – अ. सू., ४.२.९२
५ पृथग्योगकरणात् तस्यग्रहणाच्चास्याशैषिकत्वमित्यर्थः। – नागेश उद्योत. व्या. म. २, पृ. ४६६
६ अ. सू. ४.३.१३३
७ कैयट प्रदीप, वही
८ अ. सू., ४.३.१३३
९ अ.सू. ४.३.१३६.
१० अ. सू., ४.३.१२०
११ हलसीराट्ठक्। – वही, ४.३.१२४
१२ तत्र प्रकृतिविशेषसंबद्ध एव विकार उपयुक्तत्वादशेषः स्यात्। – कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ४६६

होने के कारण शेषत्व न होने के कारण घादि प्रत्ययों की प्राप्ति नहीं होती । सूत्र में तस्य ग्रहण से घादि की निवृत्ति होती है ।[१]

इस प्रकार प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने सूत्रोक्त पदों का प्रयोजन तथा पूर्ण सूत्र का प्रयोजन स्पष्ट करने के लिये श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं । श्लोकवार्त्तिक किसी एक सूत्र पर अंश रूप में गृहीत है तो अन्य सूत्र पर पूर्ण श्लोकवार्त्तिक का ग्रहण किया गया है इसका अभिप्राय यह है कि व्याख्यान में भाष्यकार श्लोकवार्त्तिक का जितना अंश उपयुक्त समझते है उतना ही उद्धृत करते हैं ।

पंचम अध्याय – 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्'[२]

प्रस्तुत सूत्र प्रथमा समर्थ परिमाणोपाधिक[३] यत् तत् व एतत् शब्दों से 'अस्य' इस षष्ठ्यर्थ में वतुप् प्रत्यय का विधान करता है ।[४] सूत्र में 'तदस्य' की अनुवृत्ति तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्यः इतच्'[५] सूत्र से हुई है । सूत्रकार ने 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ् मात्रचः'[६] सूत्र में प्रमाण पद का ग्रहण किया है जबकि प्रस्तुत सूत्र में वतुप् का विधान परिमाण में किया गया है । विस्तार का मापदण्ड आयाम परिच्छेदक होने के कारण प्रमाण माना जाता है यथा दारु वस्त्रादि के हस्तादि दैर्ध्य का निर्देश करने वाला प्रमाण है[७] तथा परिमाणआरोह और परिणाह से युक्त है । आरोह का अभिप्राय उच्छ्रत्य है तथा परिणाह का अर्थ विस्तार है । आरोह तथा परिणाहके अपने में स्थित काष्ठादिमय जिसके द्वारा ब्रीह्यादि को माना जाता है वह परिमाण कहा जाता है । प्रमाण तथा परिमाण दोनों को भाष्यकार ने एक मानकर शंका की उद्‌भावना की है

---

१ योगविभागेन त्वणादीनां विधानादणेव भवति तस्य ग्रहणे तु घादीनां निवृत्तिः प्रयोजनम् । – हर. पद. का. वृ. ३, पृ. ७११

२ अ. सू., ५.२.३९

३ उर्ध्वमानं किलोंन्मानं परिमाणं तु सर्वतः । श्लोकवार्त्तिक अ. सू., ५.१.१९

४ Vasu, S.C. - Ashta-II, p.910.

५ अ. सू., ५.२.३६

६ वही, ५.२.३७

७ आरोहपरिणाहाम्यां धान्यादि येन मीयते काष्ठादिमयेन तत् परिमाणम् । – कैयट. प्रदीप. व्या. म. २, पृ. ४९८

कि सूत्र में परिमाण कहने का प्रयोजन क्या है ।[१] पूर्वसूत्र[२] में प्रमाणशब्द परिच्छेदक मात्र वाची है । उसके साहचर्य से परिमाण शब्द भी परिच्छेदक मात्रवाची है ऐसा कुछ आचार्यो का मत है ।[३] इस आधार पर प्रमाण और परिमाण में भेद स्वीकार किया गया है । आचार्य पाणिनि ने 'आहर्दगोपुच्छसंख्या-परिमाणाद् ठक्'[४] सूत्र में परिमाण का ग्रहण किया है तथा प्रमाण व परिमाण को भिन्नार्थक माना है । श्लोकवार्त्तिककार[५] के अनुसार भी प्रमाण व परिमाण दोनों भिन्न पक्ष हैं । प्रमाण और परिमाण में भेद स्वीकार करते हुये भाष्यकार ने पूर्व सूत्र पर निम्न कारिका उद्धृत की है ।

डावतावर्थवैशेष्यान्निर्देशः पृथगुच्यते ।
मात्राद्यप्रतिघाताय, भावः सिद्धश्च डावतोः ॥

'यत्तदेतेभ्यः, परिमाणे वतुप्' सूत्र से वतुप् विधान होता है वतुप् के स्थान पर पूर्वाचार्यों[६] ने डावतु प्रत्यय का ग्रहण किया है । वतुप् करने पर यत्, तद्, एतद् सर्वनाम शब्दों से आत्व[७] किया जाता है जबकि डावतु ग्रहण करने पर आत्व विधान नहीं किया जाता । सूत्र[८] में परिमाण शब्द का प्रयोग करने के दो कारण हैं । प्रथम यह है कि प्रमाण और परिमाण के अर्थ में भिन्नता होने के कारण । यद्यपि परिमाण और प्रमाण शब्दों के अर्थ में भिन्नता है तथापि प्रमाण ग्रहण की अनुवृत्ति से प्रमाणोपाधिक[९] यदादि से वतुप् का विधान किया जा सकता है । परिमाण में होने

---

१ प्रमाणपरिमाणयोरेकत्वं मत्वा प्रश्नः । – कैयट प्रदीप, व्या.म.२, पृ.४९८

२ प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः । – अ.सू.,५.२.३७

३ परिमाणशब्दोऽपि नथेति तदनुवृत्यैव सिद्धमिति भावः इति केचित् । – नागेश. उद्योत. व्या.म.२, पृ.४९८

४ अ.सू.,५.१.१९

५ ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः । आयामस्तु प्रमाणं स्यात्, संख्या बाह्या तु सर्वतः ॥

६ The word davatu in the Karika is the name given to this affix vatup by the ancient grammarians. Vasu, S.C. - **Aṣṭā Vol.II, p.910.**

७ आ सर्वनाम्नः । – अ.सू.६.३.९१

८ यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् । – वही, ५.२.३९

९ प्रमाणशब्देन परिच्छेदकमात्रम् । नागेश, उद्योत व्या.म.४ गुरुकुल झज्जर संस्करण । पृ. ११९

वाले प्रयोग उपमान से भी हो सकते हैं।[१] अतः परिमाण ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट किया गया है कि प्रमाण व परिमाण का पृथक् निर्देश होने से मात्रजादि प्रत्ययों की प्राप्ति भी होती है।[२] इसका कारण यह है कि परिमाण ग्रहण से भिन्नोपाधिक विषय होने के कारण बाध्यबाधकभाव का अभाव[३] होता है।

प्रकृति सामान्य का एकत्व होने पर मात्रजादि विधीयमान प्रत्यय उत्सर्ग हैं और प्रकृति विशिष्ट होने के कारण वतुप् विधीयमान अपवाद है। बाध्यबाधकभाव होने पर यत्, तत् और एतद् शब्दों से मात्रच् आदि नहीं होते अतः तन्मात्रम् आदि प्रयोग सिद्ध नहीं होते। उत्सर्गापवाद भाव नहीं होता अतः सूत्र में परिमाण ग्रहण का प्रयोजनपूर्वकसूत्र[४] में गृहीत प्रमाण शब्द से भिन्न प्रदर्शित करना है।[५] अर्थभेद स्वीकार करने की स्थिति में वतुप्प्रत्ययान्त से मात्रजादि की उत्पत्ति सिद्ध होती है। परिमाणार्थ में वतुप् विधान किया गया है।[६] तदन्त से परिमाण में मात्रजादि प्रत्यय होते हैं।[७] तात्पर्य यह है कि परिमाण ग्रहण करने पर सर्वतोमान से बोध के लिये वतुप् प्रत्यय होता है तदन्त से कुड्यादि से बोध के लिये मात्रच् प्रत्यय का विधान है।[८] भाष्यकार ने मात्रजादि विधायक सूत्र में प्रमाण शब्द को आयामार्थक तथा प्रस्तुत सूत्र में परिमाण शब्द से सर्वतोमानार्थकता को स्वीकार किया है।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से पूर्वाचार्यों द्वारा उक्त प्रत्ययों का उल्लेख भी किया

---

१ यावनध्वा, यावती रज्जुरिति अत्र ह्यायाममानं गम्यते। – हर.पद.क्रा.पृ.४, पृ. १५६

२ Yat, tad, edad take the affixes matra also in the sense of Pramana. –Vasu, S.C. - Aśṭā-II, p.910.

३ अपवादेनोत्सर्गो बाध्यते।

४ अ. सू., ५.२.३७

५ The Pariman is used in this Sutra in order to distinguish it from the word Praman used in the last aphorism. –Vasu, S.C. - Aśṭā-II, p.910.

६ ibid.

७ यथा – यत् परिमाणमस्य यावान्। यावन् परिणामस्य - भावन्मात्रम्।

८ परिमाणाग्रहणे सर्वतोमानत्वेन बोधाय वतुः तदन्तात्कुड्यापि बोधाय मात्रजाद्यपीति। – नागेश, उद्योत.व्या.म.४, पृ. ११९

है। श्लोकवार्त्तिक को प्रयोजनात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है क्योंकि सूत्रोक्त पद का प्रयोजन इसमें व्याख्यात है।

षष्ठ अध्याय – आद् गुणः[१]

प्रस्तुत सूत्र विधि सूत्र है। यहां अचि[२] की अनुवृत्ति है सूत्र का अभिप्राय है अवर्ण से परे अच् परे रहते जो पूर्व अवणं है इन दोनों पूर्व और पर अवर्ण के स्थान पर गुण एकादेश हो जाता है।[३] सूत्रोक्त गुण पद के विषय में भाष्यकार ने प्रयोजन सम्बन्धी शंका की उद्भावना की तथा इसका समाधान निम्न श्लोकवार्त्तिकों से किया गया है।

आदेकश्चद् गुणः केन, स्थानेऽन्तरतमो हि सः।
ऐदौतौ नैचि तावुक्तौ ऋकारो नोभयान्तरः॥
आकारो नर्तिधातौ सः, प्लुतश्च विषये स्मृतः।
आन्तर्यात् त्रिचतुर्मात्रासु, तपरत्वान्न तेस्मृतः॥

यदि अचि पद की अनुवृत्ति की जाती है तथा पूर्व और पर के स्थान पर एक का ग्रहण करते हैं तो स्थान के आन्तरतम्य के कारण कण्ठ्य तालव्य अन्तरतम तथा कण्ठ्य तालव्य एकार होता है।[४] कण्ठ्योष्ठ्य के स्थान पर कण्ठ्योष्ठ्य ओकार की प्राप्ति होती है।[५] ऐकार कण्ठ तालव्य होने के कारण तथा ओकार के कण्ठोष्ठ्य होने के कारण ऐकार और औकार को भी गुण संज्ञा की प्राप्ति होने लगेगी। ऐकार, औकार की गुण संज्ञा नहीं होती क्योंकि ये वृद्धि संज्ञक है।[६] वृद्धि संज्ञक[७] सूत्र नियमार्थ सिद्ध होता है क्योंकि ऐच में ही ऐ और औ का ग्रहण है तथा एच् परे रहते ही वृद्धि होती है।[८] गुण ग्रहण के द्वितीय प्रयोजन के विषय में शंका की गई है कि

---

१ अ.सू., ६.१.८७
२ इको यणचि। – वही, ६.१.७७
३ The guna is the single substitute of the final a and ā of a preceeding word and the simple vowel of succeeding. –Vasu, S.C. Ashta, Vol.II, p.1080.
४ कण्ठतालव्ययोरन्यतरतमः कण्ठतालव्यः एकारः कण्ठोष्ठ् योस्तु कण्ठोष्ठ् य ओकारः। – कैयट. प्रदीप. व्या. म. २, पृ. ७४२
५ ऐकारस्यपि कण्ठतालव्ययौकारस्य कण्ठोष्ठ् यत्वाच्चेति। – वही
६ वृद्धिरादैच्। – अ.सू., १.१.१
७ वृद्धिरेचि। – अ.सू., ६.१.८८
८ उभयथा नियमश्च व्याख्यास्ते वृद्धिरेवैचीति। – हर. पद. का. वृ. ४, पृ. ५५४

खट्वश्र्यः मालश्र्य आदि उदाहरणों में प्रमाणतः आन्तरतम्य होने के कारण ऋकार की प्राप्ति होती है परन्तु ककार का उभयतः आन्तरतम्य नहीं है। क्योंकि अकार की उपस्थिति होने पर वह स्वर ही प्रयुक्त होता है।[१] अतः स्थानतः आन्तरतम्य होता है। सूत्र में गुण का ग्रहण न करने पर अकार की प्राप्ति होने लगेगी परन्तु ऋकारान्त उपसर्गादि धातु को ही वृद्धि होती है।[२] अन्यत्र नहीं होती। यदि गुण का प्रयोजन प्लुतकरण माना जाये तो भी असंगत प्रतीत होता है क्योंकि प्लुत अपने विषय से ही किया जाता है।

प्लुत का विषय दूराह्वानादि[३] है यदि खट्वेन्द्र आदि गुण विहित उदाहरणों में प्लुत किया जायेगा तो जिस विषय में प्लुत का प्रयोग होता है उसी अर्थ में प्रयोग होगा।[४] परिणामतः प्लुत करण भी सूत्र में गुण ग्रहण का प्रयोजन नहीं है प्लुत तो अपने विषय में ही होता है। अतः प्लुत का प्रसंग न होने पर आन्तरतम्य के कारण त्रिमात्र, चतुर्मात्र आदि आदेशों की गुण संज्ञा का ग्रहण कर लेने पर गुण-संज्ञा विधि तपर होने के कारण त्रिमात्र और चतुर्मात्र आदेशों की गुण-संज्ञा नहीं होती। यही कारण है कि सूत्र में गुण ग्रहण किया गया है। प्रकृत सूत्र में गुण ग्रहण के साथ ही ङि, शी इत्यादि का ग्रहण करना आवश्यक नहीं है यद्यपि वृक्ष इ इन्द्रः, य इ इन्द्रम्, इन उदाहरणों में सवर्णदीर्घत्व की प्राप्ति होती है तथा गुण की भी परन्तु गुण एकपदाश्रय होने के कारण अन्तरंग है तथा सवर्णदीर्घत्व बहिरङ्ग है। अन्तरंग के प्रति बहिरंग असिद्ध होता है अतः दीर्घत्व बाधनार्थ इनका उपसंख्यान करना संगत प्रतीत नहीं होता।[५]

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है। कि भाष्यकार ने सूत्रोक्त पदों को सिद्ध करने के लिये श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण किया है।

(२) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्[६]

---

१ उरण् रपरः। –अ.सू., १.१.५१
२ उपसर्गादृति धातौ। –वही, ६.१.९१
३ दूराद्धूते च। –वही, ८.२.८४
४ तत्र दूरादाह्वानादि विषयरूपे पक्षेऽनुवादत्वरूप वैयर्थ्यदोषप्रसङ्गः। –नागेश. उद्योत व्या.म. २, पृ. ७४३
५ गुणे कृते दीर्घाप्राप्त्या संभवरूपो विरोधः। –नागेश, उद्योत. व्या.म. २, पृ. ७४४
६ अ.सू., ६.२.१

प्रस्तुत सूत्र बहुव्रीहि समास में पूर्वपद का जो स्वर है उसका प्रकृतिभाव से विधान करता है।[१] पूर्वपद का अभिप्राय है पूर्व पदस्य उदात्त या स्वरित स्वर। प्रकृति का तात्पर्य है पूर्वपदविकार अर्थात् अनुदात्तत्व को प्राप्त नहीं करता।[२] 'समासस्य'[३] सूत्र समासान्त को उदात्त का विधान करता है अतः अन्य पूर्व स्वरों के स्थान पर अनुदात्त हो जाते हैं क्योंकि एक पद को छोड़कर अन्य अनुदात्त हो जाते हैं। अतः 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' सूत्र से बहुव्रीहि के पूर्व पद का स्वर भी अनुदात्त हो जाना चाहिये था।[४] यह सूत्र समसान्तोदा तत्व का अपवाद है।[५] पूर्वपद से समानाधिकरण होने के कारण प्रकृत्या इस पद से भी स्वर प्रकरण से स्वर प्रकृति भाव से रहता है, अतः उदात्तस्वरित योगी पूर्वपद प्रकृति-भाव से रहता है।[६] यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है। भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र का प्रयोजन निम्न श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा स्पष्ट किये हैं—

बहुव्रीहिस्वरं शास्ति, समासान्तविधेः सुकृत्।
नञ्सुभ्यां नियमार्थं तु, परस्य शिति शासनात्।
क्षेपे विधिर्नञोऽसिद्धः परस्य नियमो भवेत्।
अन्तश्च वा प्रिये सिद्धं संभवात्प्रकृताद्विधेः॥
बहुव्रीहावृते सिद्धमिष्टतश्चावधारणम्।
द्विपाद्दिष्टेर्वितस्तेश्च पर्यायो न प्रकल्पते॥

उदात्ते ज्ञापकं त्वेतत्स्वरितेन समाविशेत्।

---

१ बहुव्रीहौ समासे पूर्वपदस्य यः स्वरः सः प्रकत्या भवति स्वभावेनावतिष्ठते। –का. वृ. ६२.१ भाग ५, पृ. १

२ Prakritya means retains its own nature does not become modified into an anudatta accent. –Vasu, S.C., Aṣṭā-II, p.1035.

३ अ. सू., ६.१.२२३

४ अनुदात्तं पदमेकवर्जम्। – अ. सू., ६.१.१५८

५ ibid.

६ कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ८१५

प्रस्तुत सूत्र का प्रयोजन समासान्त उदात्तत्व[१] का निषेध करना है।[२] जिससे बहुव्रीहि समास में पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व हो जाये 'नञ्सुभ्याम्' सूत्र नियमार्थ होगा अर्थात् नञन्त, स्वन्त बहुव्रीहि से अन्तोदात्त होता है। विधि के सिद्ध होने पर आरभ्यमाण सूत्र नियम के लिये होता है इस न्याय[३] के आधार पर अन्यत्र पूर्व-पद प्रकृतिस्वरत्व ही होगा। अनुदात्त की प्राप्ति होने पर समासान्तोदातत्व विधान के कारण नियम से उसकी व्यावृत्ति होने पर पूर्व और उत्तर दोनों ही पदों से प्रकृतिस्वरत्व की प्राप्ति नहीं होती है।[४] उत्तरपद से नियम न होने के कारण तथा प्रकृति स्वर अवशिष्ट रहने के कारण पूर्वपद को ही प्रकृतिस्वरत्व होता है।[५] शित से परे बहुव्रीहि समास में बह्व्च् उत्तरपद प्रकृतिस्वरत्व से रहता है।[६] अतः यह नियमार्थ सिद्ध होगा। यदि शित् परक उत्तरपद को प्रकृतिस्वरत्वस्वीकार करते हैं तो 'नञ्सुभ्याम् सूत्र सङ्गत प्रतीत नहीं होता क्योंकि उदर, अश्व, इषु तथा क्षेप अर्थ में गम्यमान उदरादि पद उत्तरपद होने पर बहुव्रीहि समास में संज्ञा के विषय में पूर्वपद अन्तोदात्त सिद्ध होता है।[७] अतः अनुदरा आदि प्रयोगों में पूर्वपदान्त उदात्त का बाध करने के लिये ही अन्तोदात्तत्वर[८] होता है नियमार्थ नहीं क्योंकि विधि तथा नियम दोनों सम्भव होने पर विधि बलवान् होती है।[९] शितेनित्यात्बह्वच् बहुव्रीहा-वभसत्[१०] सूत्र से शित् परे रहते ललाटादि उत्तरपद के प्रकृति स्वरत्व का नियम से निवर्तन होता है। चित्रगु आदि पदों में पूर्वपद प्रकृति स्वरत्व ही रहता है[११] अतः सूत्र का प्रयोजन समासान्तोदात्तत्व का बाध करना है।

यदि पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व समासान्तोदात्तत्व का बाध करता है तो अनुदात्त का भी बाधक होगा। यथा चप्रियः आदि उदाहरणों में परन्तु चप्रियः वप्रियः इन

---

१ समासस्य। -अ.सू.,६.१.२२३
२ समासान्तस्योदात्तविधानात्तद्बाधनार्थमिदमित्यर्थः। -कैयट.प्रदीप.व्या.म.२,पृ.८१५
३ सिद्धे विधिराभ्यमाणे नियमाय भवति। -वही, पृ.८१५
४ न चैवं नानापदस्वरप्राप्तौ समासान्तोदात्तत्व विधानान्नियमेन तस्मिनव्यावर्त्तितेऽपि पूर्वोत्तरपदयोद्वयोरपि पर्यायेण प्रकृतिस्वरप्रसङ्ग। -हर.पद.का.वृ.५,पृ.४
५ कैयट,प्रदीप,व्या.म.२,पृ.८१५
६ शितेर्नित्याऽबह्वच् बहुव्रीहावभसत्। -अ.सू.,६.२.१६८
७ (क) उदराश्वेषु। -अ.सू.,६.२.१०७ (ख) क्षेपे। -वही,६.२.१०८
८ नञ्सुभ्याम्। -वही,६.२.१०२.
९ विधिनियम संभवे विधिर्बलवत्वात्। -कैयट प्रदीप,व्या.म.२,पृ.८१६
१० अ.सू.,६.२.१२८
११ हर.पद.का.पृ.४

प्रयोगों में समासान्त अन्तोंदात्तत्व न होकर अनुदात्त[1] स्वर को प्रकृतिभाव हुआ है ।[2] तक्र कौण्डिन्य न्याय से इन प्रयोगों में भी पूर्वपद प्रकृतिस्वरूप समासान्तोदात्तत्व का बाध करेगा । यथा समपादः इस उदाहरण में समशब्द सर्वानुदात्त[3] है पाद शब्द आद्युदात्त है पूर्वपद प्रकृतिस्वरूप के द्वारा समासान्तोदात्तत्व का बाध होने पर पाद शब्द आद्युदात्त ही होगा । यदि बहुव्रीहि समास में पूर्वपदस्थ जो उदात्त स्वर शास्त्रान्तरेण विहित है वह प्रकृतिभाव से रहता है तथा अनुदात्त विधायक परिभाषा अनुदात्तत्व विधान करती है । अतः उदात्तविधि का बाध होने से पूर्व ही अनुदात्तत्व का बाध हो जाता है ।समासान्त उदात्तत्व का बाध इस सूत्र का प्रयोजन है ।[4] सूत्र का प्रयोजन सिद्ध करने के पश्चात् श्लोक वार्त्तिककार ने सूत्र में प्रकृति स्वरत्व का विधान किया है ।

बहुव्रीहौ का ग्रहण न होने पर भी सूत्र पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व का बहुव्रीहि समास में ही विधान करेगा[5] तत्पुरुष, द्विगु द्वन्द्व तथा अव्ययीभाव समास से प्रकृति स्वरत्व का विधान किया गया है । तत्पुरूष समास में तुल्यार्थ तृतीयान्त सप्तम्यन्त उपमानवाची अव्यय द्वितीयान्त तथा कृत्यान्त पूर्वपद से प्रकृतिस्वरत्व होता है ।[6] अव्ययीभाव समास में परि, प्रति आदि पूर्वपदभूत पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व वर्ज्यमान वाची अहोरात्रावयववाची उत्तरपद परे रहते पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व रहता है ।[7] द्वन्द्व समास में राजन्यवाची बहुवचनान्त अन्धकवृष्णि में विद्यमान द्वन्द्व से पूर्व पद प्रकृतिस्वरत्व होता है । द्विगु समास में इगन्त, उत्तरपद रहते काल, कपाल, भगाल, शराव इत्यादि से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व होता है ।[8] प्रयुक्त का अन्वाख्यान करने से शास्त्रप्रवृत्ति अनिष्टार्थ नहीं होती ।[9] अतः बहुव्रीहि का ग्रहण करना चाहिये परन्तु बहुव्रीहि का ग्रहण न करने पर भी समासान्तोदात्तत्व तथा पूर्व पर प्रकृतिस्वरत्व का

---

१ चादयोऽनुदात्ताः । – अ. सू., १.४.५७

२ तयोः प्रकृतिस्वरे सति समासान्तोदात्तत्वं न प्राप्नोति । – कैयट, प्रदीप, व्या. म. २, पृ. ८१६

३ सुनोतेर्डप् इति डमप् । – पित्वात् सर्वानुदात्तो भवति, न्यास. का. वृ. ५, पृ. ४

४ उदात्त विधिबाधकपूर्वकमेव तद्बाधनात्समासान्तोदात्तत्वात्वमस्य बोध्यम् । – नागेश. उद्योत व्या.म. २, पृ. ८१६

५ कैयट प्रदीप, व्या. न. २, पृ. ८१७

६ तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासतम्युपत्रानांव्यय द्वितीया कृत्यांः । – अ. सू., ६.२.२.

७ परिप्रत्युपाया वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु । – अ. सू., ६.२.३३

८ इगन्तकपालभगालशारावेषु द्विगौ । – अ. सू., ६.२.२९

९ राजन्यबहुवचनद्वन्द्वेऽन्धकवृष्णिषु । – अ. सू., ६.२.३४

एक ही विषय होने के कारण 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्'[१] सूत्र से विरोध होने के कारण पर्याय प्राप्ति होती है।[२] भाष्यकार ने तत्पुरूषादि सम्बन्धी बहुव्रीहि सम्बन्धी पूर्वपदप्रकृतिस्वर तथा समासान्तोदात्तत्व में पर्याय को स्वीकार नहीं किया है।[३] 'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ'[४] सूत्र से विहित अन्तोदात्त होता है। अतः द्विपात् उदाहरण में समासान्तोदात्तत्व तथा पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व पर्याय से सिद्ध होते हैं परन्तु विहित अन्तोदात्तत्व ज्ञापित करता है कि बहुव्रीहि अन्तोदात्त नहीं होता।[५]

दिष्टिवितस्त्योश्च[६] सूत्र ज्ञापक है कि जिससे पूर्वपदप्रकृतिस्वर का विधान किया गया है इससे पक्ष में समासान्तोदात्तत्व नहीं होता परन्तु उदात्त विषय ही ज्ञापक है कि बहुव्रीहि समास में अन्तोदात्तत्व पर्याय से होता है।

उदात्त और स्वरित का पूर्वोत्तर पद में स्थित होना पर्याय का प्रसंग है।[७] स्वरित में जिस उदात्त का ग्रहण होता है तदाश्रित ज्ञापक उपयुक्त नहीं है क्योंकि उदात्त संज्ञा अच् की होती है वर्णैकदेश[८] की नहीं होती। उदात्तावयव होने के कारण स्वरित का समावेश भी उदात्त के ग्रहण से हो जाता है। यथा कार्यप्रियः उदाहरण में उदात्त स्वरित दोनों का समावेश है।[९] अतः सूत्र में बहुव्रीहि ग्रहण निष्प्रयोजन है।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा सूत्रों का प्रयोजन सिद्ध किया है परन्तु प्रयोजनसिद्धि में यदि सम्पूर्ण सूत्र की अपेक्षा कोई विशिष्ट पद अनर्थक प्रतीत होता है तो उसका

---

१ अ.सू.,६.१.१५८
२ हर.पद.का.वृ.५,पृ.५
३ एवं च तत्पुरूषादि संबन्धिनी बहुव्रीहि संबधिश्च पूर्वपद प्रकृतिस्वरस्य समासान्तोदात्तत्वेन पर्यायापत्तिरिति। – नागेश उद्योत व्या.म.२,पृ.८१७
४ अ.सू.,६.२.१९७
५ विहितस्तु ज्ञापयति बहुव्रीहिरन्तोदात्तो न भवतीति। – कैयट,प्रदीप,व्या.म.२,पृ.८१७
६ अ.सू.,६.२.३१
७ उदात्तस्वरितयोस्तु पूर्वोत्तरपदस्थयोः पर्यायप्रसङ्गः। – हर.पद.का.वृ.५,पृ.५
८ अचो ह्युदात्तसंज्ञा न च वर्णैकदेशो ग्रह्यते। – वही,पृ.५
९ स्वरितग्रहणेन उदात्तग्रहणेन गौणाग्रहणस्य बोधनादिति। – नागेश,उद्योत,व्या.म.२, पृ.८१७

प्रत्याख्यान भी करते हैं। सूत्र में बहुव्रीहि पद का दृष्ट प्रयोजन न होने पर भी अदृष्ट प्रयोजन साधुत्व प्रतिपादन स्वयं ही सिद्ध है।

(३) आर्धधातुके[१]—

प्रस्तुत सूत्र अधिकार सूत्र है जिसके द्वारा 'न ल्यपि'[२] सूत्र से पूर्व तक आर्धधातुकाधिकार का विधान किया गया है।[३] 'असिद्धवदत्राभात्'[४] सूत्र के अधिकार में होने के कारण असिद्धत्व की निवृत्ति आवश्यक है अन्यथा आर्धधातुकाधिकार नहीं हो सकता। द्वितीयाध्याय विहित[५] आर्धधातुक आदेशों का विधान नहीं किया गया। भू धातु से विहित वुगागम[६] तथा चख्यतुः इस प्रयोग में अल्लोप[७] की प्राप्ति नहीं होती अतः पुनः आर्धधातुकाधिकार का विधान किया गया है।[८] प्रस्तुत सूत्र के प्रयोजन निम्नश्लोक वार्त्तिक में स्पष्ट किये गये हैं—

अतो लोपो यलोपश्च णिलोपश्च प्रयोजनम्।

आल्लोप ईत्वमेवं च चिण्वद्भावश्च सीयुटि॥

काशिकावृत्ति में इसे संग्रह श्लोक माना है।[९] सूत्र का प्रथम प्रयोजन अल्लोप[१०] है अर्थात् अकारान्त के अकार के लोप का विधान 'अतो लोपः'[११] सूत्र

---

१ अ.सू.,६.४.४६

२ वही,६.४.६९

३ From this upto 6-4-68 inclusive is always to be supplied before an affix called ardhatuka. –Vasu, S.C., Aśṭā-II, page. 1269.

४ अ.सू.,६.४.२२

५ आर्धधातुकं शेषः। – अ.सू.,३.४.११४

६ भुवो वुक् लुङ्लिटोः। – वही,६.४.८८

७ अतो लोपः। – वही,६.४.४८

८ असिद्धत्वनिवृत्यर्थ द्वितीयाध्यायगोचराः। आदेशा नेह विहिता वुगाल्लोपौ प्रयोजनम्॥ – हर.पद.का.वृ.५,पृ.३९७

९ प्रयोजनसङ्ग्रह श्लोको गतार्थः। – वही,पृ.३९७

१० अतोलोपः। – अ.सू.,६.४.४८

११ अ.सू.,६.४.४८

करता है। परन्तु इस सूत्र की पूर्णता के लिये 'आर्धधातुके' की अनुवृत्ति होती है।[१] अतः आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते अल्लोप होता है। यथा सन् प्रत्ययान्त कृ धातु से तत् आर्धधातु का प्रत्यय परे रहने पर अकार लोप होता है।

आर्धधातुकाधिकार में होने के कारण सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते लोप नहीं होता यथा भवति इस उदाहरण में। यदि शप् लोप निषेध ही सूत्र का प्रयोजन माना जायेगा तो 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः'[२] सूत्र ज्ञापक नहीं होगा क्योंकि अदादिगण की धातुओं से ही शप् लुक् का विधान होता है।[३] यह लुग्वचन प्रत्यय लक्षण प्रतिषेध के लिये है।[४] अतः वित्त इस उदाहरण में शप् लोप होता है। प्रत्ययलोपो प्रत्ययलक्षणम्' परिभाषा के आधार पर लघूपध[५] गुण की प्राप्ति होती है। जिस सूत्र का प्रयोजन होता है वह ज्ञापक नहीं होता।[६] अतः सूत्र का प्रयोजन आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते अकार लोप का विधान करना है।

द्वितीय प्रयोजन 'यस्य हलः'[७] सूत्र द्वारा विहित हलन्त आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते अकार लोप का विधान है। यथा बेभिदिता बेभिदितुम् आदि प्रयोगों में आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते ही यङ् लुक् होता है। सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते यकार का लोप नहीं होता।[८] अतः प्रस्तुत सूत्र का प्रयोजन आर्धधातुक प्रत्यय परे रहने पर यकार लोप का विधान करना है। तृतीय प्रयोजन णिलोप है 'णेरनिटि'[९] सूत्र के द्वारा अनिटादि प्रत्यय परे रहते णिच् लोप का विधान है। यदि आर्धधातुके सूत्रारम्भ नहीं होता तो सार्वधातुक प्रत्यय परे रहने पर भी णिच् का लोप हो जाता।

---

१ Vasu, S.C. - Aśṭā. Vol-II, p.1269.

२ अ.सू.,२.४.७१

३ कैयट,प्रदीप,व्या.म.२,पृ.९२३

४ तस्माददिप्रभृतिभ्यः शपः लुग्वचनं प्रत्ययलक्षणं प्रतिषेधार्थः स्यादिति न ज्ञापकं शपो लोपाभावस्य। – जिने.न्यास का.वृ.५,पृ.३९५

५ पुगन्तलघूपधस्य च। – अ.सू.७.३.८६

६ असति हि प्रयोजने ज्ञापकं भवति। – वही

७ अ.सू.,६.४.४९

८ बेभिद्यते इत्यत्र शपि सार्वधातुके न भवति। – जिने.न्यास.का.व.५,पृ.३९५

९ अ.सू.,६.४.५

यथा याज्यते पाच्यते आदि प्रयोगों में णिच् का लोप किया गया है । णिच् का विधान प्रत्यय लक्षणार्थ किया है ।[१] अतः उपधावृद्धि[२] हो जाती है ।

सूत्र का अन्य प्रयोजन आकार लोप करना है । 'आतो लोप इटि च'[३] सूत्र इडादि अजादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते आकारान्त अंग का लोप विधान करता है ।[४] प्रस्तुत सूत्र का विधान न होने पर सार्वधातुक प्रत्यय परे रहने पर भी आकार लोप हो जाता । यथा सार्वधातुक शप् परे रहते यान्ति वान्ति आदि उदाहरणों में भी आकार लोप की प्रसक्ति होने लगती । 'श्नाभ्यास्तयोरातः'[५] सूत्र सार्वधतुक प्रत्यय परे रहते ही श्ना, अभ्यस्त के आकार का लोप करता है । अतः ययतुः इत्यादि प्रयोगों में लोप नहीं होता ।[६] घुमास्थागापाजहातिसां हलि'[७] सूत्र घु[८] संज्ञक मा, स्था, गा आदि से परे हल् आदि कित् ङित्, प्रत्यय परे रहते उनको ईकारादेश करता है । आर्धधातुकाधिकार होने के कारण आर्धधातुक हलादि, कित्, ङित् प्रत्यय परे रहने ही ईत्व विधान होगा, यथा दीयते, धीयते आदि प्रयोगों में । सार्वधातुक प्रत्यय परे रहने पर ईत्वाभाव होगा ।

एत्व विधान भी इस सूत्र का प्रयोजन है अर्थात् 'वाऽन्यस्य संयोगादेः'[९] सूत्र घु संज्ञक धातुओं से अन्य संयोगादि, आकारान्त धातुओं को विकल्प से लिङ्लकार परे रहते एत्व-विधान करता है । अन्य से अभिप्राय पूर्व-सूत्र[१०] में पठित घु आदि से भिन्न का ग्रहण करने के लिये है । अन्यथा उनमें भी इत्व प्राप्ति हो जाती ।[११]

---

१ णिज्विधानं तु प्रत्ययलक्षणार्थम् । – कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ९२४
२ अ. सू. ७.२.११६
३ वही, ६.४.६४
४ इट्यजादावार्धधातुके क्ङिति याकारान्ताङ्गस्य लोपो भवति । – का. वृ. ५, पृ. ४१८
५ तिङ्शित्सार्वधातुकम् । – अ. सू., ३.४.११३
६ श्नाभ्यस्तयोः सार्वधातुक एवेति तदा च ययतुरित्यादौ न स्यात् । – हर. पद. क. वृ. ५, पृ. ३९६
७ अ. सू., ६.४.६६
८ दाधाध्वदाप् । – वही, १.१.२०
९ अ. सू., ६.४.६८
१० एर्लिङि । – वही, ६.४.६७
११ अन्यस्य ग्रहणेऽक्रियमाणे पूर्वयोगोऽन्येषु सावकाशः अयमपि ग्लाया-दित्यादिषु । – हर.पद.का. वृ. ५, पृ. ४२२

प्रस्तुत सूत्र से आर्धधातुकाधिकार होने के कारण आशीर्लिङ् में ही एत्व विहित है विध्यादि लिङ् के सार्वधातुक संज्ञक होने के कारण एत्व-विधान नहीं होता।[१]

प्रस्तुत सूत्र का अन्तिम प्रयोजन सीयुट् परे रहते चिण्वद् भाव का विधान करना है। चिण्वद्भाव[२] विधायक सूत्र भावकर्म विषय के परे रहने पर उपदेशावस्था में अजन्त अंग, हन्, ग्रह्, दृश् को चिण्वद् कार्य विकल्प से होता है। चिण्वत्भाव होने पर इडागम होता है। यथा कारिषीट, हारिषीष्ट आदि उदाहरणों में। आर्धधातुक का ग्रहण करने से आर्धधातुक सीयुट् परे रहते ही चिण्वद्भाव तथा इट् की प्राप्ति होती है। अतः विधिलिङ् लकार में यासुट्[३] सार्वधातुक प्रत्यय परे रहने के कारण चिण्वद्भाव नहीं होता यथा क्रियेत् आदि उदाहरणों में चिण्वद् भाव की प्रसक्ति होने पर वृद्धि की प्राप्ति होगी। वृद्धि करने पर गुण की तथा यक् की प्रसक्ति भी होने लगेगी।[४] अंग सम्बन्धी कार्य होने के कारण यक् होना गुण नहीं। अतः सीयुट् परे रहते ही चिण्वद्भाव का विधान प्रस्तुत सूत्र का प्रयोजन है।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि पाणिनि रचित सूत्रों का प्रयोग स्पष्ट करने के लिये श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये गये हैं। प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक से अनेक अन्य सूत्रों का भी स्पष्टीकरण स्वयमेव हो गया है। प्रसंगवश सूत्रों की व्याख्या भी श्लोकवार्त्तिकों की विशिष्टता है।

(४) स्यसिच्सीयुट् तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽझनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च।[५] प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने स्य् सिच्, सीयुट्, तास् इन भावकर्म विषयों के परे रहने पर उपदेशावस्था में अजन्त अंग तथा हन्, ग्रह् तथा दृश् धातुओं को चिण्वत् कार्य का विधान विकल्प से किया है। चिण्वद् भाव[६] होने पर ही इडागम होता है।[७] चिण् इव चिण्वत् भाव है। चिण्वत् में वत् सप्तमी सामर्थ्य से होता है

---

१ जिने. न्यास. का. वृ.५, पृ. ३९६

२ स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽझन ग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च। – अ. सू., ६.४.६२

३ यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च। – अ. सू., ३.४.१०३

४ सर्वाधातु व यक्। — अ.सू.२.४.७१.

५ Vasu, S.C. - Ashta. Vol.II, p.1274.

६ यदा चिण्वत् तदा इडागमो भवति। – का. वृ.५, पृ. ४१२

७ तत्र तस्येव। – अ. सू., ५.१.११६

क्योंकि प्रतियोगी स्य सिच्सीयुट् तास् का निर्देश सप्तम्यन्त पद के द्वारा किया गया है।[1] सूत्रोक्त भावकर्मणोः से अभिप्राय है भाव और कर्म में जो स्यादि विहित होते हैं उनके पर रहते। यदि भावकर्म शब्द से भावकर्म का अभिधान करने वाले प्रत्यय अर्थ स्वीकार किया जाता है तो अभिप्राय होता है भावकर्मवाची स्यादि प्रत्यय परे रहते।[2] इस स्थिति में स्यादि विशिष्ट रूप की तथा सीयुट् सामान्य रूप से ग्रहीत होता है। भाव और कर्म में जो स्यादि विहित हैं उनके परे रहते यह अर्थ स्वीकार करने पर केवल आगम सीयुट् ही विशिष्ट होगा। विकरण स्यादि नहीं। भावकर्म में विहित स्यादि का निर्देश विषय सप्तमी से किया गया है अतः दोष की सम्भावना नहीं रहती। प्रथम पक्ष में गौणार्थता वृत्ति है तथा द्वितीय पक्ष में मुख्यार्थवृत्तित्व है दोनों की एक साथ प्राप्ति असम्भव है।[3] अतः दोष की परिसमाप्ति की जाती है। विषय सप्तम्याश्रित अर्थ होता है। भावकर्मविषयक स्यादि के परे रहते चिण्वद कार्य होता है।[4] अतः जो स्यादि लादेश से भाव और कर्म में विवक्षित होते हैं वे ही चिण्वद् भाव के निमित्त हैं।[5]

प्रस्तुत सूत्र के प्रयोजन के विषय में भाष्यकार ने शंका की उद्भावना की है कि चिण्वद्भाव का प्रकरण उपस्थित होने पर व्यवस्था आश्रय से अंग सम्बन्धी कार्य सूत्र के प्रयोजन हैं अथवा सामान्य रूप से चिण्वद्भाव का विधान किया गया है।[6] उसका समाधान निम्न श्लोकवार्त्तिक के उद्धरण से किया गया है—

'वृद्धिश्चिण्वद्छूक्चहन्तेश्चघत्वं, दीर्घश्चोलोपोमितां वा चिणीति।

यट् चासिद्धस्तेन में लुप्यते णिर्नित्यश्चायं वल्निमित्तो विघाती॥'

---

१ सप्तम्या प्रतियोगिनो निर्देशात् चिणीव चिण्वदिति सप्तमी समर्थाद्वति विज्ञायते। यथा मथुरावत् पाटलिपुत्रे प्राकार इति। – न्यास. का. वृ. ५, पृ. ४११

२ यदा भावकर्माभिधायी प्रत्ययो भावकर्मशब्दाभ्यामभिधीयते तदायमर्थः स्यात् भाव कर्मवाचिनि प्रत्यये परतो ये स्यादय इति। – हर. पद. का. वृ. ५, पृ. ४११

३ तत्राद्ये पक्षे भावकर्मशब्द मुख्यार्थवृत्तित्वं द्वितीये गौणार्थता। युगपत्तु गौण-मुख्यार्थवृत्तित्वासम्भव इति। – कैय्यट, प्रदीप. व्या. महा. २, पृ. ९३३

४ विषयसप्तम्यैषाऽश्रीयते भावकर्म विषयेषु स्यादिषु चिण्वत्कार्य भवतीति नास्ति दोषस्यावकाशः। – वही, पृ. ९३४

५ ये स्यादयो लादेशेन भावकर्मणोर्विवदितयोभर्वन्ति। – न्यास. का. वृ. ५, पृ. ४११

६ प्रकरणाद्व्यवस्याश्रयणादाङ्गान्येव कार्याणि प्रयोजनानि। अथाविशेषेन। – कैय्यट प्रदीप, व्या. महा. २, पृ. ९३६

चिण्वद्भाव के विषय में दो पक्षों की सम्भावना होती है प्रथम चिण् को निमित्त मानकर जो कार्य हुआ है अथवा द्वितीय जिसका उच्चारण करके चिण् परक विधान हुआ है उसका अतिदेश किया गया है ।[१] यदि पूर्वपक्ष का ग्रहण किया जाता है तो युगागम[२] तथा दीर्घत्व[३] ये दो ही अंग कार्य अतिदिष्ट होंगे ।[४] अन्यद चिण्वद् सम्बन्धी वृद्धयादि कार्य नहीं होंगे । द्वितीय पक्ष के अनुसार चिण् परे रहते जो दृष्ट है चाहे वह चिण्निमित्तक हो अथवा अचिण्निमित्तक दोनों का ही सामान्य तया ग्रहण होता है ।[५] श्लोकवार्त्तिक कार के अनुसार द्वितीय पक्ष का आश्रय दोषरहित है ।[६]

प्रस्तुत सूत्र का प्रथम प्रयोजन – चिण् के समान वृद्धि का विधान स्य, णिच्, सीयुट्, तास् आदि परे रहने पर भी कर दिया गया है । यथा घानिण्यते उदाहरण में स्य परे रहते चिण्वद् भाव हुआ अतः उपधा वृद्धि[७] होती है । द्वितीय प्रयोजन यक्[८] का विधान करना है यथा दायिष्यते उदाहरण में सूत्र में चिण् परक का उच्चारण होने के कारण युक् का विधान हुआ है । तृतीय प्रयोजन हन् धातु में हकार को घत्वविधान[९] करना है अतः करना है अतः धानिष्यते इस प्रयोग में ह्रस्व हकार का घत्व हुआ है । दीर्घत्व[१०] का विधान भी सूत्र का प्रयोजन है । मितां ह्रस्वः[११] सूत्र के द्वारा ह्रस्व का विधान किया गया है । लृट्वषयक स्य परे रहते चिण्वद्भाव होने पर दीर्घत्व विकल्प से होता है । यथा शमिष्यते, शामिष्यते इन प्रयोगों में मित्संज्ञा[१२]

---

१ चिण्निमित्तं यत्कार्यम्, यदाहत्य चिणि विधीयते तद्वातिश्यते । –न्यास. का. वृ. ५, पृ. ४१२

२ आतो युक् चिण्कृतोः । –अ. सू., ७.३.३३

३ चिणमुलोदीर्घोऽन्यतरस्याम् । –वही, ६.४.९३

४ युगागमः चिण्णमुलोदीर्घोऽन्यतरस्याम् इति दीर्घत्वन्च एते द्वे एवाङ्ग-कार्ये अतिदिश्ये स्याताम् । –न्यास. का. वृ. ५, पृ. ४१२

५ यद्वा चिनि यद् दृष्टं चिण्निमित्तमचिण्निमित्तं च तत् सामान्येन । –वही, पृ. ४१२

६ तत्र द्वितीय पक्षः आश्रीयत इति श्लोकेन दर्शयति । –हर. पद. का. वृ. ५, पृ. ४१३

७ अचो ञ्णिति । –अ. सू., ७.२.४५

८ आतो युक् चिण्कृतोः । –वही, ७.३.३३

९ हो हर्न्तेर्ञ्णिन्नेषु । –वही ७.३.५४

१० चिण्णमुलोदीर्घोऽन्यतरस्याम् । –वही, ६.४.९३

११ अ. सू., ६.४.९२

१२ जनिजृण्क्नसुर जोऽयन्ताश्चः । –वही, ३.१.३२

तथा धातु संज्ञा[१] होने पर ण्यन्तावस्था में वैकलिप्क दीर्घत्वविधान[२] होता है। शामिष्यते प्रयोग में णिलोप सिद्ध नहीं होता क्योंकि यह सेट् धातु है। सेट् धातु से पुनः इट् विधान व्यर्थ प्रतीत होता है परन्तु आभीयाधिकार[३] में होने के कारण चिण्वदिड् असिद्ध है अतः णिलोप सम्भव है।

चिण्वदिड् नित्य होने के कारण अनुदात्तोपदेश चिनोत्यादि से परे तथा उदात्तोपदेश शमादि से परे वलादिलक्षण[४] इट् सिद्ध नहीं होता। चिण्वदिड् नित्य है क्योंकि कृताकृत प्रसङ्गी विधि नित्य होती है।[५] वलादि लक्षण इट् विहित होने पर भी चिण्वदिड् की प्राप्ति होती है तथा अविहित होने पर भी चिण्वदिड् की प्राप्ति होती है। चिण्वदिड् होने पर अविहित होने पर भी चिण्वदिड् की प्राप्ति होती है। चिण्वदिड् होने पर वलादि लक्षण इट् का विधान नहीं होता।[६] अतः नित्य होने के कारण उदात्त से भी चिण्वद् भावविधायक सूत्र ही इट् विधान करता है वलादिलक्षण इट् असिद्ध होने के कारण णिलोप का अभाव श्लोकवार्त्तिककार के मत में असंगत है।[७]

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के उद्धरण से भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र के प्रयोजनों की व्याख्या की है चिण्वद्भाव वृद्धि, युक्, हन् धातु के कुत्व मित संज्ञकों को दीर्घत्व विधान तथा णिलोप सूत्र के प्रयोजन हैं।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भाष्यकार ने सूत्रों का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं।

(४) अत उत सार्वधातुके[८]

---

१ सनाघन्ताः घातवः। – वही, ३.१.३२
२ चिण्णमुलोदीर्घोऽन्यतरस्याम्। – वही, ६.४.९३
३ असिद्धवदत्राभात्। – अ. सू., ६.४.२२
४ आर्धधातुकस्येड् वलादेः। – अ. सू.
५ कृताकृप्रसङ्गी योविधि से नित्यः। – न्यास. का. वृ. ५, पृ. ४१४
६ अस्मिन्निटि अपि वलादिलक्षणस्येटो वलादित्वाभावादप्रवृत्ति लक्षणो विधातः ततस्वस्यानित्यत्वानित्यर्थः। – कैय्यट प्रदीप व्या. महा. २, पृ. ९३६
७ सूत्रकारायमाणस्य वचनम्। – हर. पद. का. वृ. ५, पृ. ४१४
८ अ. सू., ६.४.११०

प्रस्तुत सूत्र विधि सूत्र है जिसके द्वारा सूत्रकार ने अप्रत्ययान्त कृ धातु के अकार के स्थान पर सार्वधातुक कित्, ङित् प्रत्यय परे रहते अकार आदेश का विधान किया है।[१] प्रस्तुत सूत्र में 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्'[२] सूत्र से उतः की अनुवृत्ति है। अतः उकारान्त कृ धातु को ही प्रस्तुत सूत्र उत्व विधान करता है। सूत्रोक्त सार्वधातुके पद ग्रहण का क्या प्रयोजन है भाष्यकार ने इस शंका की उद्भावना की है। सार्वधातुक ग्रहण का प्रयोजन यह है कि आर्थधातुकप्रत्यय परे रहते उकारान्तादेश नहीं होता।[३] सार्वधातुक का ग्रहण होने पर स्म, तास् आदि की निवृत्ति के लिये स्यान्त का प्रतिषेध करना अनर्थक है क्योंकि कृ धातु से उत्वादेश में उकारान्त से निर्देश किया गया है।[४] संस्करोति, संस्कर्ता आदि प्रयोगों में भी उत्व नहीं होता उकारान्त प्रकरण से उकारान्त अंग का सम्बन्ध है।[५] क्योंकि उतः की अनुवृत्ति हुई है। अतः सूत्र का अर्थ है उकारान्त अङ्गावयव कृ धातु के अकार को उकार हो जाता है सार्वधातुक कित्, ङित् प्रत्यय परे रहने पर।[६] उत् की अनुवृत्ति होने से सार्वधातुकग्रहण का प्रयोजन संचस्करतुः आदि में उत्व का विधान करना नहीं है। भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिकों में 'सार्वधातुके' पद के प्रयोजन से सम्बद्ध चर्चा की है—

अनुप्रयोगे तु भुवाऽस्त्यबधनं स्मरन्ति कर्तुर्वचनान्मनीषिणः।
लोपे द्विर्वचनासिद्धिः स्थानिवदिति चेत्कृते भवेत् द्वित्वे॥
नैवं सिध्यति कस्माद् प्रत्यङ् गत्वाद्धि पररूपम्।
तस्मिश्चकृते लोपः, दीर्घत्वं बोधकं भवेत्तत्र॥

---

१ Vasu, S.C. - Ashta. -II, p.1290.

२ अ.सू., ६.४.१०६

३ स्यान्त निवृत्तौ वश्यं कर्त्तव्यो यत्न इति तेनैव यालेनार्धधातुके न भविष्यतिति भावः।– कैय्यट प्रदीप व्या.म.२, पृ.९५१

४ कृञउत्व उकारान्तनिर्देशात्स्यान्तस्याप्रतिषेधाः वार्त्तिक। – अ.सू.६.४.११० व्या.म.२, पृ.९५०

५ उकारान्तप्रकरणादुकारान्तरमङ्गमभिसम्बध्यते। – वही, पृ.९५०

६ कैय्यट प्रदीप, वही, पृ.९५०

भाष्यकार ने सार्वधातुक ग्रहण का प्रयोजन उत्तरार्थ स्वीकार किया है अर्थात् 'श्नसोरल्लोपः'[१] सूत्र के लिये सार्वधातुक ग्रहण है।[२] सार्वधातुक परक कित्, ङित् प्रत्यय परे रहते श्ना के आकार का लोप इस सूत्र से विहित है तथा अस् धातु को विहित भू भाव आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते होता है।[३] अतः सार्वधातुकाधिकार का ग्रहण उत्तरसूत्र में नहीं किया जा सकता। श्लोकवार्त्तिककार ने भी उत्तरार्थ सार्वधातुक ग्रहण को प्रयोजन नहीं है यह स्वीकार किया है क्योंकि लिट्[४] में अस् का अनुप्रयोग होने पर अस् धातु को भूभाव नहीं होता।[५] यथा ईहामासतुः इस प्रयोग में आसतुः के स्थान पर भूभाव होकर बभूवतुः रूप होना चाहिये था यदि श्नसोरल्लोप[६] सूत्र से अकार लोप करते हैं तो द्वित्व[७] सिद्धि नहीं होती। तात्पर्य यह है कि स्वर का लोप होने पर मात्र व्यंजन को द्वित्व करना असम्भव है यदि स्थानिवद् भाव[८] से द्वित्व विधान किया जाये तो लोप की प्रसक्ति होती है।[९] इस लोप को सङ्गत स्वीकार करके अभ्यास के दीर्घत्व[१०] होने पर इस प्रयोग की सिद्धि सम्भव है। इस प्रकार रूप सिद्ध होने पर भी श्लोकवार्त्तिककार ने द्वितीय श्लोकवार्त्तिक के द्वारा इसका प्रत्याख्यान किया है। यह प्रयोग दीर्घत्व से सिद्ध नहीं होता अपितु, वर्णाश्रम[११] होने के कारण पररूप अन्तरङ्ग है। अतः दीर्घत्व के स्थान पर पररूप[१२] की प्राप्ति होती है। पररूप करने पर भी दोष उत्पन्न होता है। यथा दीर्घत्व पररूप का बाधक है। अन्तरङ्ग पररूप के प्रति बहिरङ्ग दीर्घत्व

---

१ अ. सू., ६.४.१११
२ उत्तरार्थं तर्हि सार्वधातुकग्रहणं कर्त्तव्यम्, ६.४.११०, व्या. म. २, पृ. ६५०
३ श्नः सार्वधातुके एव अस्तेरव्यार्द्धधातुके भूभावेन भाव्यम्। – हर. पद. का. वृ. ५, पृ. ४६२
४ कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि। – अ. सू. ३.१.४०
५ नन्वनप्रयोगे भूभावो नास्ति ईहामासुः सत्यम्। हर.पद.का.वृ. ५, पृ. ४६२
६ अ. सू., ६.४.१११
७ लिटिधातोरनभ्यासस्य। – वही, ६.१.८
८ स्थानिवदादेशोऽनल् विधौ। – अ. सू. १.१.५६
९ पुनः प्रवृत्ति लक्षणस्येति स्थानिवद्भावप्रकरणे प्रतिपादितम्। – कैयट प्रदीप व्या. मा. २, पृ. ९५१
१० अत आदेः। अ.सू. ४-७-७०.
११ वर्णाश्रयत्वात् पररूपमन्तरङ्गम्।
वही पृ. ९५२
१२ अतो गुणे। अ.सू. ६-१-९७.

बाधक है।[१] सार्वधातुक ग्रहण का प्रयोजन भूतपूर्व सार्वधातक में भी उत्वाधिकार[२] हो जाये यह मानने पर प्रत्यय लक्षण प्रतिषेध[३] से कुरु इस प्रयोग में उत्व नही होता अपितु हि लोप असिद्ध है और असिद्ध होने के कारण ही उत्व[४] हुआ है। अतः सूत्रोक्त सर्वधातुक ग्रहण का प्रयोजन विस्पष्टार्थ है।[५]

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि श्लोकवार्त्तिकों ग्रहण से सूत्रोक्त पदों के प्रयोजनों की चर्चा की गई है। प्रयोजनों का विवेवचन करते हुए यदि वह पद निष्प्रयोजन सिद्ध होता है तो उसका दृष्ट प्रयोजन विषय का स्पष्टीकरण सूत्रोक्त किया गया है। इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक में सूत्रोक्त पदों का प्रयोजन सम्बन्धी विवेचन प्राप्त होता है।

सप्तम अध्याय – अष्टाभ्य औश्[६]—

सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र के द्वारा आत्व विहित अष्टा शब्द से परे जश् और शस् को औश् आदेश का विधान किया है।[७] सूत्रोक्त अष्टाभ्य पद में आत्व[८] विहित अष्टन् शब्द का ग्रहण किया गया है। भ्यस् विभक्ति के सामर्थ्य से आत्व नहीं हुआ है।[९] भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र पर निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्घृत किये हैं—

औशघावस्तु लुक्तत्र षड्भ्योऽप्येवं प्रसज्यते।
अपवादो यस्य विषये यो वा तस्मादनन्तरः॥
आत्वं यत्र तु तत्रौश्त्वं तथा ह्यस्य ग्रहः कृतः।
स्वमोर्लूल्क्यै त्यद्दादीनां कृते ह्यात्वे न लुग्भवेत्॥

---

१ कैयट् प्रदीप. वही
२ हर पद का.ववृ.५ पृ.४६१
३ न लुममताङ्गस्य। अ.सू. १-१-६३
४ असिद्धो लुक् तस्मादुत्वं भविष्यति। वही
५ सार्वधातुक ग्रहणं तु विस्पष्टार्थमेव। नागेश,उद्योत व्या.म.II. पृ.-९५२
६ अ.सू.७-१-२१
७ **Vasu, S.C. - Asta. Vol.II, p.1324.**
८ अष्टन आ विभक्तौ। अ.सू.७-२-८४
९ अष्टाभ्य इति कृतात्वस्येदमनुकरणम् न तु लक्षणवश संपन्नमात्वम्। तत्व.सि.कौ.पृ. १०५

औशादेश का विधान उत्तरपद[१] परे न रहने पर किया गया है यथा अष्टपुत्रः अष्टभार्यः आदि उदाहरणों में औशादेश का अभाव है पुत्र तथा भार्यापद उत्तरपद में रहते कृतात्व अष्टापद से औशादेश करते हैं। तो उसका लोप हो जायेगा।[२] यह लोप[३] समास में ही प्राप्त होता है वाक्य में नहीं। लोप तथा औश् आदेश में लोप नित्य है अतः उसका पूर्व ही लोप हो जायेगा।[४] अथवा अन्तरंग विधि का बहिरंग लोप बाध करता है।[५] अतः वाक्यावस्था में प्राप्त औश् नहीं किया जाता औश् को स्थानिवद् मानकर लोप होता है।[६]

अष्टपुत्र उदाहरण में औशादेश की प्राप्ति होती है तथा अष्टौ तिष्ठति उदाहरण में औश्त्व की प्रसक्ति नहीं होती। अप्राप्ति धातु, प्रातिपादिकावयव से सुप् का लोप है। अतः उत्सर्गापवाद नियम का आश्रय लेने पर अतिप्रसंग दोष होता है।[७] अर्थात् षट्संज्ञकों[८] से परे जस् और शसादेश की लोप प्राप्ति होती है।[९] यह लोप-प्राप्ति असमास में होती है यथा अष्टो तिष्ठति अष्टो पश्य उदाहरणों में तथा समास में भी होती है यथा अष्टौपुत्रः अष्टौभार्यः आदि उदाहरणों में। अतः लुक् की अप्राप्ति न होने पर औश्त्व होता है। औश् का बाधक यह लुग्विधायक सूत्र है। 'षड्भ्यो लुक्'[१०] सूत्र की सर्वत्र प्राप्ति होने के कारण उसका औशादेश से बाध होता है[११] तथा 'सुपोधातुप्रातिपदिकयोः'[१२] सूत्र क्वचित् ही प्राप्त होता है। अतः

---

१ अघौ घौ पूर्वाचार्यों की उत्तरपद के लिये संज्ञा है।

२ भवत्वौशादेशस्तस्य लुग्भविष्यतीत्यर्थः। कैयट, प्रदीप. व्या. म. भाग ३, पृ. २३

३ सुपोधातुप्रातिपादिकयोः। अ.सू. २-४-७१

४ नित्यत्वात्पूर्वमेव लुका भाव्यम्। कैयट प्रदीप व्या. म. ३.

५ अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते।

६ वाक्यावस्थायामेव प्राप्तोऽप्यौश् न क्रियते औश् एव वा स्थानिवद्भावाल्लुक्। हर. पद. का. वृ. ५, पृ. ५५३.

७ 'इतरो लुको विशेषम-पश्यन् यद्यपवादे प्रवृत्त उत्सर्गः प्रवर्त्तते तयाऽतिप्रसङ्गः इत्याहुः। कैयट - प्रदीप, व्या.म. ३, पृ. २४

८ षणान्ता षट्। अ.सू. - १-१-२४

९ षड्भ्यो लुक्। वही ७-१-२२

१० वही ७-१-२२

११ षड्भ्यो लुगिति सर्वत्र प्राप्नोति इति स एवौशा बाध्यते। कैयट - प्रदीप, व्या.म. ३ पृ. २४

१२ अ.सू. - २-४-७१

लोप पूर्व ही हो जाता है। ये दोनों ही लोप भिन्न स्वरूप विशिष्ट हैं क्योंकि एक की सर्वत्र प्राप्ति है तथा अपर की क्वचित् ही है।[१]

उत्सर्गापवाद नियम का अभाव होने के कारण औश्त्व सुब्लुक् का बाधक नहीं है।[२] अतः अष्टपुत्रः, अष्टभार्यः उदाहरणों में औश्त्व न होकर सुब्लोप हुआ है। अनन्तर को ही विकल्प से विधि या प्रतिषेध होता है।[३] इसलिये अनन्तर के लिये लोप बाधक होगा। औशादेश से 'षड्भ्यो लुक्'[४] सूत्र अनन्तर है तथा द्वितीयाध्या[५]यविहित सुप् लोपाव्यवहित है। अतः अनेकाध्यायविहित व्यवहित द्वितीयाध्याय में विहित सुप् लोप प्रयत्न से स्मरणीय है।[६] अनन्तर का ही बाध होता है यही कारण है कि आत्व विधान वैकल्पिक स्वीकार किया जायेगा। सूत्र में आत्व ग्रहण का प्रयोजन है जहां आत्व होगा वहीं औशत्व होगा अन्यत्र नहीं। यदि आत्व नित्य होगा तो आत्व विहित निर्देश निष्प्रयोजन हो जायेगा। अष्टनः कहने से ही कार्य सिद्ध हो जाता है।[७] इसका निराकरण करने के लिये ही आत्व का विकल्प से निर्देश किया गया है।[८] यद्यपि 'अष्टनो दीधति'[९] सूत्र दीर्घत्व का ज्ञापक है तथापि पुनः स्मृति के लिये आत्व का ग्रहण किया गया है।[१०] अन्यथा अष्टन् का ही ग्रहण किया जाता। अतः अष्ट तिष्ठन्ति, अष्ट पश्य, आदि उदाहरणों में औशादेश नहीं हुआ। 'स्वमोर्नपुंसकात्'[११] सूत्र के द्वारा विहित नपुंसक से परे सु तथा अम् का लोप होता है। इस सूत्र का उपसंख्यान भी श्लोकवार्त्तिकों में कर लिया गया

---

१ भिन्नकक्ष्यौ तु एतौ लुकौ। एकस्य सर्वत्र प्राप्त्या परस्य क्वचित्प्राप्त्या। – वही, पृ. २५.
२ जिने. न्यास. का. वृ. ५, पृ. ५५३
३ अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति। पत.व्या.म. ३, पृ. २५.
४ अ सू. - ७-१-२२.
५ अ. सू. २-४-७१.
६ कैयट. प्रदीप. व्या. म. ३, पृ. २४.
७ यदि च नित्यत्वमात्वं स्यात् कृतात्वस्यानुकरणमनर्थकं स्यात्। व्यावर्त्याभावादिति भावः। हर.पद.का.वृ. ५ पृ. ५५२.
८ Vasu, S.C. - Asta. Vol.II, p.1324.
९ अ.सू. ६-१-१७२
१० तथापि विस्मरणशीलानामनुग्रहाय पुनरिह ज्ञाप्यते। जिने. न्यास. का. वृ. ५, पृ. ५५३
११ अ.सू. ७-१-२२.

है।[१] "त्यदादीनामः"[२] सूत्र से अत्व प्राप्त होने पर सु तथा अम् का लोप नहीं होता।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों को सूत्रों की व्याख्या के लिये उद्धृत किया है। सूत्रों का पदकृत्य अर्थात् सूत्रोक्त पदों का प्रयोजन श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा स्पष्ट किया गया है। उत्तरवर्ती सूत्रों का उपसंख्यान भी श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा उक्त है।

(२) अदस औ सुलोपश्च।[३] प्रस्तुत सूत्र के द्वारा आचार्य पाणिनि ने अदस् के सकार को सु परे रहते औकारादेश का विधान किया है तथा सु लोप का निर्देश किया है।[४] 'त्यदादीनामः'[५] त्यदादि को विभक्ति परे रहते अत्व विधान करता है त्यदादि में पठित होने पर भी अत्व के स्थान पर औत्व का विधान किया गया है। अतः त्यदादि अत्व का यह अपवाद है।[६] यथाअसौ इस उदाहरण में अदस् शब्द से सु[७] का आगम होने पर दकार[८] को सकार होता है तथा प्रकृत सूत्र से स् को औत्व तथा सु लोप होकर असौ पदसिद्ध होता है। प्रस्तुत सूत्र में सु लोप ग्रहण का क्या प्रयोजन है ? भाष्यकार ने इस शंका का समाधान अन्य श्लोकवार्त्तिक के द्वारा किया है—

अदसः सोर्भवेदौत्वं किं सुलोपो विधीयते।
ह्रस्वाल्लुप्येत संबुद्धिर्न हलः प्रकृतं हि तत्।
आप एत्वं भवेत्तस्मिन् झलीत्यनुवर्तनात्।
प्रत्ययस्थाच्च कादित्वं शीभावश्च प्रसज्यते॥

---

१ अ सू. ७-२-१०२
२ वही ७-२-१०२
३ वही ७-२-१०७
४ For the sa of Adas there is substituted 'au' where by the Nom. affix su is elided, Ashta.of Panini, Vol.II, p.1403.
५ अ.सू.७-२-१०२
६ त्यदाद्यत्वापवादोऽदस औत्वं विधीयते। –जिने.न्यास क.वृ.५,पृ.७९५
७ स्वौजसमौटछष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यसङसिभ्यांभ्यस् ङसोसाम्ङ्योस्सुप्। –अ. सू., ४-१-२
८ अ.सू.,७.२.१०७

अदस् शब्द से सु की उत्पत्ति होने पर 'अदस औ सुलोपश्च' सूत्र के द्वारा अदस् को औत्व विधान किया गया है इस विषय में श्लोकवार्त्तिककार ने शंका की उद्भावनाकी है कि यदि इस सूत्र से औत्व विधान होगा तो त्यदादि होने के कारण विभक्ति परे रहते अत्व[१] होगा और वृद्धि[२] होकर असौ रुप सिद्ध हो जायेगा[३] अतः सूत्र में सुलोप का ग्रहण निष्प्रयोजन प्रतीत होती है क्योंकि प्रस्तुत सूत्र ही पर्याप्त होगा। पूर्वसूत्र[४] में उक्त सौ सप्तम्यन्त है तथा अदसः पञ्चम्यन्त[५] पद है अतः सप्तम्स्यन्त पद षष्ठी विभक्ति की प्रकल्पना करेगा।[६] अर्थात् अदस् से परे सु को औकार होता है यह अभिप्राय होगा।[७] इस प्रकार निरर्थक होने के कारण सुलोप का ग्रहण नहीं करना चाहिये केवल औत्व विधान ही पर्याप्त है।[८] क्योंकि त्याददि अत्व विधान होने पर ह्रस्वान्त होने के कारण सम्बुद्धि लोप की प्रसक्ति होने लगती है परन्तु सम्बुद्धि[९] लोपविधायक सूत्र हल् का लोप करता है। औत्व अच् है अतः लोप का निराकरण हो जाता है। 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः'[१०] सूत्र में यद्यपि हल् का ग्रहण नहीं किया तथापि उसकी अनुवृत्ति सुलोप[११] विधायक सूत्र से होती है।

सूत्र में सुलोप का ग्रहण न होने से स्त्रीत्व की विवक्षा में आङ्[१२] होने पर औत्व विधान होकर सम्बुद्धि में आकार को एत्व[१३] की प्राप्ति होती है।

---

१ त्यदादीनामः। – अ.सू.,७.२.१०२
२ वृद्धिरेचि। – वही,६.१.८८
३ अदसः परस्य सोरेवौत्वं विधीयतां तत्र त्यदाद्यत्वे वृद्धिरेचीति वृद्धौ चासाविति सिध्यति। – कैयट प्रदीप: व्या.म.३,पृ.१८०
४ तदोः सः सावनन्त्ययोः. – अ.सू.,७-२-१०६
५ तस्मादित्युत्तरस्य। – अ.सू.,१.१.६७
६ Vasu, S.C. - Aśṭā.of Panini, Vol.II, p.1404.
७ ibid.
८ निरर्थकत्वान्नेवं सोर्लोपो विधेयः औत्वमेव विधेयम्। – जिने.न्यास का.वृ.५,पृ.७९६
९ Vasu, S.C. Aśṭāa.of panini, Vol.II, p.1404.
१० अ.सू.,६.१.६९
११ हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घाद्सुतिस्यापृक्तंहल्। – अ.सू.,६.१.६८
१२ आङ्चािपः। – अ.सू.,७.३.१०५
१३ सम्बुद्धौ च। – वही,७.२.१०६

एत्व का विधान झलादि प्रत्यय परे रहते होता है। 'बहुवचने झल्येत्'[१] सूत्र में झल् की अनुवृत्ति[२] होती है। औत्व करने पर झल् न होने के कारण एत्व नहीं होता।[३] अतः झल् परे रहते ही वृद्धि एकारादेश का बाध होकर एत्व होता है।[४] सूत्र में सुलोप का ग्रहण न किये जाने पर असकौ ब्राह्मणी इस उदाहरण में अकच् प्रत्यय करने पर अकार को इत्व की प्राप्ति होती है परन्तु इत्व[५] विधायक सूत्र आकार रूप आप् को ही इकारादेश करता है असकौ पद में टाप् का अभाव होने के कारण तथा वृद्धि 'औ' होने के कारण इत्व का निषेध हुआ है।[६] इसके अतिरिक्त सुलोप विधान से शी भाव की अतिप्रसक्ति का निराकरण किया गया है। यथा असौ ब्राह्मणी इस उदाहरण में। इस स्थिति में शी भाव की प्रसक्ति होती है परन्तु यह शी भाव की प्रसक्ति अभाव पक्ष में होती है औङ् द्विवचन की ही पूर्वाचार्यों द्वारा उक्त संज्ञा है।[७] औत्व विधान पुंस्त्व में ही विहित[८] है शी भाव से सम्बद्ध दोष औङ् स्थित ङ्कार को ङित्व सामान्यग्रहणार्थ स्वीकार करने पर उत्पन्न होता है। यदि अकारान्त सर्वनाम से परे जस् को शी भाव विहित होगा तो प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन[९] को ही होगा। अन्यत्र शी भाव की प्रसक्ति नहीं होती क्योंकि ङित्व का अभाव है। अतः सूत्र में सुलोप का ग्रहण सप्रयोजन है।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सुलोप का ग्रहण करने से उक्त दोषों की निवृत्ति होती है। श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से भाष्यकार ने सूत्रोक्त पदों का प्रयोजन स्पष्ट किया है। यद्यपि सूत्रोक्त कोई भी पद

---

१ अ. सू.,७.३.१०६

२ सुपि च। अ. सू.,७.३.१०३

३ औत्वे कृते अझलादित्वान्न भविष्यति। – हर. पद. का. वृ. ५, पृ. ७९७

४ वृद्धिरेचीति वृद्धिरेकादेशं बाधित्वा ङि चाप इत्येत्व प्राप्नोति। – कैयट प्रदीप व्या. म. ३, पृ. १८७

५ प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यद्वदाप्यसुपः। – अ. सू.,७.३.४४

६ Vasu, S.C. - Aśṭāa.of Panini, Vol.II, p.1404.

७ To be the common name given by ancient grammarians to the 'au' to dual and not to this 'au'. ibid.

८ औत्व विधानं तु पुंसि चरितार्थम्। – हर.पद.का.वृ.५, पृ.७९७

९ अ. सू.,७.४.९२

निष्प्रयोजन नहीं है तथापि विशिष्ट सूत्रोक्त पद के विशिष्ट प्रयोजनों के व्याख्यान में श्लोकवार्त्तिक पूर्ण सहायक सिद्ध हुये हैं । पाणिनि ने अपने से पूर्ववर्ती वैयाकरणों द्वारा गृहीत संज्ञाओं का अपने सूत्रों में ग्रहण नहीं किया है । इससे यह संकेत प्राप्त होता है कि पाणिनि से पूर्व भी श्लोकवार्त्तिक रहे होंगे जिनकी रचना प्राचीन वैयाकरणों ने की तथा जिनका ग्रहण भाष्यकार ने सूत्रों की व्याख्या करते हुये प्रसंगवश किया है । अतः यह कथन असंगत प्रतीत नहीं होता कि श्लोकवार्त्तिक सूत्रों के प्रयोजनात्मक निर्देश के साथ-साथ अन्य तथ्यों पर भी प्रकाश डालते हैं ।

ऋतश्च[१]—

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने ऋकारान्त अङ्ग जो कि अभ्यास है उसको रुक्-रीक् तथा रिक् आगम का विधान यङ् लुक् में किया है ।[२] सूत्र में लुकि की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र[३] से हूई है तथा रीक् की अनुवत्ति 'रीगृदुपधस्य च'[४] सूत्र से होती है । सूत्रोक्त चकार पद से रीगादि का ग्रहण होता है ।[५] यथा चर्कर्ति चरिकर्ति तथा चरीकर्ति इन उदाहरणों में कृ धातु से यङ्[६] लुक् की अवस्था में रुक् रिक् तथा रीक् आगम होता है ।

भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र पर शंका की उद्‌भावना की है कि ऋकार का ग्रहण अङ्ग विशिष्ट है अथवा अभ्यास विशिष्ट । इन दोनों में से अंग विशिष्ट ऋकार का ग्रहण ही किया जाता है ।[७] यदि अभ्यास विशेषण ऋतः का ग्रहण किया जाता है तो अभ्यास ह्रस्व होता है दीर्घ नहीं होता ।[८] अतः सूत्र में ऋकार से तपरकरण

---

१ अ. सू., ७.४.९२

२ Vasu, S.C. - Asta of Panini, Vol.II, p.1486.

३ रुग्रिको च लुकि । – अ. सू., ७.४.९१

४ अ. सू., ७.४.९०

५ चकारेण रीगादयोऽनुकृष्यन्ते – जिने. न्यास. का. वृ. ६, पृ. २०४

६ यङोऽचि च । – अ. सू., २.४.७४

७ मुख्याकल्पनासंभवे गौणी कल्पना किमित्याश्रीयत इति । मत्वां भाष्यकारेणाङ्गविशेषणमृत इत्याश्रितम् ॥ – कैयटप्रदीप. व्या.म. ३, पृ. २७५

८ For an Abhyas is always short. –Vasu, S.C. - Asta., II, p.1486.

निष्प्रयोजन हो जायेगा । ऋत् से केवल ऋ का ही ग्रहण होता है । ॠ का नहीं अतः कृ धातु से अभ्यास में रुक्, रिक्, रीक् आगम नहीं होता ।ऋकार का अंग विशिष्ट स्वीकार करने पर तपर ग्रहण का प्रयोजन निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा स्पष्ट किया गया है—

किरति चर्करीतान्तं पचतीत्यत्र यो नयेत् ।
प्राप्तिज्ञं तमहं मन्ये प्रारब्धस्तेन संङ्ग्रहः ॥

सूत्र में 'ऋत' पद अभ्यास में गृहीत हो नहीं है अतः यङ् लुक् प्रक्रिया में ऋकारान्त अंग से रुक् रिक तथा रीगागम नहीं होते । श्लोकवार्त्तिक में कृ धातु को उपलक्षणार्थ ग्रहण किया गया है ।[१] अतः अन्य ऋकारान्त धातुओं को भी रुगादि आगम होते हैं ।[२] 'चर्करीत' पद से पूर्वाचायों ने यङ्लुक् संज्ञा का कथन किया है ।[३] सूत्र में पचति पद उक्त है जिससे लट् लकार के साथ-साथ अन्य लकार भी उपलक्षित है ।[४] प्रथम पुरुष एकवचन का कथन भी द्विवचन तथा बहुवचन का ग्रहण कराने के लिये है । अतः यङ् लुगन्त कृ धातु से लट् लकार की प्राप्ति कराता है अर्थात् पचति के समान रुक्, रिक् तथा रीगागम प्राप्त नहीं होता ।[५] रुगादि के विषय विभाग को जो व्यक्ति जानता है वह प्राप्तिज्ञ[६] है अर्थात् सूत्र में ऋकार को तपर करण का प्रयोजन अंग विशिष्ट है इस प्राप्ति का हेतु व्याकरण-शास्त्र है ।[७] श्लोकवार्त्तिककार के अनुसार जिस व्यक्ति ने रुगादि आगमों का उपयुक्त प्रयोग

---

१ ऋकारान्तोपलक्षणमेतद् । – हर. पद. का. वृ. ६, पृ. २०५

२ तेन गृ निगरणे इत्येवमादेरपि ऋकारान्तस्य ग्रहणं वेदितव्यम् । – जिने. न्यास. का. वृ. ६, पृ. २०५

३ चर्करीत is the form given to the Yang Luk. form of the intensive by ancient grammarians. –Vasu, S.C. - Aśṭā., Vol.II, p.1487.

४ उपलक्षणमिति दशलकाराणामपि । – नागेश उद्योत, व्या. म. ३, पृ. २७५

५ हर. पद. का. वृ. ६, पृ. २०५

६ तेन रुगादीनां विषयविभागेन या प्राप्तिस्तां जानातीत्यर्थः । – जिने. न्यास. का. वृ. ६, पृ. २०५

७ सम्यग् गृह्यते ज्ञायते लक्षणमनेनेति संग्रहः व्याकरणशास्त्रम् । – जिने. न्यास. का. वृ. ६, पृ. २०५

तथा शब्दों के साधु प्रयोग के विषय में ज्ञान प्राप्त कर लिया है ।वह प्राप्तिज्ञ है[१] अत श्लोकवार्त्तिक का अभिप्राय यह है कि कृ तथा अन्य ऋकारान्त धातुयें यङ् लुगन्त से लडादि दस लकारों में सम्पादित होती हैं ।[२]

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने सूत्रोक्त पदों का प्रयोजन स्पष्ट करने के लिये श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं। श्लोकवार्त्तिकोक्त चर्करीत 'पद' यङ्लुक् के स्थान पर पूर्वाचार्यों द्वारा प्रयुक्त संज्ञा है । आचार्य पाणिनि ने पूर्वाचार्य कृत संज्ञाओं का ग्रहण अपने व्याकरण-शास्त्र में किया है । इसका अभिप्राय यह है कि श्लोकवार्त्तिककार भाष्यकार से अतिरिक्त कोई आचार्य हैं क्योंकि भाष्यकार ने पाणिनिकृत् संज्ञाओं का ही ग्रहण किया है ।

अष्टम अध्याय – अनुपसर्गात्फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः[३]

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने उपसर्ग पूर्व में न रहने पर फुल्ल, क्षीब, कृश तथा उल्लाघ रुपों की सिद्धि निपातन से की है । अर्थात् निष्ठाप्रत्ययान्त[४] फुल्ल आदि उदाहरण निपातित हैं । फुल्ल उदाहरण में निष्ठा के तकार को लत्व निपातित है । अन्य क्षब कृशः आदि उदाहरणों में क्त प्रत्यय के तकार का लोप तथा इडभाव[५] निपतित है । फुल्ल उदाहरण से इट प्रतिषेध तथा उत्व[६] प्राप्ति होती है परन्तु लत्व निपातन से सिद्ध है ।[७] क्त प्रत्यय के समान क्तवतु प्रत्यय में भी यह निपातन गृहीत है ।[८] तलोप असिद्ध होने के कारण क्षीब कृश आदि उदाहरणों में इडागम की प्राप्ति

---

१ A person who has attained to the right knowledge of the employment of the augment and he has obtained the right use of words. –Vasu, S.C., Aśṭā. of Panini, p.1487.

२ चाकत्तीयेत्येवमादीनि रुपाणि प्रापयेत् सम्पादयेदित्यर्थः । – जिने. न्यास. का. वृ. ६, पृ. २०५

३ अ. सू., ८.२.५५

४ क्तक्तवतु निष्ठा । – वही, १.१.२६

५ आर्धधातुकस्येड् वलादेः, ७.२.१६

६ अल्परस्यातः । – वही, ७.४.८८

७ निष्ठायास्ता शब्दान्तं यद्रूपंतस्य फुल्लः इत्येतन्निपात्यते इति भावः । – हर. पद. का. वृ. ६, पृ. ४१९

८ तस्य क्तवत्वन्त यापेतल्लत्वमिष्यते । – जिने. न्यास. का. वृ. ६, पृ. ४१९

होती है। इसका निषेध निपातन से किया गया है[१] अथवा इडागम होने के पश्चात् इत् का लोप हुआ है।[२] सूत्र में अनुपसर्गात् पद उक्त है। इसका अभिप्राय अनुपसर्ग, फुल् क्षीब् आदि धातुओं का ग्रहण करना है। अनुपसर्ग का ग्रहण करने पर परिकृशम् आदि प्रयोगों में कृश निपातित प्रयोग सिद्ध नहीं होता। अतः अनुपसर्गाद् पद के प्रयोजन सम्बन्धी शंका का समाधान निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा किया गया है—

कृशे क एषः विहितदूगुपधात्, स्वरे हि दोषो भवति परिकृशे।
पदस्य लोपो विहित इति मतं जगत्यनूना भवति हि रुचिरा॥

फुल् क्षीब्, लाघ् धातुओं से अच्[३] प्रत्यय तथा कृश् धातु से इगुपध लक्षण क प्रत्यय विहित है।[४] अतः फुल्ल, क्षीब उल्लाघ प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। निपातन निष्प्रयोजन प्रतीत होता है परन्तु निष्ठा[५] स्वर की प्राप्ति के लिये तथा फुल्लित आदि अनभीष्ट रुपों की निवृत्ति के लिये निपातन उपयुक्त है।[६] परिकृश पद में उत्तरपद आद्युदात्तत्व[७] का ग्रहण करेगा जबकि निष्ठा में द्वयच् पद आद्युदात्त होता है।[८] जबकि तनूभवन कृत अर्थ में कर्ता में क्त प्रत्यय परे रहते अन्तोदात्त होता है।[९]

परिकृशम् पद में आद्युदात्तत्व अभीष्ट है जो कृश् धातु से कर्ता में क प्रत्यय होने पर पर सिद्ध नहीं होता।[१०] यदि परिकृशः समस्त पद का विग्रह पर्यागतः कार्श्येन यह किया जाये तो आगत पद का लोप उपयुक्त प्रतीत होता है। लोप

---

१ क्षीबादिषु तु क्तप्रत्ययस्येव त लोपः तस्यासिद्धत्वात् प्राप्तस्येटो भावश्च नियात्यते। –सि.का., पृ.५७९

२ Or the augment 'It' is added and then it is elided from क्षीबित –Vasu, S.C. - Aśṭā., Vol.II, p.1569

३ नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः। –अ.सू., ३.१.१३४

४ फुल्ल विकसने इत्यस्मात् कः। पचाद्ययि इतराभ्यामिगुपध लक्षणे क प्रत्यये च फुल्लादयः सिद्धयन्ति। –तत्व.सि.का., पृ.५८९

५ निष्ठा च द्वयजनात्। –अ.सू., ६.१.१२५

६ फुल्लिताद्यनिष्ट शब्दनिवृत्तये च निपातनम्। –कैयट.प्रदीप.व्या.म.३, पृ.४०२

७ अन्तः अ.सू.६/१.१४३।

८ तनूकरण वृक्षेस्तु कर्मणि क्ते। –अ.सू.६.२.१४४

९ गतिरनन्तरं इत्याद्युदात्तं पदं भवति। कैयट.प्रदीप.व्या.म.३, पृ.४०२

१० न च कृशेः कर्तरि केतत्सिध्यतीति भावः। –

स्वीकार करने पर परि गम् धातु के प्रति उपसर्ग है न कि कृश् धातु के प्रति, जिस क्रियायोग में प्रादि होते हैं उनके प्रति ही वे गति संज्ञक होते हैं ।[१] अतः अनुपसर्गादि निष्ठान्त पद से कृश की सिद्धि होती है ।[२] अव्ययस्वर से आधुदात्तत्व भी प्राप्त होता है क्योंकि परि गति संज्ञक नहीं है ।[३] परिकृश प्रयोग की यह सिद्धि शब्द व्यवहार में सर्वमान्य है क्योंकि व्युत्पत्ति में तथा स्वर में दोष की निवृत्ति हो जाती है ।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने सूत्रोक्त पदों का प्रयोजन स्पष्ट करने के लिये श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं । विशिष्ट उदाहरणों की सिद्धि में श्लोकवार्त्तिक विशेष रूप से सहायक हैं ।

(२) क्विन्प्रत्ययस्य कुः[४]—

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने क्विन् प्रत्यय जिस धातु से विहित है उस क्विन् प्रत्यय के पद के अन्तिम अल् को कवर्गादेश का विधान किया है ।[५] प्रस्तुत सूत्र में पदस्य[६] पद की अनुवृत्ति हुई है । भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र पर शंका की उद्भावना की है कि क्विन् कुः इतना ही सूत्र पर्याप्त है प्रत्ययस्य ग्रहण का क्या प्रयोजन है । इस शंका का समाधान निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा किया गया है—

क्विन् कुरिति वक्तव्ये प्रत्ययग्रहणं कृतम् ।
क्विन्प्रत्ययस्य सर्वत्र पदन्ति कुत्वमिष्यते ॥

यदि 'क्विन् कुः' इतना ही सूत्र पढ़ा जायेगा तो लुप्यमान[७] वकार को कुत्व की प्राप्ति होने लगेगी ।[८] 'क्विन् प्रत्यय' पद में बहुव्रीहि समास है जिसका अभिप्राय

---

१ यत्क्रियायुक्ताः तं प्रायस्तं प्रति इतिवचनात् । – हर. पद. का. वृ. ६, पृ. ४२०

२ तनूकरण लक्षणक्रियाया अन्यक्रिया गमनलक्षण क्रियान्तरम्, तेन योगो यम्म् न परिशब्द अत्र कृशिं प्रति उपसर्ग संज्ञा भवतीति कृत्वा । – जिने. न्यास., वही

३ कैयट. प्रदीप. व्या. म. ३, पृ. ४० ३

४ अ. सू., ८.२.६२

५ Vasu, S.C. - Astadhyayi of Panini. Vol.II, p.1571.

६ पदस्य । – अ. सू., ८.१.१७

७ वेरपृक्तस्य । – अ. सू., ६.१.६७

८ The word Pratyaya is used in the Sutra so that the va of kwin may not be changed to a guttural. Ibid.

है वह धातु जिससे क्विन् प्रत्यय का विधान किया गया है ।[१] उस धातु के अन्तिम अल् को कुत्व का विधान किया गया है, यह लोप का अपवाद है ।[२] लोप अन्तरङ्ग है कुत्व बहिरङ्ग है[३] क्योंकि पद का विधान किया गया है । पर होने के कारण कुत्व असिद्ध है ।[४] क्विन् प्रत्ययत्व में व्यभिचरित नहीं होता ।[५] अतः यह आशंका भी नहीं होती कि क्विन् को ही कुत्व का विधान होगा क्योंकि क्विन् प्रत्यय का ग्रहण होने पर जहां पर का ग्रहण नहीं होगा वहां प्रत्यय ग्रहण परिभाषा के द्वारा क्विन्नन्त के उपस्थित होने पर क्विन् का लोप प्राप्त होने पर कुत्व के असिद्ध होने के कारण पहले लोप होगा[६] तत्पश्चात् कुत्व परिशिष्ट धातु को ही होगा ।[७]

क्विबादि प्रत्ययों में लोप सावकाश है तथा विशेषविहित है वह कुत्व का बाध करेगा परन्तु यह शंका उपयुक्त नहीं है, ऐसा स्वीकार करने पर वर्गग्रहण अनर्थक हो जायेगा जबकि अनेक स्थानियों के लिये अनेक आदेशों का बोध वर्ग ग्रहण के द्वारा होता है ।[८] अतः वकार के स्थान पर ककार का निर्देश किया जायेगा । अतः 'क्विन् कुः' सूत्र से ही कार्य सिद्ध हो जायेगा । सूत्र में प्रत्यय ग्रहण न होने पर क्विन् प्रत्ययान्त पदान्त को ही कुत्व का विधान होगा क्विन् से अतिरिक्त प्रत्ययान्त को कुत्व नहीं होगा । इसलिये प्रत्यय का ग्रहण किया गया है । प्रत्यय ग्रहण से अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास होता है जो यह संकेत करता है कि जिन धातुओं से क्विन् प्रत्यय विहित है उनका अन्तिम अल् क्विन् से भिन्न प्रत्यय होने पर भी

---

१ प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स तदादेस्तदन्तस्येति वचनाल्लोपापवादो वकारस्यैव कुत्वम् । –कैयट. प्रदीप. व्या. म. ३, पृ. ४०६

२ वेरपृक्तस्येति लोपे प्राप्ते कुत्वारम्भादिति भावः । –नागेश उद्योत, वही

३ अन्तरङ्गो लोपः कुत्वं तु बहिरङ् पदस्येति विद्यानात् । –वही, पृ. ४०७

४ त्रैपादिकतयाऽप्यसिद्ध कुत्वमिति बोध्यम् । –वही, पृ. ४०७

५ न हि क्विन् प्रत्ययत्वं व्यभिचरति । –जिने. न्यास. का. वृ. ६, पृ. ४२७

६ नकारस्य लोपे कर्त्तव्ये सति कुत्वस्यासिद्धत्वात् लोप एव भवति । –हर. पद. का. वृ. ६, पृ. ४२७

७ तस्मिन् सति पश्चात् भवत्कुत्वं परिशिष्टस्य धातोरेव भविष्यति । –हर.पद.का.वृ, ६, पृ. ४२७

८ कैयट. प्रदीप. व्या.म. ३, पृ. ४०७

कुत्व प्राप्ति होती है[१] क्योंकि बहुब्रीहि समास उपलक्षण में भी होता है।[२] यथा चित्रगु अभीष्ट होने पर तथा अप्राप्य होने पर अन्य उपलक्षित अर्थात् गो का आगमन अभीष्ट होता है उसी प्रकार क्विप् प्रत्यय न होने पर भी क्विनोपलक्षित धातु को कुत्व होता है।[३] यथा मा नो अद्राक् तथा अस्राक् रुप सिद्ध हुये हैं। अर्थात् कुत्व का विधान सृज्, दृश् धातुओं से क्रियारूप होने पर भी हुआ है अद्राक् और अस्राक् लुङन्त रूप हैं। इन उदाहरणों में भी अडागम वैदिक विशिष्टता है।[४] ईट् का अभाव[५], अमागम[६] तथा वृद्धि[७] होकर ये वैदिक प्रयोग सिद्ध होते हैं। यदि सूत्र में 'प्रत्ययस्य' का ग्रहण नहीं किया जाता तो षत्व[८] किया जाता। इस प्रकार दृग्भ्याम् दृग्भिः आदि प्रयोगों में भी कुत्व होता है। इस प्रकार तो रज्जुसृड्भ्याम् आदि प्रयोगों में भी कुत्व की प्राप्ति होने लगेगी क्योंकि ये क्विप् प्रत्ययान्त हैं। सूत्र में प्रत्यय ग्रहण होने के कारण क्विन् प्रत्यय जिससे विहित है उसको अन्य प्रत्ययान्त होने पर भी कुत्व होता है। इस अर्थ में प्राप्त षत्व का बाधक कुत्व है जो अनभीष्ट है। उत्तर सूत्र में 'वा' ग्रहण से प्रतिविधान किया गया है जो दोनों सूत्रों में शेष है। यह व्यवस्थित विभाषा है अतः कुत्व नहीं होता। इस प्रकार सूत्र में प्रत्ययस्य ग्रहण का प्रयोजन क्विन् से भिन्न प्रत्यय परे रहते भी कुत्व का विधान करना है।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने सूत्रोक्त पदों को सप्रयोजन स्वीकार किया है तथा उन पदों के प्रयोजनों से सम्बद्ध प्रत्येक सम्भावित शंका की उद्भावना तथा उनका समाधान करने में श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये गये हैं। अतः इसे प्रयोजनात्मक श्लोकवार्त्तिक माना जा सकता है।

---

१ Vasu, S.C. - Astadhyayi of Panini, Vol.II, p.1571.

२ बहुव्रीहिश्चोपलक्षणेऽपि भवति। – हर.पद.क्रा.वृ.६, पृ.४२८

३ क्विपिक्विनोपलक्षितस्य धातोः कार्यं भवतीति। – वही, पृ.४२८

४ The augment is not elided though the Mang is added as a Vedic diversity. –Vasu, S.C. - Aśṭā. Vol.II, p.1572.

५ The F&śd augment also does not take place as a Vedic irregularity. Ibid.

६ सृजिदृशोर्झल्यमकिति। – अ.सू., ६.१.५८

७ वदव्रजहलन्तस्याचः। – वही, ७.२.३

८ व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजच्छशां षः। – वही, ८.२.३६

(३) अ अ। (८.४.६८)

प्रस्तुत सूत्र अष्टा ध्यायी ग्रन्थ का अन्तिम सूत्र है। इस सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने 'अ इ उ ण्'[१] सूत्र पर गृहीत विवृत अकार को संवृत्त का विधान किया है।[२] सूत्र में दो अकार उक्त हैं इनमें सवर्णदीर्घत्व[३] की प्राप्ति होती है परन्तु निषेध हो जाता है क्योंकि इनमें प्रथम विवृत है तथा द्वितीय संवृत्त है।[४] विवृत अकार के स्थान पर संवृत्त अकार का विधान है। अतः स्थानी विवृत है तथा आदेश संवृत्त है। स्थानी तथा आदेश में रूप की अभेदता होने पर भी प्रयत्नभेद से भिन्नता है।[५] भिन्नता न होने पर अकार वचन अनर्थक ही होता। इन दोनों अकारों में विवृत प्रयत्न अकार के स्थान पर संवृत्त प्रयत्न अकार का विधान है। व्याकरण-शास्त्र[६] में सवर्ण का ग्रहण करने के लिये विवृत्त दोषयुक्त अकार उपदिष्ट है उसका प्रयोग होने पर उच्चारणार्थ संवृत्त अकार की प्रत्यापत्ति के लिये 'अ अ' सूत्र का ग्रहण किया गया है।[७] यद्यपि लोक में तथा वेद में संवृत अकार उक्त है तथापि व्याकरण में कार्य सिद्धि के लिये अकार को विवृत माना गया है।[८] ह्रस्व और दीर्घ अकार सवर्ण हो जाये इसलिये विवृत अकार का ग्रहण किया गया है अन्यथा, संवृत्त तथा विवृत

---

१ अ.सू.,प्र.सू.१

२ The which was considered to be open in all the preceding operations of this Grammar is now made contracted. S.C. Vasu - Aśṭā. of Panini, Vol.II, p.1680.

३ अकः सवर्णे दीर्घः। – अ.सू.,६.१.१९०

४ The open अ is now changed to contracted –Asta. of Panini, p.1680.

५ तेन स्थान्यादेशयोरुभयो रूपाभेदादपि प्रयत्नभेदाद् भेदो भवति। – न्यास.का.वृ.६,पृ. ६६८

६ अक्षरसमाम्नाय ग्रहणं सकलाशास्त्रोपलक्षणम्। – कैय्यटप्रदीप.व्या.महा.३,पृ.५

७ सवर्णार्थामिह शास्त्रे विवृत्तदोषमुक्तोऽकार उपदिष्टस्तस्य प्रयोगे संवृत्तस्यैवोच्चारणार्थमिदं प्रत्यापत्ति वचनम्। – कैय्यटप्रदीप.व्या.महा.३,पृ.५०९

८ In actual use the organ in the enunciation of the short अ is contracted, but it is considered to be open only as in the case of other vowels. When the vowel is in the state of king part in some operation of Grammar. –S.C. Vasu - **Aśṭā. of Panini, Vol.II, p.1680.**

भिन्न प्रयत्न वाले अकारों का ग्रहण होने पर परस्पर सावर्ण्य नहीं रहता.।[१] शास्त्र में विवृतोपदेश विदित है अतः प्रयोग में भी उसका ग्रहण होने लगेगा इस दोष की निवृत्ति के लिये संवृत्त अकार का ग्रहण किया गया है ।[२] भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र पर अकार के विवृतोपदेश के प्रयोजन के विषय में शंका की उद्‌भावना की है यद्यपि यह विवेचन वार्त्तिककार के द्वारा 'अकारस्यविवृतोपदेशः आकारग्रहणार्थ इस वार्त्तिक के माध्यम से किया गया है तथापि निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा अन्य प्रयोजनों का कथन भाष्यकार ने किया है—

आदेशार्थं सवर्णार्थमकारो विवृतः स्मृतः ।
आकारस्य तथा ह्रस्वस्तदर्थं पाणिनेर अ ॥

प्रयोग दशा में संवृत्त होने पर शास्त्र प्रक्रिया में अकार को विवृत मानने का प्रथम प्रयोजन आदेशार्थ है अर्थात् विवृत ह्रस्व स्थानी अकार के स्थान पर विवृत दीर्घ और प्लुत आदेश होंगे । भाष्यकार ने नैव लोके न चवेदे दीर्घ प्लुतौ संवृतौ स्तः कि तर्हि विवृतौ यौ स्तस्तौ भविष्यतः । इस वार्त्तिक के द्वारा विवृत अकार का प्रत्याख्यान किया है परन्तु प्रयोजनान्तर की व्याख्या करने के कारण इस प्रसंग पूर्व प्रत्याख्यान को स्वीकार नहीं किया गया है ।[३] आन्तरतम्य के कारण विवृत दीर्घ और प्लुत हो जायें एतदर्थ विकृत अकार का ग्रहण किया जाना चाहिये । द्वितीय प्रयोजन सवर्ण का ग्रहण करने के लिये विवृतोपदेश है ।[४] अकार अपने सवर्ण आकार का भी ग्रहण कर लेता है यदि विवृत अकार का ग्रहण नहीं किया जाता है । संवृत्त अकार का ग्रहण होने पर स्थानी अकार संवृत्त दीर्घ और प्लुत का ही ग्रहण

---

१ यदि संवृत्तविवृतप्रयत्नो परस्परं सवर्णौ स्याताम्, ततश्चाकारो ग्रह्यमाणं आकारं न गृह्णीयात् । – न्यास. का. वृ. ६, पृ. ६६८

२ तस्मादेवमादिकार्यार्थमकार इह शास्त्रे विवृतः प्रतिज्ञायते तत्र यदीयं प्रत्यापत्तिर्न क्रियेत तदा तस्यतथाभूतस्यैव प्रयोगः स्यात् स मा भूदिति प्रत्यापत्तिरिह क्रियते ।– हर.पद.का.वृ. ६, पृ. ६६८

३ प्रयोजनान्तरसद्‌भावादिह प्रत्याख्यानादरो न कृतः पूर्वमेव वा प्रत्याख्यानात् । – कैय्यट. प्रदीप. व्या. महा. ३, पृ. ५१०

४ एवञ्चः सवर्णाथव प्रत्यापत्तिरिति भावः । – नागेश उद्योत व्या. महा. ३, पृ. ५१०

करेगा।[१] आकार को ह्रस्व प्रतिपादनार्थ भी विवृत का ग्रहण किया गया है। यथा अतिखट्वः अतिमाल इन उदाहरणों में ह्रस्व[२] का कथन होने पर विवृत ह्रस्व आकार की प्राप्ति होती है। संवृत अकार हो यह प्रत्यापत्ति विवृतोपदेश करने पर होती है।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से सूत्रोक्त पदों की व्याख्या की है। प्रयोग दशा तथा प्रक्रिया दशा को पृथक्-पृथक् स्वीकार किया है। सूत्र का प्रयोजन भी श्लोकवार्त्तिक के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

निष्कर्षतः श्लोकवार्त्तिकों का पाणिनीय सूत्रों के दृष्ट तथा अदृष्ट प्रयोजनों की सिद्धि में महत्वपूर्ण योगदान है। सूत्रों में पठित पदों के अतिरिक्त वार्त्तिकों का प्रयोजनात्मक विवेचन भी श्लोकवार्त्तिकों में उपलब्ध है।

---

१ स्थान्यकारो विवृतो अण्त्वात् सवर्णानां ग्राहको इति दीर्घप्लुतयोरपि स्थाने संवृतोऽकारः प्राप्नोति। – वही, पृ. ५१०

२ गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य। – अ. सू., १.२.४८

षष्ठ अध्याय

प्रत्याख्यानात्मक श्लोकवार्त्तिक

भाष्यकार ने सूत्रों का वार्त्तिकों सहित व्याख्यान किया है । व्याकरणात्मक सिद्धान्तों का प्रतिपादन सूत्रों तथा वार्त्तिकों के अतिरिक्त श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा भी किया गया है । सूत्रों में प्रतिपादित सिद्धान्तों के व्याख्यान के अतिरिक्त सूत्रोक्त पदों का अथवा सम्पूर्ण सूत्र का प्रत्याख्यान श्लोकवार्त्तिकों में उपलब्ध होता है । सामान्यवार्त्तिकों में जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है उनका खण्डन श्लोकवार्त्तिकों द्वारा विहित है । कहीं-कहीं श्लोकवार्त्तिक में निबद्ध सिद्धान्तों का प्रत्याख्यान अन्य श्लोकवार्त्तिक के द्वारा कर दिया गया है । इस प्रकार उन श्लोकवार्त्तिकों को प्रत्याख्यानात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है जिनमें सूत्रोक्त पद, सम्पूर्ण सूत्र, सामान्य-वार्त्तिक अथवा श्लोकवार्त्तिकों से सम्बद्ध प्रत्याख्यानात्मक विवेचन प्रस्तुत है । महाभाष्य में उद्धृत निम्न श्लोकवार्त्तिकों को प्रत्याख्यानात्मक श्लोकवार्त्तिक मानना संगत प्रतीत होता है ।

प्रथम अध्याय – नाज्झलौ[१]

प्रस्तुत सूत्र से सूत्रकार ने अच् एवं हल् की परस्पर सवर्ण संज्ञा का निषेध किया है । सूत्रकार ने 'तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम्'[२] सूत्र से तुल्य उच्चारण-स्थान एवं आभ्यन्तर प्रयत्न वाले वर्णों की सवर्ण संज्ञा का विधान किया है । प्रत्याहार सूत्रों में अच् और हल् दोनों का ही उच्चारण किया गया है । इनमें से कुछ अच् तथा हल् की सवर्ण संज्ञा की प्राप्ति होती है ।[३]

---

१ अ.सू.,१.१.१०

२ वही,१.१.९

३ उच्चारण स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न समान होने से यथा – इचुयशानां तालु ।– ऋटरषाणां मूर्धा ।

अच् और हल् की परस्पर सवर्ण संज्ञा करने पर दण्ड हस्त, दधि शीतम् उदाहरणों में सवर्ण दीर्घ[१] हो जाता क्योंकि 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः'[२] सूत्र से अकार और इकार अपने सवर्ण संज्ञक हकार और शकार का ग्रहण कर लेते। इस शंका की उद्भावना भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा की ही है—

अज्झलोः प्रतिषेधे शकारप्रतिषेधोऽज्झल्त्वात्।
तत्र सवर्णलोपे दोषः सिद्धमनच्त्वात्॥

अच् और हल् की परस्पर सवर्ण संज्ञा का निषेध होने पर तो एक शकार की दूसरे शकार से सवर्ण संज्ञा का निषेध हो जायेगा। जिस शकारका स्थान-साम्य के कारण अच् में भी परिगणन करने का बलात् प्रयत्न किया है। इस कारण यह शंका उपस्थित होती है। इसका आधार यह है कि इकार और शकार का प्रयत्न एवं उच्चारण-स्थान समान है अतः श् अच् भी है और हल् भी है।[३]

सवर्ण संज्ञा का ग्रहण न करने पर 'झरो झरि सवर्णे'[४] सूत्र से सवर्ण लोप न होने से श् लोप नहीं होगा। अतः अभीष्ट रूप की सिद्धि में बाधा होती है। यथा परश्शतानि इस उदाहरण में परश् + शतानि इस स्थिति में 'अनचि च'[५] सूत्र से द्वित्व होने पर परश्श्शतानि रूप बनता है सवर्ण लोप होने पर ही अभीष्ट उदाहरण परशतानि सिद्ध होता है।

शकार का अनच्त्व सिद्ध होने के कारण सवर्ण संज्ञा प्राप्त नहीं होती। शकार को अच् न मानने का आधार प्रयत्न है। भाष्यकार ने शौनकीय प्रातिशाख्य के अनुसार स्वरों का प्रयत्न विवृत तथा ऊष्म श, ष, स, ह का प्रयत्न ईषद्विवृत स्वीकार किया है। आपिशलि ने भी ऊष्म को ईषद्विवृत स्वीकार किया है।[६] अतः यह तथ्य

---

१ अकः सवर्णे दीर्घः। – अ.सू., ६.१.१०१

२ अ. सू., १.१.६९

३ Since i and ś both have the place of articulation and Vivrtatva as the abhyantarprayatna, ś is considered Savarna to it. Since i, is included in the pratyāhāra ac, ś is also considered ac. –Sāstri P.S.S. - Lect Pat. MB. Vol.II, p.72.

४ अ. सू., ८.४.६५

५ अ. सू., ८.४.४७

६ ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः। Limye V.P. Crit. Stu. on MB, p.57.

स्पष्ट हो जाता है कि अच् एवं हल् की परस्पर सवर्ण संज्ञा की प्राप्ति ही नहीं होती। इसलिये उसके निषेध का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। प्रकारान्तर से श्लोकवार्त्तिककार ने प्रकृत सूत्र को निष्प्रयोजन सिद्ध किया है। यह कहना असंगत प्रतीत नहीं होता कि श्लोकवार्त्तिकों में पाणिनीय सूत्रों का प्रत्याख्यान किया गया है।

(२) स्थाघ्वोरिच्च[१] – सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र से आत्मनेपद प्रत्यय परे रहते स्था तथा घुसंज्ञक[२] धातु के स्थान पर इकार तथा सिच् को कित् विधान किया है। भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र पर निम्न श्लोकवार्त्तिक का ग्रहण किया है—

इच्च कस्य तकारेत्वं दीर्घो मा भूद्दतेऽपि सः।
अनन्तरे प्लुतो मा भूत् प्लुतश्च विषये स्मृतः॥

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि सूत्र में इच्च पद में इकार को तकारान्त ग्रहण करने का क्या प्रयोजन है? श्लोकवार्त्तिककार ने तपरकरण के दो प्रयोजनों का निर्देश किया है प्रथम दीर्घत्व विधान का अभाव और द्वितीय प्लुत ग्रहण का अभाव। प्रथम कारण का आधार है यदि तपरक इकार का ग्रहण न किया जाता तो इकार से समस्त सवर्णसंज्ञकों[३] का ग्रहण हो जाता। सवर्ण ग्रहण का परिणाम यह होता कि 'उपस्थित' 'आदित' उदाहरणों में 'स्थानेऽन्तरतमः'[४] परिभाषा से सदृशतम दीर्घ आदेश हो जाता। इस दीर्घत्व का निराकरण करना ही श्लोकवार्त्तिक में तपरग्रहण का प्रयोजन माना है। तपरग्रहण न करने पर 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि'[५] सूत्र से आकार को ईकारादेश[६] हो जाता है अतः तपर रहित इकार का निर्देश करने पर भी दीर्घादेश नहीं होगा।[७] इस कारण इस प्रयोजन का प्रत्याख्यान कर दिया गया है।

---

१ अ.सू.,१.२.१७
२ दाधाघ्वदाप्। – वही,१.१.२०
३ तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम्। – अ.सू.,१.१.९
४ अ.सू.,१.१.५०
५ वही,६.४.६६
६ अधि अ गा स् त इस अवस्था में ईकारादेश होने पर अधि अ गी स् त
७ भाव्यमानोऽण् सवर्णान् न गृह्णाति इत्यतो दीर्घो न भविष्यति। – जिने. न्यास. का. वृ. १,पृ.२९०

पाणिनि ने 'तपरस्तत्कालस्य'[१] सूत्र से तपरक् अण् की समकाल संज्ञा का ही विधान किया है। अतः इ की ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञायें हैं। इकार को दीर्घत्व की प्राप्ति नहीं होती परन्तु प्लुत प्राप्ति की सम्भावना है।[२] श्लोकवार्त्तिक के अनुसार सूत्र में इत् ग्रहण से प्लुत का भी निषेध हो जाता है। प्लुत की अपने विषय में ही प्रसक्ति होने के कारण यह प्रयोजन भी निराधार प्रतीत होता है।[३] सूत्रकार ने 'वाक्यस्य टेः प्लुत'[४] उदात्तः' तथा 'दूराद्धूते च'[५] सूत्रों से प्लुत का विषय निर्दिष्ट किया है। प्लुत का विषय काशिकाकार[६] ने दूराह्वान तथा वाक्यान्त में सम्बोधन को स्वीकार किया है। इनसे अतिरिक्त प्लुत नहीं होता। अतः प्लुत का निषेध करना निष्प्रयोजन प्रतीत होता है। दीर्घत्व का न होना तथा प्लुत का न होना इन दोनों को तपरग्रहण के पूर्वपक्षीय प्रयोजन माना गया है। श्लोकवार्त्तिक में ही इनका प्रत्याख्यान भी कर दिया गया है। यह सिद्ध किया गया है कि सूत्र में गृहीत तपरत्व व्यर्थ है।

(३) बहुषु बहुवचनम्[७] – संस्कृत व्याकरण की विशेषता है तीन वचनों (एकवचन, द्विवचन, बहुवचन) की उपस्थिति। पाणिनि ने 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने'[८] सूत्र से एकवचन, द्विवचन का विधान एकत्व तथा द्वित्व की विवक्षा में करते हैं। 'बहुषु बहुवचनम्'[९] सूत्र से बहुत्व की विवक्षा में बहुवचन का विधान किया गया है।

कात्यायन ने 'सुप्तिङामविशेषविधानाद् दृष्टविप्रयोगाच्च नियमार्थवचनम्' वार्त्तिक के द्वारा प्रस्तुत सूत्र का प्रयोजन सुप् और तिङ् का सामान्यरूपेण विधान तथा विप्रयोग[१०] माना है। भाष्यकार प्रस्तुत सूत्र को नियमार्थ स्वीकार करते हुये

---

१ अ.सू., १.१.७०
२ सति तु तपरत्वे दीर्घाप्राप्त्या प्लुतो निर्विघ्नः इति भावः। – नागेश उद्योत व्या. म. १, पृ.
३ पश्चात्प्राप्तस्तु तपरत्वेन न बाध्यतेऽसिद्धत्वादित्याशयः। – वही
४ अ.सू., ८.२.८२
५ वही, ८.२.८४
६ दूरादाह्वाने वाक्यस्यान्ते यत्र सम्बोधन पदं भवति तत्रायं प्लुत इष्यते। – का. वृ.
७ अ.सू., १.४.२१
८ वही, १.४.२२
९ वही, १.४.२१
१० विप्रयोग से अभिप्राय' व्यतिरेक प्रयोग है यथा अक्षीणि पद में दर्शनीयानि द्वित्व होने पर भी बहुवचन है।

शंका करते हैं कि इसे प्रत्यय-नियम माना जाये अथवा अर्थ-नियम। प्रत्यय-नियम में एकवचन, द्विवचन और बहुवचन इनसे अन्यत्र नहीं हो सकते जबकि अर्थ-नियम में अर्थों का नियमन होने से इन अर्थों से अन्यत्र भी इन प्रत्ययों का विधान हो सकता है। अतः कात्यायन ने 'अर्थ नियमे सिद्धम्' वार्त्तिक के द्वारा प्रत्यय नियम को दोषयुक्त मानकर प्रकृत सूत्र से होने वाले बहुवचन को अर्थनियम में निर्धारित किया है परन्तु निम्न श्लोकवार्त्तिक में अर्थनियम को निर्दुष्ट मानते हुये भी प्रत्ययनियम में उक्त आक्षेप का परिहार किया गया है—

सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङाम्।
प्रसिद्धो नियमस्तत्र नियमः प्रकृतेषु वा॥

श्लोकवार्त्तिककार के अनुसार सुप् और तिङ् प्रत्यय कर्मादि अर्थों में तथा संख्या में विहित होते हैं। कर्मत्वादि योग्यार्थक प्रातिपदिकमात्र एकत्व में प्रथमा एकवचन में सु तथा कर्मशक्तिसमानाधिकरण एकत्व में द्वितीया एकवचन होता है। इसी प्रकार तिङ् प्रत्यय भी कर्मादि तथा संख्या अर्थों में प्रयुक्त होते हैं।[1]

एकत्व, द्वित्व और बहुत्व के विषय में अर्थनियम प्रसिद्ध होने पर भी जिन प्रातिपादिकों के एकत्व द्वित्व या बहुत्व अर्थ होंगे उनमें प्रत्यय नियम की प्रवृत्ति होती है। अव्ययों[2] में एकत्व, द्वित्व और बहुत्व अर्थों का सम्बन्ध न होने के कारण उनसे स्वादि की प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार श्लोकवार्त्तिककार कात्यायनीय वार्त्तिक 'तत्र प्रत्यय नियमे अव्ययानां पदसंज्ञाभावो सुबन्तत्वात्' का प्रत्याख्यान करके प्रत्यय नियम पक्ष को संगत मानते हैं। भाष्यकार अव्ययों से भी सुबुत्पत्ति मानते हैं क्योंकि उत्पत्ति न होने पर लोप का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।[3]

इस प्रकार प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि महाभाष्य में उद्धृत श्लोकवार्त्तिकों से सूत्रों से सम्बद्ध अनेक पक्षों की विवेचना की गई है। सूत्र की सूक्ष्म दृष्टि से व्याख्या करते हुये पतञ्जलि ने कहीं-कहीं वार्त्तिकों का प्रत्याख्यान भी श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से किया है।

तृतीय अध्याय – 'कण्ड्वादिभ्यो यक्'[4]

---

१ तिङोऽपि कर्तृकर्मणोर्विधीयमाना संख्यायुक्तयोरेव तयोर्वाचका भविष्यन्ति स्वभावतः।
२ सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिसु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥
३ अव्ययादाप्सुपः। – अ. सू., २.४.८२
४ अ. सू., ३.१.२७

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने कण्ड्वादि धातुओं से यक् विकरण का विधान किया है। भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र पर वार्त्तिकों के माध्यम से व्याख्यान किया है उसी विवेचन को व्याख्यान-भाष्य के अन्त में अपर आह कहकर अन्य वैयाकरण के मतानुसार निम्न श्लोकवार्त्तिक के रूप में निबद्ध किया है—

धातुप्रकरणाद्धातुः कस्य चासञ्जनादपि।
आह चायमिमं दीर्घं मन्ये धातुर्विभाषितः ॥

प्रस्तुत सूत्र के व्याख्यान भाष्य में मुख्यतः दो शंकाओं की उद्‌भावना की गई है प्रथम शंका यक् विकरण में ककार ग्रहण का क्या प्रयोजन है तथा द्वितीय शंका यह है कि सूत्र में 'वा' पद का ग्रहण करना चाहिये अथवा नहीं, परन्तु द्वितीय शंका भी पूर्व से ही सम्बद्ध प्रतीत होती है।[१] क्योंकि ककार का प्रयोजन स्पष्ट करने के लिये ही भाष्यकार ने वैकल्पिक यक् विधि का प्रसंग प्रारम्भ किया है। ककार ग्रहण का सामान्य प्रयोजन यक् को कित्व मानकर गुण वृद्धि का प्रतिषेध है[२] परन्तु इसका विशिष्ट प्रयोजन कण्ड्वादि की द्विविधता को स्पष्ट करना है।

कण्ड्वादि धातु भी हैं तथा प्रातिपादिक भी हैं। समस्या उत्पन्न होती है कि कण्ड्वादि धातुओं से यक् का विधान किया जाये अथवा कण्ड्वादि प्रातिपादिकों से। 'कण्ड्वादिभ्यो यक्'[३] सूत्र मं "धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्"[४] इस सूत्र से धातु का अनुवर्तन होता है। धातु प्रकरण में होने के कारण केवल कण्ड्वादि धातु का अनुवर्तन होता है। धातु प्रकरण में होने के कारण केवल कण्ड्वादि धातु से ही यक् होगा प्रातिपादिक से नहीं। कण्ड्वादि धातु ही है प्रातिपादिक नहीं है। इन्हें प्रातिपादिक मान लिया जाये तथा वा की अनुवृत्ति कर ली जाये तो कण्डूः[५] रूप होगा जो अनिष्ट है क्योंकि धातु से सुबुत्पत्ति नहीं की जाती अपितु प्रातिपादकों से ही की जाती है।[६] यदि कण्डू को क्विप् प्रत्यय से प्रातिपादिक मान लिया जाये

---

१ ककारप्रयोजनमेव दर्शयितुं वस्त्वन्तरनुपक्षिप्यते। – कैयट. प्रदीप. व्या. म. २, पृ.६३

२ क्ङिति च। – अ. सू., १.१.५

३ अ. सू., ३.१.२७

४ अ.सू. ३.१.२१

५ कण्डूतः, कण्डूतवान् आदि उदाहरणों में।

६ प्रातिपादिकेभ्यस्तु स्वाद्युत्पत्तौ सत्यां कण्डूरित्यादिरूपसिद्धि। – कैय्यट प्रदीप. व्या. म. १, पृ.

तो भी असंगति प्रतीत होती है क्योंकि क्विप् कर्त्ता अर्थ मे है। 'वा' की अनुवृत्ति स्वीकार करने पर भी यगभाव पक्ष में विभक्ति भी नहीं होगी तो अविभक्तिक रूप रहेंगें। यक् के पश्चात् क्विप् करने पर भी 'अकृत्सार्वधातुकयोः'[१] से दीर्घ करना ही होगा।

यदि कण्ड्वादि को प्रातिपादिक मान लिया जाये तब भी ककार ग्रहण अनर्थक हो जाता है क्योंकि उसका प्रयोजन गुण वृद्धि का निषेध है।[२] प्रातिपदिक में गुण[३] प्राप्ति न होने से निषेध करना व्यर्थ है।धातुभूत कण्ड्वादि से यग्विधान होने के कारण तथा ककार अनुबन्ध होने के कारण उनका धातुत्व ज्ञापित होता है।प्रातिपदिक कण्ड्वादि में यग्विधान तथा ककार अनुबन्धकरण दोनों ही निरर्थक हैं प्रयोजनाभाव के कारण। श्लोकवार्त्तिककार ने इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है कि कण्ड्वादि प्रातिपदिकों से यक् होगा या नहीं। 'आयादयः आधर्धातु के वा[४]' सूत्र में 'वा' ग्रहण से यह स्पष्ट होता है कि यग्विधान नित्य विधि है क्योंकि 'वा' का अनुवर्तन उस सूत्र[५] से किया जा सकता था पुनः कथन असंगत प्रतीत होता है। यदि कण्ड्वादि प्रातिपदिक का ग्रहण नहीं किया जायेगा तो दीर्घत्व[६] निरर्थक सिद्ध होगा। कण्ड्वादि का दीर्घान्त पाठ यह निश्चित करता है कि पक्ष में कण्ड्वादि प्रातिपदिक होते है।[७]

अतः श्लोकवार्त्तिक के आधार पर यह कहा जा सकता है कि धातु की स्थिति में ही कण्ड्वादि से यक् विधान किया जायेगा। धातु पक्ष में कण्डूयते इत्यादि रूप सिद्ध होते हैं अकारान्त कण्ड्वादि रूपों में अकार[८] लोप हो जाता है यथा सुख्यति मगध्यति आदि उदाहरणों में। प्रातिपदिक पक्ष में कण्ड्वादि से यक् नहीं होता अतः कण्डूः, मन्तुः, वल्गुः आदि रूप सिद्ध होते हैं। प्रातिपदिकों में आर्धधातुक संज्ञा[९] न होने के कारण गुण[१०] प्राप्ति नहीं होती अतः ककारानुबन्धकरण प्रातिपादिक पक्ष

---

१ अकृत्सार्वधातुकयोः। – अ. सू., ७.४.२५
२ क्ङिति च। वही, १.१.५
३ अतो लोपः। अ.सू. ६.४.४८
४ अ.सू. ३.१.३१
५ आयादयः आर्धधातु के वा। अ.सू. ३.१.३१
६ अकृत्सार्वधातुकयोः। अ.सू. ७.४.२५.
७ दीर्घान्तपाठाच्च पाक्षिकं धातुत्वमेषां निश्चीयते। - कैयट प्रदीप व्या.म.II पृ.६४
८ अतो लोपः। अ.सू.६.४.४८
९ आर्धधातुकं शेषः। अ.सू. ३.४.११६
१० सार्वधातुकार्धधातुकयोः। अ.सू.७.३.८४

के लिये निष्प्रयोजन प्रतीत होता है । इस प्रकार श्लोकवार्त्तिककार ने ककारानुबन्ध का प्रत्याख्यान किया है ।

(२) तनादिकृञ्भ्यः उः[१] — प्रस्तुत सूत्र से सूत्रकार तनादि तथा कृञ् धातु से उ विकरण का विधान करते हैं । कृञ् धातु तनादिगण की ही धातु है अतः उसका पृथक् ग्रहण असंगत प्रतीत होता है । भाष्यकार ने शंका की उद्भावना की है कि सूत्र में कृञ् के पृथक् ग्रहण का क्या प्रयोजन है ? भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक[२] के उद्धरण से कृञ् ग्रहण का व्याख्यान किया है—

तनादित्वात्कृञः सिद्धं सिज्लोपे च न दुष्यति ।
चिण्वदभावेऽत्र दोष, : स्यात्सोऽपि प्रोक्तो विभाषया ॥

प्रस्तुत सूत्र में कृञ् ग्रहण के दो प्रयोजन भाष्यकार ने पूर्वपक्ष के रुप में स्वीकार किये है । प्रथम यह कि तनादि धातुओं से से होने वाले कार्य कृञ् धातु से भी हो जायें यथा अनुनासिक लोप ।[३] द्वितीय यह है कि तनादि धातुओं से होने वाले अन्य कार्य कृञ् धातु से न हो इसलिए सूत्र में कृञ् का ग्रहण किया गया है । काशिकाकार ने कृञ् ग्रहण का प्रयोजन नियमार्थ स्वीकार किया है ।[४] काशिका[५] के अनुसार उ विकरण कृञ् धातु से हो जाये यही प्रयोजन सिद्ध होता है । तनादि धातुओं से विहित अन्य कार्य कृञ् धातु से न किये जायें ।[६] तनादि धातुओं से होने वाले अनुनासिक लोप की सम्भावना कृञ् धातु में असम्भव है क्योंकि अनुनासिक का पूर्णाभाव कृञ् धातु में है । यथा पलाश पुष्प की रक्तिमा स्वाभाविक है मनुष्यकृत नहीं है तथैव कृञ् धातु में अनुनासिक का श्रवणभाव है इसमें लोप अपेक्षित नहीं हैं ।[७]

समस्या यह है कि यदि कृञ् ग्रहण का प्रयोजन तनादि धातुओं से विहित अन्य प्रक्रियाओं का कृञ् से निषेध करना है तो वह कौन-सी प्रक्रिया है जिसका

---

१ अ. सू., ३.१.७९
२ काशिकाकार ने यह श्लोकवार्त्तिक उद्धऋत किया है ।
३ अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकक लोपो झलि क्ङिति । – अ. सू., ६.४.३७
४ तनादिपाठादेव उ प्रत्यये सिद्धे करोतेरूपादनं नियमार्थम् । - का.वृ., पृ. ४५७
५ नियमार्थमिति । एतदेव तनादिकार्य यथा स्यादित्येष नियमो यथा स्यात् । - जिने न्यास. का. वृ., पृ. ४५७:
६ अन्यत्तनादिकार्य मा भूदिति । – का. वृ. २
७ व्या. म. ३.१.७९, भाग ३, पृ. १५६

निषेध अभीष्ट है। तनादि[१] धातुओं से लुङ् लकार में त, थस् परे रहते सिच् का लोप होता है वह कृञ् से न किया जाये। अर्थात् अ कृ स त इस अवस्था में 'तनादिभ्यस्तथासोः'[२] सूत्र से विहित वैकल्पिक सिच् लोप न हो। कृञ् ग्रहण का प्रयोजन इस वैकल्पिक सिच् लोपभाव से भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि अभाव-पक्ष में 'ह्रस्वादङ्गात्'[३] सूत्र से सिच् लोप का विधान होता है।[४] प्रकृत सूत्र से सिच् लोप होने पर 'चिण्वद् भाव'[५] की प्राप्ति होती है। सिच् लोप वैकल्पिक होने के कारण अभाव-पक्ष में सिच् लोप के असिद्ध होने पर चिण्वद् भाव सिद्ध होता है परन्तु चिण्वद् भाव भी विकल्प से होता है। उत्सर्ग की प्रवृत्ति में जो विकल्प व्यर्थ होता है वह उत्सर्ग अपवाद के अभाव-पक्ष में भी प्रवृत्त नहीं होता।[६] अतः भाष्यकार[७] के मतानुसार कृञ् ग्रहण निष्प्रयोजन प्रतीत होता है।

यदि कृञ् ग्रहण निष्प्रयोजन स्वीकार कर लिया जाये तो उसका ग्रहण वादिगण में ही किया जाना चाहिये था।नागेश ने तनादिपाठ में कृञ् ग्रहण विकरणार्थ ही स्वीकार किया है।[८] इस प्रकार श्लोकवार्तिक के अध्ययन से यह स्स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने सूत्रों मं प्रतिपादित सिद्धान्तो का प्रत्याख्यान भी श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। सूत्रों में गृहीत पदों का प्रयोजन सिद्ध करते हुय सूत्रों में गृहीत पदों के विषय में शंकाओं की उद्भावना की है तथा उनके प्रत्याख्यान में श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं।

(३) आतोऽनुपसर्गे कः[९] — भाषा में प्रचलित प्रयोगों की सिद्धि के लिये सूत्रकार ने उत्ससर्गापवाद नियम का आश्रय लिया है। अण् तथा क प्रत्यय भी उत्सर्गापवाद है।कर्म उपपद में रहते धातु से अण्[१०] प्रत्यय का विधान किया गया

---

१ तनादिभ्यस्तथासोः। – अ. सू., २.४.७९

२ अ. सू., २.४.७९

३ वही, ८.२.२७

४ असिद्धत्वेऽपि यदीदं न स्यात्तदा स्यादेव ह्रस्वादङ्गात्।

५ स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोपदेशोऽज्झनग्रहदशां वा चिण्वदिट् च॥ – अ. सू., ६.४.६२

६ नास्त्यपवादेष्वसिद्धत्वं अपवादवचनाप्रामाण्यात्। – जिने. न्यास. का. वृ. २, पृ. ४५८

७ यदुत्सर्ग-प्रवृत्तौ विकत्पवैयर्थ्य स उत्सर्गोऽपवादा भावपक्षेऽपि न प्रवर्तत एव। – नागेश, उद्योत व्या. म. ३.१.७९, भाग ३, पृ. १५६

८ एतेन कृञ्ग्रहणं गणकार्या नित्यत्वज्ञापनार्थम्। - वही

९ अ.सू., ३२३

१० कर्मण्यण्। - अ.सू., ३.२.१ ह्वावामश्च - अ.सू. ३.२.२

है जो उत्सर्ग नियम है जबकि क प्रत्यय का विधान करने के कारण प्रस्तुत सूत्र अपवाद सूत्र है।

प्रस्तुत सूत्र आकारान्त अनुपसर्ग धातुओं से कर्म उपपद में रहते क प्रत्यय का विधान करता है। यथा गोदः, कम्बलदः आदि उदाहरणों में गां ददाति, कम्बलम् ददाति इस विग्रह में समास[१] तथा सुप् लोप[२] करने पर गो दा इस स्थिति में 'क' प्रत्यय का विधान होता है। आकार लोप[३] करने पर गोदः रूप सिद्ध होता है। प्रस्तुत सूत्र पर वार्त्तिककार ने 'क विधौ सर्वत्र संप्रसारणिभ्यो डः' वार्त्तिक से शंका की उद्भावना की है कि 'क' विधान होने पर सम्प्रसारणीय धातुओं में ड प्रत्यय होना चाहिये। भाष्यकार ने व्याख्यान-भाष्य के द्वारा शंका का समाधान प्रस्तुत किया है तथा उसे निम्न श्लोकवार्त्तिकों में निबद्ध किया है—

नित्यं प्रसारणं ह्वो यण् वार्णादाङ्ग न पूर्वत्वं हि।
योनादिष्टादचः पूर्वस्तत्कार्ये स्थानिवत्वं हि॥
प्रोवाच भगवान्कात्यस्तेनासिद्धिर्यणस्तु ते।
आतः को लिण्नेडः पूर्वः सिद्धः आह्वस्तथा सति॥

क प्रत्यय की प्राप्ति होने पर सम्प्रसारणीय धातुओं से ड प्रत्यय करने पर अभीष्ट रूप सिद्ध नहीं होते। प्रस्तुत प्रसंग में सर्वत्र से अभिप्राय क प्रत्यय विधान ही है अतः सम्प्रसारण[४] करने पर उवङादेश[५] की प्रसक्ति होने लगती है और अनभीष्ट रूप सिद्ध होता है यथा आह्वः प्रह्वः इसकी व्युत्पत्ति प्र + ह्व धातु से भी स्वीकार की गई है। इसका प्रयोग प्राचीन है अतः अमरकोश[६] में इसका ग्रहण नहीं किया गया परवर्तीकाल[७] में इसका प्रयोग उपलब्ध होता है। पदों में सोपसर्ग धातु से क विहित है।[८] आह्वः पद में आ पूर्वक ह्वे धातु है आत्व[९] होने पर आ ह्वा अ इस

---

१ अनेकमन्यपदार्थे। – अ. सू., २.२.२४
२ सुपोधातुप्रातिपदिकयोः। – वही, २.४.७१
३ आतो लोप इटि च। – अ. सू., ६.४.६४
४ वचि स्वपि यजादीनां किति। – वही, ६.१.१५
५ अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ। – वही, ६.४.७७
६ तस्मात् प्रह्वस्तिष्ठन् प्रेष्यति तमुवाचाथ देवापि प्रह्वं तु प्राञ्जलि स्थितम्। – Limye V.P. Crit. Stu. on M.B. Page.193.
७ 'नामगोत्रे गुरोः समाननिर्दिशेत् परिभाषा की व्याख्या में गुरोर्नाम समानतः सम्यक् आनत प्रह्वोभूत्वा निर्दिशेरिति। – हर. पद. का. वृ. Ibid Page.194.
८ आतश्चोपसर्गे। – अ. सू., ३.१.१३६
९ आदेच उपदेशेऽशिति। – वही, ६.१.४५

स्थिति में शंका उत्पन्न होती है कि सम्प्रसारण[१] के पश्चात् आकार लोप[२] की प्राप्ति होती है उसको स्थानिवद्भाव[३] होने के कारण इयङुवङ् की प्राप्ति नहीं होती परन्तु अन्तरङ्ग[४] कार्य होने के कारण पूर्वत्व[५] की सिद्धि होती है क्योंकि वर्ण सम्बन्धी कार्य से अंग सम्बन्धी कार्य बलवान् होता है ? इस शंका का समाधान इस प्रकार किया गया है कि यदि वार्ण कार्य से आङ्ग कार्य को बलवान् मान लिया जायेगा तो सम्प्रसारण से पूर्व ही आकार लोप हो जायेगा। पर[६] कार्य होने के कारण सम्प्रसारण नित्य है क्योंकि यह कृताकृत[७] प्रसंग है। सम्प्रसारण करने पर पूर्वत्व होने के कारण आकार लोप अनित्य[८] है। सम्प्रसारण के द्वारा आत्व का विहनन न होने के कारण सम्प्रसारण तथा आत्व दोनों के नित्य होने के कारण पर होने के कारण आत्व की प्रसक्ति होती है तथा आत्व[९] के पश्चात् सम्प्रसारण की प्राप्ति होती है। तत्पश्चात् अच् परे रहते उवङादेश[१०] प्राप्त होता है, परन्तु आकारलोप वो स्थानिवद्भाव होने के कारण उवङादेश नहीं होता। अतः आकार लोप के पश्चात् आ हु अ इस अवस्था में यणादेश होकर आह्वः रुप सिद्ध होता है। परन्तु आकार लोप[११] को स्थानिवद्भाव[१२] होने के कारण उवङादेश नहीं होता। अतः आकार लोप के पश्चात् आ हु अ इस अवस्था में यणादेश होकर आह्वः रूप सिद्ध होता है।

यदि 'आह्वः प्रह्वः उदाहरणों में उवङादेश असिद्ध है तो जुहुवतुः जुहवुः प्रयोगों में भी आकार लोपासिद्धि के कारण उवङ् प्राप्ति नहीं होती परन्तु 'असिद्धवदत्राभात्'[१३] सूत्र से आकार लोप असिद्ध है। जुहुवतुः रूप में लिट् लकार परे रहते

---

१ वचि स्वपि यजादीनां किति। – अ.सू., ६.१.१५
२ आतो लोप इटि च। – वही, ६.४.६४
३ अचः परस्मिन् पूर्वविधौ। – वही, १.१.५७
४ असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्ग। – परि.
५ सम्प्रसारणाच्च। – अ.सू., ६.१.१०८
६ विप्रतिषेधे परं कार्यम्। – वही, ३.२.३
७ कृतेऽप्यकारलोपे प्राप्नोत्यकृतेऽपि। – व्या.म.२, पृ.
८ यस्य च निमित्तं लक्षणान्तरेण विहन्यते तदनित्यम्। – व्या.म.३.२.३, भाग २
९ आदेच उपदेशेऽशिति। – अ.सू., ६.१.९५
१० अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ। – अ.सू., ६.४.७७
११ आतो लोप इटि च। – अ.सू., ६.४.६४
१२ अचः परस्मिन् पूर्वविधौ। – वही, १.१.५७
१३ असिद्धवदत्राभात्। – वही, ६.४.२२

सम्प्रसारण[१] होता है। सम्प्रसारण के पश्चात् शंका उत्पन्न होती है कि आत्व किया जाये अथवा गुण के पश्चात् पूर्वरूप एकादेश किया जाये योगविभाग करने पर सूत्र का अर्थ है सम्प्रसारण से एङ् परे रहते पूर्व और पर दोनों के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होता है। पूर्वरूप[२] के स्थान पर एङ् को निमित्त मानकर यदि पूर्वरुप[३] किया जायेगा तो अनभीष्ट रूप सिद्ध होता है। अतः आकारलोप असिद्ध होने के कारण यणादेश से ही रूप सिद्ध होता है।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने न केवल सूत्रों के व्याख्यान के लिये अपितु वाक्य वार्त्तिकों के व्याख्यान के लिये भी श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण किया है। श्लोकवार्त्तिक से कात्यायनीय वार्त्तिक में उक्त पद सर्वत्र का प्रत्याख्यान किया गया है तथा क विधि में सम्भावित ड का भी प्रत्याख्यान किया है। श्लोकवार्त्तिकों के कर्तृत्व के सम्बन्ध में भी इन श्लोकवार्त्तिकों से प्रकाश पड़ता है। अभिप्राय यह है कि कारिकोक्त पद भगवान् कात्य यह संकेत करते हैं कि श्लोकवार्त्तिकों में पतञ्जलि ने कात्यः तथा कात्यायन दोनों का नामोल्लेख किया है अतः स्पष्ट है कि ये श्लोकवार्त्तिक कात्यायन प्रणीत नहीं है।

(४) उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च[४] – प्रस्तुत सूत्र में पूर्व[५] सूत्र से भाषायाम् तथा 'छन्दसि लिट्'[६] सूत्र से लिट् की अनुवृत्ति होती है। अतः प्रस्तुत सूत्र उपेयिवान्, अनाश्वान् तथा अनूचानः पदों को भाषा में लिट् विकल्प से विदित होने पर तथा लुङ् लङ् लिड् के विषय में क्वसु, कानच् आदेश नित्य रूप से विहित होने पर निपातित करता है।[७] अतः ईयिवांसमतिस्रिध यह छान्दस प्रयोग उपलब्ध होता है। इसमें इण् धातु उपसर्गरहित तथा समुपसर्ग सहित पठित है अतः विशेषतः उप उपसर्ग पूर्वक इण् धातु का क्वसुप्रत्ययान्त रूप ही निपातन से अभीष्ट नहीं है[८] तथा

---

१ ह्वः सम्प्रसारणमभ्यस्तस्य च। – वही, ६.१.३२, ३३
२ सम्प्रसारणाच्च। – अ. सू., ६.१.१०८
३ एङः पदान्तादति। – वही, ६.१.१०९
४ अ. सू., ३.२.१०९
५ भाषायां सदवसश्रुवः। – अ. सू., ३.२.१०८
६ अ. सू., ३.२.१०५
७ **The forms** उपेयिवान् अनाश्वान्, अनूचान **are irregularly formed. Vasu, S.C. – Aṣṭā. of Panini, Vol.I, p.452.**
८ **Ibid.**

भाषायां सदवसश्रुवः[१] सूत्र में ही इण् धातु का ग्रहण किया जा सकता था। अतः उपेयिवान् प्रयोग को निपातित करने का क्या प्रयोजन है ? प्रस्तुत शंका की उद्भावना भाष्यकार ने की है इसका समाधान व्याख्यान-भाष्य के द्वारा प्रस्तुत किया है तथा 'अपर आह' के पश्चात् निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं—

नोपेयिवान्निपात्यो द्विर्वचनादिड् भविष्यति परत्वात्।
अन्येषामेकाचां द्विर्वचनं नित्यमित्याहुः॥
अस्य पुनरिट् च नित्यो द्विर्वचनं च न विहन्यते ह्यस्य।
द्विर्वचने चैकाच्त्वात्तस्मादिड् बाधते द्वित्वम्॥

उपेयिवान् निपातन का प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा प्रत्याख्यान किया गया है जबकि भाष्यकार के मतानुसार निपातन संगत प्रतीत होता है। उप उपसर्गपूर्वक इण् धातु से क्वसु[२] प्रत्यय की अवस्था (उप इ व स्) में बलादि लक्षण इडागम[३] की प्रसक्ति होती है जो बाधित[४] है परन्तु क्रादि[५] नियम से प्राप्त इडागम से पूर्व ही द्वित्व[६] विवक्षित है क्योंकि यह नित्य है। द्वित्व की स्थिति में अभ्यास को दीर्घत्व[७] का विधान होता है। दीर्घत्व विधान सामर्थ्य के कारण सवर्ण दीर्घ एकादेश[८] प्रतिषिद्ध है।[९] एकादेश से ही दीर्घत्व विधान सिद्ध होने के कारण दीर्घत्व विधान निष्प्रयोजन है।[१०] द्वित्व करने पर (ई ई अतुस्) दीर्घत्व, एकादेश प्राप्त होता है तथा

---

१ अ. सू., ३.२.१०८
२ उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च। – अ. सू., ३.२.१०९
३ आर्धधातुकस्येड् वलादेः। – वही, ७.२.३५
४ नेड्वशि कृति। – वही, ७.२.८
५ कृ सृ भृ वृ स्तु द्रु स्रु श्रुवः लिटि। – वही, ७.२.१३
६ लिटिधातोरनभ्यासस्य। – वही, ६.१.८
७ दीर्घ इणः किति। – वही, ७.४.६९
८ अकः सवर्णे दीर्घः। – वही, ६.१.१०१
९ **This long i does not coalexe with the short i by the rules of Sandhi for then the rule by which this i.was introduced would have no scope. –Vasu, S.C. - Aśṭā. of Pāṇini, Vol.I, p.453.**
१० तत्र द्वित्वे सवर्णदीर्घ बाधित्वेणो यणि निमित्ताभावादे कादेशाप्राप्तो दीर्घः सावकाशः। – नागेश उद्योत व्या. म. २, पृ.

यणादेश[१] की प्राप्ति भी होती है। इसी प्रकार वर्णसम्बन्धी कार्य से अंग सम्बन्धी कार्य बलवान् होता है[२] अतः बहिरंग होने के कारण यण् की प्रसक्ति होती है। इसी प्रकार (उप इ इ व स्) स्थिति में भी पूर्वविधि[३] एकादेश है अतः यणादेश करने पर स्थानिवद्भाव होने के कारण एकादेश होता है। अभ्यास दीर्घत्व, सवर्णदीर्घत्व का बाध करता है क्योंकि सवर्णदीर्घत्व अनवकाश है।[४] अतः उप ई इ वस् अवस्था में सवर्णदीर्घत्व न होने के कारण एकाच्[५] लक्षण से प्राप्त इडागम का निषेध हो जाता है।

इस निषिद्ध इडागम की प्रसक्ति के लिये ही उपेयिवान् निपातन है।[६] यदि इडागम के लिये उपेयिवान् निपातन संगत है तो सम्प्रसारण[७] के विषय में भी इट् प्राप्ति होने लगेगी परन्तु निमित्त वलादि के विद्यमान न होने के कारण सम्प्रसारण के विषय निपातन से इडागम नहीं होगा।[८] यथा उपेयुषः पद में (उप इ इ वस्) अवस्था में भ संज्ञा में सम्प्रसारण के पश्चात् (उप इ इ उस्) स्थिति होती है। अतः अज्ञादि प्रत्यय परे रहते इडागम की प्रसक्ति नहीं होती। उपेयिवान् निपातन का एक अन्य प्रयोजन वार्त्तिककार व्यंजन को यणादेश विधान स्वीकार करते हैं।[९] अभ्यास दीर्घत्व विधान के पश्चात् धात्वधिकार से परे व्यंजन व् को निमित्त मानकर यणादेश निपातन किया गया है ईटवसु इस अवस्था में वलादि लक्षण इट् होने के कारण अतिप्रसंग नहीं होता।

---

१ इणो यण्। – अ. सू., ६.४.८१
२ वार्णादङ्गं बलीय भवति।
३ अचः परस्मिन् पूर्वविधौ। – अ. सू., १.१.५७
४ तदेवमभ्यासदीर्घत्वमनवकाशत्वात्सवर्णदीर्घत्वं बाधते इति। – हर.पद.का. वृ. २, पृ. ६२०
५ वस्वेकाजादघसाम्। – अ. सू., ७.२.६७
६ अनेन च निपातनेन क्रादिनियमात्प्राप्तौ वस्वेकाजात् इति नियमादप्राप्त इट् प्रतिसूयते इति। – मा. धा., पृ. ३५३
७ वसोः सम्प्रसारणम्। – अ. सू., ६.४.१३६
८ The augment इट् is however dropped in those cases (भ) where (वस) is changed into. उस् Vasu, S.C., Asta.of Pāṇini, I, p.453.
९ व्यञ्जने यणादेशार्थम् वा। – कैयट. प्रदीप. व्या.म. २, पृ. ४५३.

वलादि लक्षण से प्राप्त, निषिद्ध निपातित इट् का श्लोकवार्त्तिककार प्रत्याख्यान करते हैं। उनके मतानुसार उपेयिवान् निपातन निष्प्रयोजन हैं क्योंकि पूर्वसूत्र[१] में ही इण् का ग्रहण सम्भव है। मात्र इडागम के लिये उपेयिवान निपातन व्यर्थ है। उपेयिवान् प्रयोग श्लोकवार्त्तिककार निम्न प्रकार से सिद्ध करते हैं। इण् धातु से क्वसु प्रत्यय विहित होने पर द्वित्व तथा इट् दोनों की प्राप्ति होती है क्योंकि ये नित्य[२] हैं। द्वित्व तथा इट् की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति दोनों ही अवस्थाओं में विहित है तथा इट् भी नित्य है। द्वित्व, अभ्यासदीर्घत्व व एकादेशावस्था में एकाच्त्वात् प्राप्त है तथा अनवस्था में भी प्राप्ति होती है। दोनों के नित्य होने पर तथा इट् के पर[३] कार्य होने के कारण इट् विधान हो जायेगा। द्वित्व नित्य होने के कारण अन्य एकाच् धातुओं से इडागम नहीं होगा यथा बिभिद्वान् आदि उदाहरणों में उपेयिवान् में इट् का निमित्त द्वित्व के द्वारा भी एकादेश होने के कारण विनष्ट नहीं होता। अतः इट् द्वित्व का बाध करता है। उपेयिवान् रूप की सिद्धि में श्लोकवार्त्तिककार प्रस्तुत प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं। पर होने के कारण इडागम, द्वित्व, अभ्यासदीर्घत्व तथा पद को यणादेश होकर उपेयिवान् रूप की सिद्धि मानी है।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है। कि भाष्यकार ने सूत्रोक्त पदों का प्रत्याख्यान करने के लिये श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं। अन्याचार्यों द्वारा रचित श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण 'अपर आह' के पश्चात् किया गया है। प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक सूत्र व वार्त्तिक दोनों का प्रत्याख्यान करता है। पूर्वपक्ष की ओर से भाष्यकार ने निपातित पद को सिद्ध करने के लिये विकल्प किये हैं परन्तु श्लोकवार्त्तिक के द्वारा उनका प्रत्याख्यान किया गया है।

चतुर्थ अध्याय – कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वाऽस्यऽलङ्कारिषु[४]

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा आचार्य पाणिनि ने कुल, कुक्षि तथा ग्रीवा शब्दों से क्रमशः श्वा, असि तथा अलंकार अर्थ द्योत्य होने पर जातादि अर्थों में ढकञ् प्रत्यय का विधान किया है।[५] सूत्र में ढकञ् की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र[६] से है। ढकञ् प्रत्यय जातार्थ

---

१ भाषायां सदवसश्रुवः। – अ. सू., ३.२.१०८
२ कृताकृतप्रसङ्गित्वात्। – कैयट प्रदीप व्या.म २
३ विप्रतिषेधे परं कार्यम्। – अ. सू., १.४.२
४ अ. सू., ४.२.९६
५ Vasu, S.C. - Aśṭā. Vol.I, p.734.
६ कत्त्रादिभ्यो ढकञ्। – अ. सू., ४.२.९५

का द्योतक है ।[१] प्रस्तुत सूत्र अण् प्रत्यय का अपवाद है ।[२] यद्यपि 'तत्र जातः'[३] सूत्र में तत्र इस सप्तमी समर्थ से जातः अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है ।[४] तथापि सम्पूर्ण पद विशिष्टार्थ का प्रतिपादन करता है । यथा कोलेयक, कौक्षेयकः, ग्रैवेयकः आदि उदाहरण कुल, कुक्षि ग्रीवा शब्दों से ढकञ् प्रत्यय होकर श्वा, असि तथा अलंकार अर्थ में सिद्ध हुये हैं । भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र का प्रत्याख्यान किया है क्योंकि कौलेयकः पद जब श्वा अर्थ का अभिधान करता है तो कुल शब्द श्वकुल अर्थ में विद्यमान होता है अतः तस्यापत्य भी श्वा ही होगा ।[५] तस्यापत्यम् अर्थ में ढकञ्[६] प्रत्यय पूर्व हि सिद्ध है । श्वा का प्रत्ययार्थत्व होने पर श्वकुल प्रकृत्यर्थ में सम्पन्न होता है[७] अतः सूत्र निष्प्रयोजन प्रतीत होता है । कुक्षि तथा ग्रीवा शब्दों से कोक्षेयकः तथा डतैवेयकः पदों की सिद्धि निम्न श्लोकवार्त्तिकांश के द्वारा की है—

'कुक्षिग्रीवात्तु कन् ढञः ।'

कुक्षि शब्द से ठञ्[८] प्रत्यय का विधान किया गया है तथा ग्रीवा शब्द से अण् प्रत्यय के साथ-साथ ढञ्[९] भी विहित है । ढञ् प्रत्यय के पश्चात् कुक्षि तथा ग्रीवा शब्दों से असि तथा अलंकार अर्थ में कन्[१०] प्रत्यय का विधान होता है । ढञ् तथा कन् प्रत्ययों से कौक्षेयकः तथा ग्रैवेयकः पदों की सिद्धि हो जाती है अतः प्रकृत सूत्र अनर्थक सिद्ध होता है ।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भाष्यकार ने सूत्रों की व्याख्या करने के लिए सम्पूर्ण श्लोकवार्त्तिकों का ही नहीं

---

१ the force of the affix as already told above is to denote produce. –Ibid.

२ अणोपवादो योगः । –जिने. न्यास का. वृ. ३, पृ. ५८

३ अ. सू., ४.३.२५

४ तत्रेति सप्तमीसमर्थात् जातः इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहित प्रत्ययो भवति । –का. वृ. ३, पृ. ६३६

५ हर. पद. का. वृ. भाग ३, पृ. ५८५

६ अपूर्व पदादन्यतरस्यां । यड्ढकञौ । –अ. सू., ४.१.१४०

७ शुनः प्रत्यायर्थत्वे श्वकुलं प्रकृत्यर्थः सम्पद्यते । –कैयट प्रदीप व्या. म. २. पृ. ४३१

८ दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यस्त्यहहेढञ् । –अ. सू., ४.३.५६

९ ग्रीवाभ्योऽण् च । –वही, ४.३.५७

१० संज्ञायाम् कन् । –वही,

श्लोकवार्त्तिकांशो का ग्रहण भी किया है। सूत्रों का प्रत्याख्यान श्लोकवार्त्तिकांश के द्वारा किया गया है। आचार्य पाणिनिकृत पदों की सिद्धि को उसी रूप में स्वीकार न करके श्लोकवार्त्तिककार ने भिन्न (संगत) प्रक्रिया से उन उदाहरणों को सिद्ध करने की चेष्टा की है। प्रस्तुत सूत्र का प्रत्याख्यान किया गया है अतः दृष्ट प्रयोजन नहीं है तथापि अदृष्ट प्रयोजन अर्थात् साधुत्व प्रतिपादन तो है ही।

पञ्चम अध्याय – तस्य पुराणे डट्[1]

प्रस्तुत सूत्र विधिसूत्र है। यह 'तस्य' षष्ठी समर्थ संख्यावाची प्रातिपादिक से पूरण[2] अर्थ में डट् प्रत्यय का विधान करता है। सूत्रोक्त तस्य पद से बहुत्व विवक्षित है। एकत्व नहीं कारण यह है कि एकत्व से पूरण असम्भव है अतः तस्य से सम्बन्ध मात्र विवक्षित है, एकत्व नहीं।[3] प्रस्तुत सूत्र में 'संख्याया अवयवे तयप्'[4] तथा 'संख्याया गुणस्य निमाने मयट्'[5] सूत्रो से दो संख्या का अनुवर्तन होता है। प्रथम से संख्यावाचिन प्रातिपदिकात् शब्दों के द्वारा प्रकृति की विशेषता निर्दिष्ट है जबकि द्वितीय से प्रत्ययार्थ की विशेषता का कथन गया है। भाष्यकार ने सूत्र की व्याख्या में निम्न श्लोकवात्तिर्ककों का ग्रहण किया है।

प्रकृत्यर्थाद् बहिः सर्वा वृत्तिः प्रायेण लक्ष्यते।
पूरणे स्यात् कथं वृत्तिर्वचनादिति लक्ष्यताम्॥
तस्याः पूर्वा तु या संख्या तस्यां भवतु तद्धितः।
आदेशश्चोत्तरा संख्या तथा न्याय्य भविष्यति॥
न्यूने वा कृत्स्नशब्दो यं पूर्वस्यानुत्तरा यदि।
सामर्थ्य च तया तस्यास्तथा न्यायथा भविष्यति॥
अन्योन्यं वा व्यपाश्रित्य सर्वस्मिन् द्वयादयो यदि।
प्रवर्त्तन्ते तथा न्याय्या वृत्तिर्भवति पूरणे॥
बहूनां वाचिका संख्या पूरणश्चैक इष्यते।
अन्यत्वादुभयोर्न्याय्या वार्क्षी शाखा निदर्शनम्॥

---

१ अ.सू.,५.२.४८
२ That by which a thing to completed is called Purana. –Vassu, S.C. Aṣṭā. Panini, Vol.I, p.5.2.48
३ न ह्येकस्य पूरां सम्भवतीति द्वयादिभ्य एव द्विवचन बहुवचनान्तेभ्यः प्रत्यय विधिः। कैयट,प्रदीप.व्या.म.३.पृ.५६७
४ अ.सू.५.२.४२
५ वही,५.२.४७

प्रस्तुत सूत्र पर 'तस्य पूरण इत्यतिप्रसङ्गः वार्त्तिक के द्वारा वार्त्तिककार ने अतिव्याप्ति दोष की सम्भावना स्वीकार की है। संख्यावाची शब्द से यदि पूरणार्थ में डट् का विधान होता तो संख्येय पद उष्ट्रिकादि[१] डट् की प्राप्ति होती है।[२] उष्ट्रिका चर्मविकार अथवा मृण्मय पात्रविशेष है।[३] अतः 'पञ्चानामुष्ट्रिकाणां पूरणो घट' उदाहरण में उष्ट्रिका पद संख्येय है तथा संख्या शब्द दो प्रकार का है संख्यानवचन और संख्येयवचन।[४] संख्यावचन के द्वारा संख्या का बोध होता है तथा संख्यान शब्द के द्वारा प्रत्ययार्थ की विशिष्टता का बोध कराया जाता है।[५] यदि संख्येयवचन से प्रत्ययार्थ की विशिष्टता होती है तो अर्थ होता है 'संख्येय मुष्ट्यादि जिसके द्वारा पूरित होते हैं। द्रव्यान्तरेण के द्वारा अतिरिक्त किये जाते हैं वह पूरण है, इस स्थिति में पञ्चानामुष्ट्रिकाणां पूरणो घटः उदाहरण में भी डट् प्रत्यय का विधान हो जायेगा। अतः संख्यानवचन प्रत्ययार्थ की विशिष्टता का बोध कराना उपयुक्त है।

अतिव्याप्ति दोष का निराकरण भाष्यकार ने दो प्रकार से किया है। प्रथम तो यह कि दो संख्या का अनुवर्तन सूत्र में है एक प्रकृतिविशिष्ट है तो दूसरी पूरण विशेषण है।[६] संख्या पूरण ही सूत्र में अभीष्ट है संख्येय पूरण नहीं तथा द्वितीय यह कि जिसके भाव से अन्य संख्या की प्रवृत्ति होती है, वहां वचन किया जाये। यथा 'समर्थः पदविधिः'[७] आदि सूत्र का भी अष्टम पद से से व्यवहार प्राप्त होता है। क्योंकि उसके भाव में अष्टत्व संख्या का भाव होता है[८] व्युत्क्रम गणना से भी पदविधिः'[९] यदि चरम सूत्र गिना जाये तब द्वितीया ध्याय के गणनाक्रम से अष्टमत्व व्यपदेश होता है।[१०]

---

१ उष्ट्रिका पदं का प्रयोग कौटिल्य अर्थशास्त्र (१४.१.३३) त्रिपक्षं उष्ट्रिकायां भूमौनिखातायाम्। Limyer V.P. Crit. Stu. on MB page 368.

२ लब्धपञ्चत्वसंख्यानां संख्येयानामुष्ट्रिकादीनां पूरणे घटे प्रत्ययो निष्टः प्राप्नोति। – कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ५६७

३ उष्ट्रिका मृण्मयं मद्यभाण्डम्। उष्ट्रिका मृत्तिकाभाण्डभेदे करभयोषिति इति विश्वः। – मल्लिनाथ – वही

४ येन संख्या संख्यानं पूर्यते। – का. वृ. ५.२.४८ भाग ४, पृ. १७०

५ संख्यानशब्दं समुच्चारयन् संख्यावचनः संख्यानशब्देन प्रत्ययार्थो विशेष्यते। – जिने. न्यास. का. वृ. ४, पृ. १७०

६ तत्रैकं प्रकृतिविशेषणं अपरं पूरणविशेषणम्। – कैयट प्रदीप व्या.म. २, पृ. ५६८

७ अ. सू., २.१.१

८ तद्भावेऽष्टत्वसंख्याभावात्। – कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ५६८

९ अ. सू., २.१.१

१० हर. पद. का. वृ. भाग ४, पृ. १७०

'तस्य पूरण इत्यतिप्रसङ्गः' वार्त्तिक का प्रत्याख्यान करने के लिये ही भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये है। इस वार्त्तिक का प्रत्याख्यान भाष्यकार ने 'सिद्धं तु संख्या पूरण इति वचनात्' वार्त्तिक से किया है। संख्या का अनुवर्तन करना भी निष्प्रयोजन प्रतीत होता है क्योंकि 'संख्याया गुणस्य निमाने मयट्'[१] सूत्र से संख्या की अनुवृत्ति होती है। संख्या की अनुवृत्ति से वृत्ति[२] को उपालम्भ नहीं किया जा सकता। इष्ट विषय के समान अनिष्ट विषय से भी वृत्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि इण् विषय से प्रत्यय सिद्ध नहीं होता अनिष्ट से ही प्राप्त होता है। प्रकृत्यर्थ होने के कारण समस्त वृत्ति बाह्य हैं स्वार्थ में नहीं होती। पूरणार्थ में वृत्ति स्वार्थिक होती है।

प्रत्ययार्थ में स्वार्थोपसर्जन[३] में प्रकृति होती है। प्रकृत्यर्थ से भिन्न प्रत्ययार्थ के अभाव के कारण पञ्चानामुष्ट्रिकाणां पूरणों घटः' उदाहरण में अनिष्ट विषय में प्रत्यय की प्राप्ति है। प्रकृत्यर्थ में अन्तर्भाव होने के कारण स्वार्थिकत्व है। संख्याद्वय[४] के अनुवर्तन के कारण अथवा अन्तरंग होने के कारण संख्या की संप्रतिपत्ति के हेतु प्रकृत्यर्थ में अन्तर्भूत होने पर भी प्रत्यय का विधान होता है। पूर्वा संख्या से परा की अपेक्षा होने के कारण तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति अभीष्ट है। उत्तरा संख्या को आदेश मानना ही न्यायसंगत है।[५] यथा चतुर शब्दादि से प्रत्यय का विधान होता है तथा पञ्चादिआदेश किये जाते हैं। अतः चतुर का पञ्चत्व संख्या उपजनन के द्वारा पञ्चम पूरण है। जिस प्रकार अर्थ तृतीय द्रोण के प्रसंग में अर्थ द्रोण का अभिधान भी द्रोण शब्द के द्वारा किया गया है उसी प्रकार वृत्ति के विषय में चतुर में पंञ्च शब्द उक्त है। उत्तरसंख्यावाची पञ्चादि शब्द पूर्व संख्या में प्रवृत्त होते हैं।

---

१ अ.सू.,५.२.४७

२ वृत्तिः परार्थामिधानमुच्यते उपसर्जनपदानां प्रधानार्थाभिधानात्। –कैयट, प्रदीप व्या. म. २, पृ.५६९

३ वृत्तिस्थानाम् प्रत्ययार्थः इत्यर्थः। –कैयट प्रदीप व्या.म. २, पृ. ५६९

४ (क) संख्याया अवयवे तयप्। –अ.सू.,५.२.४२ (ख) संख्याया गुणस्यनिमाने मयट्। –वही,५.२.४७

५ संख्यावाचकत्स्वार्थवृत्तिसङ्ख्यान्तरपूरणे प्रत्यय इत्यर्थः। –नागेश, उद्योत व्या.म. २, पृ.५७०

प्रकत्यर्थाभिहित न्यूनार्थाभिधायिनी संख्या का प्रत्ययार्थ से सम्बन्ध न्याय-संगत है ।[१] पञ्च संख्या में समस्त द्वयादि परस्पर अपेक्षित होते हैं और प्रत्येक के बिना पंचत्व असम्भव है । पंचसंख्या का निमित्त होने के कारण पंचमः सबका पूरण है । प्रत्यय का विधान पंचादि शब्द वाच्यों से अन्यतम पंचत्वादि संख्या हेतु पंच से किया जायेगा । संख्या के द्वारा बहुत्व[२] का अभिधान होता है ।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के द्वारा दो पक्ष स्पष्ट होते हैं । पूर्व के द्वारा पंच में अन्तर्हित अवयव द्वि आदि स्पष्ट रहते है[३] जबकि द्वितीय पक्ष के अनुसार समुदाय ही शब्दार्थ है इन दोनों पक्षों में प्रकृति के द्वारा अवयव का ग्रहण भी नहीं है और उन्हें छोड़ा भी नहीं है ।[४] अवयव का प्रत्यय के द्वारा अभिधान किया जाता है ।[५] समुदाय और अवयव के भेद के कारण समुदाय प्रकृत्यर्थ है तथा अवयव प्रत्ययार्थ है । यथा वृक्ष की अवयव वार्क्षी-अर्थात् शाखा । मूलादि अवयव भेद समुदाय है जो प्रकृत्यर्थ है तथा अवयव शाखा प्रत्ययार्थ है ।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से भाष्यकार ने न केवल सूत्रों का व्याख्यान किया है अपितु सूत्रोक्त वार्त्तिकों का प्रत्याख्यान करने में भी श्लोकवार्त्तिकों का योगदान है ।

(२) तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्[६] – प्रस्तुत सूत्र में इति शब्द का प्रयोग विषयनियमार्थ[७] किया गया है । विषय में प्रत्यय का भाव ही विषय नियम है । अर्थात् अस्ति पद से विवक्षित जो मतुबादि विहित हैं[८] भूमादि विशिष्ट विषयों में होते हैं जिनका परिगणन निम्न श्लोकवार्त्तिक में किया गया है—

---

१ तस्याः प्रकृत्यर्थाभिहितसङ्ख्यायाः तया प्रत्ययाभिहित व्यक्तया । – वही, पृ. ५७०

२ भेदमात्रं ब्रवीत्येषा नैषा मानं कुतश्च न। श्लोकवार्त्तिक - आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक् । – अ. सू., ५.१.१९

३ अवयवमात्रवृत्तिधर्मेण भासमानाः पञ्चादि शब्द वाच्या इत्यर्थः । – नागेश उद्योत व्या. म. २, पृ. ५७०

४ साधारणरूपेणोपात्तत्वात् इत्यर्थः । – नागेश उद्योत व्या.म. २, पृ. ५७०

५ अवयवमात्रवृत्तिधर्मेणाभिधीयते । – वही, पृ. ५७०

६ अ. सू., ५.२.९४

७ इतिकरणाद्विषयनियमः । – का. वृ. भाग ४, पृ. २०५

८ इति करणो विवक्षार्थः । – का. वृ. भाग ४, पृ. २०५

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
संबन्धोऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥[१]

भूमादि से अस्ति विवक्षा में विहित मतुबादि हैं । इस समुच्चय में अस्ति शब्द कर्तृ विशिष्ट सत्तावाची विभक्तिप्रतिरूपक निपात है । अस् धातु का लट् लकारान्त रूप नहीं है ।[२] अथवा प्रत्यायान्तर की स्थिति स्वीकार की जा सकती है । व्यभिचार न होने के कारण समानाधिकरण्य है अस्तिविवक्षा में प्रत्यय का विधान होता है तदर्थ अस्ति का ग्रहण नहीं है ।[३] सूत्रोक्त 'अस्ति' पद के द्वारा पंचमी का लोप होने के कारण प्रकृति निर्देशाश्रय से उक्तार्थ प्राप्त होता है ।

श्लोकवार्त्तिकोक्त उक्त भूमादि का ग्रहण 'मतुप् प्रभृतयः सन्मात्रे इति चेदतिप्रसङ्ग' वार्त्तिक का समाधान करने के लिये किया गया है । इति शब्द के बहवर्थक होने के कारण विवक्षार्थ ग्रहण है ।[४] भूमार्थ में गोमान्[५] यवमान् का ग्रहण है बहुत्व का भावभूम[६] एक या दो के विद्यमान होने के कारण निन्दित हैं प्रशस्त रूप है जिसका रूपवान[७] प्रशंसार्थ में उक्त है । यहां प्रशंसायुक्त की सत्ता का कथन है । नित्ययोगार्थ में नित्व क्षीर सम्बन्धी वृक्ष का कथन क्षीरिणो, वृक्षाः से किया है । उदरिणी कन्या अतिशयार्थ में गृहीत है संसर्ग संयोगार्थक ये वह सम्बन्धान्तर में स्थित रहने पर उसका नियामक है । केवल एक सम्बन्ध का अभिधायक नहीं है ।[८]

---

१ प्रस्तुतश्लोवार्त्तिक व्याढ़ि रचित माना गया है ।

२ अस्ति शब्दो विभक्तिप्रतिरूपको निपातः कर्तृविशिष्टसत्तावाची नैषोऽस्तेर्लट् । – हर. पद. का. वृ. भाग ४, पृ. २०५

३ हर. पद. का. वृ. भाग ४, पृ. २०५

४ इति शब्दस्य बह्वर्थत्वादिह विवक्षार्थत्वमिति भावः । – कैयट. प्रदीप. व्या. म. भाग २, पृ. ५८९

५ गावो बह्वोऽस्य सन्तीति गोमान् ।

६ भूमिशब्द से 'पृथ्वादिभ्य इमनिच्' (अ. सू., ५.१.१२२ से इमनिच् होकर 'बहोर्लोपो भू च बहोः' (अ. सू., ६.४.१२८) सूत्र से भू भाव तथा इकार लोप होकर भूमन् शब्द सिद्ध होता है ।

७ रूपमात्र सम्बन्धेऽवगते रुपवानयमिति विशेषेणोपादानात् प्रशंसा प्रतीतिः । – कैयट. प्रदीप व्या. म. २, पृ. ५८९

८ संयोग – स च सम्बन्धान्तरे सत्येव तन्नियामको न तु केवल । – वही, पृ. ५८८

दण्डी पद के ग्रहण से संसर्गयुक्त सत्ता का ग्रहण होता है न कि किसी को दण्ड का अभिधान होता है। प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकोक्त भूमादि का ग्रहण अभिधान स्वभाव के प्रदर्शनार्थ है। बहुत्व अभिधान के कारण विशिष्ट का आश्रय आवश्यक है।[१] अतः भूमादि का ग्रहण न करना ही उपयुक्त प्रतीत होता है उदाहरणार्थ जितनी गो से दोहन कार्य होता है उतनी की ही सत्ता का कथन किया जाता है।[२] कभी तो चार के द्वारा भी सत्ता की कल्पना होती है और कभी शत के द्वारा भी नहीं होती। केवल सन् प्रत्यय के विषय में वेद प्रमाण हैं इस अर्थ की पुष्टि के लिये भाष्यकार ने 'सन्मात्रे चर्षि दर्शनात्' श्लोकवार्त्तिकांश का ग्रहण किया है 'गोमान् के समान यवमान् प्रयोग में त्रिप्रभृति में बहुत्व होने पर भी नहीं होता। वैदिक प्रयोग 'यवमतीभिरद्भिः' यूपं प्रोक्षति।[३] है। सन् प्रत्यय के विषय में मतुप् विधान वेद में उपलब्ध होता है। ऋषि शब्द का प्रयोग पाणिनि ने वेदार्थ में किया है।[४] काशिकाकार ने इस तथ्य की पुष्टि की है।[५] यवमती उदाहरण में जातिमात्र सम्बन्ध विवक्षित है[६] जिसका अभिधान भूमाभाव होने पर भी सम्भव है। अतः भूमादि ग्रहण का प्रत्याख्यान ही भाष्यकार को अभीष्ट है।[७]

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने वार्त्तिककार कात्यायन के अतिरिक्त वैयाकरणों द्वारा रचित श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण भी किया है। सूत्रों की व्याख्या करते हुये भाष्यकार श्लोकवार्त्तिकांशों का ग्रहण भी करते हैं। जिन व्याकरणात्मक सिद्धान्तों का प्रत्याख्यान किया गया है।

---

१ कैयट प्रदीप व्या. म. भाग २, पृ. ५८९

२ यावतीभिः खल्वपि गोभिवार्हदोहप्रसवाः कल्पन्ते तावतीषु सत्ता कथ्यते। – पत. व्या. म. ५.२.९४ भाग २, पृ. ५८९

३ मै.सं. ३.९.३ Limye V.P. Crit. Stu. on MB page 377.

४ अ. सू., ४.४.९५

५ ऋषिर्वेदो गृह्यते। – का. वृ. भाग ३, पृ.

६ संस्कारस्यादृष्टार्थत्वाज्जयति मात्र सम्बन्धोऽत्र विवक्षितः। – कैयट प्रदीप व्या. म. भाग २, पृ. ५८९

७ ततश्चाकरणमेव भूमादीनां ज्याय इति भावः। – वही, पृ. ५८९

(३) अत इनिठनौ[१] – 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्'[२] – सूत्र से आचार्य पाणिनि ने प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से अस्य षष्ठ्यर्थ में तथा अस्मिन् सप्तम्यर्थ में मतुप् प्रत्यय का विधान किया है। प्रस्तुत सूत्र में मतुप् विधायक सूत्र[३] ङ्याप्प्रातिपदिकात्[४] सूत्रों की अनुवृत्ति होती है अतः प्रकृत सूत्र प्रथमान्त समर्थ वर्तमानकालिक सत्ताविशिष्ट अकारान्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में इनि और ठन् प्रत्यय होते हैं। दण्ड, छत्र आदि अकारान्त से इनि और ठन् का विधान होता है। अन्यतरस्याम् से मतुब् का समुच्चय तो होता ही है।[५] अकारान्त शब्द से स्वरुप ग्रहण होने पर 'रसादिभ्यश्च'[६] सूत्र से मतुप् प्रत्यय का विधान अनर्थक सिद्ध हो जाता। यह मतुप् विधान इनि और ठन् के बाधनार्थ है। स्वरुप ग्रहण न होने पर रसादि से इनि ठन् प्रत्ययों की प्राप्ति होती है तो मतुप् विधान अनर्थक प्रतीत होता है। सूत्र में अकार को तपर ग्रहण करने का प्रयोजन आकारान्त के सम्बन्ध में उद्भूत होने वाले सन्देह का निवारण है। अर्थात् उपाकारान्त विषयक स्त्रीप्रत्ययान्त विषयक अथवा आबन्त विषयक नियम के लिये तपर ग्रहण किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र पर भाष्यकार ने 'इनिठनोरेकाक्षरात्प्रतिषेधः' वार्त्तिक का ग्रहण किया है जिसके द्वारा एकाक्षर से इनि और ठन् प्रत्ययों का प्रतिषेध किया गया है। वाक्य-वार्त्तिक में उक्त विषय को श्लोकवार्त्तिक में अधिक विस्तृत रूप से कहा गया है—

एकाक्षरात्कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ।[७]

श्लोकवार्त्तिक के द्वारा एकाक्षर, कृदन्त जाति तथा सप्तम्यन्त से भी इनि और ठन् प्रत्यय का एकाक्षर से अभिप्राय है खवान् स्ववान् आदि प्रयोग कृदन्त से

---

१ अ. सू., ५.२.११५
२ वही, ५.२.९४
३ तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्। – वही, ५.२.९४
४ अ. सू., ४.१.१
५ अन्यतरस्यामित्याधिकारान्मतुबपि भवति। – का. वृ. ५.२.११५ भाग ४, पृ. २२२
६ अ. सू., ५.२.९५
७ महाभाष्य के गुरुकुल झज्झर संस्करण में इझ पंक्ति को श्लोक का पूर्वार्ध माना है तथा 'व्रीह्यादि यश्च' (अ. सू., ५.२.११६) सूत्र पर उद्धृत – शिखादिभ्य इनिर्वाच्य इकन्यवरवदादिषु' पंक्ति को उत्तरार्थ माना है। – व्या. म. भाग ४, पृ. १७०

अभिप्राय है कारकवान्, हारकवान् आदि प्रयोग जाति से अभिप्राय जातिवाचक पद से है यथा व्याघ्रवान्, हिंसवान् आदि। सप्तमी विभक्ति के उपस्थित होने पर यथा दण्डवती शाला[१] जैसे प्रयोगों से भी इनि और ठन् का प्रतिषेध किया गया है। श्लोकवार्त्तिकार्ध का निषेध भाष्यकार ने अनभिधान से किया है क्योंकि न तो शिष्ट प्रयोग से तथा न ही भाष्यकार आदि आचार्यों के मतानुसार इनि और ठन् प्रत्यय के निषेध की आवश्यकता है।

भाष्यकार ने 'व्रीह्यादिभ्यश्च'[२] सूत्र पर 'शिखादिभ्य इनिर्वाच्य इकन्यवखदादिषु' श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किया है जिसे 'अत इनि ठनौ'[३] सूत्र पर उक्त 'एकाक्षरात्कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ' श्लोकवार्त्तिक का उत्तरार्द्ध माना है। 'व्रीह्यादिभ्यश्च'[४] सूत्र से व्रीह्यादि प्रातिपादिकों से मत्वर्थ से इनि और ठन् प्रत्ययों का विधान होता है परन्तु व्रीह्यादिगण से इनि और ठन् प्रत्यय का विधान नहीं होता है। श्लोकवार्त्तिक के द्वारा शिखादि से इनि प्रत्यय का तथा यवरवदादि गुण से इकन् प्रत्यय का विधान किया गया है।[५] परिशिष्ट से दोनों ही प्रत्यय विहित हैं।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक का प्रयोजन नियमार्थ है परन्तु श्लोकवार्त्तिकार्ध का भी प्रत्याख्यान कर दिया गया है। श्लोकवार्त्तिक के पूर्वार्द्ध के समान उत्तरार्द्ध का खण्डन अनभिधान माना है[६] प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण सूत्र अथवा वार्त्तिकों के प्रत्याख्यान के लिये किया है। कहीं-कहीं श्लोकवार्त्तिकों का प्रत्याख्यान भी प्राप्त होता है।

षष्ठ अध्याय – बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्[७]

---

१ दण्डा अस्यां सन्तीति शालायाम्।

२ अ.सू.,५.२.११६

३ वही,५.२.११५

४ अ.सू.,५.२.११६

५ पूर्वाचार्यप्रक्रियापेक्षस्त्विकन्निति निर्देशः श्लोकपूरणार्थः। – हर. पद. का. वृ. भाग ४, पृ. २२३

६ शिष्टप्रयोगे येभ्यः इनिरेव दृश्यते ते शिखादयो द्रष्टव्याः। ते हि तेभ्यष्ठनं विहितवनतः। – जिने. न्यास. का. वृ.भाग ४,पृ. २२३

७ अ.सू.,६.२.१

प्रस्तुत सूत्र बहुब्रीहि समास में पूर्वपद का जो स्वर है उसका प्रकृतिभाव से विधान करता है।[१] पूर्वपद का अभिप्राय पूर्वपदस्थ उदात्त था स्वरित स्वर से है। प्रकृति से तात्पर्य पूर्व पद विकार अर्थात् अनुदात्तत्व की प्राप्ति न होना है।[२] समासस्य[३] सूत्र समासान्त को उदात्त का विधान करता है अतः अन्य पूर्व स्वरों के स्थान पर अनुदात्त हो जाते हैं क्योंकि एक पद को छोड़कर अन्य अनुदात्त हो जाते है।[४] अतः 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' सूत्र से बहुब्रीहि के पूर्व पद का स्वर भी अनुदात्त होना चाहिये।[५] यह सूत्र समासान्तोदातत्व का अपवाद है।[६] पूर्वपद से समानाधिकरण होने के कारण 'प्रकृत्या' इस पद से भी स्वर प्रकरण से स्वर प्रकृतिभाव से रहता है, अतः उदात्तस्वरितयोगी पूर्वपद प्रकृतिभाव से रहता है।[७] यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है। भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धत किये हैं—

बहुव्रीहि स्वरं शास्ति, समासान्तविधेः सुकृत्।
नञ्सुभ्यां नियमार्थ तु, परस्य शिति शासनात्॥
क्षेपे विधिर्नञोऽसिद्धः, परस्य नियमो भवेत्।
अन्तश्च वा प्रिये सिद्ध, संभवात्प्रकृताद्विधेः॥
बहव्रीहावृते सिद्धभिष्टतश्चावधारणम्।
द्विपाद्दिष्टेर्वितस्तेश्च पर्यायो न प्रकल्पते॥

---

१ बहुब्रीहौ समासे पूर्वपदस्य यः स्वरः सः प्रकृत्या भवति। – का. वृ. ६.२.१, भाग ५, पृ. १

२ Prakrityā means retains its own nature does not become modified into an anudātta accent. –Vasu. S.C. Aśṭā. of Pāṇini, p.1035.

३ अ. सू., ६.१.२२३

४ अनुदात्तं पदमेकवर्जम्। अ. सू., ६.१.१५८

५ Ibid.

६ With the present Sūtra commences the exceptions to the rule that the final of a compound is always Udātta. Vasu, S.C. - Aśṭā.of Pāṇini, Vol.II, p.1035.

७ पूर्वपद सामानाधिकरण्यात्सूत्रे 'प्रकृत्या' इत्येतावदुक्तेऽपि स्वरप्रकरणात्प्रकृतिस्वरेणेव प्रकृतिभावो विज्ञायते। – सु.सि.कौ., पृ. ७१२

उदात्ते ज्ञापकं त्वेतत्स्वरितेन, समाविशेत्।

प्रस्तुत सूत्र का प्रयोजन समासान्त उदात्तत्व[1] का निषेध करना है।[2] जिससे बहुव्रीहि समास में पूर्वपदप्रकृति स्वरत्व हो जाये। 'नञ्सुभ्याम्'[3] सूत्र नियमार्थ होगा अर्थात् नञन्त स्वन्त बहुव्रीहि से अन्तोदात्त होता है। विधि के सिद्ध होने पर आरभ्यमाण सूत्र नियम के लिये होता है। इस न्याय[4] के आधार पर अन्यत्र पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व ही होगा। अनुदात्त पर अन्यत्र पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व ही होगा। अनुदात्त की प्राप्ति होने पर समासान्तोदात्तत्व विधान के कारण नियम से उसकी व्यावृत्ति होने पर पूर्व उत्तर दोनों ही पदों से प्रकृतिस्वरत्व की प्राप्ति नहीं होती है।[5] उत्तरपद से नियम न होने के कारण तथा प्रकृतिस्वर अवशिष्ट रहने के कारण पूर्वपद को ही प्रकृतिस्वरत्व होता है।[6] शित् से परे बहुव्रीहि समास में बहुवच् उत्तरपद प्रकृतिस्वरत्व से रहता है।[7] अतः यह नियमार्थ सिद्ध होगा। यदि शित् परक उत्तरपद को प्रकृतिस्वरत्व स्वीकार करते हैं तो नञ सुभ्याम्[8] सूत्र संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि उदर, अश्व, इषु तथा क्षेप अर्थ में गम्यमान उदरादि पर उत्तरपद होने के कारण बहुव्रीहि समास में संज्ञा के विषय में पूर्वपद अन्तोदात्तत्वसिद्ध होता है।[9] अतः अनुदरः आदि प्रयोगों में पूर्वपदान्त उदात्त का बाध करने के लिये ही अन्तोदात्तत्व[10] होता है नियमार्थ नहीं क्योंकि विधि तथा नियम दोनों सम्भव होने पर विधि बलवान् होती है।[11]

---

१ पूर्वपद सामानाधिकरणत्सूत्रे 'प्रकृत्या' इत्येतावदुक्तेऽपि स्वरप्रकरणात्प्रकृतिस्वरेणेव प्रकृतिभावो विज्ञायते। –सु. सि. कौ., पृ.७१२

२ समासस्य। –अ. सू., ६.१.२२३

३ समासान्तस्योदात्तविधानात्तद्बाधनार्थमिदमित्यर्थः। –कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ.८१५

४ सिद्धे विधिराभ्यमाणो नियमाय भवति। –वही, पृ.८१५

५ न चैवं नानापदस्वरप्राप्तौ समासान्तोदात्तत्व विधानान्नियमेन तस्मिन्व्यावर्त्तितेऽपि पूर्वोत्तरपदयोर्द्वयोरपि पर्यायेण प्रकृतिस्वरप्रसङ्गः। –हर. पद. का. वृ. भाग ५, पृ.४

६ कैयट प्रदीप व्या.म. २, पृ. ८१५

७ शितेर्नित्याबह्वच् बहुव्रीहावभसत्। –अ. सू., ६.२.१३८

८ अ. सू., ६.२.१७२

९ उदराश्वेषु। –अ. सू., ६.२.१०७

१० नञ्सुभ्याम्। –वही, ६.२.१७२

११ विधिनियम संभवे विधेर्बलवत्वात्। –कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ.८१६

'शितेर्नित्याब्बह्वच् बहुव्रीहावभसत्'[१] सूत्र शित् परे रहने पर ललाटादि उत्तरपद के प्रकृतिस्वरत्व का नियम से निवर्तन होता है। 'चित्रगु' आदि पदों में पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व ही रहता है।[२] अतः सूत्र का प्रयोजन समासान्तोदात्तत्व का बाध करना है। यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व समासान्तोदात्तत्व का बाध करता है तो अनुदात्त का भी बाधक होगा। यथा च प्रिय आदि उदाहरणों में परन्तु च प्रियः न प्रियः इन प्रयोगों में समासान्त अन्तोदात्तत्व न होकर अनुदात्त[३] स्वर को प्रकृतिभाव हुआ है।[४] तक्र कौण्डिन्य न्याय से इन प्रयोगों में भी पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व समासान्तोदात्तत्व का बाध करेगा। यथा समपादः इस उदाहरण में सम शब्द सर्वानुदात्त[५] है। पादशब्द आद्युदात्त है पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व के द्वारा समासान्तोदात्तत्व का बाध होने पर पाद शब्द आद्युदात्त ही होगा।[६]

यदि बहुव्रीहि समास में पूर्वपदस्थ जो उदात्त स्वर शास्त्रान्तरेण विहित है वह प्रकृतिभाव से रहता है तथा अनुदात्त विधायक परिभाषा अनुदात्त का विधान करती है तो उदात्तविधि का बाध होने से पूर्व ही अनुदात्तत्व का बाध हो जाता है अतः समासान्त उदात्तत्व का बाध इस सूत्र का प्रयोजन है।[७] सूत्र का प्रयोजन सिद्ध करने के पश्चात् श्लोकवार्त्तिककार ने सूत्रोक्त बहुव्रीहि पद को निष्प्रयोजन सिद्ध किया है।

बहुव्रीहौ पद का ग्रहण न होने पर भी सूत्र पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व का बहुव्रीहि समास में ही विधान करता है।[८] तत्पुरुष, द्विगु द्वन्द्व तथा अव्ययीभाव समास में प्रकृतिस्वरत्व का विधान कर दिया गया है। तत्पुरुष समास में तुल्यार्थ तृतीयान्त, सप्तम्यन्त उपमानवाचि अव्यय द्वितीयान्त तथा कृत्यान्त पर्व पद के प्रकृतिस्वरुप

---

१ अ.सू.,६.२.१२८
२ हर.पद.का.वृ.भाग ५,पृ.४
३ चादयोऽसत्वेः। – अ.सू.,१.४.५७
४ कैयट प्रदीप व्या.म.२,पृ.८१६
५ सुनोतेर्डप् इति डमप्। पित्वात् सर्वानुदात्तो भवति। – जिने.न्या.का.वृ.५,पृ.४
६ कैयट,प्रदीप,व्या.म.२, पृ.८१६
७ उदात्तविधि बाधपूर्वकमेव तद्बाघात्समासान्तोदात्तत्वापवादत्वमस्य बोध्यम्। – नागेश उद्योत,व्या.म.२,पृ.८१६
८ वही,पृ.८१६

होता है।[१] अव्ययीभाव समास में परि प्रति आदि पूर्व पद भूत वर्ज्यमान वाची अहोरात्रावयवाची उत्तर पद परे रहते पूर्व पद प्रकृति स्वरत्व होता है। द्वन्द्व समास में राजन्यवाची बहुवचनान्त अन्धक वृष्णि में विद्यमान द्वन्द्व से पूर्वपद प्रकृति स्वरुप होता है।[२] द्विगु समास में इगन्त उत्तर पद रहते काल, कपाल, भगाल, शराव इत्यादि के पूर्वपद प्रकृति स्वरूप होता है।[३] प्रयुक्त का अन्वारव्यान करने से शास्त्र प्रवृत्ति अनिष्टार्थ नहीं होती। अतः बहुव्रीहि का ग्रहण करना चाहिये। परन्तु बहुव्रीहि का ग्रहण न करने पर भी समासान्तोदात्तत्व तथा पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व का एक ही विषय होने के कारण 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्'[४] सूत्र से विरोध होने के कारण पर्याय प्राप्ति होती है।[५]

भाष्यकार ने तत्पुरुषादि सम्बन्धी तथा बहुव्रीहि सम्बन्धी पूर्वपदप्रकृति स्वर तथा समासान्तोदात्तत्व में पर्याय को स्वीकार नहीं किया है।[६] 'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ'[७] सूत्र से विहित अन्तोदात्त होता है। अतः द्विपात् उदाहरण में समासान्तोदात्तत्व तथा पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व पर्याय से सिद्ध होते हैं परन्तु विहित अन्तोदात्तत्व ज्ञापित करता है कि बहुव्रीहि अन्तोदात्त नहीं होता।[८] 'दिष्टिवितस्त्योश्च'[९] सूत्र ज्ञापक है कि जिससे पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व का विधान किया गया है अतः पक्ष में समासान्तोदात्तत्व नहीं होता परन्तु उदात्त विषय ही ज्ञापक है कि बहुव्रीहि समास में अन्तोदात्तत्व पर्याय से होता है। उदात्त और स्वरित का पूर्वोत्तर पर में स्थितं होना पर्याय का प्रसंग है।[१०] स्वरित में जिस उदात्त का ग्रहण होता है तदाश्रित ज्ञापक उपयुक्त नहीं है क्योंकि उदात्त संज्ञा अच् की होती है न कि वर्णैकदेश की।[११]

---

१ तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युमानाव्यय द्वितीया कृत्याः। – अ.सू., ६.२.२
२ परिप्रत्युपायावर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु। – अ.सू., ६.२.३३
३ राजन्यबहुवचनद्वन्द्वेऽन्धकवृष्णिषु। – वही, ६.२.३४
४ इगन्तकालकपालशरावेषु द्विगो। – वही, ६.२.२९
५ अ.सू., ६.१.१५८
६ हर.पद.का.वृ. भाग ५, पृ.४
७ नागेश उद्योत, व्या.म.२, पृ.८१७
८ अ.सू., ६.२.१९७
९ विदितस्तु ज्ञापयति बहुव्रीहिरन्तोदात्तो न भवतीति। – कैयट प्रदीप व्या.म.२, पृ.८१७
१० अ.सू., ६.२.३१
११ उदात्तस्वरितयोस्तु पूर्वोत्तरपदस्थयोः पर्यायप्रसङ्गः। – हर.पद.का.वृ.५, पृ.५

उदात्तावयव होने के कारण स्वरित का समावेश भी उदात्त और स्वरित दोनों का समावेश है। अतः सूत्र में बहुव्रीहौ पद निष्प्रयोजन है।[१]

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा सूत्रों को प्रयोजन सिद्ध किये हैं परन्तु प्रयोजन सिद्धि में यदि सम्पूर्ण सूत्र की अपेक्षा कोई विशिष्ट पद अनर्थक प्रतीत होता है तो उसका प्रत्याख्यान किया गया है। दृष्ट प्रयोजन के न होने पर भी अदृष्ट प्रयोजन होता है अतः बहुव्रीहौ पद के ग्रहण का अदृष्ट प्रयोजन स्वतः सिद्ध है।

(२) असिद्धवदत्राभात्[२] – प्रस्तुत सूत्र अधिकार सूत्र है जो इस सूत्र से लेकर षष्ठ अध्याय की परिसमाप्ति तथा असिद्धवत् अधिकार का विधान करता है। काशिकाकार[३] ने इस सूत्र का अधिकार अध्याय की समाप्ति तक स्वीकार किया है जबकि अन्य वैयाकरणों[४] ने 'श्नान्नलोपः'[५] सूत्र से लेकर 'भस्य'[६] सूत्र तक असिद्धवदधिकार माना है।[७] अतः सूत्र का अभिप्राय यह है कि इस सूत्र से लेकर अधिकार विधायक सूत्र पर्यन्त यदि किसी सूत्र की प्रसक्ति होती है तो वह दूसरे सूत्र के प्रति असिद्धवत् मानी जायेगी।[८] आभात् शब्द में अभिविधि अर्थ में आङ् है अतः अधिकार तक व्याप्यार्थ होता है।

असिद्धवत् पद से अभिप्राय है न सिद्धवत्। जो सिद्ध होने पर भी सिद्ध कार्य नही करता वह असिद्धवत् होता है। असिद्धवत् के दो अर्थ स्वीकार किये गये हैं। प्रथम प्राधान्य होने के कारण कुछ इसे कार्य मानते हैं[९] तथा शास्त्र के असिद्ध

---

१ स्वरितग्रहणेन उदात्तग्रहणेन गौणाग्रहणस्य बोधनादिति। – नागेश, उद्योत, व्या. म. २, पृ. ८१७

२ अ. सू., ६.४.२२

३ According to Kāṣikā the word extend upto the ends of the chapter. –Vasu, S.C. - Aśṭā.of Pāṇini, II, p.1260.

४ Prof. Bohtlink, Dr. Ballantyne. Ibid.

५ अ. सू., ६.४.२३

६ वही, ६.४.१२९

७ Vasu, S.C. - Aśṭā.of Pāṇini, Vol.II, p.1260.

८ Ibid.

९ प्राधान्यात् कार्यमित्येके शास्त्रं हि कार्यार्थम् अतः शास्त्रापेक्षया कार्यस्य प्राधान्यम्। – जिने. न्यास. का. वृ. भाग ५, पृ. ३६४

हो जाने पर कार्य भी असिद्ध हो जाता है, क्योंकि शास्त्र कार्य का निमित्त है अतः द्वितीय पक्ष के अनुसार असिद्धवत् को शास्त्र माना है ।[१] यदि कार्यासिद्धवत् का ग्रहण करते हैं तो अर्थ होता है अधिकार तक शास्त्रीय कार्य प्रवृत्त होने पर भी नहीं होता । अतः प्रवृत्तकार्य का ही प्रतिषेध प्राप्त होता है ।[२] यदि शास्त्रासिद्धत्वार्थ का ग्रहण करते हैं तो अभिप्राय यह है कि आभीय शास्त्र निष्पन्न होने पर भी कार्य नहीं करता ।[३] अतः व्यापक होने के कारण शास्त्रासिद्धत्व का ही ग्रहण किया गया है । उसी का 'आभात्' पद से शास्त्रविषयत्व से निर्देश किया गया है ।[४] भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र के प्रयोजनों की व्याख्या वार्त्तिकों के माध्यम से की है परन्तु इन प्रयोजनों का प्रत्याख्यान करके भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से सूत्र के अपठित होने पर दोषों की उद्‌भावना की है तथा दोषों का निराकरण कर दिया है—

अतः व्यापक होने के कारण शास्त्रासिद्धत्व का ही ग्रहण किया गया है । उसी का 'आभात्' पद से शास्त्रविषयत्व से निर्देश किया गया है ।[५] भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र के प्रयोजनों की व्याख्या वार्त्तिकों के माध्यम से की है परन्तु इन प्रयोजनों का प्रत्याख्यान करके भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से सूत्र के अपठित होने पर दोषों की उद्‌भावना की है तथा दोषों का निराकरण कर दिया है—

उत्तु कृञ: कथमोर्विनिवृत्तौ णेरपि चेटि कथं विनिवृत्तिः ।
अब्रुवतंतस्तव योगमिमं स्यात्, लुक् च चिणो नु कथं नु तरस्य ॥
चं भगवान् कृतवांस्तु तदर्थ, तेन भवेदिटि णेर्विनिवृत्तिः ।
म्वोरपि ये च तथाप्यनुवृत्तौ चिण्लुकि च क्ङिति एव हिलुक् स्यात् ॥

श्लोकवार्त्तिककार के अनुसार सूत्र का प्रयोजन उकार लोप करने पर सार्वधातुकपरक[६] उत्व की अप्राप्ति माना है । अर्थात् कुर्वः, कुर्मः कुर्यात् आदि

---

१ जिने. न्यास. का. वृ. भाग ५, पृ. ३६४
२ हर. पद. का. वृ. ५, पृ. ३६४
३ शास्त्रासिद्धत्वे एत्वशाभावशास्त्राभ्यां तत्कार्ययोरप्रमितेर्धिशास्त्रं प्रति स्थानिबुद्धिरेवेति तन्निबन्धनकार्यसिद्धिरिति भावः । – कैयट प्रदीप व्या.म. २, पृ. ९०५
४ हर. पद. का. वृ. ५, पृ. ३६४
५ हर. पद. का. वृ. ५, पृ. ३६४
६ अत उत् सार्वधातुके । – अ. सू., ६.४.११०

उदाहरणों में लोप[१] प्राप्त होता है तथा गुण[२] की प्राप्ति है। दोनों नित्य हैं अतः पर होने के कारण गुण करने पर उत्व का बाध होकर नित्य होने के कारण उकार लोप करने पर[३] सार्वधातुक परक ड प्रत्यय परे रहने पर विधीयमान उत्व नहीं होता। उत्व का विधान सार्वधातुक परे रहने पर ही नहीं किया जाता अतः विकरण 'उ'[४] का व्यवधान होने पर भी नहीं होता।[५] स्थानिवद्भाव[६] से व्यवधान होने पर भी वचन सामर्थ्य[७] से व्यवधान का आश्रय नहीं लिया जा सकता क्योंकि उकार लोप होने पर भी स्थानिवद् भाव से प्रत्यय लक्षण होने के कारण उत्व[८] विधायक सूत्र में यकार वकार और मकार की अनुवृत्ति होने पर विकल्प से उत्व हो जायेगा।

द्वितीय प्रयोजन णि लोप की अप्राप्ति है। कारिष्यते इस उदाहरण में चिण्वद्भाव[९] तथा इट् के असिद्ध होने के कारण णि लोप हो जायेगा अन्यथा अनिटि का प्रतिषेध हो जायेगा परन्तु 'चिण्वदिट् च में यह चकार समुच्चयार्थ है।'[१०] अतः चकार से णि लोप अर्थ की अभिव्यक्ति होती है।[११]

चिण्वदिड् के असिद्ध होने पर भी वलादि[१२] लक्षण इट् की प्रसक्ति होती है अतः णि लोप नहीं होता। सूत्रारम्भ का तृतीय प्रयोजन अकारितराम्, अहारितराम् इन प्रयोगों में तरप् का लोप होना चाहिये था परन्तु 'चिणो लुक्'[१३] इस सूत्र में

---

१ नित्यं करोतेः। – अ. सू., ६.४.१०८, ये च। – अ. सू.
२ र्वोरूपधायाः दीर्घ इकः। – अ. सू., ६.३.८२
३ नित्यत्वात् पूर्वमुकारलोपः पश्चात् गुणः। – कैयट प्रदीप व्या.म. २, पृ. ९०८
४ तनादिकृञ्भ्यः उः। – अ. सू., ३.१.७९
५ तथा हि सति कुरुत इत्यादौ विकरणव्यवायेऽपि न स्यात्। – हर. पद. का. वृ. ५, पृ. ३७३
६ अच. परस्मिन्पूर्वविधौ। – अ. सू., १.१.५७
७ तथा च वचनादुकार व्यवधानं सहिष्यते इत्यर्थः। – नागेश उद्योत, व्या. म. २, पृ. ९०८
८ अत उत् सार्वधातुके। – अ. सू. ६.४.११०
९ स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरूपदेशेऽझन ग्रहदशां वा चिण्वदिट् च। – अ. सू., ६.४.९२
१० अवश्यं चकारेणैव णिलोपः समुच्चेतव्यः। – हर. पद. का. वृ. ५, पृ. ३७३
११ चकारेण णिलोपो विधीयते इत्यर्थः। – नागेश उद्योत व्या. म. २, पृ. ९०५
१२ आर्धधातुकस्येड् वलादेः। – अ. सू., ७.२.३५
१३ अ. सू., ६.४.१०४

क्ङित्[१] की अनुवृत्ति होने पर 'चिणः' यह पञ्चमी विभक्ति क्ङिति सप्तम्यन्त पद से षष्ठी विभक्ति 'उत्तरस्य'[२] की परिकल्पना करेगी। अतः अकारितराम् आदि रूपों में तरप् नहीं होगा। इस प्रकार प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से भाष्यकार ने उत्व सम्बन्धी, णि लोप सम्बन्धी तथा तरप् लोप सम्बन्धी सूत्र के प्रयोजन पूर्वपक्ष के रूप में उद्भावित किये हैं तथा उनका प्रत्याख्यान कर दिया है। केवल प्रतिपत्ति गौरव का परिहार करने के लिये ही इस सूत्र का विधान किया गया है।[३] श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सूत्रों तथा वार्त्तिकों का प्रत्याख्यान करने के लिये श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये गये हैं। वार्त्तिकों का प्रत्याख्यान करने के लिये श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये गये हैं। वार्त्तिकों द्वारा उक्त प्रयोजनों का प्रत्याख्यान तथा अन्य सम्भावित प्रयोजनों की उद्भावना तथा उनका प्रत्याख्यान श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा किया गया है।

(३) न माङ् योगे[४] – सूत्रकार के द्वारा 'लुङ् लङ् लृङ् क्ष्वडुदात्तः'[५] सूत्र से लुङ्, लङ् तथा लृङ् लकारों से अंग को अडागम का विधान किया गया है। और यह अडागम उदात्त होता है। 'आडजादीनाम्'[६] सूत्र अजादि धातुओं को लुङ् लङ् तथा लृङ् लकार परे रहते आडागम करता है और वह उदात्त होता है। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा माङ् के योग में होने पर लुङ् लङ्, लृङ् परे रहने पर विहित अडागम तथा आडागम का निषेध होता है। परन्तु अनन्तर को ही विधि या प्रतिषेध का विधान किया जाता है।[७] अतः यह प्रतिषेध केवल आडागम से सम्बद्ध नहीं जानना चाहिये। यह सूत्र अडाट् दोनों का ही माङ् योग में प्रतिषेध करता है क्योंकि आट्

---

१ गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि। – अ. सू., ६.४.९८

२ तस्मादित्युत्तरस्य। – अ. सू., १.१.६७

३ अनेकपरिहाराश्रयणे प्रतिपत्ति गौरवं मा भूदित्येवमारम्यमाणे। – कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ९०९

४ अ. सू., ६.४.७४

५ वही, ६.४.७१

६ वही, ६.४.७२

७ अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा इत्यादट् एवायं प्रतिषेधः। – जिने. न्यास. का. वृ. ५, पृ. ४२७

की अनुवृत्ति होती है । अनुवृत्ति होने पर अजादित्व आट् के स्थान पर अट् प्रसक्ति सम्बन्धी दोष की सम्भावना नहीं रहती है ।[१]

मण्डूक प्लुति न्याय से आट् की अनुवृत्ति होती है यदि अडागम तथा आट् दोनों की अनुवृत्ति ग्रहण की जायेगी तो अजादि से अट् की प्रसक्ति होने लगती है ।[२] यदि केवल अजादि से आट् का प्रतिषेध ही अभीष्ट होता तो संयुक्त सूत्र ही पठित होता यथा आडजादीनाम् न माङ्योगे[३] यदि अट् का विधान होगा तो भी पुनः आट् की प्राप्ति होगी तथा एक आगम का विधान होने पर यदि एक दूसरे की प्रवृति स्वीकार करते हैं तो हलादि धातुओं से आट् की प्रसक्ति होने लगेगी[४] परन्तु आट् विधान करना अभीष्ट होता तो लुङ्, लृङ् से केवल आट् का ही विधान किया जाता ।[५] यदि आट् का प्रतिषेध स्वीकार किया जाता है तो अजादि प्रयोगों में भी आट् का प्रतिषेध होने लगेगा । यथा ऐक्षिष्ट[६] आदि प्रयोगों में ।

अजादि वचन सामर्थ्य से अजादि से अट् करने पर अट् तथा आडागम का भेद से विधान होने के कारण विषय विभाग कर दिया गया है । यथा हलादि से अडागम ही होगा, अजादि से आडागम होगा । भाष्यकार ने उपदेश तया आर्धधातुक[७] की अनुवृत्ति से अड् और आड् दोनों का प्रतिषेध किया है यथा उपदेशावस्था में जो अजादि है उससे आड्विधान होगा ।[८] अकार्षीत् प्रयोग में कृ उपदेश में अजादि नहीं है । आर्धधातुक की[९] अनुवृत्ति करने पर अभिप्राय होगा । आर्धधातुक संज्ञक लकार की उत्पत्ति के समय जो अजादि है उससे आट् का विधान किया जाये ।[१०] परन्तु ऐज्यत, औप्यत आदि प्रयोगों में लङ् लकार करने पर यद्यपि

---

१ न च तस्मिन्ननुवर्तमाने सत्यजादीनामप्यट् प्राप्नोतीत्येष दोषः प्रसज्यते । – वही, पृ. ४२७
२ कैयट प्रदीप व्या. म. भाग २, पृ. ९३९
३ हर. पद. का. वृ. ५, पृ. ४२७
४ कैयट प्रदीप वही पृ. ९४०
५ वही, पृ. ९४०
६ आटश्च – अ. सू., ६.१.९०
७ आर्धधातुके – अ. सू., ६.४.४६
८ कैयट प्रदीप व्या. महा., पृ. ९४०
९ आर्धधातुके – अ. सू., ६.४.४६
१० वही,

अडागम पर है तथापि अन्तरंग होने के कारण तादेश से पूर्व अट् का विधान होता है।[१] हलादि से ही अट् का विधान होने के कारण अट् की प्राप्ति होगी आट् की नहीं।[२] अतः 'आडजादीनाम्'[३] सूत्र निष्प्रयोजन प्रतीत होता है।[४]

भाष्यकार ने प्रस्तुत शंका का समाधान करने के लिये निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं—

अजादीनामटा सिद्धं वृद्ध्यर्थमिति चेदटः।
अस्वपो हसतीत्यत्र, धातौ वृद्धिमटः स्मरेत्॥
पररूपं गुणे नाटः ओमाडोरुसि न तत्समम्।
छन्दोऽर्थं बहुलं दीर्घः, इणस्त्योरन्तरङ्गतः॥

अट्विधायक[५] सूत्र से विहित हलादि लक्षण अट् ही अजादि से विहित होगा तो आट् का ग्रहण निष्प्रयोजन ही प्रतीत होता है।[६] आट् का ग्रहण न करने पर आट् निमित्तक वृद्धि की प्राप्ति नहीं होगी। इस दोष का परिहार 'आटश्च'[७] के स्थान पर अटश्च सूत्र ग्रहण करने पर सम्भव है।[८] अट् निमित्तक वृद्धि का ग्रहण करने पर अचि की अनुवृत्ति होती है। यथा अकार्षीत् प्रयोग में अट् निमित्तक वृद्धि मानी जायेगी। अनभीष्ट प्रयोगों में भी वृद्धि की प्रसक्ति होने लगेगी यथा अस्वपो हसतीत्यत्र उदाहरण में अट् का विधान[९] शप् का लुक्[१०] सिप् के सकार को अत्व[११] तथा अत्व[१२] की प्राप्ति होती है। गुण का निषेध होकर यहां वृद्धि की प्राप्ति होती

---

१ अयं योगः शक्योऽकर्तुम् अजादीनामपि पूर्वसूत्रेण अडेवास्तु। – हर. पद. का. वृ.५, पृ. ४२५
२ जिन. न्यास भा. का. वृ.५, पृ.४२४
३ अ. सू., ६.४.७२
४ काशिकाकार ने इन श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण सूत्र आडजादीनाम् पर किया है।
५ लुङ् लङ् लृङ्क्ष्वडुदात्तः – अ. सू. ६.४.७१
६ आटश्च – वही, ६.१.९०
७ अ. सू., ६.१.९०
८ अटश्च इति वक्ष्यामि। – हर. पद. का. वृ.५, पृ.४०५
९ अड्गार्ग्यगालवयोः। – अ. सू., ७.३.९९
१० अदिप्रभृतिभ्यः शपः। – वही,
११ ससजुषो रूः। – वही, ८.२.६६
१२ हशि च। – वही, ६.१.११४

है परन्तु अजादि धातु से ही वृद्धि का कथन किया जायेगा। धातु का ग्रहण करना आवश्यक नहीं है क्योंकि अटश्च सूत्रस्थ चकार समुच्चययार्थ है।[१] अतः अट् से विधयन्तर का बाध होकर वृद्धि होती है। इसलिये आटित् आदि प्रयोगों में प्राप्त पर होने पर भी पररूप का निषेध होकर वृद्धि होती है।[२]

औटीयत, औस्त्रीयत इन प्रयोगों में वृद्धि का बाध होकर पर होने के कारण पररूप की प्राप्ति होती है उसका प्रतिषेध अभीष्ट है।[३] यदि पररूप विधि में 'नाटः' कहा जायेगा तो 'उस्यपदान्तात्'[४] तथा 'ओमाङोश्च'[५] सूत्र में परे रहते आट् से पररूप का प्रतिषेध नहीं करना पड़ेगा।[६] अतः गौरव दोष भी नहीं होता क्योंकि 'आडजादीनाम्'[७] सूत्र के स्थान पर मात्र 'अटश्च' सूत्र का ग्रहण करना पड़ेगा जिससे मात्रालाघव होता है।

यदि यह कहा जाये कि वैदिक विषय के लिये आट् का कथन करना चाहिये तो वेद में बहुलता से दीर्घ की प्राप्ति होती है। यथा पुरुषः नामकः आदि रूपों में इसी प्रकार इण् ता अण् धातु में वृद्धि विधान[८] भी आट् ग्रहण का प्रयोजन नहीं है क्योंकि आयन् आसन् आदि प्रयोगों में अन्तरंग[९] होने के कारण वृद्धि हो जायेगी अतः 'आडजादीनाम्' सूत्र का ग्रहण निष्प्रयोजन प्रतीत होता है।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण सूत्रों के प्रत्याख्यान के लिये किया है। जिस सूत्र पर श्लोकवार्त्तिक उद्धृत है उससे भिन्न सूत्र का प्रत्याख्यान भी श्लोकवार्त्तिकों में उपलब्ध होता है।

---

१ अटश्च इत्यत्र चकारस्तस्यैव विधेः समुच्चयार्थः। हर.पद.का.वृ.५,पृ.४२६
२ अटो विध्यन्तरं बाधित्वा वृद्धिरेव मया स्यात्। –हर.पद.का.वृ.५,पृ.४२६
३ अट उत्तरे गुणे पररूपं वेति वक्तव्यम्। –कैयट प्रदीप व्या.म.२,पृ.९४१
४ अ.सू.,६.१.९६
५ वही,६.१.९५
६ वही,पृ.९४१
७ अ.सू.,६.४.७२
८ कैयट प्रदीप व्या.म.२,पृ.९४१
९ हर.पद.का.वृ.५,पृ.४२६

(४) मघवा बहुलम्[१] – 'अवर्णस्त्रसावनञः'[२] सूत्र अर्वन् अंग को तृ आदेश का विधान करता है यदि उससे परे सु नहीं है और वह न से परे नहीं है। यह विधि सूत्र है तथा मघवन् अंग को बहुलता से तृ आदेश का विधान करता है।[३] प्रस्तुत सूत्र पर भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किया है—

अवर्णस्तु मघोनश्च, न शिष्यश्छान्दसं हि तत्।
मतुब्वन्योर्विधानाच्च, छन्दस्युभय दर्शनात्॥

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक में श्लोकवार्त्तिककार ने पूर्व[४] सूत्र तथा प्रकृत सूत्र दोनों का ही प्रत्याख्यान किया है। अवर्ण और मघोनः पदों से तृ आदेश का विधान अनर्थक प्रतीत होता है क्योंकि 'छन्दसीवनिपौ' सूत्र वेद में वनिप् तथा मतुप् का विधान करता है। वनिप् तथा मतुप् प्रत्यय से दोनों ही रूप सिद्ध हो जाते हैं। मघवन् शब्द से सम्प्रसारण, पूर्वरूप तथा गुण विधान करने पर मघोनः रूप सिद्ध होता है। यदि मत्वर्थ विवक्षा में वनिप् प्रत्ययान्त मधवन् शब्द का ग्रहण करते हैं तो वनिप् से सम्प्रसारण तथा भ संज्ञा होने पर अकार लोप की प्राप्ति होती है।[५]

यह अनभीष्ट प्रयोग नहीं है अपितु यह अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है जिसका लौकिक भाषा में भी प्रयोग किया है।[६] भाष्यकार ने लौकिक तथा वैदिक दोनों ही शब्दों को नियत विषय माना है।[७] ऋधातु से विच् प्रत्यय परे रहते गुण का विधान होकर अट् रूप होता है। अतः मतुप् प्रत्ययान्त होने पर अर्वन्तौ आदि रूप सिद्ध होते हैं जबकि वनिप् प्रत्यय की स्थिति में अर्वणः रूप सिद्ध होता है। इस प्रकार मघवन् तथा अर्वत् शब्द का प्रयोग लौकिक भाषा में नहीं किया जाता।[८] भाषा में कहीं-कहीं प्रयोग होने के कारण ये प्रयोग असाधु माने जाते हैं।[९] वनिप् प्रत्ययान्त

---

१ अ. सू., ६.४.१२८
२ वही, ६.४.१२७
३ Vasu, S.C. - Aṣṭā. Vol.II, p.1297.
४ अवर्णस्त्रसावनञः। – अ. सू., ६.४.१२७
५ श्वयुवमघोनाम्। – वही, ६.४.१३३
६ जिने. न्यास. का. वृ. ५, पृ.४८०
७ हर. पद. का. वृ. ५, पृ. ४८०
८ एवं चार्वच्छबदस्य मघवच्छब्दस्य च भाषायां नास्ति प्रयोग। – कैयट, प्रदीप व्या. म. २, पृ. ९५६
९ भाषायां क्वचिदृश्यमानप्रयोगास्तु असाघव एव। – नागेश, उद्योत, व्या.म., पृ. ९५६

का ग्रहण होने पर बहुल वचन सामर्थ्य से 'यस्येति च'[१] सूत्र अकार लोप का विधान नहीं करेगा। अतः भाषा में दोनों रूपों का प्रयोग नहीं होता। वेद में दोनों ही प्रयोग उपलब्ध होते हैं।[२]

इसी प्रकार 'अर्वणस्त्रसावनञः'[३] सूत्र का आरम्भ होने पर भी अर्वन् शब्द में इमान्यर्वणः पदानि यह कहा गया है अतः छान्दसत्व भाव से प्रयोग साधन ही आवश्यक है अतः इन दोनों ही सूत्रों का आरम्भ निष्प्रयोजन प्रतीत होता है कि सूत्रों के प्रत्याख्यान के लिये श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण भाष्य में किया गया है। वैदिक प्रयोगों को लौकिक भाषा में असाधु माना गया है अतः यदि उदाहरण छान्दस है तो उनका प्रयोग भाषा में नहीं किया जायेगा।

सप्तम अध्याय – अमो मश्[४]

प्रस्तुत सूत्र वेद के विषय में अम् के स्थान पर मशादेश का विधान करता है।[५] अम् मिबादेश के स्थान पर ग्रहण किया गया है। अम् से मिबादेश[६] का ग्रहण भी होता है तथा द्वितीया एकवचन[७] का बोध भी होता है। वेद में अम् से तिङन्त का ग्रहण हुआ है। दृष्टानुविधि होने के कारण बाहुल्य से तिङ् का निर्देश हुआ है।[८] यथा वधीं वृत्रम् उदाहरण में वधीम् पद में हन् धातु से लुङ्[९] लकार

---

१ अ.सू.६.४.१४८
२ अनर्वाणं वृषभं मन्द्र जिह्वम्।
३ अ.सू.,६.४.१२७
४ अ.सू.,७.१.४०
५ For the personal ending Am of the First Person Singular (in the Aorist) (1-1-55) is substituted in the Veda. Vasu, S.C. - Aśṭā. of Pāṇini, Vol.II, p.1333.
६ तस्थस्थमिपांतांतंतामः। – अ.सू.,३.४.१०१
७ स्वौजसमौटछष्टाभ्यांभिस् ङेभ्यांभ्यसङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम् ङ्योस्सुप्'। – अ. सू., ४.१.२
८ छन्दसि दृष्टानुविधानाद्वक्ष्यमाणेषु बाहुल्येन तिङा निर्देशात्। – हर.पद.का.वृ.५,पृ. ५८०
९ लुङ्। – अ.सू.(३.२.११०)

विहित होने पर वधादेश[१] टित् आगम[२] सिजादेश[३] इडागम[४] मिप् को अमादेश[५] तथा अम् को मशादेश विहित है ।

अट् आगम का वेद में बहुलता से अभाव है ।[६] मश् में अकार उच्चारणार्थ है । भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत सूत्र पर मशादेश को शित् ग्रहण करने का प्रयोजन निम्न श्लोकवार्त्तिक में व्याख्यात है—

अमो मश् न मकारस्य वचनादन्यबाधनम् ।
द्विमकार ईडपृक्ते मकारादौ न दुष्यति ॥

यदि मश् आदेश को शित् विधान नहीं किया जाता तो अन्त्य[७] परिभाषा के द्वारा अन्तिम के स्थान पर ही मशादेश होता । मकार को मकार विधान करने का कोई प्रयोजन नहीं है । अतः शित्करण सर्वदेशार्थ किया गया है ।[८] मकार को मकार विधान का प्रयोजन अन्य अनुस्वारादि आदेशो की निवृत्ति है ।[९] 'मो राजि समः क्वौ'[१०] सूत्र से सम् के मकार को मकारादेश की प्राप्ति होती है राज् पद परे रहते तथा क्विप् प्रत्यय परे रहते । इस प्रकार मकार को मकार विधान सामर्थ्य से अनुस्वारादि का बाध होता है ।[११] सूत्र में पंचमी निर्देश होने के कारण आदि को मशादेश की प्राप्ति नहीं होती ।[१२]

---

१ लुङि च – अ.सू., २.४.४३
२ च्लि लुङि । – वही, ३.१.४३
३ च्लेः सिच् । – वही, ३.१.४४
४ आर्धधातुकस्येड् वलादेः । – वही, ७.२.३५
५ तस्थस्थमिपां तांतंतामः । – वही, ३.४.१०१
६ लुङि बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि इत्यडागमः । – का. वृ. ७.१.४०, भाग ५, पृ. ५८०
७ अलोऽन्त्यस्य । – अ. सू., १.२.५२
८ कैयट प्रदीप व्या.म. ३, पृ. ४९
९ मोऽनुस्वारः । – अ. सू., ८.३.२३
१० अ. सू., ८.३.२५
११ The substitution of for म् is to prevent the change of म् into Anusvara as in 8-3-25. Vasu, S.C. - Aśṭā. of Pāṇini, Vol.II, p.1333.
१२ आदेः परस्य । – अ. सू., १.१.५४

यदि द्विमकार सहित सूत्र का उच्चारण किया जायेगा तो 'अमोम्मिति' उच्चारण होने पर प्रयत्न भिन्नता होने के कारण गौरव दोष होता है ।[१] समानजातीय दो वर्ण होने के कारण एक वर्ण का 'संयोगान्त लोप'[२] हो जायेगा परन्तु ईडागम के कारण अपृक्तत्व[३] का अभाव हो जाता है । 'अमो मिति' सूत्र पढ़ने पर मकार के लुप्त निर्दिष्ट होने के कारण अनेकाल् होने के कारण सर्वादेश मादेश हो जायेगा । अतः शित्करण का प्रत्याख्यान कर दिया गया है । कैयट[४] तथा नागेश[५] ने शित्करण का प्रत्याख्यान किया है जबकि पदमञ्जरीकार[६] तथा न्यासकार[७] ने शित्व का प्रयोजन सर्वादेशार्थ स्वीकार किया है । इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने सूत्रोक्त पदों का प्रत्याख्यान श्लोकवार्त्तिक के माध्यम से किया है ।

(१) द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोर्थे[८] – प्रस्तुत सूत्र के द्वारा द्विस्, त्रिस् तथा चतुर् शब्दों के कृत्वर्थ में विद्यमान होने पर कवर्ग तथा पवर्ग परे रहते विसर्जनीय को षकार आदेश का विकल्प से विधान किया है ।[९] यथा द्विः करोति, द्विष्करोति तथा त्रिःकरोति त्रिष्करोति आदि उदाहरणों में । द्वि तथा त्रि शब्दों से सुच्[१०] का विधान है अतः उनके साहचर्य से चतुर् भी सुजन्त ही माना गया है ।[११] यह सुच् प्रत्यय

---

१ पृथक् स्थानकरणव्यापाराश्रयणादिति भावः । – नागेश, उद्योत व्या. म. ३, पृ. ४९
२ संयोगान्तस्य लोपः । – अ. सू., ८.२.२३
३ अनेकालपृक्तम् । – वही
४ यकारस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वादनेकाल्त्वात्सर्वादेशोऽयं मो भविष्यति । – कैयट, प्रदीप. व्या. म. ३, पृ. ५०
५ इदं प्रत्याख्यानमेकदेशिन इति केचित् । – नागेश, उद्योत, वही
६ नात्र किञ्चित्प्रमाणमस्ति, तस्माच्छित्करणम् । – हर.पद.का.वृ. ५, पृ. ५८१
७ यदि शकारो न क्रियेत तदाऽन्त्यस्यवस्यात् न सर्वस्य तस्मात् सर्वादेशार्थः शकारः कर्त्तव्यः । – जिने. न्यास. का. वृ. ५, पृ. ५८१
८ अ. सू., ८.३.४३
९ Vasu, S.C. - Asta of Panini, Vol.II, p.1616.
१० द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् । – अ. सू., ५.४.१८
११ इह द्वित्रिभ्यां सुजन्ताभ्यां साहचर्याच्चतुः शब्दोऽपि सुजन्त एव ग्रहीष्यते । – तत्व. सि. कौ., पृ. ४१

कृत्वसुच् के अर्थ में विहित है ।[१] इस सूत्र में पूर्वसूत्र[२] से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति है अतः षत्वविधान विकल्प से होता है यह उभयत्र विभाषा है चतुर् शब्द में विसर्ग प्रत्यय सम्बन्धी नहीं है अतः अप्रत्यय में षत्वविधान नित्य[३] रूप से होना चाहिये था जबकि यह वैकल्पिक षत्व विधान करता है ।[४] चतुर् में प्राप्त विभाषा है जबकि द्वि तथा त्रि के लिये यह अप्राप्त विभाषा है ।[५] भाष्यकार ने इस सूत्र में इत् तथा उत् की अनुवृत्ति मानी है । अतः विसर्ग से इकार या उकार पूर्व में होना चाहिये । पञ्चकृत्वः उदाहरण में विसर्ग पूर्व है अतः षत्व नहीं किया गया । सूत्र में द्वि, त्रि तथा चतुर् का ग्रहण पंच से षत्व का निषेध करने के लिये किया गया है । 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य'[६] सूत्र नित्य रूप से इत् और उदुपध के विसर्ग को षत्व का विधान करता है अतः सूत्र के द्वारा कृत्वसुच् के अर्थ में विद्यमान पद में विसर्जनीय को ही षत्व किया गया है ।[७] यदि कृत्वसुजर्थ का ग्रहण किया जाता है तो चतुर शब्द से षत्व नहीं होता । सूत्र में द्विरादि का ग्रहण न होने पर भी उनके विसर्गों को षत्व का विधान होता है ।[८] अतः सूत्र में द्विस, त्रिस् तथा चतुर् का ग्रहण नहीं किया जाना चाहिये । श्लोकवार्त्तिककार ने द्वि, त्रि तथा चतुर् ग्रहण का प्रत्याख्यान कर दिया है ।[९] भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से द्वि, त्रि, चतुर् के ग्रहण सम्बन्धी शंका की उद्भावना तथा समाधान किया है[१०]—

---

१ The affix सुच् is added to three words in the sense of Kritvasuch. Ibid.

२ तिरसोऽन्यतरस्याम् । – अ.सू.,८.३.४२

३ इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य । – अ.सू.,८.३.४१

४ हर.पद.का.वृ.६,पृ.५२७

५ Thus with regard to चतुर it is a Prāpta-Vibhāsha and with regard to द्विस् and त्रिस् it is an Aprat-vibhasha. –Vasu, S.C., Aśṭā.Vol.II, p.1616.

६ अ.सू.,८.३.४१

७ कृत्वोर्थे यत्पदं वर्तते तस्य यो विसर्जनीयः इत्येवं विशेष्यमाणं इत्यर्थ । – हर.पद.का. वृ.भाग ६,पृ.५२८

८ तस्मादन्तरेणापि द्विरादीनां ग्रहणमस्य तेषामेव हि विसर्जनीयस्य षत्वं भवतीति । -जिने. न्यास.का.वृ.भाग ६,पृ.५२८

९ एवं श्लोकवार्त्तिककारमतेन द्विस्त्रिश्चतुर्ग्रहणं प्रत्याख्यातम् । – वही

१० The various objections and their solutions are given in the following verses. –Vasu, S.C. - Aśṭā., Vol.II, p.1616.

कृत्वसुजर्थे षत्वं ब्रवीति, कस्माचत्तुष्कपाले मा।
षत्वं विभाषया भून्ननु, सिद्धं तत्र पूर्वेण ॥
सिद्धे ह्यं विधत्ते चतुरः, षत्वं यदापि कृत्वोर्थे।
लुप्ते कृत्वोऽर्थीये रेफस्य विसर्जनीयो हि ॥
एवं सति त्विदानीं द्वित्रिश्छतुरित्यनेन किं कार्यम्।
अन्यो हि नेदुदुपधः कृत्वोर्थे कश्चिदप्यस्ति ॥
अक्रियमाणे ग्रहणे विसर्जनीयस्तदा विशेष्येत।
चतुरो न सिध्यति तदा रेफस्य विसर्जनीयो हि ॥
तस्मिंस्तु गृह्यमाणे युक्तं चतुरो विशेषणं भवति।
प्रकृतं पदं तदन्तं तस्यापि विशेषणं न्याय्यम् ॥

प्रस्तुत सूत्र में विकल्प से षत्व विधान का हेतु कृत्वोऽर्थ है अतः कृत्वोऽर्थ के प्रयोजन के सम्बन्ध में शंका उत्पन्न होती है। कृत्वोऽर्थ शब्द निष्प्रयोजन प्रतीत होता है। क्योंकि द्विस् त्रिस् विशेषण हैं और सुच्[1] प्रत्यय से निष्पन्न हैं चतुर् उनके साहचर्य से सुच् प्रत्यय युक्त है अतः वह भी विशेषण है।[2] परन्तु साहचर्य नियम भी भिन्न जातीयक का ग्रहण करता है तथा 'दीधीवेवीटाम्'[3] सूत्र में दी धी वे वी धातुओं के साथ इडागम का ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार द्वि और त्रि कृत्वसुच् के अर्थ शब्द है। जबकि चतुर् नहीं अतः कृत्वोर्थ ग्रहण का प्रयोजन 'चतुष्कपालम्' पद में वैकल्पिक षत्व का निषेध करना है।[4] नित्य रूप से प्राप्त षत्व का यह अपवाद है।

---

१ द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् – अ. सू., ५.४.१८
२ **All these three words are such formed and all such formed words have the sense of Kritvorth. Vasu, S.C. Asta of Panini, Vol. II, p.1617.**
३ अ.सू., १.१.६
४ जिने. न्यास, का. वृ. भाग ६, पृ.५२९

नित्य रूप से षत्व सिद्धि तो पूर्व सूत्र[१] से ही हो जाती है परन्तु कृत्वोर्थ विवक्षा में सुच् प्रत्यय करने पर प्रत्यय के सकार को विसर्ग करने पर षत्व प्राप्ति नित्य रूप से नहीं होती क्योंकि प्रत्यय का प्रतिषेध हो जाता है।[२] सुच् प्रत्यय का लोप होने पर न केवल 'कृत्वोऽर्थवृत्तिचतुः शब्द को नित्य षत्व की प्राप्ति होने पर वैकल्पिक षत्व किया जाता है अपितु कृत्वोऽर्थ होने पर भी वैकल्पिक विधान किया गया है।[३] 'कृत्वोऽर्थीय सुच् प्रत्यय का विधान होने पर अप्रत्यय रेफ को विसर्जनीय होने पर नित्य षत्व[४] प्राप्त होता है जिसको यह[५] सूत्र वैकल्पिक विधान करता है। अतः कृत्वोऽर्थ होने पर तथा न होने पर पूर्वसूत्र[६] से षत्व प्राप्त होने पर विकल्प का आरम्भ किया गया है।[७] कृत्वोऽर्थ का ग्रहण न होने पर 'चतुष्कपाले' उदाहरण में विकल्प से षत्व की प्रसक्ति होती है। अतः निवृत्ति के लिये कृत्वोऽर्थ का ग्रहण किया गया है इसके अतिरिक्त चतुर् से सुच् प्रत्यय होने पर सुच् का लोप हो जाता है।[८] परन्तु उ को दीर्घत्व[९] की प्राप्ति होती है रुत्व[१०] असिद्ध होने के कारण पूर्व ही लोप हो जायेगा।[११] अतः कृत्वोऽर्थ का ग्रहण संगत है।

श्लोकवार्त्तिककार ने कृत्वोऽर्थ ग्रहण को उपयुक्त मानकर द्विस्त्रिश्चतुर् पद को निष्प्रयोजन माना है। 'कृत्वोऽर्थे' इतना ही सूत्र पर्याप्त है क्योंकि 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य'[१२] सूत्र की अनुवृत्ति होती है द्विरादि से अन्य इदुपध तथा उदुपध नहीं

---

१ इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य। – अ.सू.,८.३.४१

२ कृत्वोऽर्थविवक्षायां सुचि कृते तस्य यदा विसर्जनीयः क्रियते तद। पूर्वेण न प्राप्नोति अप्रत्ययस्येति प्रतिषेधात्। – जिने. न्यास. का. वृ. भाग ६, पृ.५२९

३ वही, पृ.५२९

४ Vasu, S.C. - Asta. of Panini, Vol.II, p.1617.

५ द्विस्त्रिचतुरिति कृत्वोऽर्थे। – अ.सू.,८.३.४३

६ इदुदुपधस्य् चाप्रत्ययस्य। – वही,८.३.४१

७ ततश्च सर्वत्र कृत्वोऽर्थेऽप्यकृत्वोऽथेऽपि नाप्राप्ते पूर्वेण षत्वे विकल्प आरभ्यत इति तस्मबाधक एव स्मात्। – जिने. न्यास का. वृ. ६, पृ.५२९

८ हर. पद. का. वृ. ६, पृ.५२९

९ ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः। – अ.सू.,६.३.१११

१० ससजुषो रूः। – अ.सू.,८.२.६६

११ पूर्वमेव च लोपेन भवितव्यम्। एवं च कृत्वोऽर्थ ग्रहण कर्त्तव्यमिति। – हर. पद. का. वृ. ६, पृ.५२९

१२ अ.सू.,८.३.४१

होता।[१] सामर्थ्य से द्विरादि को ही षत्व होता है अन्यों को नहीं अतः द्विरादि का ग्रहण अनर्थक है।[२] अन्य पक्ष के अनुसार सूत्र में द्विरादि ग्रहण आवश्यक है। यदि द्विरादि का ग्रहण नहीं किया जायेगा तो कृत्वोऽर्थ विसर्ग को षत्व विधान होता है।[३] परिणामतः चतुः शब्द से विभाषा से षत्व की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि चतुर् से परे सुच् के सकार का लोप[४] होने पर प्रकृति अवयव सिद्ध नहीं होता।[५] विसर्ग भी कृत्वोऽर्थ में विद्यमान नहीं है। अतः द्विरादि पद कृत्वोऽर्थे पद का विशेषण है।[६] यह भी द्विरादि पद का प्रयोजन नहीं है क्योंकि कृत्वोंऽर्थ पद का विसर्ग का विशेषण नहीं है अपितु पद का विशेषण है जिसकी अनुवृत्ति[७] हो रही है।

'अलोऽन्त्यस्य'[८] परिभाषा के अनुसार सूत्र का अभिप्राय है कृत्वोऽर्थ में विद्यमान पदान्त विसर्जनीय को विहित सकार को षत्व विकल्प से होता है।[९] इस प्रकार श्लोकवार्त्तिककार के मतानुसार सूत्र में द्विरादि ग्रहण का प्रत्याख्यान कर दिया गया है।[१०] काशिकाकार ने भाष्यकार के मत का विरोध किया है।[११] उनके मतानुसार सूत्र में द्विरादि का ग्रहण न होने पर 'कृत्वोऽर्थे' सूत्र अपर्याप्त है क्योंकि चतुर् शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में हुआ है।[१२] षत्व नित्य रूप से प्राप्त होता है प्रकृत सूत्र पूर्व सूत्र के प्रति असिद्ध है परन्तु इसका खण्डन किया गया है क्योंकि

---

१ Vasu, S.C. - Aśṭā.of Pāṇini, Vol.II, p.1617.
२ जिने. न्यास का. वृ. ६, पृ. ५२९
३ The Visarga of an affix which has the sense of Krit. Vasuch is changed optionally to . Ibid.
४ रात्सस्य। – अ. सू., ८.३.२४
५ जिने. न्यास का. वृ. ६, पृ. ५३०
६ जिने. न्यास का. वृ. ६, पृ. ५३०
७ वही, पृ. ५३१
८ अ. सू., १.१.५२
९ Vasu, S.C. - Aśṭā. Vol.II, p.1618.
१० एवं श्लोकवार्त्तिककारेण प्रत्याख्याते द्विरादि ग्रहणे। – हर. पद. का. वृ., पृ. ५३१
११ The Kāṣikā however controverts the opinion. Vasu, S.C. - Aśṭā., Vol.II, p.1618.
१२ का. वृ. (८.३.४३) भाग ६, पृ. ५३१

'पूर्वत्रासिद्धम्'[१] सूत्र एक प्रकरण के प्रति दूसरे प्रकरण को असिद्ध मानता है एक प्रकरण उसी प्रकरण के प्रति असिद्ध नहीं होता।[२] अतः प्रकृत सूत्र पूर्व सूत्रे के प्रति असिद्ध नहीं माना जायेगा।[३] अपितु इनमें उत्सर्गापवाद का सम्बन्ध है। अपवाद उत्सर्ग के प्रति असिद्ध नहीं होता।[४] अतः द्विरादि ग्रहण का प्रत्याख्यान किया गया है।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण सूत्रों की व्याख्या के लिये किया है। सूत्रोक्त पदों का प्रयोजन, उससे सम्बद्ध शंकाओं की उद्भावना तथा उनका समाधान श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा प्रस्तुत है। सूत्रों का विवेचन करते हुये भाष्यकार सूत्रों के पदों का प्रयोजन सिद्ध करते हैं। निष्प्रयोजन प्रतीत होने पर उनका प्रत्याख्यान कर दिया जाता है। किसी श्लोकवार्त्तिक में सूत्रोक्त पद अथवा सूत्र का प्रत्याख्यान है तो किसी अन्य श्लोकवार्त्तिक ने वार्त्तिकों का प्रत्याख्यान किया है। व्याकरणात्मक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुये श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा श्लोकवार्त्तिक भी प्रत्याख्यात हैं। परिणामतः कुछ श्लोकवार्त्तिकों को प्रत्याख्यानात्मक श्लोकवार्त्तिक माना जा सकता है। इनमें प्रत्याख्यात सूत्र, सूत्रोक्त पद अथवा वार्त्तिकों का दृष्ट प्रयोजन न होने पर भी अदृष्ट प्रयोजन स्वयं सिद्ध है।

---

१ अ.सू.,८.२.१
२ कैयट प्रदीप व्या.म.३,पृ.४५९
३ Vasu, S.C. - Aṣṭā. Vol.II, p.1618.
४ कैयट प्रदीप व्या.म.३,पृ.४६०

शङ्का समाधानात्मक श्लोकवार्त्तिक

महाभाष्य में उद्धृत श्लोकवार्त्तिक विभिन्न वैयाकरणों द्वारा रचित हैं। कुछ श्लोकवार्त्तिक सूत्रों से सम्बद्ध प्रयोजनों की चर्चा करते हैं तो कुछ के द्वारा सूत्रों अथवा वार्त्तिकों का प्रत्याख्यान किया गया है, परन्तु कुछ श्लोकवार्त्तिकों में सूत्रों से सम्बद्ध शंकाओं की उद्भावना तथा उनका समाधान प्रस्तुत किया गया है। केवल सूत्र में उक्त पदों के विषय में भी श्लोकवार्त्तिक शंकाओं को पूर्वपक्ष के रूप में उद्भावित करते हैं तथा उत्तरपक्ष के रूप में उनका समाधान करते हैं। मात्र शंका के विषय में ही चर्चा कुछ श्लोकवार्त्तिकों में उपलब्ध होती है जबकि कुछ अन्य श्लोकवार्त्तिक में व्याख्यान भाष्य द्वारा उद्भावित शंका का समाधान प्राप्त होता है। शंका का विवेचन करने वाले श्लोकवार्त्तिकों को शंकात्मक तथा समाधान का निर्देश करने वाले श्लोकवार्त्तिकों को समाधानात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है। कहीं-कहीं शंकाओं की उद्भावना तथा उनका समाधान एक साथ प्रतिपादित है उन्हें 'शंकासमाधानात्मक श्लोकवार्त्तिकों' के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इस अध्याय में ऐसे श्लोकवार्त्तिकों का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है—

प्रथम अध्याय – 'अइउण्'[१]

प्रत्याहाराह्निक[२] में अइउण प्रत्याहार सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए भाष्यकार ने सूत्रोक्त अभार को विवृतोपदेश ग्रहण क्यों करना चाहिए इस शंका की

---

१ प्र.सू., १

२ Mahabhasyakara deals with the following eight Sutras in detail in this ahnika - अइउण् - झभञ, Hence this ahnika is called प्रत्याहाराह्निकम्। Sastri, P.S.S. Lec.Pat. MB Vol.I, p.87.

उद्‌भावना की है। इस प्रयोजन के विषय में चर्चा करते हुये भाष्यकार ने 'स्थानी प्रकल्पयेदेतावनुस्वारो यथा यणम्' श्लोकवार्त्तिकांश का ग्रहण किया है।

धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय तथा निपात में स्थित अकार सवर्ण ग्रहण के कारण विवृत होता है। विवृतत्व का उद्‌देश्य दीर्घ औरप्लुत वचन में संवृत्त की निवृत्ति है इसका कारण यह है कि न तो व्यवहार में और न ही वेद में दीर्घ और प्लुत संवृत्त होते हैं। दीर्घ और प्लुत में विवृतत्व का कारण संवृत्त स्थानी के द्वारा संवृत्त दीर्घ और प्लुत की कल्पना करना है जिस प्रकार अनुस्वार सवर्ण यण् की कल्पना कर लेता है। यथा सँय्यन्ता उदाहरण में स्थानी अनुस्वार यण् य् का ग्रहण कर लेता है। यही शंका अ के संवृतत्व के विषय में उद्‌भूत होती है कि विवृत अकार का कथन न होने पर संवृत्त ह्रस्व अकार के स्थान पर संवृत्त दीर्घ व प्लुत आदेश होंगे।[१]

अतः दीर्घ और प्लुत का विवृतत्व अभीष्ट है। संवृत दीर्घ व प्लुत का उच्चारण ही असम्भव हो जायेगा।[२] अकार के विवृतोपदेश का एक अन्य कारण है – पाणिनीय सूत्र 'अ अ'[३] प्रथम अ प्रयोग के निमित्त विवृत है परन्तु प्रयोग दशा में द्वितीय अ संवृत्त है। अतः पूर्व अकार के विवृत तथा उत्तर अकार के संवृत होने के कारण सावर्ण्य नहीं होता इसलिये 'अकः सवर्णे दीर्घः'[४] सूत्र सवर्णदीर्घत्व का विधान नहीं करता। 'अइउण्' इस प्रत्याहार सूत्र में अकार को विवृत मान लेने पर सवर्ण आकार का ग्रहण तो हो जाता है परन्तु प्लुत का ग्रहण नहीं होता। प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकांश से प्लुत का ग्रहण भी हो जाता है। यदि प्लुत को विवृत ग्रहण नहीं करेंगे तो लोकव्यवहार कठिन हो जायेगा।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकांश के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि वार्त्तिकों में व्याख्यात सिद्धान्तों के सम्बन्ध में श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा शका की उद्‌भावना की गई है। यह तथ्य भी स्पष्ट होता है कि श्लोकवार्त्तिकाशों के द्वारा भी शंका की उद्‌भावना की गई है। आवश्यकतानुसार सम्पूर्ण श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण किया गया है।

---

१ असति विवृतत्वप्रतिज्ञाने संवृतस्याकारस्य स्थानेसावर्ण्यात्संवृतयोरेव दीर्घप्लुतयोः प्रसङ्गः। –कैयट प्रदीप. व्या. म. १, पृ. ६५

२ अशक्यत्वाद्दीर्घप्लुतयोः संवृतयोरुच्चारणम्। –वही, पृ. ६६

३ अ. सू., ८.४.६८

४ अ. सू., ६.१.१०१

(२) हयवरट्[१] – प्रत्याहार सूत्रों में सूत्रकार ने स्वरों तथा व्यंजनों का ग्रहण किया है । प्रत्याहार संज्ञा अच् के अन्तर्गत स्वरों तथा हल् के अन्तर्गत व्यंजनों का अन्तर्भाव हो जाता है । 'अइउण्'[२], ऋलृक्[३], एओङ्[४], ऐऔच्[५] प्रत्याहार-सूत्रों में ण्, क्, ङ्, च् व्यंजन भी हैं जिनकी प्रत्याहार संज्ञा करते समय गणना नहीं की जाती । 'हयवरट्'[६] सूत्र पर भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा प्रत्याहारों में अच् में णकारादि का ग्रहण न करने से सम्बद्ध शंका की उद्भावना की है तथा उसका समाधान प्रस्तुत किया है—

प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न ।
आचारादप्रधानत्वाल्लोपश्च बलवत्तरः ॥

यदि अनुबन्धों को अच् मान लिया जायेगा तो दधिणकारीयति, मधुणकारीयति आदि उदाहरणों में ण् अच् होने से यणादेश[७] की प्रसक्ति होने लगेगी । सूत्रकार ने भी 'श्रिणीभुवः'[८] 'तृषिमृषेः काश्यपस्य'[९] तथा 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्'[१०] सूत्रों में अनुबन्ध णकारादि के परे यणादि कार्यों का विधान नहीं किया है । व्यवहार में भी न होने के कारण अनुबन्ध अच् से गृहीत नहीं होते ।

इसके अतिरिक्त अनुबन्धों का ग्रहण हल् में किया गया है अतः हल् में ही इनकी प्रधानता दृष्टिगत होती है, अच् में नहीं । अच् में इनका अस्तित्व प्रत्याहार संज्ञा के लिये ही है अतः ये प्रत्याहार के उपकारक माने जाते हैं[११] इनका अन्तर्भाव

---

१ प्र.सू., ५
२ वही, १
३ वही, २
४ वही, ३
५ वही, ४
६ वही, ५
७ इको यणचि । – अ.सू., ६.१.७७
८ अ.सू., ३.३.२४
९ The Acārya here refers to the author of the sutraतृषिमृषिकृषेः काश्यपस्य' – Sastri P.S.S. Lec.Pat. MB.Vol.I, p.157.
१० अ.सू., ८.३.३२
११ तेऽनुबन्धाः संज्ञिविशेषसमर्पणेन प्रत्याहारोपकारका । – र.म.प्र.व्या., पृ. १९०

प्रत्याहार संज्ञा में ही हो जाता है । प्रधान व गौण के एक साथ उच्चरित होने पर प्रधान को ही कार्यविधान किया जाता है ।[१] अच् से विहित कार्य अनुबन्धों से नहीं किये जाते । 'आदिरन्त्येन सहेता'[२] सूत्र से अच् प्रत्याहार होने से पूर्व ही 'हलन्त्यम्'[३] सूत्र से अइउण्[४] आदि सूत्रों के णकारादि की इत्संज्ञा होकर लोप[५] हो जाता है । अतः संज्ञा-विधान काल में अनुबन्धों के उपस्थित न होने के कारण अनुबन्धों की अच् संज्ञा नहीं की जाती । इसी शंका का समाधान निम्न श्लोकवार्त्तिक में प्रस्तुत किया है ।

ऊकालोऽजिति वा योगस्तत्कालानां यथा भवेत् ।
अचां ग्रहणमच्कार्यं तेनैषां न भविष्यति ॥

'हयवरट्'[६] सूत्र पर ही यह श्लोकवार्त्तिक उद्धृत है । इस श्लोकवार्त्तिक के द्वारा अनुबन्धों से अच् निमित्तक कार्यों का निषेध किया है । 'ऊकालोऽज्झस्व दीर्घप्लुतः'[७] सूत्र का ऊकालोऽच् तथा ह्रस्वदीर्घप्लुतः योगविभाग करने पर स्पष्ट होता है कि एकमात्रिक, द्विमात्रिक तथा त्रिमात्रिक के उच्चारण के समान जिन वर्णो के उच्चारण में समय लगता है वे अच् हैं और उनकी ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञा होती है । अनुबन्धों के अर्धमात्रिक होने के कारण अच् विहित कार्य अनुबन्धों से नहीं किये जाते । अतः अइउण्, ऋलृक् आदि प्रत्याहार सूत्रों में णकार, ककारादि व्यंजन अच् संज्ञक नहीं है ।[८]

इसी सिद्धान्त की पुष्टि करने के लिये भाष्यकार ने अन्य वैयाकरण का मत निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा स्पष्ट किया है—

ह्रस्वादीनां वचनात् प्राग्याक्तावदेव योगोऽस्तु ।
अच्कार्याणि यथा स्युस्तत्कालेष्वक्षु कार्याणि ॥

---

१ प्रधानाप्रधानसंनिधौ प्रधानमेव कार्याणां प्रयोजकम् । – कैयट प्रदीप व्या.म. १, पृ. ९५
२ अ.सू., १.१.७१
३ वही, १.३.३
४ प्र.सू., १
५ तस्य लोपः । – अ.सू., १.३.९
६ प्र.सू., ५
७ अ.सू., १.२.२७
८ कु. अव. व्याख्या व्या.म., पृ. १७९

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि अच् सम्बन्धी कार्य उन्हीं वर्णों को किये जायेंगे जिनके उच्चारण में उ, ऊ, ऊ इ के उच्चारण के समान समय लगता है।[१] अनुबन्धों का अच् प्रत्याहार से ही ग्रहण हो जाने पर हल में उनका परिगणन व्यर्थ हो जाता। अतः प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने पाणिनीय सूत्रों में अनवस्था दोष का परिहार करने के लिये श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण किया है।

श्लोकवार्त्तिकों में अच् में अनुबन्धों के ग्रहण सम्बन्धी शंका की उद्‌भावना की गई है। इस शंका का समाधान करने के पश्चात् अन्य श्लोकवार्त्तिककार के कथन से उसकी पुष्टि की गई है। अतः इन श्लोकवार्त्तिकों को शंका समाधानात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है।

(३) लण्[२] – आचार्य पाणिनि प्रत्याहार सूत्रों में अनुबन्ध रूप में णकार का दो बार करते हैं। अइउण्[३] तथा लण्[४] प्रत्याहार सूत्रों में। अतः सूत्रों में प्रयुक्त अण् प्रत्याहार में णकार से पूर्ववर्ती णकार का ग्रहण होगा अथवा परवर्ती णकार का यह शंका उत्पन्न होती है। इस भ्रान्ति का एक अन्य कारण यह है कि दोनों ही णकार प्रत्याहार सूत्रों में अनुबन्ध के रूप में ही गृहीत हैं। पतंजलि ने प्रस्तुत सूत्र पर निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किया है—

असन्दिग्धं पराभावात्, सवर्णेऽण् तु परं ह्युर्ऋत्।
ख्वोरन्यत्र परेणेण् स्यात्, व्याख्यानाच्च द्विरुक्तितः॥

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक में णकार सम्बन्धीं शंका का समाधान किया गया है। सूत्रकार ने सूत्रों में अण् तथा इण् प्रत्याहारों का ग्रहण किया है। वहां यह अस्पष्ट है कि णकार से पूर्व या पर किसका ग्रहण किया जाये। 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः'[५] सूत्र में अण् ग्रहण से पूर्व ण् लिया जाये अथवा पर इसका निर्णय श्लोकवार्त्तिक से हो जाता है। पर अभीष्ट न होने के कारण यहां पूर्व णकार का ही ग्रहण किया

---

१ ऊकालोऽझ्रस्वदीर्घप्लुतः। – अ.सू., १.२.२७
२ प्र.सू., ६
३ वही, १
४ वही, ६
५ अ.सू., ६.३.१११

जाता है। इसका प्रथम कारण यह है कि द्रलोप करने पर पूर्व 'ण्' से गृहीत वर्ण ही होते हैं पर 'ण्' से नहीं।[१] द्वितीय कारण यह है कि ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत अच् के ही होते हैं। इसी प्रकार 'केऽणः'[२] 'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः'[३] 'उरण् रपरः'[४] सूत्रों के विषय में भी भाष्यकार यह सिद्ध करते हैं कि इनमें पूर्व णकार का ग्रहण उपयुक्त है पर का नहीं।

'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः'[५] सूत्र में अण् में पर णकार का ग्रहण किया जाता है। इसका कारण यह है कि 'उऋत्'[६] सूत्र में तपरक ऋ का ग्रहण किया है और तपरक होने से वह समकाल संज्ञक ही माना जाता है[७] सवर्ण का ग्रहण नहीं करता यथा अचीकृतत् उदाहरण में ऋकार को ॠकार न हो इसलिये तपरत्व किया गया है।[८] यह तपरकरण ज्ञापित कराता है कि अण् ग्रहण से पर णकार अभीष्ट है। जिस प्रकार अण् वाले सूत्रों के विषय में सन्देह है उसी प्रकार इण् के विषय में भी यह संशय उत्पन्न होता है कि इण् प्रत्याहार में पूर्व या पर किस ण् का ग्रहण किया जाये। इस विषय में श्लोकवार्त्तिककार ने व्यवस्था की है कि य्वोः[९] पद से जहां इकार और उकार का ग्रहण किया गया है उससे अतिरिक्त अन्य सूत्रों में इण् प्रत्याहार में पर णकार अभीष्ट है। 'य्वोः' पद के उच्चारण में तीन से अर्धाधिक मात्रा का समय लगता है जबकि इणः पदोच्चारण त्रिमात्रिक है। इस विषय में शंका उत्पन्न होती है कि लघु से अभीष्ट प्राप्ति होने पर भी गुरु ग्रहण क्यों किया गया है जबकि लोक प्रचलित मान्यता है—

अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः'

---

१ वर्ण इत्यादौ गुणो सिद्ध इति भावः। –कैयट प्रदीप व्या.म. १, पृ.
२ अ.सू., ७.४.१३
३ वही, ८.४.५७
४ वही, १.१.५१
५ वही, १.१.६९
६ वही, ७.४.७
७ तपरस्तत्कालस्य। –वही, १.१.७०
८ शा.चा.व्या.म., पृ. ११५
९ अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ। –अ.सू., ६.४.७७

आचार्य पाणिनि ने सूत्रों में एक भी वर्ण या मात्रा निष्प्रयोजन नहीं रखा है। इस विषय में भी अर्धमात्रा का अधिक ग्रहण इण् प्रत्याहार से पर णकार लिया जाये इस तथ्य का सूचक है।

गौरव दोष को देखते हुये एक अन्य सन्देह उत्पन्न होता है कि णकार अनुबन्ध का ही दो बार ग्रहण क्यों किया गया है ?[1] इस शंका का समाधान श्लोकवार्त्तिक में 'व्याख्यानाच्च द्विरुक्तितः' पदों से किया है। जिससे यह स्पष्ट होता है कि दो बार अनुबन्ध में ग्रहण का कारण 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्' यह प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक का प्रकृत परिभाषा की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान है। णकार को दो स्थानों पर पठित देखकर ही सूत्रों में इसके विषय में सन्देह उत्पन्न होता है पूर्वोक्त व्याख्यान करने से अण् और इण् शब्दों की शक्ति का निश्चय हो जाता है। यह परिभाषा ज्ञापित करती है कि किसी भी लक्षण अर्थात् शास्त्र के विषय में शंका होने पर उसे व्यर्थ नहीं माना जाता अपितु उसके सम्बन्ध में सम्पूर्ण व्याख्यान करने से वह लक्षण निश्चित होता है। अण् में पूर्व या पर णकार के सम्बन्ध में जो संशय है वह 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः'[2] सूत्र के अतिरिक्त अन्य सूत्रों में पूर्व णकार का ग्रहण उपयुक्त है तथा इण् मे टवोः से अतिरिक्त अन्य सूत्रों में परणकार का ग्रहण करना उचित है।

(४) न क्त्वा सेट्[3] – भाष्यकार ने पाणिनीय सूत्रों का पदकृत्य स्पष्ट करने के लिये शंका समाधानात्मक शैली को ग्रहण किया है। प्रस्तुत सूत्र पर भाष्यकार ने शंका की उदभावना की है सूत्र में क्त्वा ग्रहण का क्या प्रयोजन है ? 'न सेट्' कह देने से भी सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट हो सकता है। इस शंका का समाधान निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा किया गया है—

न सेडितिकृते कित्वे निष्ठायामवधारणात्।
ज्ञापकान्न परोक्षायां सनि झल्ग्रहणं विदुः॥

---

१ अणादिग्रहणेषूक्तैर्महद्भिर्यत्नैः सन्देहपरिहारे प्रतिपत्तिगौरवमति लाघवाय वर्णान्तरेण किं नानुबध्यते। – नागेश, उद्योत, व्या. म. १, पृ. १००

२ अ. सू., १.१.६९

३ अ. सू., १.२.१८

इस श्लोकवार्त्तिक में क्त्वा निर्देश के दो कारण माने हैं। प्रथमतः क्त्वा ग्रहण न करने पर सेट् निष्ठा[१] में भी अकित्व होगा। 'न सेट्' कहने पर जो सूत्र[२] परनिष्ठापरक कुछ धातुओं से ही कित्व का निषेध करता है वह निष्प्रयोजन हो जायेगा।

द्वितीयतः सूत्र में क्त्वा की उपस्थिति न रहने पर परोक्ष[३] में कित्व का प्रतिषेध होने पर जग्मिव, जग्मिम आदि उदाहरणों में उपधा का लोप[४] नहीं होता। इस शंका का समाधान 'इको झल्'[५] सूत्र में झल् ग्रहण से हो जाता है क्योंकि झल् ग्रहण ज्ञापक है कि झलादि सन् के विषय में ही कित्व हो सेट् के विषय में नहीं। भाष्यकार ने इसका खण्डन् किया है। वे झल् ग्रहण का प्रयोजन 'स्थाघ्वोरिच्च'[६] सूत्र के लिये मानते हैं। इसमें झलादि सिच् परे रहते इत्व का विधान है अजादि परे रहने पर नहीं यथा उपास्थायिषाताम् इस उदाहरण में युक्[७] होता है झल् ग्रहण न होने पर इडादि होने पर भी इत्व प्राप्त होता है, परन्तु निम्न श्लोकवार्त्तिक से इत्व विधान का कारण कित्व माना है, जहां कित्व नहीं होता, वहां इत्व भी नहीं होता—

इत्वं कित्सन्नियोगेन, रेण तुल्यं सुधीवनि।
वस्वर्थं किदतीदेशात् गृहीतिः क्त्वा च विग्रहात्॥

जिस प्रकार 'अनो बहुव्रीहेः'[८] सूत्र से डीप् का प्रतिषेध करने पर 'वनो र च'[९] सूत्र से डीप् सन्नियोग में विधीयमान रेफादेश नहीं होता[१०] उसी प्रकार झल् ग्रहण ज्ञापक स्थिर नहीं है।

---

१ क्तक्तवतू निष्ठा। –वही, १.२.१०
२ निष्ठाशीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः। –वही, १.२.१९
३ पूर्वाचार्य प्रसिद्धा परोक्षा लिडुच्यते। –कैयट, प्रदीप व्या. म. १, पृ.
४ गमहनजनखनधसां लोपो क्ङित्यनङि। –अ. सू., ६.४.९८
५ अ. सू., १.२.९
६ अ. सू., १.२.१७०
७ आतो युक् चिण्कृतोः। –वही, ७.३.३३
८ अ. सू., ४.१.१२
९ वही, ४.१.७
१० The Sutra Vanoraca enjoins both nip and antadesh after stems ending in van and Ano bahuvriheh serves as its apavada. –Sastri P.S.S. Lec.Pat. MB Vol.4, p.28.

श्लोकवार्त्तिककार ने दो प्रकार का कित्व प्रतिषेध माना है—

(१) औपदेशिक, (२) आतिदेशिक प्रतिषेध। 'न क्त्वा सेट्'[1] सूत्र से औपदेशिक कित्व का प्रतिषेध तथा 'इको झल्'[2] सूत्र से आतिदेशिक कित्व का विधान किया जाता है। अतः 'स्था इस् आताम्' इस अवस्था में इडादि सिच् कित् होने पर भी 'न सेट्' सूत्र से निषिद्ध है। जब कित्व नहीं होगा तो इत्व विधान भी नहीं होगा। इसी कारण कत्वा का ग्रहण सूत्र में किया गया है।

क्त्वा ग्रहण का अन्य प्रयोजन श्लोकवार्त्तिककार ने माना है कि क्वसु प्रत्यय में कित्व प्रतिषेध न हो परन्तु क्वसुप्रत्यय में औपदेशिक कित्व होने के कारण 'न सेट्' इस योगविभाग से प्रतिषेध हो जाता है। इस प्रयोजन का भाष्यकार ने खण्डन कर दिया है। जबकि न्यासकार ने इसका समर्थन किया है[3] इसका कारण यह है कि औपदेशिक कित्व का प्रतिषेध हो जाने पर भी आतिदेशिक कित्व[4] उपधा लोप विधायक है। निगृहीतिः इस उदाहरण को श्लोकवार्त्तिक में क्त्वा ग्रहण का प्रयोजन माना गया है। सूत्र में क्त्वा ग्रहण न करने पर क्तिन् प्रत्ययान्त सेट् ग्रह् धातु से कित्व का प्रतिषेध न हो। अतः क्तिन् प्रत्यय की निवृत्ति के लिये क्त्वा ग्रहण आवश्यक माना है। इस प्रयोजन का प्रत्याख्यान 'क्त्वा च विग्रहात्' शब्दों से श्लोकवार्त्तिककार ने स्वयं किया है।

कित्व का निषेध करने वाले सूत्रों में 'पूङः क्त्वा च'[5] सूत्र बाद में आता है। जो पूङ् से परे सेट् निष्ठा को कित्व का प्रतिषेध करता है अतः 'क्त्वा च' यह योगविभाग करने पर पूङ् की निवृत्ति हो जाती है। यहां क्त्वा का ग्रहण करना व्यर्थ हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र पर उद्धृत दोनों श्लोकवार्त्तिकों में क्त्वा- ग्रहण के विषय में शंका और समाधान साथ-साथ प्रस्तुत किये हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि श्लोकवार्त्तिककार क्त्वा ग्रहण का प्रत्याख्यान करता है अर्थात् सूत्र में क्त्वा ग्रहण निष्प्रयोजन है यह सिद्ध होता है। इस प्रकार शंका समाधानात्मक श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा सूत्रों के स्पष्टीकरण में सहायता प्राप्त होती है।

---

१ अ. सू., १.२.१८
२ वही, १.२.९
३ तस्माद् वस्वर्थं क्त्वा ग्रहणं न भविष्यतीति। – जिने. न्यास का वृ. १
४ असंयोगाल्लिट् कित्। – अ. सू., १.२.५
५ अ. सू., १.२.२२

चतुर्थ अध्याय – अणिञोरनार्षयोगुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे'[१]

प्रस्तुत सूत्र आदेश सूत्र है जिसका विश्लेषण[२] करने पर पांच पद प्राप्त होते हैं – (१) अणिञोः अर्थात् अण् तथा इञ् प्रत्यय, (२) अनार्षयोः ऋषि से भिन्न। (३) गुरूपोत्तमयोः – अन्तिम से पूर्व अच् का गुरू होना। (४) ष्यङ् अण् तथा इण् के स्थान पर प्राप्तादेश ष्यङ् तथा (५) गोत्रे गोत्रार्थ द्योत्य होने पर। विश्लेषण के आधार पर सूत्र का अर्थ है अनार्ष गोत्र का द्योतन करने वाले अन्तिम से पूर्व स्वर के गुरू होने पर स्त्रीत्व विवक्षा में विहित चाप् प्रत्यय से पूर्व अण् तथा इञ् प्रत्यय को ष्यङ् आदेश हो जाता है।[३] अपत्याधिकार होने के कारण अन्य सूत्रों में लौकिक गोत्र का ग्रहण है तथापि प्रस्तुत सूत्र में पारिभाषिक[४] गोत्र का ग्रहण अभीष्ट है।[५] सूत्रोक्त 'अणिञोः' पद का ग्रहण समुदायार्थ में किया गया है[६] क्योंकि प्रत्ययान्त का ग्रहण होने पर गुरूपोत्तमयोः यह विशेषण संगत प्रतीत नहीं होता। अणिञोः विशेषण पद है क्योंकि अण् और इञ्प्रत्यय ऋषि से अन्यत्र ही विहित होते हैं।[७] ष्याङादेश का ग्रहण किया गया है प्रत्यय का नहीं, क्योंकि आदेश पक्ष होने पर अण् तथा इञ् के अपत्यार्थ में होने के कारण उसका आदेश ष्यङ् भी स्थानिवद्भाव से अपत्यार्थ में ही सिद्ध होता है।[८] भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र पर शंका की उद्भावना की है कि दाक्षी, प्लाक्षी आदि उदाहरणों में ष्यङादेश न होने का क्या कारण है ? उत्तम शब्द से अभिप्राय अन्तिम वर्ण है जो तमप् प्रत्यय से अतिशायनार्थ[९] में निष्पन्न है।[१०] उत्तम शब्द को अव्युत्पन्न तथा अन्त्यमात्र मानकर शंका की गई है। त्रि

---

१ अ.सू., ४.१.७८

२ The wording of this aphorism requires a little analysis. –Vasu, S.C. Aśṭā. Vol.II, p.648.

३ Vasu, S.C. - Asta. Vol.I, p.648.

४ अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्। – अ.सू., ४.१.१६२

५ हर.पद.का.वृ., भाग ३, पृ. ३५३

६ न ह्यणिञोर्गुरूपोत्तमत्वं सम्भवति कस्य तर्हिः तदन्तस्य समुदायस्य। – जिने. न्यास, का. वृ., भाग ३, पृ. ३८३

७ वही, पृ. ३८३

८ आदेशपक्षे त्वणिञोरपत्यत्वात् तदादेशस्यापि ष्यङः स्थानिवद्भावेनापत्यत्वमिति। – जिने. न्यास, का. वृ., भाग ३, पृ. ३८४

९ अतिशायने तमबिष्ठनौ। – अ.सू., ५.३.५५

१० The word uttama meaning last letter being formed by the superlative affix tamap. –Vasu, S.C. Aśṭā., I, p.648.

प्रभृति से ष्यङादेश होने के कारण दाक्षी उदाहरणों में ष्यङ् का अभाव है। भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा सूत्र से सम्बद्ध शंकाओं की उद्‌भावना तथा उनका समाधान प्रस्तुत किया है—

प्रकर्षे चेत्तमं कृत्वा दाक्ष्या नोपोत्तमं गुरु।
आम्विधिः केन ते न स्यात् प्रकर्षे यद्ययं तमः॥
उद्गतस्य प्रकर्षोऽयं गतशब्दोऽत्र लुप्यते।
नाव्ययार्थप्रकर्षो स्ति धात्वर्थो त्र प्रकृष्यते॥
उद्गतोऽपेक्षते किञ्चित् त्रयाणां द्वौ किलोद्गतौ।
चतुष्प्रभृति कर्तव्यो वाराह्यायां न सिध्यति॥
भिद्यतेऽस्य स्वरस्तेन विधिश्चामो न लक्ष्यते।
शब्दान्तरमिदं विद्याद् दृष्टमभ्यन्तरं त्रिषु॥
अनुबन्धौ त्वया कार्यो टाबर्थं टाब्विधिर्मम।
उक्तेऽपि हि भवन्त्येते...... ॥
अस्थानिवत्त्वे दोषस्ते वृद्धिरत्र न सिध्यति।
त्वयाऽप्यत्र विशेषार्थं कर्त्तव्यं स्याद्विशेषणम्॥
अक्रियैव विशेषोऽत्र सानुबन्धो विशेषवान्।
पश्यायां ते कथं न स्यादेको मे स्याद्विशेषणम्॥
अन्यस्मिन् सूत्रभेदः स्यात् षिति लिङ्गं प्रसज्यते।
ङिति चेत्क्रीयिते दोषे व्यवधानान्न दुष्यति॥
योऽनन्तरो न धातुः सः यो धातुः सोऽनन्तरः।
न चेदुभयतं साम्यमुभयत्र प्रसज्यते॥
यङा विशेष्येत यदीह धातुर्यङ् धातुना यदि वा तुल्यमेतत्।
उभौ प्रधानं यदि नात्रदोषस्तथा प्रसार्येत तु वाक्पतिस्ते॥
धातुप्रकरणस्येह न स्थानमिति निश्चयः।
आत्वार्थं यदि कर्त्तव्यं तत्रैवैतत् करिष्यति॥
उपदेशे यदेजन्तं तस्य चेदात्वमिष्यते।
उद्देशो रूढ़िशब्दानां तेन गोर्न भविष्यति॥

भाष्यकार ने दाक्षि, प्लाक्षि आदि उदाहरणों मे ष्यङ् का निषेध किया है क्योंकि प्रकर्षार्थ में तमप् प्रत्यय का विधान होने पर दाक्षि में गुरूपोत्तम की प्राप्ति नहीं होती।[१] यदि उत्तम शब्द को व्युत्पन्न माना जायेगा तो उत् शब्द से तमप् विहित होने पर आम्[२] विधि की प्रसक्ति द्रव्य प्रकर्ष के कारण नहीं होती।[३] उत् शब्द ससाधन क्रियावाची पद है अर्थात् उत् शब्द से उद्गत का अभिधान करनेवाले तमप् प्रत्यय का अतिशायनार्थ में विधान किया गया है।[४] क्रिया प्रकर्ष के द्वारा ही द्रव्य प्रकर्ष होता है अतः अद्रव्य प्रकर्ष होने के कारण आम् विधि का प्रतिषेध किया गया है।[५] अतः उत् शब्द से तमप् का अनभिधान होने के कारण अव्युत्पन्न उत्तम शब्द का ग्रहण ही अभीष्ट है[६] परन्तु अव्ययार्थ का प्रकर्ष अभीष्ट न होकर धात्वर्थ[७] का प्रकर्ष अपेक्षित है।

व्युत्पन्न उत्तम शब्द चतुष्प्रभृति शब्दों में ही प्रयुक्त हो सकता है। उद्गत[८] अनुद्गत की अपेक्षा करता है अर्थात् तीन वर्णों की उपस्थिति होने पर एक अनुद्गत है तथा दो उद्गत हैं। अतिशयेन उद्गतार्थ की विवक्षा में तमप् प्रत्यय विहित है।[९] अतः चार चार वर्णों में ही ष्यङादेश होता है अन्यत्र ष्यङादेश नहीं होता।[१०] यथा वाराह्या इस उदाहरण में तीन वर्ण उद्गत नहीं है अतः ष्यङादेश नहीं हुआ। व्युत्पन्न उत्तम शब्द का ग्रहण होने पर स्वर सम्बन्धी दोष उत्पन्न होता है अर्थात् तमप् के पित् होने के कारण उत्तम शब्द को आद्युदात्त की प्राप्ति होती है जबकि अन्तोदात्तत्व[११] अभीष्ट है। अतिशायन अर्थ में तम शब्द से उत्तम शब्द को आम्विधि कहीं भी प्राप्त नहीं होती। क्रिया प्रकर्ष में भी आयन्त प्रयोग दृष्टिगत नहीं होता अतः उत्

---

१ कैयट, प्रदीप, व्या.म. २, पृ. ३४३
२ किमेत्तिङ व्ययधादाम्द्रव्यप्रकर्षे। – अ. सू., ५.४.११
३ न वा द्रव्यप्रकर्षत्वात्। – हर. पद. का. वृ. ३, पृ. ३८५
४ जिने. न्यास का. वृ. भाग ३, पृ. ३८५
५ कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ३४३
६ नागेश उद्योत व्या. म. २, पृ. ३४३
७ धातुशब्देन धात्वर्थो क्रियाऽभिधीयते सोऽर्थः। – कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ३४३
८ ऊर्ध्वमुच्चारितः उद्गतः। – हर. पद. का. वृ. ३, पृ. ३८५
९ जिने. न्यास का. वृ. भाग ३, पृ. ३८५
१० वही, पृ. ३८५
११ ऊच्छादीनां च। – अ. सू., ६.१.१०० पर उक्त वार्त्तिक उत्तमशश्क्तमौ सर्वत्र' के द्वारा अन्तोदात्त।

शब्द से तमप् विधान नहीं होगा।[१] अव्युत्पन्न उत्तम शब्द त्रिप्रभृति शब्दों के अन्त्य का कथन करता है जबकि व्युत्पन्न चतुष्प्रभृति वर्णों का।[२] अन्त्यमात्र से अभिप्राय सादृशार्थत्व है अतः तमान्त अव्युत्पन्न का ग्रहण अपेक्षित है।[३] वाराही आदि उदाहरणों में भी ष्यङादेश की प्राप्ति होने लगती है।

भाष्यकार ने ष्यङादेश के विषय में शंका की उद्भावना की है कि यह ष्यङ् अण् तथा इञ् प्रत्ययों के स्थान पर आदेश है अथवा प्रत्यय है क्योंकि प्रत्यय विधि में[४] षष्ठी का निर्देश होने के कारण यह शंका प्रारम्भ होती है। प्रत्यय पक्ष स्वीकार करने पर यलोप का कथन अपेक्षित है। यथा औदमेध्यायाः छात्राः औदमेधाः इस उदाहरण में अपत्य यकार का अभाव होने के कारण य[५] लोप प्राप्त नहीं होता।[६] तथा इञन्त[७] औदभेधि पद से ष्यङ का विधान होने पर इञन्त से विधीयमान[८] अण् की प्राप्ति नहीं होती है।

यदि आदेश पक्ष स्वीकार करते हैं तो अनुबन्धों का ग्रहण करना पड़ेगा। ष्यङ् में गृहीत ङकार का ग्रहण सामान्यार्थ[९] किया गया है। ङकार अनुबन्ध का ग्रहण न होने पर 'यङश्चाप्'[१०] सूत्र में ञ्यङ्[११] का ही ग्रहण हो जाता ष्यङ् का नहीं। षकार अनुबन्ध का ग्रहण ङकार के अविघातार्थ प्रयोजन से किया गया है। अर्थात् एकानुबन्ध का ग्रहण होने पर द्वयनुबन्ध का ग्रहण नहीं होता। अतः ष्यङ् का ही ग्रहण है ञ्यङ् का नहीं।[१२] ष्यङ् परे रहते चाप् प्रत्यय की सिद्धि के लिये अनुबन्ध

---

१ कैयट, प्रदीप, व्या.म. २, पृ. ३४४
२ अव्युत्पन्नः एवं ह्युत्तमशब्दः स्वभावात् त्रिप्रभृतीनामन्त्यमाह न व्युत्पन्नः। – जिने. न्यास का. वृ. ३, पृ. ३८६
३ तमान्तोऽव्युत्पन्न शब्द इत्यर्थः। – कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ३४४
४ गापोष्टक्। – अ. सू., ३.२.८
५ आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति। – वही, ६.४.१५१
६ कैयट, प्रदीप, व्या. म. २, पृ ३४४
७ अत इञ्। – अ. सू., ४.१.९५
८ सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञामण्। – वही, ४.३.१२७
९ ङकारः सामान्यग्रहणार्थः। – का. वृ. ४.१.७८ भाग ३, पृ. ३८५
१० अ. सू., ४.१.७४
११ वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङः। – वही, ४.१.१७१
१२ नागेश उद्योत व्या. म. २, पृ. ३८५

कार्य अभीष्ट है । अन्यथा अणादेश होने पर ष्यङ् परे रहते ङीप्[१] प्रत्यय की प्राप्ति होती है तथा इञादेश होने पर ङीष्[२] की प्राप्ति होती है परन्तु ङीप् प्रत्यय विधायक सूत्र में आतः की अनुवृत्ति होने से अण् योऽकार यह विशेषण प्राप्त होता है तथा स्थानिवद्भाव[३] से अणन्तरत्व की प्राप्ति होती है । अतः ङीप् की प्रसक्ति होती है । इञन्त में भी इत्[४] की अनुवृत्ति होने के कारण इञन्त से अथवा इकारान्त से विधीयमान ष्यङादेश होने पर ही वाराही इत्यादि उदाहरणों में ङीष भाव सिद्ध है ।[५]

स्वर-विधान के लिये भी चाप् अभीष्ट है । अन्यथा इञादेश ष्यङ् स्थानिवद् भाव से ञित् होता तथा टाप् पित्[६] होने के कारण अनुदात्त है अतः ञित् स्वर आद्युदात्तत्व होता है परन्तु इञ् के ञकार की इत्संज्ञा से पूर्व ही ष्यङादेश हो जायेगा तथा ञित्सवर आद्युदात्तत्व का अभाव होकर प्रत्यय स्वर सिद्ध होता है । वृद्धि का भी ञित्स्वर न होने के कारण अभाव हो जाता है ।[७] स्वर में दोष होने के कारण चाप् विधान के लिये ष्यङ् में अनुबन्ध करण आवश्यक है ।

प्रत्यय पक्ष में ष्यङ् से प्रत्यय स्वर करने पर तदन्त से टाप् सिद्ध है । ष्यङ् से स्त्रीत्व द्योतित होने पर भी टाप् की प्रसक्ति होती है ।[८] यथा अन्धकाराधिक्य होने के कारण एक प्रदीप से कार्य पूर्ति न होने के समान[९] दोनों ही प्रत्ययों में स्त्रीत्व द्योतकत्व है । यथा गार्ग्यायणी इत्यादि उदाहरणों में यञ्[१०] तथा ङीष्[११] दोनों प्रत्ययों का विधान है इसी प्रकार दोनों की सामर्थ्य के कारण ष्यङ् तथा टाप् दोनों ही प्रत्ययों का विधान होगा[१२] ष्यङादेश में अनुबन्धों का ग्रहण 'ष्यङः

---

१ टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठकठञ्कञ्क्वरपः । – अ. सू., ४.१.१५
२ इञ् उपसंख्यानम् । – वार्त्तिक,
३ स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ । – अ. सू., १.१.५६
४ इतो मनुष्यजातेः । – वही, ४.१.५६
५ कैयट प्रदीप व्या. म. भाग २, पृ. ३४६
६ एकादेशे उदात्तेनोदात्तः । – अ. सू., ८.२.५
७ हर. पद. का. वृ., भाग ३, पृ. ३८७
८ एकस्य स्त्रीत्वद्योतने सामर्थ्याभावात् द्वयोर्द्योतकत्वम् । – कैयट, प्रदीप, व्या. म. भाग २, पृ. ३४६
९ नागेश उद्योत व्या. म. भाग २, पृ. ३४६
१० गर्गादिभ्यो यञ् । – अ. सू., ४.१.१०५
११ यञश्च । – अ. सू., ४.१.१६
१२ तथाऽत्रापि द्वयोरेव सामर्थ्यमिति टाबेव भविष्यति । – हर.पद.का.वृ., भाग ३, पृ. ३८७

सम्प्रसारणपुत्रपत्योस्तत्पुरुषों'[१] सूत्र में विशिष्टता के लिये किया गया है। विशिष्टता का सम्बन्ध अनुबन्धों से है अर्थात् 'यस्य सम्प्रसारणम्' सूत्र होना चाहिये। निरनुबन्ध से ही सम्प्रसारण का ग्रहण किया गया है।[२] अतः ज्यङ् के सानुबन्ध होने के कारण सम्प्रसारण नहीं होता। यदि य प्रत्यय का विधान होने पर 'यस्य सम्प्रसारणम्' सूत्र का ग्रहण होता है तो पाश्यापुत्र इस उदाहरण में य[३] प्रत्यय विहित है अतः य को सम्प्रसारण की प्राप्ति होती है। प्रत्यय पक्ष ग्रहण करने पर एक ही अनुबन्ध अभीष्ट है जबकि ङकार और षकार दो अनुबन्ध उक्त हैं। यदि दोनों से भिन्न अनुबन्ध विहित होते तो अन्य सूत्र के आरम्भ की आवयकता होती। षकार इत् संज्ञक मानने पर ङीष् की प्रसक्ति होती है तथा ङकार इत्संज्ञक मानने पर यङः सम्प्रसारणं सूत्र पढ़ते पर लोलूयापुत्र आदि यङन्त[४] पदों में सम्प्रसारण की प्राप्ति होने लगती है परन्तु लोलूयापुत्र इस उदाहरण में यङन्त अकार[५] प्रत्यय होने पर व्यवधान होने के कारण सम्प्रसारण नहीं होता। अतः वाराहीपुत्र उदाहरण में टाप् प्रत्यय के साथ एकादेश होने पर पूर्व के प्रति अन्तर्भाव होने के कारण व्यवधान नहीं होता।[६] लोलूयपुत्र में यङन्त अकार लुप्त[७] हो जाता है। टाप्[८] प्रत्यय पर होने पर एकादेश में पुत्र और पति के अनन्तर यङ् नहीं होता अतः अकार के व्यवधान से सम्प्रसारण की प्रसक्ति नहीं होती।[९]

यदि 'यङः सम्प्रसारणम्' सूत्र का ग्रहण करते हैं तो धातु[१०] ग्रहण की अनुवृत्ति होने पर धातु से यङ् का विधान होगा। तथा आत्व विधायक[११] सुत्र धातु से ही आत्व का विधान करेगा अतः गोभ्याम् आदि उदाहरणों में आत्व का विधान धातु न होने के कारण नहीं हुआ। यङन्त धातु से पुत्र और पति के अनन्तर सम्प्रसारण

---

१ अ. सू., ६.१.१३
२ निरनुबन्धकावाच्चायमेव ग्रहीष्यते। – केयट प्रदीप व्या. म. भाग २, पृ. ३४७
३ पाशादिभ्योः यः। – अ. सू., ४.२.४९
४ धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्। – अ. सू., ३.१.२२
५ अ प्रत्ययात्। – वही, ३.३.१०२
६ एकादेशस्य पूर्वं प्रत्यन्तवत्वान्नास्ति व्यवधानम्। – हर. पद. का. वृ. भाग ३, पृ. ३८७
७ अतो लोपः। – अ. सू., ६.४.४८
८ अजाद्यतष्टाप्। – वही, ४.१.४
९ कैयट प्रदीप, व्या. म. २, पृ. ३४७
१० लिटिधातोरनभ्यासस्य। – अ. सू., ६.१.८
११ आदेच उपदेशेऽशिति। – वही, ६.१.४५

का ग्रहण करने पे लोलूयादि धातु अनन्तर नहीं है तथा जो वाराह्यादि अनन्तर हैं वह धातु नहीं है यथा वाराही पुत्र में व्यवहित धातु को भी सम्प्रसारण होता है।[१] उसी प्रकार लोलूयापुत्र में भी आनन्तर्य[२] न होने पर भी धातुत्वाश्रय से हो जाता है।[३] यङ् और धातु में परस्पर विशेषण विशेष्य भाव नहीं है।[४] दोनों की प्रधानता मानने पर ही कार्य का विधान होता है। यथा पुत्र और पति के अनन्तर[५] यङ् से तथा धातु से। अतः वाराहीपुत्र आदि उदाहरणों में सम्प्रसारण हो जाता है परन्तु लोलूयापति उदाहरण में धातु का व्यवधान होने से सम्प्रसारण नहीं होता।

विशेषण विशेष्य भाव का ग्रहण न होने पर समुच्चयार्थ का ग्रहण करते हैं तो वाक्पतिः इस उदाहरण में यङ् धातु वच् से सम्प्रसारण की प्राप्ति होती है। धातु ग्रहण की अनुवृत्ति सम्प्रसारण विधायक सूत्र में अभीष्ट नहीं है अपितु उत्तर[६] सूत्र के लिये धातु की अनुवृत्ति अभीष्ट है। धातु ग्रहण की अनुवृत्ति आत्व विधायक सूत्र[७] में होती है अर्थात् आत्व का विधान धातु से ही होता है प्रातिपदिक से नहीं। अतः गो आदि प्रातिपदिकों में आत्व नहीं होता।[८] उपदेश[९] शब्द से शास्त्र अभीष्ट है[१०] शास्त्र में पठित एजन्त धातुओं को ही आत्व विहित है प्रातिपादिकों का प्रतिपद पाठ शास्त्र में उक्त नहीं है अपितु प्रकृत्यादि विभाग के द्वारा उनका साधुत्व प्रतिपादित है[११] इसके अतिरिक्त 'गोतो णित्'[१२] सूत्र में णित्वातिदेश गो आदि से

---

१ तत्र धातुत्वानन्तर्योरन्यतररूपपरित्यागेन भवत् सम्प्रसारणम्। – हर. पद. का. वृ. भाग ३, पृ. ३८८

२ धातुत्वानन्तर्यं च विशेषणमाश्रितम्। – कैयट, प्रदीप व्या. म. २, पृ. ३४७

३ असत्यप्यानन्तर्ये धातुत्वाश्रयेण स्यात्। – वही, पृ. ३४७

४ कैयट, प्रदीप, व्या. म. भाग २, पृ. ३४८

५ कैयट, प्रदीप, व्या. म. भाग २, पृ. ३४८

६ नित्यं कौटिल्ये गतो। – अ. सू., ३.१.२३

७ आदेच उपदेशेऽशिति। – वही, ६.१.४५

८ आत्वं पुनर्गवादेः प्रातिपदिकस्य न भवति उपदेशाभावात्। – हर. पद. का. वृ. भाग ३, पृ. ३८८

९ स्वरूप ज्ञापन प्रधानो निर्देशः उपदेशः। – वही, पृ. ३८८

१० उपदेश शब्देन शास्त्रमुच्यते। – कैयट प्रदीप, व्या. म. भाग २, पृ. ३४८

११ वही, पृ. ३४८

१२ अ. सू., ७.१.९०

आत्वाभाव का ज्ञापन कराता है क्योंकि गो शब्द को आत्व करने पर णित्व निष्प्रयोजन हो जाता है। 'गो द्वयचोऽसंख्यापरिमाणाश्वादेर्यत्'[१] सूत्र में गो प्रातिपदिक स्वर की दृष्टि से पढ़ा गया है अतः इसे उपदेश नहीं माना जा सकता तथा आत्वाभाव ही गवादि प्रातिपदिकों के विषय में अभीष्ट है। अतः ष्यङ् को प्रत्यय मानने पर एक अनुबन्ध का ग्रहण ही पर्याप्त है।[२]

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा भाष्यकार ने सूत्र सम्बन्धी शंकाओं की उद्भावना तथा उनका समाधान प्रस्तुत किया है (१) तमप् प्रत्यय के विषय में व्युत्पत्ति पक्ष तथा अव्युत्पन्न पक्ष दो पक्षों की सम्भावना करते हुये अव्युत्पन्न पक्ष का ही ग्रहण किया है। तत्पश्चात् (२) ष्यङादेश को प्रत्यय तथा आदेश दोनों ही पक्षों में संगत स्वीकार किया है।

श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पाणिनि ने पूर्वाचार्य कृत संज्ञाओं का ग्रहण नहीं किया है क्योंकि 'चेक्रीयिते' पूर्वाचार्यों द्वारा उक्त यङ् की संज्ञा है।[३] भाष्यकार की शैली को दृष्टि में रखते हुये इन श्लोकवार्त्तिकों के रचयिता के विषय में संकेत प्राप्त होता है। भाष्यकार स्वरचित श्लोकवार्त्तिकों पर सम्पुटीकरण भाष्य नहीं करते ये श्लोकवार्त्तिक सम्पुटीकरण व्याख्यान से रहित हैं अतः इन्हें भाष्यकार रचित श्लोकवार्त्तिक मानना संगत प्रतीत होता है। अतः श्लोकवार्त्तिक सूत्रों के प्रत्येक पक्ष से सम्बद्ध शंकाओं की उद्भावना तथा समाधान करने में सिद्ध हुये हैं।

(२) वाऽन्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति[४] — सूत्रकार ने 'जीवते तु वंश्ये युवा'[५] सूत्र के द्वारा अभिजन प्रबन्ध में होने वाला अर्थात् वैश्य पित्रादि के जीवित रहने पर पौत्र प्रभृति अपत्य की युवसंज्ञा का विधान किया है 'भ्रातरि च ज्यायसि'[६] सूत्र ज्येष्ठ भ्राता के जीवित होने पर कनीयस् भ्राता की युव संज्ञा करता है जबकि प्रस्तुत सूत्र भ्राता से भिन्न सपिण्ड स्थविरतर के जीवित रहने पर पौत्र प्रभृति

---

१ अ. सू., ५.१.३९
२ तदेवं प्रत्ययपक्षे एक एवानुबन्धः कार्यः। – हर. पद. का. वृ. भाग ३, पृ. ३८८
३ यङः पूर्वाचार्यसंज्ञा चेक्रीयितमिति। – कैयट, प्रदीप व्या. म. भाग २, पृ. ३४७
४ वही, ४.१.१६१
५ वही, ४.१.१६३
६ अ. सू., ४.१.१६४

अपत्यार्थ जीवितार्थ में विकल्प से युव संज्ञा का विधान करता है ।[१] सूत्र में अन्य ग्रहण का प्रयोजन पूर्व सूत्र[२] से प्राप्त भ्राता से भिन्न सपिण्ड मात्र का ग्रहण कराना है । स्थविरतर शब्द से स्थान तथा वयस् दोनों दृष्टियों से उत्कृष्टता द्योत्य है ।[३] 'जीविति वंश्ये युवा सूत्र में जीवित का ग्रहण होने पर भी पुनर्ग्रहण सपिण्डन की विशेषता का निर्देश करने के लिये किया गया है ।[४] सपिण्ड ग्रहण सामर्थ्य से भ्रातरि शब्द की निवृत्ति होती है । पूर्वसूत्र में मृत की युव संज्ञा का विधान है । उसकी व्यावृत्ति के लिये अन्य शब्द का ग्रहण सूत्र में किया गया है ।[५] प्रकृत सूत्र के द्वारा केवल स्थविरतर सपिण्ड मात्र में युवं संज्ञा का विधान किया गया है । अतः भ्राता सहित अन्य सपिण्ड के जीवित रहने पर यह अभिप्राय होता है ।[६] 'अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्'[७] सूत्र का द्वारा पौत्र प्रभृति अपत्य की गोत्र संज्ञा होती है तथा युव संज्ञा प्रकृत सूत्र के द्वारा होती है । तथा युव संज्ञा प्रकृत सूत्र के द्वारा होती है । गोत्र संज्ञा तथा युव संज्ञा कै समावेश[८] में दोष की उद्भावना तथा समाधान भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से किया है—

गोयूनोः समावेशे को दोषस्तत्कृतं भवेत् ।
यस्कादिषु न दोषोऽस्ति, न यूनीत्यनुवर्तनात् ॥

दोषोऽत्रिबिदपञ्चाला, न यूनीत्यनुवर्तनात् ।
कण्वादिषु न दोषोऽस्ति न यून्यस्ति ततः स्मरेत् ।

---

१ The living descandant of a grandson is called optionally a yuoan, when a more superior sapinda other than a brother is alive. –Vasu, S.C. Aśṭā. Vol.I, p.690.

२ भ्रातरि च ज्यायसि । – अ. सू., ४.१.१६४

३ Ibid.

४ जीवतीत्याख्यातपदं संज्ञिविशेषणार्थमिहोपात्तमित्यर्थः । – कैयट, प्रदीप, व्या. म. भाग २, पृ ४००

५ नागेश उद्योत व्या. म. भाग २, पृ. ४०१

६ वही, पृ. ४०१

७ अ. सू., ४.१.१६२

८ एकसंज्ञाधिकारादन्यत्र समावेशस्य दर्शनादर्शनाभ्यां प्रश्नः । कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ४०१

एको गोत्रे प्रतिपदं गोत्राद् यूनि च ततः स्मरेत्।

राजन्याद् वुञ् मनुष्याच्च ज्ञापकं लौकिकं परम्॥

गोत्र संज्ञा व युवन् संज्ञा का समावेश[१] होने पर गोत्राश्रित विधि युवन् संज्ञा में भी प्राप्त होन ागती है यथा यास्कायनः इस उदाहरण में यस्कस्यापत्यं गोत्रम् इस अर्थ में अण्[२] प्रत्यय निष्पन्न है। अणप्रत्ययान्त से फिञ्[३] की प्राप्ति होती है तथा 'यस्कादिभ्यो गोत्रे'[४] सूत्र से लुक् होता है तथा यस्कादि सूत्र के द्वारा प्राप्त लोप दोषयुक्त नहीं है क्योंकि 'न यूनि' शब्दों की अनुवृत्ति होती है अर्थात् वाक्य भेद से सम्बन्ध होने के कारण यस्कादि से परे गोत्र प्रत्यय का बहुत्व में लोप होता है युवन् संज्ञा होने पर नहीं होता।[५] 'न तौल्वलिभ्यः'[६] सूत्र से 'न यूनि' का ग्रहण होने पर लग् का निषेण होता है॥ यदि न यूनि की अनुवृत्ति करते तो सम्बन्ध की अनुवृत्ति होती है। अर्थात् न तोल्वलिभ्यः' तथा उत्तर सूत्र[७] की अनुवृत्ति होने पर यस्कादिगण से गोत्रार्थ में बहुत्व विवक्षा में लुग् होता है युवन् संज्ञा में नहीं। अतः तौल्वलि की निवृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार 'यञञोश्च'[८] तथा 'अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठगोतमाङ्गिरोभ्यश्च'[९] सूत्र से लुक् होता है अतः 'यूनि न' की निवृत्ति हो जाती है। 'न यूनि' की अनुवृत्ति मानने पर अत्रयः आदि ढक् प्रत्ययान्त अत्रयः पद से तथा अञ्[१०] प्रत्ययान्त बिदाः तथा पञ्चालाः शब्दों से इञ्[११] प्रत्यय होने पर प्राप्त लुग्[१२] की प्रसक्ति नहीं होती। केवल 'यस्कादिभ्यो गोत्रे'[१३] सूत्र से ही 'न यूनि' का सम्बन्ध

---

१ कृतकृत्यप्रत्ययसंज्ञानां समावेशदर्शनम्। – नागेश उद्योत, व्या.म. २, पृ. ४०१
२ शिवादिभ्योऽण्। – अ. सू., ४.१.११२
३ अणो द्वयच। – वही, ४.१.१५६
४ अ. सू., २.४.६३
५ कैयट प्रदीप व्या.म. २, पृ. ४०१
६ अ. सू., २.४.६१
७ तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्। – वही, २.४.६२
८ अ. सू., २.४.६४
९ वही, २.४.६५
१० जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्। – वही, ४.१.१६१
११ अत इञ्। – वही, ४.१.९५
१२ कैयट प्रदीप व्या.म. २, पृ. ४०१
१३ नागेश उद्योत व्या. म. २, पृ. ४२

अन्यत्र नहीं है । व्यवहित[१] होने पर भी कण्व शब्द से परे फक् प्रत्यय होता है गोत्र संज्ञा में अण्[२] प्रत्यय होता है । कण्वादि गण में प्रत्यय विधान में दोष की सम्भावना नहीं है क्योंकि युवरूप गोत्र संज्ञा में विहित फक् प्रत्यय कण्वादि से विहित नहीं है । कण्वादि से गोत्रार्थ में विहित प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से शैषिकार्थ[३] में अण् प्रत्यय होता है । 'एको गोत्रे'[४] सूत्र से नियम के कारण प्रत्यय की प्राप्ति नहीं होती । अर्थात् अनेक प्रत्ययों की प्राप्ति गोत्र अर्थ में होती है । युवन् संज्ञा में एक गोत्रार्थ नियम से अप्राप्त अपर प्रत्यय क विधान किया जाता है । यदि नियम का बाध होता है तो युव संज्ञा में गोत्रत्व होने पर फक् की प्रसक्ति होती है ।[५] इसी प्रकार 'गोत्राद्यून्य-स्त्रियाम्'[६] सूत्र में एक ग्रहण की अनुवृत्ति होती है । अतः युव प्रत्यय की स्थिति में अनेक प्रत्यय नहीं होते प्राग्दीव्यतीयाजादि प्रत्यय का विषय होने पर लुग् विधान होने के कारण इञ्प्रत्यय की प्राप्ति अभीष्ट है ।[७] अतः युव् तथा गोत्र संज्ञा का समावेश होने पर गोत्रार्थ में उक्त अलुक् युवसंज्ञा में भी प्राप्त होता है ।[८] फक् और फिञ् प्रत्यय की सिद्धि में दोष होता है । यथा 'शलङ्कोरपत्यं गोत्रम्' इस अर्थ में इञ्[९] प्रत्यय विहित है तत्पश्चात् फक्[१०] की प्राप्ति होती है । प्राग्दीव्यतीयार्थ विवक्षा में प्राप्त गोत्र संज्ञा में विहित लुक्[११] अलुक्[१२] का बाधक है अलुक् का 'यूनि लुक्'[१३] पर होने के कारण बाधक है तथा विकल्प से फक्[१४] की प्राप्ति होती है । युवसंज्ञा में गोत्र संज्ञा का समावेश न होने पर अलुक् अप्रवृत्त है अतः पैलादि निमित्तक लुक्

---

१ अ.सू., पृ.४०२
२ कण्वादिभ्यो गोत्रे । – अ.सू.,४.२.१११
३ शेषे । – अ.सू.४.२.९२
४ अ.सू.,४.१.९३
५ यञिञोश्च । – वही,४.१.१०१
६ अ.सू.,४.१.९४
७ नागेश उद्योत व्या.म., भाग २,पृ.४०२
८ परत्वादलुकं बाधित्वा लुग् भविष्यतीत्यर्थः । – कैयट प्रदीप, व्या.म. भाग २, पृ.४०२
९ अत इञ् । – अ.सू.,४.१.९५
१० यञिञोश्च । – वही,४.१.१०१
११ पैलादिभ्यश्च । – वही,२.४.५९
१२ गोत्रेऽलुगचि । – वही,४.१.८९
१३ अ.सू.,४.१.९०
१४ फक्फिञोऽन्यतरस्याम् । – वार्त्तिक अ.सू.,४.१.९१

होता है। ततः कण्वादि गण में अण्[१] प्रत्यय होने पर शालङ्करूप सिद्ध होता है अतः वैकाल्पिक फक्व फिञ् का विधान 'यूनि लूञ्' का बाधक है न कि पैलादि निमित्त लुक् का[२] तथापि युव संज्ञा में गोत्र संज्ञा का प्रतिषेध 'जेवति तु वंश्ये युवा'[३] सूत्र में उक्त तु को नियामक मानकर अभीष्ट नहीं है।[४] यदि युवसंज्ञा में गोत्र संज्ञा का समावेश नहीं करते तो युवसंज्ञा में गोत्राश्रित विधियां सिद्ध नहीं होती। यथा गोत्राश्रित वुञ्[५] की प्राप्ति नहीं होती। यथा समूह किंचित्तया यकि अर्थ में प्राप्त गोत्राश्रित् वुञ् का विधान नहीं होता। वुञ् विधि में राजन्य[६] तथा[७] मनुष्य ग्रहण ज्ञापक है कि लौकिक गोत्र का ग्रहण ही अभीष्ट है क्योंकि 'गौत्रे कुञ्जादिभ्यः'[८] सूत्र में गोत्र का ग्रह्ण होने पर पुनर्ग्रहण शास्त्रीय गोत्र की निवृत्ति के लिये किया गया है।[९] लौकिक गोत्र अपत्य मात्र है। लोक में युवा अर्थ में गोत्र[१०] मात्र है का व्यवहार होता है। यथा 'किं गोत्रोऽसि' इस अर्थ में गार्ग्यायणः पद सिद्ध होता है। इस प्रकार भाष्यकार को युवसंज्ञा तथा गोत्राश्रित विधि का समावेश अभीष्ट नहीं है।

श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि महाभाष्य में सूत्रों का सूक्ष्म विवेचन करने में श्लोकवार्त्तिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं। सूत्रों से सम्बद्ध शंकाओं की उद्भावना तथा उनका समाधान श्लोकवार्त्तिकों में प्रस्तुत किया गया है। विशिष्ट सूत्र की व्याख्या में प्रसंगवश उपस्थित सूत्रों की चर्चा भी श्लोकवार्त्तिकों में यथास्थान की गई है। श्लोकवार्त्तिककार ने शास्त्रीय तथा लौकिक गोत्र को पृथक्-पृथक् माना है। अतः यह कथन असंगत प्रतीत नहीं होता कि श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा सूत्रों से सम्बद्ध शंका तथा समाधान प्रस्तुत किया गया है।

---

१ इञश्च। -वही,
२ कैयट प्रदीप का.म.२.पृ.४०२
३ अ.सू.,४.१.१०३
४ अनेकार्थत्वान्निपातानामवधारणार्थत्वात्तु शब्दस्य। -कैयट,प्रदीप,व्या.म.२,पृ.४०३
५ गोत्रचरणाद् वुञ्। -अ.सू.,४.३.१२६
६ राजश्वशुराद्यत्। -अ.सू.,४.४.१३७
७ मनोर्जातावञ्यतौ। -अ.सू.,४.१.१६१
८ अ.सू.,४.१.९८
९ कैयट प्रदीप,व्या.म.२,पृ.३६७
१० लौकिक च गोत्रमपत्यमात्रम्। -,पृ.३६७

षष्ठ अध्याय – सौ च[१]

प्रस्तुत सूत्र असम्बद्ध सु परे रहते इन्, हन्, पूषन् आर्यमन् की उपधा को दीर्घ विधान करता है।[२] पूर्वसूत्र[३] से इन्हन्पूषार्यम्णां की अनुवृत्ति हुई है तथा 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ'[४] सूत्र से सर्वनामस्थान तथा असम्बुद्धि की अनुवृत्ति हुई है। सूत्रोक्त इन् से अभिप्राय है इन प्रत्यय जो तदन्त विधि[५] का बोध कराता है अतः इनन्तादि से सु परे रहते उपधा को दीर्घत्व होता है।[६] 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ'[७] सूत्र सर्वनामस्थान संज्ञक परे रहते ही दीर्घत्व की सिद्धि सामान्य रुप से करता है। शि परक, सुपरक, दीर्घत्व विधान करना निष्प्रयोजन है। अतः 'सौ च' सूत्र विधान की कोई आवश्यकता नहीं है। इस सूत्र की रचना नियमार्थ की गई है अर्थात् सर्वनामस्थान प्रकरण में नियम वचन से सिद्ध होने के कारण सूत्रारम्भ है। सूत्रारम्भ होने पर भी भ्रूणहनि इस उदाहरण में दीर्घत्व[८] की प्राप्ति होती है अतः सर्वनाम स्थान संज्ञा विशिष्ट शि प्रत्यय, सु प्रत्यय परे रहते ही दीर्घत्व होगा अन्यत्र नहीं। अतः सर्वनामस्थान भिन्न सुप् प्रत्यय परे रहते नियमाभाव के कारण दीर्घत्व विधान नहीं होगा।

अन्यत्र तो अनुनासिक लक्षण दीर्घत्व की प्राप्ति होगी इस शंका का समाधान करने के लिये भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत[९] किये हैं—

दीर्घविधिर्य इहेन्प्रभृतीनां, तं विनियम्य सुटीति सुविद्वान्।
शौ नियमं पुनरेव विदध्यात्, भ्रूणहनीति तथास्य न दुष्येत्॥

---

१ अ.सू., ६.४.१३

२ Vasu, S.C. - Asta. Vol.II, p.1256.

३ इन्हन्पूषार्यम्णां शौ। – अ.सू., ६.४.१२

४ अ.सू., ६.४.८

५ अनिनस्मन् ग्रहणान्यर्थवत्तां चानथकेन च तदन्त विधिं प्रयोजयन्ति।

६ The employment of In in this Sutra includes and means "words ending in the syllable In." –Vasu, S.C., Aśṭā.Vol.II, p.1254.

७ अ.सू., ६.४.८

८ अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङि ति। – अ.सू., ६.४.१५

९ का.वृ. तथा सि.कां. श्लोकवार्त्तिक 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' सूत्र पर उद्धृत है।

शास्मि निवर्त्य सुटीत्यविशेषे, शौ नियमं कुरू वाऽप्यसमीक्ष्य।
दीर्घविधेरुपधा नियमान्मे हन्तियि दीर्घविधौ च न दोष ॥
सुप्यपि वा प्रकृतेऽनवकाशः, शौ नियमोऽप्रकृत प्रतिषेधे।
यस्य हि शौ नियमः सुदि, नैत्तत्तेन तत्र भवेद्विनियम्यम् ॥

प्रथम श्लोकवार्त्तिक में श्लोकवार्त्तिककार ने नियम की स्थापना की है। इन हनादि में दीर्घत्व विधायक सूत्र का सर्वनामस्थानोपलक्षण सुट् में विनियम करके पुनः सर्वनामस्थान शि तथा सु परे रहते ियम निर्धारण करना चाहिये। एक ही सूत्र से दो नियमों का अवधारण सम्भव न होने के कारण योग विभाग किया जायेगा।[१] प्रथम योग 'इन्हन्पूषार्यम्णाम्' तथा द्वितीय शौ होगा सर्वनामग्रहण का अनुवर्तन किया जायेगा।[२] प्रथम नियम से अन्तरंग[३] होने पर भी अनुनासिक लक्षण दीर्घत्व की निवृत्ति हो जाती है तथा सर्वनामस्थान परे रहते ही दीर्घत्व विधान की प्राप्ति होती है इसका ग्रहण हन् के विषय में ही किया गया है, सर्वनाम स्थान में ही दीर्घत्व होने के कारण सप्तम्यन्त से दीर्घत्व[४] नहीं होता। द्वितीय से सर्वनामस्थान शि परे रहते ही दीर्घ होगा अन्यत्र नहीं। 'शौ' यह नियम होने पर 'सौ च' सूत्र विधि सूत्र होगा। शि और सु युगपत अपेक्षित है अतः दोनों पर आश्रित नियम होगा।[५] इस प्रकार यदि योग विभाग करते हैं तो आचार्य पाणिनि के उदाहरण भ्रूणहनि[६] में सप्तमी एकवचन में अल्लोप अभाव पक्ष में अनुनासिक लक्षण दीर्धत्व नहीं होता। सप्तमी एकवचन उपलक्षणार्थ ग्रहीत है।[७] अतः योग-विभाग से दोषरहित नियम की स्थापना हो सकतीं है। द्वितीय श्लोकवार्त्तिक में योग विभाग की अपेक्षा एक

---

१ एकस्मिन्योगेनियमद्वयस्य कर्तुमशक्यत्वाद्योगविभागः कर्त्तव्य। – हर.पद.का.वृ.भाग ५,पृ.३४२
२ सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ। – अ.सू.,६.४८
३ तत्राद्येन नियमेनान्तरङ्गो प्यनुनासिकलक्षण दीर्घो निवर्त्यते। – कैयट,प्रदीप व्या.म.भाग २,पृ.८९६
४ हर.पद.का.वृ., भाग ५,पृ.३४२
५ कैयट प्रदीप व्या.म. भाग २,पृ.८९७
६ **Vasu, S.C. - Asta. Vol.II, p.1255.**
७ सप्तम्येकवचनमुपलक्षणार्थ सर्वत्र दीर्घप्रसङ्गस्योक्तत्वात्। कैयट प्रदीप व्या.म.पृ.८९६.

ही सूत्र से दीर्घत्व का परिहार कर दिया गया है । सुट् इस एक योग से सर्वनामस्थान का ग्रहण होता है ।[१] यदि सर्वनामस्थान ग्रहण की निवृत्ति कर दी जाये तो अनाश्रित सर्वनामस्थान विशेष प्रत्यय मात्र शि परे रहते ही नियम होगा ।[२] इन्हन्प्रभृति से शि परे रहते ही दीर्घत्व होगा अन्यत्र नहीं ।[३] अतः सुट् की निवृत्ति होने पर शास्त्रीयाधिकार की निवृत्ति हो जाती है परन्तु लौकिकापेक्षालक्षण रहता है ।[४] अतः भ्रूणहनि उदाहरण में दीर्घत्व हो जायेगा परन्तु सर्वनामस्थान की निवृत्ति होने पर अनाश्रित प्रत्ययमात्रापेक्षा से ही शि परे रहते नियम विधान किया जायेगा न कि तुल्यजातीय सर्वनामस्थान से विधान नहीं होगा ।[५] अतः न केवल अन्यत्र सर्वनामस्थान परे रहते दीर्घत्वाभाव होगा अपितु वृत्रायते इस उदाहरण में भी दीर्घत्व का निषेध हो जायेगा ।[६]

यदि प्रत्ययमात्र पर आश्रित सर्वनामस्थान अनपेक्षित शि परे रहते दीर्घत्व होगा अतः दीर्घत्व अपेक्षित होने पर भी उसकी प्राप्ति नहीं होगी यथा वृत्रहायते उदाहरण में प्राप्त सार्वधातुक दीर्घ[७] का भी निषेध होने लगेगा परन्तु अनुनासिक लक्षण दीर्घत्व की निवृत्ति होती है तथा मध्येऽपवादा[८] का आश्रय लेकर सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ[९] सूत्रों से विहित अनपेक्षित विशिष्ट दीर्घत्व की व्यावृत्ति होती है 'सौ च'[१०] इस सूत्र में उपधा[११] की अनुवृत्ति है अतः अजन्त लक्षण दीर्घत्व विधान में कोई शंका नहीं रहती । उपधा लक्षण दीर्घत्व से भिन्न दीर्घत्व का विधान होने

---

१ सुटीत्येकयोगेन सर्वनामस्थानं लक्ष्यते । – जिने. न्यास वृ. भाग ५ पृ. ३४३
२ वही, पृ. ३४३
३ वही, पृ. ३४३
४ असत्यपि शास्त्रीयाधिकारे लौकिकापक्षालक्षणः स्यात् सम्बन्धः । – हर. पद. का. वृ. भाग ५, पृ. ३४३
५ कैयट प्रदीप, व्या. म., भाग २, पृ. ८९७
६ जिने. न्यास का. वृ. भाग ५, पृ. ३४३
७ अकृत्सार्वधातुकयोः । – अ. सू., ६.४.२५
८ अनुनासिकस्य क्विझलो क्ङिति । – अ. सू., ६.४.१५
९ अ. सू., ६.४.८
१० वही, ६.४.१३
११ नोपधायाः । – वही, ६.४.७

से अन्य उदाहरणों की सिद्धि में समस्या नहीं होती ।[१] यथा हन्तियि इस उदाहरण[२] में ।

योग विभाग न करने पर तथा सर्वनामस्थान का ग्रहण करने पर भी दोष की सम्भावना नहीं रहती । दो प्रकार से सर्वनामस्थान कहे गये हैं शि तथा सुट् । शि का सम्बन्ध केवल नपुंसकलिंग से है तथा सुट् स्त्रीत्व तथा पुंस्त्व से सम्बद्ध है । नपुंसक से सम्बद्ध शि सर्वनामस्थान परे रहते ही शौ नियम का विधान करेगा, सुट् परे रहने पर नहीं करेगा । सुट् सर्वनाम स्थान परे रहने पर पुंस्त नहीं होता । अतः सर्वनमस्थान सुट् परे रहते दीर्घत्व सम्भव नहीं है ।[३] अनुपुंस्त्व सम्बन्धी सर्वनामा-स्थान में तुल्यजातीय के प्रसंग में भी दीर्घत्व निवृत्ति ही जायेगी ।[४] यदि तुल्यजा-तीयापेक्ष नियम होगा तो शि का नपुंस्त्व सम्बन्धी होने के कारण तथा सर्वनामस्थानत्व होने के कारण तात्पर्य है । इन्, हन्, पूषन्, आर्यमन्, नपुंसकों को हि शि परे रहते दीर्घत्व होता है । सर्वनामस्थानान्तर के परे रहने पर दीर्घ नहीं होता । इस नियम के आधार पर प्राप्त सर्वनामस्थानत्व तथा नपुंसकत्व दोनों का परित्याग करके स्त्रीपुंस्त्व सम्बन्धी दीर्घत्व की व्यावृत्ति हो जाती है ।[५] "सौ च[६]" सूत्र का ग्रहण विध्यर्थ[७] किया गया है क्योंकि पूर्वसूत्र[८] केवल शिपरे रहते ही दीर्धत्व कका विधान करता है ।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि नियम के व्याख्यान के लिये भी श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये गये है ।श्लोकवार्तिकों के माध्यम से ही शंकाओं की उद्भावना तथा समाधान प्रस्तुत किया है ।

---

१ कैयट प्रदीप व्या.म. २, पृ. ८९७

२ सुडनपुंसकस्य । – अ. सू., १.१.४३

३ सर्वनामस्थाने सुटि नियन्तव्यं व्यावृत्य दीर्घत्वं न सम्भवतीति । – हर. पद. का. वृ. भाग ५, पृ. ३५४

४ जिने. न्यास. का. वृ. भाग ५, पृ. ३४५

५ कैयट प्रदीप व्या. म. भाग २, पृ. ८९८

६ अ.सू., ६.४.१३.

७ पूर्वेण नियमेन सौ दीर्घत्वं न प्राप्नोतीति विध्यर्थो यमारम्भः ।— जिने. न्यास.का.वृ.५, पृ. ३४८.

८ इन्हन्पूषार्यम्णां शौ । – अ. सू., ६.४.१२

(३) च्छ्वोः शूडनुनासिके च ।

प्रस्तुत सूत्र विधि सूत्र है जो तुक् सहित छकार के स्थान पर शकार तथा वकार के स्थान पर ऊठ् आदेश का विधान करता है अनुनासिकादि प्रत्यय परे रहते तथा क्विबादि, झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते ।[१] प्रस्तुत सूत्र क्ङिति में अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति[२] सूत्र से क्ङिति का अनुवर्तन है। क्ङिति के अनुवर्तन के विषय में भाष्यकार ने शंङ्का की उद्भावना की है कुछ आचार्य प्रस्तुत सूत्र में क्ङिति का अनुवर्तन स्वीकार नही करते ।[३] निम्न श्लोकवार्तिक के उद्धरण से शंका की उद्भावना तथा समाधान प्रस्तुत किया है —

शूढ्त्वे क्ङिदधिकारश्चेच्छः षत्वं तुक्प्रसज्यत ।
निवृत्ते दिव ऊढ्भावस्तदर्थं तपरः कृत ॥[४]

यदि सूत्र द्वारा विहित श तथा ऊठादेशों में माना जायेगा तो तृजादि जो कि क्ति् ङित प्रत्यय नहीं है शकार का अभाव होने के कारण षत्व विधान में छकार का ग्रहण करना पड़ेगा ।[५] क्ङिति की अनुवृति ग्रहण न करने पर क्ङित होने पर अथवा न होने पर दोनों ही स्थितियों में प्रस्तुत सूत्र शकरादेश का विधान करेगा अतः षत्व विधान[६] में छ का ग्रहण नहीं करना चाहिये ।[७] शकार को ही षत्व विधान होता है प्रथम पक्ष जो क्ङित् का अनुवर्तन ग्रहण करता है उनके मतानुसार तत्जादि प्रत्यय में शत्वाभाव होने के कारण छ के समान षत्व का विधान होना चाहिये । अर्थात्

---

१ For च्छ is substituted श् and for व् is substituted ऊठ fore an affix beginning with a Nasal, as well as before क्वि and Jhaladi ङित् and कित् affixes — S.C. Vasu, Aśtā., Vol. II p.2158.

२ अ.सू., ६.४.१५.

३ केचिदत्र क्ङिति इति नानुवर्तयन्ति । — का.वृ.५, पृ.३५९

४ तदर्थ तपरः कृत् श्लोकवार्त्तिकांश दिव उत् ६.४.१३१ सूत्र पर भी उद्धृत है ।

५ इह क्ङिदधिकारे क्ङिति तृजादौ शकाराभावात् षत्वे छ ग्रहणं कर्त्तव्यम् । — प्रदीप. कैय्यट, व्या.महा.२, पृ.९०३

६ व्रश्च भ्रस्जसृजमृजयजराच्छशां षः । – अ. सू., ८.२.३६

७ क्ङितस्त्वननुवृत्तौ चाङ्किति यानेन शकारो विधीयते इति क्षत्वविधौ छग्रहणं पृथक् न कर्त्तव्यम् । –प्रदीप. केयट व्या. महा. २, पृ.९०३

वहां भी तुक् का ग्रहण किया जाना चाहिये क्योंकि पर[१] होने का कारण षत्व असिद्ध है। शूठ् विधायक[२] सूत्र से विहित शत्व सिद्ध होने के कारण तुक् नहीं होता।[३] यदि केवल छ का ही ग्रहण किया जाता तो छ को शादेश, षत्व, तुक्, ष्टुत्व विधि करने पर पृटष्ट यह अनिष्ट रुप सिद्ध होता है। अतः सूत्र में सतुक् छकार कर ग्रहण है जो ङितकरण से ज्ञात होता है तथा ङित् करण का प्रयोजन है गुण का निषेध। यदि तुग्रहित छकार का ग्रहण करते हैं तो शादेश होने पर तुक् विधान होने पर गुरूपध होने के कारण गुण की प्राप्ति नहीं होगी तथा ङित्करण निष्प्रयोजन होगा। तुक्सहित छकार का ग्रहण होने पर तुक् सहित शकारादेश होगा। लधूपथ[४] गुण की प्राप्ति होती है और उसका प्रतिषेध करने के लिये ही ङित्करण सार्थक माना गया है। 'तुक् ग्रहण अंग सम्बन्धी कार्य से अतः गुण विधान का कारण नहीं बन सकता[५] परन्तु नौ पृष्ट प्रतिवचने[६] इस निर्देश से तुक्सहित ग्रहण ही उपयुक्त है ङितकरण अनित्य आगम शासन है यह ज्ञापन कराता है[७] अतः 'अनित्य होने के कारण तुगभाव होने पर ङित्करण का भी अभाव होगा तथा गुण हो जायेगा तुक् सहित शकार ग्रहण सामर्थ्य से अन्त्य परिभाषा[८] के आधार पर निर्दिश्यमान को ही आदेश होते हैं अतः तदन्त अंग को विधान नहीं किया जायेगा। पर होने पर भी शत्व का बाधकर वर्णाक्षित तथा अन्तरंग होने के कारण तुक् प्राप्त होता है।[९] वर्ण सम्बन्धी तथा अंगसम्बन्धी कार्य के एक साथ उपस्थित न होने के कारण तथा तुक् का श्रवण न होने के कारण छकार तुक् सहित गृहीत होगा।[१०]

---

१ पूर्वत्रासिद्धम्। – अ.सू.,८.२.१
२ च्छवोः शूडनुनासिके च। – अ.सू.,६.४.१९
३ अस्य तु शकारस्य सिद्धत्वात्तुक् न भवति। – प्रदीप, कैयट, का. महा. २, पृ.९०३
४ पुगन्तलधूपधस्य च। – अ.सू.,७.३.८६
५ सतवक्याप्यादेशे कृते निष्ठतमङ्ग भवति। – न्यास का.वृ.५ पृ.३५६
६ अ.सू.,३.२.१२०
७ तदेतत् ङित्करणमनित्यमागमशासनम् इत्यस्य ज्ञापकमेव। – न्यास.का.वृ.५, पृ.३५६
८ अलोऽन्त्यस्य। – अ.सू.,१.१.५२
९ परमपि शत्वं बाधित्वावर्णाश्रयत्वादन्तरङ्गत्वारत्तुक् प्राप्नोति। – प्रदीप कैयट व्या.महा. २, पृ.९०३
१० न च वार्णादाङ्गं बलीयः भिन्नकालत्वात्। – पद.का.वृ.५, पृ.३५६

द्वितीय पक्ष जो क्ङिति कि अनुवृत्ति की स्वीकार नहीं करता उसके अनुसार षत्वविधायक[१] सूत्र में तुक् ग्रहण की आवश्यकता नहीं है केवल च्छ्वोः शूडनुनासिके च'[२] सूत्र में ही तुक्ग्रहण आवश्यक है। सूत्र में यदि क्ङिति का अनुवर्तन स्वीकार नहीं किया जायेगा तो दिव् में भी ऊठ् की प्राप्ति होने लगती है। अतः द्युभ्याम् आदि पद सिद्ध नहीं होते। दिव उत् इस सूत्र में तपरकरण व्यर्थ प्रतीत होता है। यद्यपि भाव्यमान उकार सवर्णों को ग्रहण करता है[३] तथापि आन्तरतम्य के कारण अर्धमात्राकालिक व्यंजन मात्राकाल उकार हो जायेगा।[४] क्ङिति का ग्रहण करने पर भी तथा न करने पर होने के कारण अड् किया जाता है। ग्रहण करने पर ऊठ् के स्थान पर तपरत्व के कारण ह्रस्वादेश हो जाता है।[५] यही तपरकरण का प्रयोजन है कि ऊठ् के स्थान पर होने वाला मात्रिक आदेश हो आन्तरतम्य से दीर्घ आदेश न हो।[६] उत्व तथा ऊठ् में बाध्य बाधक भाव ग्रहण करना पड़ेगा, अतः ऊठ् की निवृत्यर्थ, बाधनार्थ तपरकरण है। परत्व के कारण ऊठ् प्राप्त है तथा उसका बाधन तपरत्व करता है। ऊठ् को स्थानी मानने पर भी उसकी निवृत्ति हो जाती है क्योंकि निवृत्ति स्थानी का धर्म है।[७] अतः तपरकरण ऊठ् की निवृत्ति के लिये है। इस प्रकार श्लोकवार्तिक के माध्यम से भाष्यकार ने दो पक्षों की स्थापना की है (१) क्ङिति की अनुवृत्ति को संगत मानने वाला तथा (२) अनुवृत्ति को असंगत मानने वाला प्रथम पक्ष में दोषों की उद्भावना करके श्लोकवार्तिककार ने द्वितीय पक्ष का समर्थन किया है। अर्थात् द्वितीय पक्ष के अनुसार केवल प्रकृत सूत्र में ही तुक् सहित छकार के ग्रहण की आवश्यकता है षत्व विधायक सूत्र में नहीं जबकि प्रथम पक्ष के अनुसार षत्वविधायक सूत्र में भी सतुक् ग्रहण आवश्यक है।

---

१ व्रश्च भ्रस्जसृजमृजयजराजच्छषांशः। – अ. सू., ८.२.३६

२ अ. सू., ६.४.१९

३ भाव्यमान उकारः सवर्णान् गृह्णाति। – न्यास. का. वृ. ५, पृ. ३५९

४ आन्तरतम्यादर्धमात्राकालस्य व्यञ्जनस्य मात्राकाल एवोकारो भविष्यति। – वही, पृ. ३५९

५ कृते तु तस्मिन्नेकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्तस्यैवोठः स्थाने तपरत्वान्मात्राकालो भविष्यति। हर. पद. का. वृ. ५, पृ. ३५९

६ ऊठ्स्थाने भवन् मात्रिको यथा स्यात् आन्तरतम्याद्दीर्घो मा भूदिति। – न्यास . का. वृ. ५, पृ. ३६०

७ ऊठो निवृत्यर्थं स्थानिभूतस्योठो निवृत्यर्थम्। – न्यास. का. वृ. ५, पृ. ३६०

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से भाष्यकार ने शंकाओं की उद्‌भावना तथा समाधान दोनों ही प्रस्तुत किये हैं। सूत्रोक्त पदों की व्याख्या में अनुवर्तित पदों को निष्प्रयोजन सिद्धि किया है।

अष्टम अध्याय (१) धि च[1]

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने धकारादि प्रत्यय परे रहते सकार लोप का विधान किया है।[2] सूत्र में पूर्व सूत्र[3] से सस्य की अनुवृत्ति होती है। अतः सूत्र के द्वारा सकार लोप अभीष्ट है यथा अलविढ्वम् अलविढ्वम् आदि उदाहरण लुङ् लकार, च्लि आगम, सिजादेश तथा सकार लोप होकर विभाषा से मूर्धन्यादेश होकर सिद्ध होते हैं। भाष्यकार को सकार से सिच् लोप अभीष्ट है। निम्न संग्रह श्लोकवार्त्तिकों में लुप्यमान सकार सम्बन्धी शंका तथा समाधान प्रस्तुत किया है—

धि सकारे सिचो लोपश्चकाद्धि प्रयोजनम्।
आशाध्वं तु कथं ते स्याज्जश्त्वं सस्य भविष्यति॥
सर्वत्रैव प्रसिद्धं स्याध्रुतिश्चापि न भिद्यते।
लुङश्चापि न मूर्द्धन्ये ग्रहणं सेटि दुष्यति॥
घसिभस्योर्न सिध्येत्तु तस्मात्सिङग्रहणं न तत्।
छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्कर्तारमध्वरे॥

प्रस्तुत इष्टि के द्वारा भाष्यकार ने सकार लोप से विशेष रूप से सिजागम का सकार माना है। इसका प्रयोजन यह है कि अन्य सकार लोप का विधान इस सूत्र के द्वारा नहीं होता यथा चकाद्धि यह प्रयोग चकास् धातु से लोट् लकार में सिप् से निष्पन्न है।

---

१ अ. सू., ८.२.२५

२ The स् is dropped before an affix beginning with ध् . Vasu, S.C., Aśṭā. Vol.II, p.1554.

३ रात् सस्य। – अ. सू., ८.२.२४

सि को हि[1] आदेश तथा हि धि[2] आदेश हुआ है चकास् के सकार को दकार[3] हो जाता है। सिज्भिन्न सकार होने के कारण यहां लोप नहीं हुआ। अपितु जश्त्व होता है। जबकि सिच् के सकार का लोप ही अभीष्ट है।[4] इसी प्रकार पयस् धावति इस उदाहरण में सकार लोप नहीं होता सकार को रूत्वादेश[5] तथा उकारादेश[6] होकर 'पयो धावति' रूप सिद्ध होता है। यदि इस सूत्र से सिच् लोप का अधिकार माना जाता है[7] तो सिज्भिन्न लोप में आपत्ति होती है यथा सग्धिः उदाहरण में अद् धातु से क्तिन्[8] प्रत्यय करने पर घस्लृ[9] होकर उपधालोप[10] होने पर सकार लोप[11] होने पर 'जश्त्व'[12] होने पर सिद्ध होता है। इसी प्रकार बब्धाम् इस उदाहरण में भी सकार[13] लोप की प्राप्ति नहीं होती। इस दोनों उदाहरणों में सलोप वैदिक प्रयोग है।[14]

श्लोकवार्त्तिककार ने सिच् ग्रहण का प्रयोजन चकाद्धि तथा पयो धावति में स्वीकार किया है जबकि भाष्यकार ने चकाधि रुप सिद्ध किया है तथा रूत्व अन्तरंग है अतः बहिरंग सकार लोप का निषेध करता है।[15] सामान्य रूप से ही सकार लोपा ग्रहण भाष्यकार को भीष्ट है।[16] पयो धावति आदि में सकार लोप न हो इसलिंये

---

१ सेह्यर्पिच्च। – अ. सू., ३.४.८७
२ हुझल्भ्योहेर्धिः। – वही, ६.४.१०१
३ झलां जश् झशि। – वही, ८.४.५३
४ धकारे परतो यः सकारविषयो लोपः स सिच् एवेति भाष्यार्थः। – नागेश, उद्योत व्या. म. ३, पृ. ३८९
५ ससजुषो रूः। – अ. सू., ८.३.६६
६ हशि च। – वही ६.१.११४
७ इतः प्रभृति सिचः सकार लोप इष्यते। – जिने. न्यास का. वृ. भाग ६, पृ. ३८८
८ स्त्रियां क्तिन्। – अ. सू., ३.३.९४
९ बहुलं छन्दसि। – वही, २.४.७३
१० धसिभसोर्हलि च। – वही ६.४.१०१
११ बहुलं छन्दसि। – वही २.४.७३
१२ झषस्तथोर्धोऽधः अ. सू., ८.२.४० से झत्व होकर 'झलां जश् झशि' सूत्र से जश्त्व
१३ 'झलां जश् झशि। – अ. सू., ८.४.५३
१४ **Vasu, S.C. - Aśṭā. Vol.II, p.1555.**
१५ एकपदाश्रयत्वादन्तरङ्ग रूत्वं, पदद्वयाश्रितत्वाद् बहिरङ्गः लोपः। – हर.पद.क्रा. वृ. भाग ६, पृ. ३८७
१६ एतेनाविशेषेण सकारमात्रस्य भाष्यकारो लोपमिच्छतीति। – जिने. न्यास, वही

श्लोकवार्त्तिक उद्धृत हैं। यदि सिच् के सकार का लोप ग्रहण किया जायेगा तो आशाध्वम् इस उदाहरण में शास् धातु के सकार का लोप अभीष्ट है यह प्राप्त नहीं होगा परन्तु सकार का लोप न होकर जश्त्व[१] होता है। यदि जश्त्व से ही सर्व प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं तो सकार लोप का विधान अनर्थक प्रतीत होता है।[२] पर द्वित्व[३] कार्य होकर श्रुतिभेद नहीं होता। क्योंकि एक व्यंजन से उच्चारण किया जाये अथवा दो से दोष नहीं होता यथा आशाद्ध्म् अथवा आशाध्वम् दोनों प्रयोग दोषरहित है।[४]

जश्त्व का ग्रहण होने पर लुङ् लकार में मूर्धन्यादेश विधायक सूत्र[५] में लुङ् का ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है।[६] षत्व जश्त्व तथा ष्टुत्व होकर रूप सिद्ध होता है यथा अच्योड्ढवम्, अप्लोड्ढ्वम्। श्लोकवार्त्तिककार का यह कथन असंगत प्रतीत होता है क्योंकि अकृढ्वम् आदि उदाहरणों में सिच् लोप होने पर मूर्धन्यादेश न होने पर रूप सिद्ध नहीं होता।[७] इस प्रकार सूत्रोक्त लुङ् का प्रत्याख्यान कर देने पर विकल्प से प्राप्त इड्[८] विषय में मूर्धन्यादेश की प्राप्ति नहीं होती। षत्वादि का विधान होने पर अलविध्वम् रूप सिद्ध होगा अलविढ्वम् नहीं।[९] अतः लुङ् ग्रहण का प्रयोजन सेट् धातु के लिये है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र तथा लुङ् दोनों का ग्रहण आवश्यक है। सिच् के सकार का लोप किया जाये यह उपयुक्त प्रतीत होता है।[१०]

श्लोकवार्त्तिकक में दोषान्तर की कल्पना की है कि सिच् का ग्रहण होने पर घस् तथा भस् धातु से निष्पन्न साग्ध तथा बब्धाम् रूपों में सकार[११] लोप नहीं होता

---

१ झलां जशोऽन्ते। – अ.सू.,८.२.३९
२ ततश्च सकारलोपशास्त्रमेतन्न कर्त्तव्यमेवेत्यभिप्रायः। – जिने. न्यास का.वृ., भाग ६, पृ. ३८८
३ अनचि च। – अ.सू. २.४.४७
४ **Vasu, S.C. - Aṣṭā. Vol.II, p.1555.**
५ इणः षीध्वं लुङ्लिटांधोऽङ्गात्। – अ.सू.,८.३.७८
६ अयं चान्यो जश्त्वे सति गुणः। – जिने. न्यास का.वृ. ६, पृ. ३८९
७ हर. पद. का.वृ. भाग ६, पृ. ३८९
८ विभाषेटः। – अ.सू.,८.३.७९
९ **Ibid.**
१० धि सकारे सिचो लोपे इति त्वेतदवस्थितम्। – हर. पद. का.वृ. भाग ६, पृ. ३८९
११ झलो झलि। – अ.सू.,८.२.२६

परन्तु जिस प्रकार निष्कर्त्तारम् के स्थान पर वेद में वर्णलोप होकर इष्कर्त्तारम् उपलब्ध होता है उसी प्रकार सग्धि तथा बब्धाना में भी छान्दस वर्णलोप माना गया है।[१] धातुओं की अनेकार्थकता के कारण सग्धि की व्युत्पत्ति षध् धातु से तथा बब्धाम् की व्युत्पत्ति बध् धातु से स्वीकार की गई है।[२] स्वर-व्यत्यय से अन्तोदात्तत्व की प्राप्ति होती है।[३] यदि घस् और भस् धातु से व्युत्पत्ति मानी जायेगी तब भी दोष का निराकरण हो जाता है।[४]

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाष्यकार ने सूत्रों से सम्बद्ध शंका समाधानात्मक विवेचन श्लोकवार्त्तिकों में किया है।

(२) नित्यं समासे नुत्तरपदस्थस्य[५] – सूत्रकार ने 'इसुसोः सामर्थ्ये'[६] सूत्र के द्वारा इस्, उस् प्रत्यय के विसर्ग को सामर्थ्य में विकल्प से कवर्ग तथा पवर्ग परे रहते षत्व का विधान किया है। प्रस्तुत सूत्र में 'इसुसोः' पद की अनुवृत्ति हुई है।[७] यह समास के विषय में इस् ओर उस् के विसर्ग को उत्तर पद में स्थित न रहते कवर्ग तथा पवर्ग परे रहते नित्य रूप से षत्व का विधान करता है। यथा सर्पिष्कुण्डिका इस उदाहरण में इस् प्रत्यय के विसर्ग को षत्व विधान हुआ है। सर्पिष् शब्द सृप् धातु से उणादि[८] प्रत्यय इसि से निष्पन्न है तथा यजुष् पद उणादि प्रत्यय उसि[९] से निष्पन्न है। प्रत्ययग्रहण परिभाषा के आधार पर इसुसोः शब्द सर्पिष् यजुष् पदों का द्योतक होता है।[१०] परन्तु परमसर्पिष् पद की व्युत्पत्ति नहीं होती। अतः सूत्र में उक्त

---

१ Vasu, S.C. - Aśṭā.Vol.II, p.1555.
२ अनेकार्थत्वाद्धातूनां षधिश्च समानादनमित्यस्मिन्नर्थे वर्तिष्यते। – जिने. न्यास का. वृ. भाग ६, पृ. ३९०
३ अनेकार्थत्वाद्धातूनां षधिश्च समानादनमित्यस्मिन्नर्थे वर्तिष्यते। – जिने. न्यास का. वृ. भाग ६, पृ. ३९०
४ यस्मादनयापि व्युत्पत्या तदपाकृतं भवति। – वही, पृ. ३९०
५ अ. सू., ८.३.४५
६ अ. सू., ८.३.४४
७ The words is and us are understood here. Vasu, S.C. - Aśṭā.Vol.II, p.1619.
८ उणादि, २.१०९ 'अर्चिशुचिहुकृद्यपिच्छिदिच्छादिभ्य इसि।
९ जनेरुसि। – उणादि, २.११७
१० Vasu, S.C. - Aśṭā.Vol.II, p.1619.

अनुत्तर पदस्थस्य पद का प्रयोजन क्या है यह शंका उत्पन्न होती है। भाष्यकार ने प्रस्तुत शंका का समाधान निम्न श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से किया है—

नानापदार्थयोर्वर्तमानयोः रव्यायते यदा योगः।
तस्मिन् षत्वं कार्यं तद्युक्तं तच्च में नेह ॥
एकार्थ्ये सामर्थ्ये वाक्ये षत्वं मे न प्रसज्येत।
तस्मादिह व्यपेक्षां सामर्थ्यं साधु मन्यन्ते ॥
अथ चेत्कृदन्तमेतत्ततोऽधिकेनैव मे भवेत्प्राप्तिः।
वाक्ये च मे विभाषा प्रतिषेधो न प्रकल्पेत ॥
अथ चेत्संज्ञाविज्ञानं नित्ये षत्वे ततो विभाषेयम्।
सिद्धं च मे समासे प्रतिषेधार्थस्तु यत्नोऽयम् ॥

सूत्र में अनुत्तरस्थस्य पद का ग्रहण इसलिये किया गया है कि परमसर्पिः कुण्डिका इस उदाहरण में परम का सम्बन्ध सर्पिस् से है अतः उत्तरपद होने के कारण षत्व नहीं होता। 'इसुसोः सामर्थ्ये'[१] सूत्र से विकल्प से षत्व की प्राप्ति होती है। अनेक पदार्थ में वर्तमान जो पद है उनका योग व्यपेक्षलक्षण से ज्ञात होता है न कि ऐकार्थीभाव से।[२] पूर्वसूत्र[३] में विशेष का आश्रय होने के कारण प्रमाणाभाव है अतः द्विविध सामर्थ्य ग्रहण होने से नित्य षत्वाभाव के स्थान पर वैकल्पिक षत्व का विधान किया गया है।[४] सामर्थ्य पद से अभिप्राय व्यपेक्षाकृत सामर्थ्य है जबकि प्रकृत सत्र में एकार्थीभाव सामर्थ्य का ग्रहण है।[५] व्यपेक्षाकृत सामर्थ्य होने के कारण परमसपिः कुण्डिका इस उदाहरण में षत्वाभाव होता है।[६] अन्यत्र समास, तद्धित सुबन्त तथा धातु में एकार्थीभावाश्रय होता है अतः वाक्य में भी एकार्थीभाव होना चाहिये वाक्य में भी एकार्थीभाव सामर्थ्य होने पर षत्व की प्राप्ति नहीं होती।[७] यथा

---

१ अ. सू., ८.३.४४
२ कैयट प्रदीप व्या. म. भाग ३, पृ. ४६०
३ इसुसोः सामर्थ्ये। – अ. सू., ८.३.४४
४ कैयट प्रदीप, व्या. म. ३, पृ. ४६०
५ Vasu, S.C. - Aṣṭā. Vol.II, p.1619.
६ ण्यपेक्षालक्षणसामर्थ्यमिह परमसर्पिः कुण्डिकेत्यादौ नास्तीति। – कैयट, प्रदीप. व्या. म. ३, पृ. ४६१
७ वही, पृ. ४६१

सर्पिष्करोति, सर्पिः करोति इस उदाहरण में षत्वाभाव है क्योंकि पूर्वसूत्र में व्यपेक्षाकृत सामर्थ्य के स्थान पर एकार्थीभाव का ग्रहण होने पर वाक्य में षत्वाभाव होता है ।[१] अतः व्यपेक्षाकृत सामर्थ्य होने के कारण समास में भी षत्वाभाव हो जाता है ।[२] यथा परम सर्पिः कुण्डिका उदाहरण में षत्व की प्राप्ति विकल्प से भी नहीं होती । इस् तथा उस् प्रत्ययों का ग्रहण होने के कारण प्रत्यय का ग्रहण होने पर जिससे विधान किया गया है तदादि, तदन्त को वह विधि होती है ।[३] अर्थात् इसुस् के विहित होने पर तदादि का ही ग्रहण होगा अधिक का नहीं ।[४] अतः परम सर्पिः करोति इस प्रयोग में परम अधिक है इसलिये सृप् से ही इस् प्रत्यय का विधान है परम से नहीं है ।[५] इस प्रकार उत्तरपद होगा ही नहीं तो प्रतिषेध की क्या आवश्यकता है ? परन्तु यदि सूत्र में अनुत्तरपदस्थपदस्य का ग्रहण नहीं किया जायेगा तो वाक्य में भी अधिक का ग्रहण होने पर विकल्प से षत्व की प्राप्ति होने लगेगी ।[६] यथा सर्पिष्करोति सर्पिःकरोति इत्यादि वाक्य में पूर्वसूत्र[७] विकल्प से षत्व का विधान करता है । यदि षत्व में प्रत्यय ग्रहण परिभाषा का ग्रहण होता है तो अनुत्तरपदस्थ यह प्रतिषेध अनर्थक है ।[८] अर्थात् प्रत्यय ग्रहण परिभाषा का आश्रय न लेने के कारण वाक्य में विकल्प से षत्व प्राप्ति होती है । वाक्य में विकल्प से षत्व होने के कारण समास के विषय में भी वैकल्पिक षत्व की शंका होती है ।[९] यथा परमसर्पिः कुण्डिका इस समस्त पद में भी षत्व होना चाहिये । कुछ आचार्य नित्यं समासे' तथा अनुत्तरपदस्थस्य यह योग विभाग करते हैं अतः सूत्र का अभिप्राय है समास में नित्य षत्व प्राप्ति का उत्तरपद होने पर प्रतिषेध किया गया

---

१ पूर्वसूत्रेण विकल्पोऽप्यत्र न भवति । – का. वृ. भाग ६, पृ. ५३३
२ ण्यपेक्षा च तत्र सामर्थ्यमाक्षितमिति समासे न भवति । – का. वृ. भाग ६, पृ. ५३४
३ Vasu, S.C. Aṣṭā. Vol.II, p.1619.
४ नियमाद् यत एवेसुसौ विहितां तदादेरेव ग्रहणेन भवितव्यम् नाधिकस्य । – जिने. न्यास का. वृ. भाग ६, पृ. ५३३
५ अधिकश्च परमशब्दः केवलाद्धि सृपेरिस्प्रत्ययो विहितः न परमशब्दादेः । – जिने. न्यास का. वृ. भाग ६, पृ. ५३३
६ वही, पृ. ५३३
७ इसुसोः सामर्थ्ये । – अ. सू., ८.३.४४
८ कैयट प्रदीप व्या. म. भाग ३, पृ. ४६२
९ समासेऽपि तर्हि परमसर्पिः कुण्डिकेत्यत्र षत्वं विकल्पेन भवितव्यम् । – जिने. न्यास का. वृ. भाग ६, पृ. ५३४

है । इस अर्थ को उपयुक्त मानने पर वैकल्पिक षत्व होने पर द्विविध सामर्थ्य का आश्रय भी दोषरहित है ।[१] अव्युत्पन्न सर्पिशादि शब्दों के वाचक होने पर नित्य षत्व[२] की प्राप्ति होने पर वैकल्पिक[३] षत्व विधान किया गया है । प्रत्यय ग्रहण का अभाव होने के कारण परम सर्पिष्करोति आदि उदाहरणों में भी षत्व विकल्प से सिद्ध होता है ।[४] पूर्वसूत्र में व्यपेक्षाकृत[५] सामर्थ्य का ग्रहण होने के कारण समास में भी नित्य रूप से षत्व की सिद्धि हो जाती है । अतः नित्यं समासे सूत्र निष्प्रयोजन प्रतीत होता है परन्तु उत्तरपदस्थ समास में षत्व की निवृत्ति इस सूत्र का प्रयोजन है[६] अतः सूत्र में अनुत्तरस्थ पद का प्रयोजन उपयुक्त प्रतीत होता है ।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने सूत्रोक्त पदों का प्रयोजन स्पष्ट करने के लिये श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं । प्रयोजन की व्याख्या करते समय प्रसंगवश अन्य पूर्व सूत्रों की व्याख्या भी श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा की गई है । सूत्र से सम्बद्ध शंकाओं की उद्भावना तथा उनका समाधान करने के कारण इन्हें शंका समाधानात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है ।

(३) सुविनिर्दुभ्यः सुपिसूतिसमा[७] – प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने सु, वि, नि तथा दुर् उपसर्गों से परे सुपि, सूति तथा सम् के सकार को मूर्धन्यादेश का विधान किया है । सूत्र में स्वप् के स्थान पर संप्रसारण के पश्चात् सुप् का ग्रहण किया गया है ।[८] अतः सुषुप्तः, निःषुप्तः आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं । सूति क्तिन्प्र-त्ययान्त[९] प्रयोग है जो सू धातु से निष्पन्न है । यथा सुषूतिः, विषूतिः, निःषूति दुःषूति ।

---

१ हर. पद. का. वृ. भाग ६, पृ. ५३४
२ इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य । – अ. सू., ८.३.४१
३ इसुसोः सामर्थ्ये । – अ. सू., ८.३.४४
४ कैयट प्रदीप व्या. म. भाग ३, पृ. ४६२
५ नागेश उद्योत व्या. म., भाग ३, पृ. ४६२
६ उत्तरपदस्थस्य समासे षत्वनिवृत्यर्थं सूत्रमित्यर्थः । – कैयट प्रदीप व्या. म. भाग ३, पृ. ४६२
७ अ. सू., ८.३.८८
८ The word सुपि is exhibited in the Sūtra as the form of with vocalisation. –Vasu, S.C. - Aṣṭā.Vol.II, p.1639.
९ स्त्रियां क्तिन् । – अ. सू., ३.३.९४

सुप् तथा सू धातुओं से षत्व का निषेध[१] प्राप्त होता है अतः षत्व विधान किया गया है। सम अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है जो सर्वादि में पठित है सम क्रिया का ग्रहण नहीं किया गया।[२] अतः सम से षत्व का विधान किया गया है। यद्यपि सुपि धातु के साहचर्य से सम् धातु का ग्रहण ही युक्त है तथापि शब्द पर विप्रतिषेध के द्वारा शब्दपरक साहचर्य बलीयस है।[३] अतः सम शब्द के साहचर्य से सूति शब्द का ग्रहण किया गया है न कि धातु का।[४] प्रस्तुत सूत्र पर भाष्यकार ने सुपि के सम्बन्ध में शंका की उद्भावना की है कि सूत्र में सुपि अर्थात् स्वप् धातु के सम्प्रसारणकृत रूपग्रहण का क्या प्रयोजन है इस शंका का समाधान भाष्यकार ने निम्न श्लोक-वार्त्तिकों के माध्यम से की गई है—

सुपेः षत्वं स्वपेर्मा भूद्विसुष्वापेति केन न।
हलादि शेषान्न सुपिरिष्टं पूर्वं सम्प्रसारणम्॥
स्थादीनां नियमो नाऽत्र प्राक्सितादुत्तरः सुपि।
अनर्थके विषुषुपुः सुपिभूतो द्विरुच्यते॥

श्लोकवार्त्तिककार ने सुपि ग्रहण का प्रयोजन स्वप् से षत्व का प्रतिषेध माना है अर्थात् सुपि का ग्रहण होने से स्वप् को षत्वादेश नहीं होता। यथा सुस्वप्नः विस्वप्नक्[५] आदि उदाहरणों में षत्व का निषेध है। सूत्र में सम्प्रसारणकृत सुपि का ग्रहण होने पर भी विसुष्वाप इस उदाहरण में हेतु उपस्थित न होने के कारण षत्वाभाव है।[६] द्वित्व[७] होने पर, सम्प्रसारण[८] होने पर, होने के कारण 'हलादि शेषः'[९] सूत्र की

---

१ सात्पदाद्योः। – अ.सू.,८.३.१११
२ सम इत्येतदव्युत्पन्नं प्रातिपादिकं सर्वादिषु पठ्यते तस्यादित एवाप्राप्तेः षत्वमुच्यते। – जिने.न्यास का.वृ. भाग ६, पृ.५७५
३ सम इत्येतदव्युत्पन्नं प्रातिपादिकं सर्वादिषु पठ्यते तस्यादित एवाप्राप्तेः षत्वमुच्यते। – जिने.न्यास का.वृ. भाग ६, पृ.५७५
४ जिने.न्यास का.वृ. भाग ६, पृ.५७५
५ स्वपितृषोर्नजिङ्। – अ.सू., ३.२.१७२
६ जिने.न्यास.का.वृ.६, पृ.५७६
७ लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्। – अ.सू., ६.१.१७
८ वचिस्वपियजादीनां किति। – वही,
९ हलादि शेषः। – वही,

प्राप्ति होने पर यद्यपि सम्प्रसारण पश्चात् किया जाता है तथापि सुप् रूप सिद्ध नहीं होता क्योंकि पकार का अभाव है अतः षत्वाभाव होता है।[१] द्वित्व की स्थिति में स्वप् स्वप् होने पर पकार का लोप होता है तत्पश्चात् सम्प्रसारण होता है तथा विसुस्वप् रुप सिद्ध होता है।[२] परन्तु हलादि शेष से पूर्व ही सम्प्रसारण अभीष्ट है द्वित्व[३] विधायक सूत्र में उभयेषाम् का ग्रहण किया गया है जिसके कारण पर होने पर भी हलादि शेष का बाध होकर पूर्व में सम्प्रसारण होता है।[४]

अन्यथा स्वप् स्वप् इस स्थिति में यकार के साथ वकार को भी लोप प्राप्ति होती है।[५] 'स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य'[६] सूत्र से स्थादि के अभ्यास के सकार को मूर्धन्यादेश की प्राप्ति होती है परन्तु यह षत्वविधान सुपि में नहीं होता क्योंकि 'प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि'[७] सूत्र से प्राक् सितात् की अनुवृत्ति होती है अतः सित् से पूर्व तक स्थादि निमित्तक सकार को षकार विधान किया गया है।[८] 'परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वन्जाम्'[९] सूत्र तक परिगणित धातुओं के सकार को ही षत्व विधान किया गया है।[१०] इनसे अतिरिक्त धातुओं के अभ्यास को षत्व नहीं होता।[११] सुप् धातु का परिगणन स्थादि में नहीं होता अतः सुप् के सकार को षत्व भी नहीं होता। विसुष्वाप में भी षत्वाभाव का यह कारण है।[१२] इसके अतिरिक्त अर्थवद् का ही ग्रहण होता है।[१३] अनर्थक का नहीं इस परिभाषा के

---

१ हर.पद.का.वृ.भाग ६,पृ.५७६
२ वही,पृ.५७६
३ लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्। – अ.सू.,६.१.१७
४ In fact the vocaalisation take palce first and then elision according to an isti. Vasu, S.C. - Aśṭā., Vol.II, p.1648.
५ अन्यथा पकारवद् वकारोऽपि निवर्तेत। – हर.पद.का.वृ.भाग ६,पृ.५७६
६ अ.सू.,८.३.६४
७ अ.सू.,८.३.६३
८ जिने.न्यास का.वृ.भाग ६,पृ.५७७
९ अ.सू.,८.३.७०
१० वही,पृ.
११ Vasu, S.C. Aśṭā.Vol.II, p.1640.
१२ जिने.न्यास का.वृ.भाग ६,पृ.५७७
१३ हर.पद.का.वृ.भाग ६,पृ.५७७

आधार पर अर्थवद् सुपि का ग्रहण होता है पकार का लोप होने पर सु अनर्थक हो जाता है क्योंकि द्वित्व विधान होने पर अवयव निरर्थक होता है तथा समुदाय अर्थवत् होता है[१] यदि अर्थवद् ग्रहण को ही विसुष्वाप में षत्वाभाव का कारण माना जायेगा तो विषुषुपुः उदाहरण में सुप् के स्थान पर षुप् को द्वित्व विहित है अतः अभ्यास के सकार को षत्व विधान सिद्ध होता है[२] अर्थात् स्वप् इस स्थिति में सम्प्रसारण[३] होने पर षत्व होता है तत्पश्चात् द्वित्व[४] होता है अतः विषुषुपुः रूप सिद्ध होता है । अभ्यास कार्य षत्व से पूर्व नहीं होता क्योंकि षत्व द्वित्व के प्रति असिद्ध नहीं हैं ।[५]

इस प्रकार से श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों के ग्रहण से सूत्रोक्त पदों का प्रयोजन स्पष्ट किया है । तत्सम्बन्धी शंका तथा समाधान श्लोकवार्त्तिकों में निबद्ध है । अतः इसे शंका समाधानत्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है ।

शंका समाधानात्मक श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है भाष्यकारने श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा सूत्रों की व्याख्या की है । श्लोक-वार्त्तिकों में सूत्रों के प्रत्येक पक्ष से सम्बद्ध शंकाओं की उद्भावना तथा उनका समाधान प्रस्तुत किया गया है । यही कारण है कि इन श्लोकवार्त्तिकों को शंका समाधानात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है ।

---

१ जिने. न्यास का. वृ. भाग ६, पृ. ५७८
२ कैयट प्रदीप व्या. म. भाग ३, पृ. ४८२
३ वचिस्वपियजादीनां किति । – अ. सू., ६.१.१७
४ लिटिधातोरनभ्यासस्य । – अ. सू., ६.१.८
५ Vasu, S.C. = Aṣṭā.Vol.II, p.1640.

अष्टम अध्याय

संङ्ग्रहात्मक श्लोकवार्त्तिक

पाणिनीय सूत्रों के व्याख्यान का रोचकतम स्वरूप पतञ्जलिकृत महाभाष्य में उपलब्ध होता है । सूत्रों पर निबद्ध सामान्य वार्त्तिकों में व्याकरणात्मक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है । श्लोकवार्त्तिक भी इसी शैली में निबद्ध है । दोनों में अन्तर यह है कि श्लोकवार्त्तिक छन्दोबद्ध वार्त्तिक हैं जबकि वार्त्तिक वाक्यरूप में उक्त हैं । श्लोकवार्त्तिक एक ओर व्याकरणात्मक सिद्धान्तों की व्याख्या में सहायक हैं तो दूसरी ओर सूत्र अथवा वार्त्तिकों के प्रत्याख्यान, प्रयोजन निर्देश अथवा उदाहरणों के स्पष्टीकरण में श्लोकवार्त्तिक उद्धृत हैं । श्लोकवार्त्तिकों का अध्ययन करते समय यह ज्ञात हुआ कि अनेक श्लोकवार्त्तिक ऐसे भी हैं जिनमें पूर्व प्रतिपादित विषय को ही छन्द में उपनिबद्ध कर दिया गया है ।

कहीं-कहीं सूत्रों के व्याख्यान-भाष्य में व्याख्यात विषय को ही पुनः श्लोकों में संगृहीत कर दिया है । कहीं-कहीं श्लोकवार्त्तिक का सामान्यवार्त्तिकों के समान व्याख्यान करने के पश्चात् पुनः श्लोकवार्त्तिकों के रूप में उन्हें संकलित कर दिया गया है । इन श्लोकवार्त्तिकों की रचना के द्वारा व्याख्येय सिद्धान्त के पूर्ण स्पष्टीकरण में सहायता प्राप्त होती है । ऐसे श्लोकवार्त्तिक संग्रह श्लोकवार्त्तिक कहे जाते हैं ।

प्रस्तुत अध्याय में संग्रहात्मक श्लोकवार्त्तिकों का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है । अष्टाध्यायी के अध्याय क्रम से निम्न श्लोकवार्त्तिक संग्रह श्लोकवार्त्तिक माने जा सकते हैं—

द्वितीय अध्याय — क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ्[१]

---

१ अ.सू.,२.१.६०

नञ् विशिष्ट क्तान्त समानाधिकरण के साथ अनञ् क्तान्त का समास किया जाता है और वह तत्पुरुष संज्ञक होता है। प्रस्तुत सूत्र पर भाष्यकार ने वार्त्तिकों से व्याख्यान करने के पश्चात् निम्न संग्रह[१] श्लोकवार्त्तिक दिया है—

अवधारणं नञा चेन्नुडिड्विशिष्टेन न प्रकल्पेत।
अथ चेदधिकविवक्षा कार्यं तुल्यप्रकृतिकेन॥

प्रस्तुत सूत्र पर 'नञ् विशिष्टे समानप्रकृति ग्रहणम्', 'अनञिति च' तथा 'नुडिडधिकेन च' वार्त्तिकों से आक्षेपों की उद्भावना की गई है। प्रथम वार्त्तिक से यह स्पष्ट होता है कि केवल समान प्रकृतिकक[२] का ही नञ् विशिष्ट क्तान्त के साथ समास किया जा सकता है अन्यथा भिन्न प्रकृतिक पदों[३] में भी समास हो जायेगा। सूत्र में 'नञ्विशिष्टेन' का ग्रहण करने का प्रयोजन विशिष्ट का आधिक्यार्थ में ग्रहण करना है।[४] विशिष्ट शब्द का आधिक्यार्थ स्वीकार करके ही वार्त्तिकार सूत्र का अर्थ नञधिक क्तान्त के साथ अनञ् क्तान्त का समास किया जाता है यह स्वीकार करते हैं।[५] यही कारण है कि वार्त्तिकं में समानप्रकृतिग्रहण[६] आक्षेप की उद्भावना है।

समानप्रकृति का ग्रहण कर लेने पर कर्त्तव्यमकृतम् आदि दतों में समास हो जायेगा क्योंकि दोनों में 'कृ' प्रकृति समान है परन्तु 'अनञिति च' आक्षेप वार्त्तिक से अनञ्[७] प्रतिषेध भी किया जाना चाहिये। यदि विशिष्ट शब्द का आधिक्य अर्थ ग्रहण किया जाये तो भी कर्त्तव्यमकृतम् आदि पदों में समास विधान होता है। इसीलिये अनञ् ग्रहण से क्तान्त पूर्वपद का निर्देश किया गया है।[८] अतः पूर्वपद क्तान्त कर्त्तव्यम् पद का अकृतम् पद से समास प्राप्त नहीं होता है।

---

१ पूर्वोक्त एवार्थः आर्यया संगृहीतः। – कैयट, प्रदीप व्या. म. १, पृ. ४०५

२ Prakriṭi refers to root and meaning. Sāstri, P.S.S. - Lec. on Pt. MB, Vol.5, p.291.

३ प्रकृति से धातु के अतिरिक्त प्रत्यय और उपसर्ग का भी ग्रहण है। – हर. पद. का. वृ. १, पृ. ८२

४ This word विशिष्ट has the sense of empliasis. Ibid.

५ नञधिकेन क्तान्तेन न शून्यं क्तान्तं समस्यते। – र. प्रका. म. भा. प्र. व्या., भाग ५, पृ. ११५

६ प्रकृतेः समानत्वं नामार्थकृतं रूपकृतं च ज्ञेयम्। – वही, पृ. ११५

७ न विद्यते नञ्यस्मिन् पूर्वपदे तदनञ्। – कैयट प्रदीप व्या. म. भाग २, पृ. ४०४

८ अनञ् is Bahuvrihi and qualifies Ktânta through Sandhi sāstri P.S.S. Lec. on Pt. MB. Vol.5. Page. 291.

प्रस्तुत सूत्र से यदि नञधिक सुबन्त के साथ समास हो यह अर्थ ग्रहण किया जाये तो नुट् के अधिक्य से युक्त पदों में समास प्राप्ति नहीं होती। 'नुडिडधिकेन च वार्त्तिक का प्रयोजन है कि नुट् और इडागम से युक्त पदों में भी समास का विधान किया जाये। जिससे 'अशितानिशितेन'[१] तथा 'क्लिष्टाक्लिशितेन'[२] आदि पदों में भी समास हो जाये इन समस्त पदों में नुट्[३] प्रत्ययान्तभक्त तथा इट्[४] प्रत्ययभक्त हैं। इनका उत्तरपद में अन्तर्भाव हो जाता है। कुछ व्याख्याताओं[५] के अनुसार नुड् इट् का ग्रहण अर्थभेद के विकार मात्र का उपलक्षण है। अतः इन पदों में भी समास हो जाता है जबकि अन्य के अनुसार यह अर्थभेद रहित विकार है[६] परन्तु प्रथम पक्ष का ग्रहण करने पर तो तुगधिक[७] का भी ग्रहण करना पड़ेगा अतः द्वितीय पक्ष अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। भाष्यकार ने इन्हीं तीन वार्त्तिकों द्वारा उद्भावित पक्षों को संग्रह श्लोकवार्त्तिक के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

सूत्र में गृहीत विशिष्ट पद के अवधारण तथा निरवधारण अथवा आधिक्य दो अर्थ[८] भाष्यकार ने स्वीकार किये हैं। अवधारण तथा 'देवदत्तः यज्ञदत्तात् स्वाध्यायेन एव विशिष्टः प्रस्तुत वाक्य से स्वाध्याय से अधिक इस आधिक्यार्थ की प्रतीति होती है। आधिक्य यथा देवदत्तः यज्ञदत्तात् स्वाध्यायेन विशिष्टः। श्लोक-वार्त्तिक से यह स्पष्ट होता है कि यदि सूत्र गृहीत विशिष्ट पद का अवधारणार्थ ग्रहण किया जाये तो प्रथम दो वार्त्तिकों का निराकरण हो जाता है। इसका कारण यह है कि प्रथम वार्त्तिक से जिस आक्षेप की उद्भावना की गई है वह व्यर्थ प्रतीत होता

---

१ र.प्रका.म.भा.प्र.व्या. भाग ५, पृ. ११५
२ तस्मान्नुडचि। – अ.सू., ६.३.७४
३ तस्मान्नुडचि। – अ.सू., ६.३.७४
४ क्लिशः क्त्वा निष्ठयोः। – अ.सू., ७.२.५०
५ Some think that नुञ् ग्रहणं is उपलक्षणं to Āgama's and others think that it is so to all Vikaras having no difference in meaning. –Sāstri, P.S.S. Lect. on Pt. MB. Vol. 5, p.291.
६ अर्थभेदमिति तत्कारो विकारः क्वेति चिन्त्यम्। – नागेश, उद्योत, व्या. म., भाग १, पृ. ४०४
७ छातच्छितम् पद में 'शाच्छोरन्यतस्याम्' (अ.सू., ७.४.४१) सूत्र से इत्वाधिक्य से समास प्राप्त होता है।
८ तच्चाधिक्यं क्वचित्साधारणम्' क्वचिन्निरवधारणम् दोनों अर्थ स्वीकार किये हैं। – हर. पद. का. वृ. १, पृ. ८१

है क्योंकि सिद्धम् तथा अभुक्तम् में अवधारणार्थ में समास प्राप्ति नहीं होती है ।[१] इसी प्रकार 'अनञिति च' वार्त्तिक की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती क्योंकि अवधारणार्थ में कर्त्तव्यम् तथा अकृतम् में भी समास की सम्भावना नहीं रहती ।[२] 'सिद्धमभुक्तम्' पद में केवल नञ् का ही नहीं अपितु प्रकृति का भी भेद है । कर्त्तव्यमकृतम् में भी केवल नञ् का ही नहीं अपितु शब्द का भी भेद है परन्तु नुट् इट् अधिक से भी समास प्राप्ति नहीं होती क्योंकि 'क्लिष्टाक्लिशितेन', अशितानाशितेन उदाहरणों में नञ् वैशिष्ट्य के साथ-साथ नुड् इट् अधिक भी है ।[३]

यदि सूत्रोक्त विशिष्ट पद का आधिक्यार्थ ग्रहण किया जाये तो 'समानप्रकृति ग्रहणं कर्त्तव्यम्' वार्त्तिक सिद्ध तथा अभुक्त में समास निवारण के लिये आवश्यक है । वार्त्तिक 'अनञिति च' भी 'कर्त्तव्यमकृतम्' पद में समास निषेध के लिये आवश्यक है । 'नुडिडधिकेन च' वार्त्तिक आवश्यक प्रतीत नहीं होता क्योंकि नञ् के आधिक्यमात्र की विवक्षा होने से नुडिडधिक[४] से समास सिद्ध होता है । विशिष्ट के अवधारण तथा आधिक्य तथा आधिक्य अर्थों में से आधिक्य अर्थ से सम्बद्ध व्याख्यान को ही श्लोकवार्त्तिक के रूप में ग्रहण किया गया है ।[५]

श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से वार्त्तिकों का प्रयोजन स्पष्ट होता है । सूत्रगृहीत विशिष्ट पद के दो अर्थों का संकेत प्राप्त होता है । पाणिनि द्वारा प्रतिपादित संकुचित क्षेत्र को इस श्लोकवार्त्तिक के माध्यम से अत्यधिक विस्तृत क्षेत्र (प्रकृति के समान होने पर) पर चरितार्थ करके पतञ्जलि ने इस क्षेत्र को और व्यापक बना दिया है । वार्त्तिकों द्वारा प्रतिपादित विषय का संग्रह होने के कारण इसे संग्रहात्मक श्लोक-वार्त्तिक कहा जा सकता है ।

---

१ Vārttika समान प्रकृतिग्रहणम् used not be read since there is no chance for Sidham and abhuktam to be compounded. Sāstri P.S.S. Lec. on Pt. MB. Vol.5, p.291.

२ Ibid., p.293.

३ मीमां. युधि. व्या. म. भाग २, पृ. १५३

४ अशितानशितेन जीवति तथा क्लिष्टाक्लिशितेन जीवति उदाहरणों में नञ् के साथ-साथ नुडिड् आधिक्य भी है ।

५ The same idea is expressed in the following verse. Sāstri, P.S.S. Lect. on Pt. Mb, Vol.5, p. 293.

(२) लुटः प्रथमस्य डा रौ रसः[१] — आचार्य पाणिनि ने प्रस्तुत सूत्र से लुट् लकार के प्रथम पुरुष के स्थान पर डा रौ रस् आदेशों का विधान किया है। लुट्[२] लकार के प्रथम पुरुष को उक्तादेश आत्मनेपद तथा परस्मैपद दोनों ही पदों में होता है। इस सूत्र पर भाष्यकार ने दो शंकाओं की उद्‌भावना की है प्रथम तो यह कि छः[३] स्थानी हैं तथा तीन[४] आदेश हैं अतः आदेश करने में अव्यवस्था होती है। द्वितीय यह कि आत्मनेपद में टितों की टि को एत्व होगा अथवा 'लुटः प्रथमस्य डा रौ रसः'[५] सूत्र डा रौ रस् आदेश का विधान करेगा। प्रस्तुत शंकाओं का समाधान करने के लिये भाष्यकार ने टितां टेरेविधेर्लुटो डा रौ रसः विप्रतिषिद्धं आत्मनेपदानां चेति वचनात्सिद्धम्, तथा तच्च समसंख्यार्थम्' वार्त्तिक दिये हैं। इनके द्वारा स्पष्ट तथ्यों को ही इन दो संग्रह श्लोकवार्त्तिकों में निबद्ध किया गया है।

डा रौ रसः कृते टेरे यथा द्वित्वं प्रसारणे।
समसंख्येन नार्थोऽस्ति सिद्धं स्थानेऽर्थतोऽन्तरः॥
आनतर्यतो व्यवस्था त्रय एवेमे भवन्तु सर्वेषाम्।
टेरेत्वं च परत्वात्कृतेऽपि तस्मिन्निमे सन्तु॥

प्रथम शंका की उद्‌भावना 'तच्च समसंख्यार्थम्' वार्त्तिक के द्वारा की गई है क्योंकि 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्'[६] सूत्र के आधार पर स्थानी तथा आदेश सम होने चाहिये अतः आत्मनेपद का ग्रहण करना आवश्यक प्रतीत होता है। श्लोक-वार्त्तिक के द्वारा इसका समाधान प्रस्तुत किया गया है कि संख्यानुसार साम्य न होने पर अर्थतः[७] साम्य की व्यवस्था सम्भव है। अतः संख्या की विषमता से यदि अव्यवस्था होती है तो आन्तरतम्य से व्यवस्था हो जायेगी। स्थानी और आदेश की समान संख्या स्वीकार करने पर भी व्यवस्था हो जाती है। अतः एकशेष निर्देश से डा रौ रस् क्रमशः तिप्, तस्, झि तथा तातांझ को होंगे। इस विषय में दो उपाय

---

१ अ. सू., २.४.८५
२ अनद्यतने लुट्। – अ. सू., ३.३.१५
३ तिप्तसझि – परस्मैपदी तथा तातांझ – आत्मनेपदी
४ डा रौ रस्
५ अ. सू., २.४.८५
६ अ. सू., १.३.१०
७ स्थानेऽन्तरतमः। – वही, १.१.४९

हैं — (१) एकशेष किये गये पदों का द्वन्द्व (२) द्वन्द्व किये हुओं का एकदेश । यथा बहुशक्ति किटकम् व बहुशक्तिकिटकानि में एकशेष का द्वन्द्व है तथा बहुस्थाली पिठरम्, बहूनि स्थालीपिठराणि में द्वन्द्व के पश्चात् एकशेष है ।

भाष्यकार ने द्वितीयं शंका का समाधान भी श्लोकवार्त्तिक के माध्यम से प्रस्तुत किया है । परस्मैपदी तिप्, तस्, झि के स्थान पर डा, रौ, रस् आदेश करने में कोई समस्या नहीं होती परन्तु आत्मनेपदी त, आताम्, झ के स्थान पर डा, रौ, रस् आदेश करते समय शंका उत्पन्न होती है कि टितों को एत्व[1] किया जाये अथवा डा, रौ, रस् किये जायें । यदि सूत्र में आत्मनेपद पद का ग्रहण होता तो समस्या उत्पन्न नहीं होती क्योंकि टितों की टि को एत्व विधि से लुट् के स्थान पर डा, रौ, रस् पूर्व विप्रतिषेध से होता है ।[2] यथा द्वित्व[3] तथा सम्प्रसारण[4] की एक साथ प्रसक्ति होने पर सम्प्रसारण करने पर ही द्वित्व किया जाता है । ईजतुः, ईजुः रूपों में यज् अतुस् तथा यज् उस् अवस्था में द्वित्व तथा सम्प्रसारण की एक साथ प्रसक्ति है यहां पहले सम्प्रसारण विधान में इज् अतुस् करने पर इज् इज् अतुस् यह द्वित्व किया जाता है तब ईजतुः रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार ईजुः रूप सिद्ध होता है ।

'अध्येता' रूप को सिद्ध करने में समस्या होती है कि अधि इ त इस स्थिति में त को एत्व कर दिया जाये अथवा डा आदेश किया जायेगा क्योंकि दोनों की एक साथ प्रसक्ति होती है । डा, रौ, रस् आदेश अनित्य[5] हैं तथा एत्व विधि भी अनित्य है क्योंकि शब्दान्तर को प्राप्त होने वाली विधि अनित्य होती है ।

टित् के स्थान पर होने वाली एत्व विधि बहिरंग[6] है । पर होने पर भी एत्व विधि को बांधकर अन्तरंग[7] होने के कारण डा, रौ, रस् आदेश हो जाते हैं । एत्व तथा डा, रौ, रस् आदेश अनित्य होने के कारण पर होने के कारण डा, रौ, रस् आदेश होते हैं । पुनः एत्व की प्राप्ति नहीं होती ।[8]

---

१ टित आत्मनेपदानां टेरे । – अ. सू., ३.४.७९
२ विप्रतिषेधे परं कार्यम् । – वही, १.४.२
३ लिटिधातोरनभ्यास्य । – वही, ६.१.८
४ वचिस्वपियजादीनां किति । – वही, ६.१.१५
५ अन्यस्य कृते एत्वं प्राप्नुवन्त्यन्यस्याऽकृते । – व्या.म. २.४८५ भाग १,
६ तद्धि धातुमप्यपेक्षते न केवलं स्थानिनम् । – जिने. न्यास का. वृ. भाग २, पृ. ३२८
७ अन्तरङ्गत्वं पुनस्तेषां स्थानिमात्रापेक्षत्वात् । – वही, पृ. ३२८
८ तेन कृतेष्वपि डारौरसेत्वं न भवति । – वही, पृ. ३२८

'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव' इस परिभाषा के अनुसार तुल्यबल विरोध होने पर एक बार जिसका बाध हो जाता है वह पुनः नहीं होता, भले ही उसकी पुनः प्राप्ति क्यों न हुई हो । प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों में द्वितीय श्लोकवार्त्तिक में प्रथम श्लोकवार्त्तिक के अर्थ की आवृत्ति है ।[१] इसके द्वारा भी अर्थतः सादृश्य के आधार पर ही छह स्थानियों के स्थान पर तीन आदेशों की व्यवस्था स्वीकार की गई है तथा परत्व से टि के स्थान पर एत्व करने पर 'डा रौ रस्' आदेशों का विधान किया गया है ।

श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने वार्त्तिकों के माध्यम से व्याख्यान करने के पश्चात् उस व्याख्यान के सार को श्लोकवार्त्तिकों के उद्धरणों द्वारा संगृहीत कर दिया है । ये दोनों समानार्थक श्लोकवार्त्तिक अन्य आचार्यों द्वारा प्रणीत हैं ।[२]

चतुर्थ अध्याय — 'दृष्टं साम'[३]

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने तृतीया सामर्थ्य के द्वारा दृष्ट साम इस अर्थ में विद्यमान अण् प्रत्यय का विधान किया है ।[४] सूत्र में 'तेन रक्तं रागात्'[५] सूत्र से तेन की अनुवृत्ति हुई है । सूत्रोक्त साम पद से अभिप्राय सामवेद से है । यथा कुञ्चेन दृष्टं साम क्रौञ्चं साम अर्थात् सामवेद का कुञ्च के द्वारा दृष्ट भाग । साम के जिस भाग का विशिष्ट कार्य में विनियोग जिसके द्वारा ज्ञात किया जाता है उसके द्वारा दृष्ट कहा जाता है ।[६] भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र दृष्टं साम पर कलेर्ढक्' तथा सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढक्' वार्त्तिक ग्रहण किये हैं जिनके अनुसार 'दृष्टं साम' इस अर्थ में विद्यमान प्रत्ययों का विधान किया है ।[७] प्राग्दीव्यतोऽण्[८] सूत्र के द्वारा अण् प्रत्यय

---

१ एष एवार्थः आर्यया प्रदर्शितः आन्तर्यत इति । – कैयट प्रदीप व्या. म. भाग १, पृ.
२ मीमां. युधि. व्या. म. भाग ३, पृ. ४८८
३ अ. सू., ४.२.७
४ The affix Aṇ comes after a word in construction in the Instrumental case in the sense of seen the thing. Vasu, S.C. - Aśṭā.Vol.I, p.699.
५ अ. सू., ४.२.१
६ हर. पद. का. वृ., भाग ६, पृ. ५१३
७ सर्वेषु प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेष्वित्यर्थः । – कैयट, प्रदीप व्या. म. भाग २, पृ. ४०९
८ अ. सू., ४.१.८३

का अधिकार 'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्'[१] सूत्र पर्यन्त रहता है। अतः अण् के अधिकार में आनेवाले प्रत्ययों के अर्थ में ढक् प्रत्यय का विधान किया गया है।[२] यथा अग्निना दृष्टं सामाग्नेयम् अग्नौ भवम् आग्नेयम्[३] कलिना दृष्टं कालेयम्[४] कलिर्देवताऽस्य कालेयश्चरूः। अण् प्रत्यय के विषय में भाष्यकार ने निम्न संग्रह[५] श्लोकवार्त्तिक का ग्रहण किया है।

दृष्टे सामनि जाते चाप्यण् डिद्वित् वा विधीयते।
तीयादीकग्नविद्याया गोत्रादङ्कवदिष्यते॥

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक में अण् को डिद्वत् विधान किया गया है। सामवेद के दृष्टार्थ में विद्यमान होने पर अण् को डित् माना गया है। यथा ओशनम् उदाहरण में उशनसा दृष्टं साम। इस विग्रह में डित् होने के कारण टि का लोप किया गया है।[६] जातार्थ[७] में विद्यमान रहने पर अण् प्रत्यय विकल्प से डित् होता है। जबकि अण् प्रत्यय विहित[८] होने पर उसका बाध[९] होने के पश्चात् पुनर्विधान किया गया है।[१०] अण् प्रत्यय का अधिकार करने पर ठञ् प्रत्यय के द्वारा उसका बाध होता है तथा पुनर्विधान किया जाता है। यथा शातभिषः उदाहरण में शतभिषजिजातः इस अर्थ में पुनर्विहित अण् में डित् है अतः डित् होने के कारण टि[११] का लोप विकल्प से होकर शातभिषः रूप सिद्ध होता है।

---

१ अ.सू., ४.४.२
२ न केवलमग्ने साऽस्यदेवता इत्यस्मिन्नेवार्थे ढक् अपितु सर्वेषु प्राग्दीव्यतीयेष्वित्यर्थः। –हर.पद.का.वृ. भाग ३, पृ.५१४
३ तत्र भवः। –अ.सू., ४.३.५३
४ कालेयम् means the same veda seen by Kali. Vasu.S.C. Aśṭā.Vol.I, Page.699.
५ दृष्टे सामनीति संग्रहः गतार्थः। –जिने.न्यास का.वृ. ३, पृ.५१५
६ टेः। –अ.सू., ६.४.१४३
७ Ibid.
८ प्राग्दीव्यतोऽण्। –अ.सू., ४.१.८३
९ कालाट्ठञ्। –वही, ४.३.११
१० सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्। –वही, ४.३.१६
११ टेः। –वही, ६.४.१४३

तीय प्रत्यय का विधान द्वि[१] तथा त्रि[२] शब्दों से होता है। तीयन्त शब्दों के स्वार्थ[३] में ईकक् प्रत्यय का विधान किया जाना चाहिये यथा द्वैतीयीकम् अथवा द्वितीयकम् तथा तर्तीयीकम् अथवा तृतीयकम्। परन्तु विद्याअर्थ की अभिव्यक्ति होने पर ईकक् प्रत्यय नहीं होता।[४] अतः द्वितीया विद्या तृतीया विद्या आदि उदाहरणों में ईकक् प्रत्यय नहीं हुआ। जिस प्रकार तस्याङ्क इस अर्थ के विवक्षित होने पर गोत्र से प्रत्यय होता है उसी प्रकार 'तेन दृष्ट प्रत्यय सर्वातिदिष्ट होता है अंक का आहनन करके विहित नहीं होता उसी प्रकार अष्ट प्रत्यय का अतिदेश वुञ्[५] प्रत्यय के द्वारा होता है।[६] यथा 'औपगवकम्' उदाहरण में औपगव के द्वारा दृष्ट साम इस अर्थ में औपगव सिद्ध होता है। वुञ् प्रत्यय गोत्र अथवा चरण अर्थाभिधायक पद से सिद्ध है। अतः औपगवकम् रूप सिद्ध होता है।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि वार्त्तिकों में व्याख्यात विषय को ही श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा प्रतिपादित किया है। अतः इस श्लोकवार्त्तिक को संग्रहात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है।

पंचम अध्याय — 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः'[७]

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने द्वयसज् दघ्नच् तथा मातृच् प्रत्ययों का विधान किया है। सूत्र में पूर्व सूत्र 'तदस्य स जातं तारकादिभ्यः इतच्'[८] सूत्र से 'तदस्य' की अनुवृत्ति आती है। तद् प्रथमा समर्थ में 'अस्य' इस षष्ठ्यर्थ में द्वयसजादि प्रत्ययों का विधान यह विधि सूत्र करता है।

प्रस्तुत सूत्र पर भाष्यकार ने 'प्रमाणे पद के विषय में शंका की उद्‌भावना की है कि क्या प्रमाण प्रत्ययार्थ है ? इस शंका का समाधान निम्न संग्रह श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा किया है—

---

१ द्वेस्तीयः। – वही, ५.२.५४
२ त्रेः सम्प्रसारणञ्च। – वही, ५.२.५५
३ अर्थानिर्देशात् स्वार्थ एवेति ज्ञेयम्। – कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ४०९
४ विद्याशब्दादीककोऽप्राप्तेराह विद्यावाचिन इति। – नागेश उद्योत व्या. म. २, पृ. ४०९
५ गोत्रचरणाद् वुञ्। – अ. सू., ४.३.१२६
६ अङ्के यो दृष्टः प्रत्ययः स सर्वोऽतिदिश्यते न त्वङ्क एवाहत्य विहितः तेन वुञोऽतिदेशः। – हर. पद. का. वृ. ३, पृ. ५१४
७ अ. सू., ५.२.३७
८ वही, ५.२.३६

प्रमाणं प्रत्ययार्थो न, तद्वति अस्येति वर्त्तनात्।
प्रथमश्च द्वितीयश्च, ऊर्ध्वमाने मतौ मम॥
प्रमाणे लः द्विगोर्नित्य, ड्ट् स्तोमे शच्शनोडिर्निः।
प्रमाणं परिमाणाभ्यां सङ्ख्यायाश्चापि संशये॥

सूत्र की वृत्ति में वृत्तिकार ने 'यत्तत्प्रथमा समर्थ प्रमाणं चेत्भवति' कहा है जो प्रमाण का प्रकृत्यर्थ विशेषणत्व द्योतित करता है। सूत्र में प्रमाणे शब्द सप्तमी निर्दिष्ट[1] है अतः प्रकृत्यर्थ तथा प्रत्ययार्थ दोनों के सम्भव होने के कारण प्रश्न होता है प्रमाण को श्लोकवार्त्तिककार ने प्रकृत्यर्थ स्वीकार किया है।[2] यदि प्रमाण को प्रत्ययार्थ का विशेषण माना जाये तो 'तदस्य' की अनुवृत्ति होने के कारण प्रमाण निर्दिष्ट होता है। अतः प्रमाण को प्रमेय की अपेक्षा होने के कारण प्रमेय प्रकृत्यर्थ होगा क्योंकि प्रकृत्यर्थ के विशेषण होने पर प्रमेय प्रत्ययार्थ होता है।[3] अतः अनियत प्रमेय का विषय होने के कारण प्रमाणों के एक प्रमेय से विशेषण से दुःसम्बन्ध होने के कारण नियत प्रमाण का प्रतिपादन करने के लिए उरूमात्रादि शब्द लोक में प्रयुक्त हैं, तथा साधु अन्वाख्यात हैं।

सूत्रोक्त द्वयसज्ँतथा दघ्नच् प्रत्यय ऊर्ध्वमान है ऊर्ध्वादिगवस्थित जिसके द्वारा मापा जाता है। वह उर्ध्वमान है।[4] द्वंयसज् तथा दघ्नच् प्रत्ययों के लिये प्रयुक्त प्रमाण शब्द के विषय में तीन विभिन्न मत प्राप्त हैं। (१) सूत्र में आयाममान ही प्रमाण गृहीत है। तिर्यङ्मान ही आयाममान है। ऊर्ध्वमान की अप्राप्ति होने पर द्वयसज् तथा दघ्नच् प्रत्ययों को प्रमाण से पृथक करके यहां विधान किया गया है।[5] (२) ऊर्ध्ववस्थित जिसके द्वारा आयाम परिच्छिय है वह भी आयाममान होने के

---

१ अतिशायने तमबित्यादौ प्रकृत्यर्थत्वं, कर्त्तरि कृदित्यादौ प्रत्ययार्थत्वम्। –नागेश, उद्योत, व्या. म. २, पृ. ५५९

२ अ. सू., ५.२.३७ पर उद्धत निम्न श्लोकवार्त्तिक –
प्रमाणं प्रत्ययार्थो न, तद्धति अस्येति वर्त्तनात्।
प्रथमश्च द्वितीयश्च, ऊर्ध्वमाने मतौ मम॥

३ नागेश, उद्योत, व्या. म. २, पृ. ५५९

४ ऊर्ध्वदिगवस्थितं परिच्छेदकमुन्मानमुच्यते। –कैयट, प्रदीप, व्या. म. २, पृ. ४९९

५ केचिदाहुः– आयाममानमेव प्रमाणं सूत्रे गृह्यते। – हर. पद. का. वृ. भाग ४, पृ. १५२

कारण सूत्र में गहीत है ।[१] (३) परिच्छेदकमात्र प्रमाण ही सूत्र में गृहीत हैं ।[२] यदि सूत्रस्थ प्रमाण पद आयाममानवाची हैं तो उन्मान और परिमाण की अप्राप्ति होने से मात्रच् का विधान होता है और यदि परिच्छेदक मात्र प्रमाण का ग्रहण किया जाये तो प्रमाण में उन्मान में सामान्य रूप से सर्वत्र मात्रच् होता है अतः "यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्"[३] सूत्र में गृहीत परिमाण शब्द चरितार्थ है, इस सूत्र में ऊर्ध्वमान अर्थ में मात्रच् भी होता है ।

द्वितीय श्लोकवार्त्तिक में गृहीत प्रमाण शब्द को केवल परिच्छेदक मात्र ग्रहण करने पर उरूद्वयसम् आदि प्रयोग अनुपपन्न होने लगेंगे अतः लोक में प्रसिद्ध दिष्टि, हस्तादि प्रमाण शब्दों से परे मात्रच् प्रत्यय का लोप[४] होता है । द्वयसज् दघ्नच् प्रत्ययों के ऊर्ध्वमानार्थक होने के कारण दोनों की उत्पत्ति नहीं होती । 'प्रमाणे लोप वक्तव्यः' वार्त्तिक से द्विगु के अप्रमाण होने के कारण तदन्त विधि के अभाव में लोप प्राप्त नहीं होता अतः द्विगु समास से नित्य रूप से लुग् विधान किया गया है ।[५]

प्रमाण में वर्त्तमान अस्य अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय का लोप 'प्रमाणे लः' वार्त्तिक के द्वारा होता है । द्विगु[६] से परे सर्वत्र अस्य अर्थ में संशय में उत्पन्न प्रत्यय का लोप होता है ।[७] परत्व के कारण लुक् बाधक है संशय में मात्रच् प्रत्यय भी असंगत है क्योंकि एक साथ प्राप्ति नहीं होती । नित्य का ग्रहण सर्वत्र का ग्रहण कराने के लिये है ।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक में नित्य ग्रहण का विशिष्टप्रयोजन है क्योंकि न तो विकल्प से लुग्विधि की प्राप्ति थी जिसकी निवृत्ति के लिये नित्य ग्रहण हैं तथा पूर्व

---

१ केचिदाहुः – आयाममानमेव प्रमाणं सूत्रे गृह्यते । – हर.पद.का.वृ. भाग ४,पृ.१५२
२ परिच्छेदकमात्रं प्रमाणमिह गृह्यते । –वही, पृ.१५२
३ अ.सू.,५.२.३८
४ लुकश्चायं पूर्वाचार्य विहिता संज्ञा । –जिने.न्यास का.वृ. भाग ४,पृ.१५२
५ द्विगोरप्रमाणत्वात्तदन्तविध्यभावाच्च पूर्वेणाप्राप्तो लुग्विधीयते । –हर.पद.का.वृ. भाग ४,पृ.१५३
६ यथा - द्विशमम् – उदाहरण में द्वौ शमौ प्रमाणमस्य स्यान्न वा द्विशमम् ।
७ अस्य तु द्विगोः परस्य नित्यं सर्वत्रास्येत्यर्थे संशये चोत्पन्नस्य लुगित्यर्थः । –नागेश, उद्योत, व्या.म.४ (गुरूकुल झज्झर संस्करण) पृ.११७

विधि[१] के द्वारा वैकल्पिक लुग्विधि की प्राप्ति भी नहीं है।[२] नित्य ग्रहण का प्रयोजन भाष्यकार ने संशये श्राविणं वक्ष्यति कथन से सिद्ध किया है। श्राविणं पद में घञ्[३] प्रत्यय विहित है। श्रावोऽस्याऽस्तीति श्रावी पद से 'प्रमाण परिमाणाभ्यां सङ्ख्यायाश्चापि संशये वार्त्तिककार के इस कथन से वक्ष्यमाण मात्रच् प्रत्यय का 'प्रमाणे लः' वार्त्तिक से लोप प्राप्त नहीं होता। द्विगु समास में भी इसका श्रवण प्राप्त होने पर लुग् का विधान किया जाता है। प्रकरणादि के आधार पर ही निश्चय, संशय के प्रयोग का निश्चय होता है।[४] वार्त्तिककार ने 'डट् स्तोमो वक्तव्य, वार्त्तिक से आयाम की स्थिति सम्भव न होने के कारण परिच्छेदकोपाधिक संख्या से स्तोम के अभिधेय होने पर डट् प्रत्यय का विधान किया गया है।[५] डित्करण ति[६] लोप तथा टि लोप के लिये है। स्तोम के साहचर्य से रात्र्यादि में स्त्रीत्व वृत्ति होती है टित् होने के कारण ङीप्[७] विधान होता है। 'तदस्य परिमाणम्'[८] अर्थ में स्तोम परे रहते ड प्रत्यय होता है। प्रयोग होने पर टाप् की प्रसक्ति होती है तथा प्रयोग न होने पर ङीप् प्रत्यय ही होता है। आचार्य पाणिनि ने शन् और शत् से परे डिनि प्रत्यय का विधान किया है। यह छान्दस प्रत्यय है। डिनि प्रत्यय का प्रयोग तैत्तिरीय संहिता[९] में तथा गोपथ ब्राह्मण[१०] में उपलब्ध होता है उत्तरकालीन संहिताओं[११] में षोडशिन् स्तोम कहा गया है।

---

१ 'प्रमाणे ल' वार्त्तिक से।
२ न च पूर्वस्य विधेर्विकल्पने प्रवृत्तिं ज्ञापयितुमाह नित्यग्रहणं कर्त्तुमयुक्तम्। – जिने. न्यास का. वृ. भाग ४, पृ. १५३
३ कृत्य ल्युटो बहुलम्। – अ. सू., ३.३.११३.
४ कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ५५९
५ हर. पद. का. वृ. भाग ४, पृ. १५३
६ तिर्विंशतेर्डिति। – अ. सू., ६.४.१४२
७ टिड्ढाऽण् द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः। अ. सू., ४.१.१५.
८ तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्यः इतच्। – वही, ५.२.३६ से तदस्य की अनुवृत्ति आने पर।
९ यथा पूर्वमहोरात्रे पञ्चदशिनोऽर्धमात्रास्त्रिंशिनो मासाः क्लृप्ता ऋतवः शान्तः संवत्सरः। – तै. सं. ७.५.२०.१ Limye, V.P. - Crit. Stu. on MB. p.367.
१० विंशिनोऽङ्गिरसः ऋषीन् निरमिमीत। – गो. ब्रा. १.१.८ वही
११ तत् षोडशिनः षोडशित्वम्। यत् षोडशी गृह्यते इन्द्रियमेव तत् वीर्यं यजमानं आत्मन् धत्ते। – तै. सं. ६.६.११.१ Limye V.P. Crit. Stu. on MB. page.367.

प्रमाण और परिमाण तथा संख्या से संशय उपस्थित होने पर मात्रच् का अभिधान किया गया है। प्रमाण और परिमाण उन्मान से भिन्न है।[१] अतः मात्रच् प्रत्यय 'प्रमाणमस्य स्यान्न वा' अथवा परिमाणमस्य स्यान्न वा इन अर्थों में आता है। संख्या से भी संशयमानार्थवाची शब्दों से स्वार्थ में मात्रच प्रत्यय होता है। यथा पञ्चस्युर्नवा इति पञ्चमात्रः। वृत्ति के विषय में 'द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने'[२] सूत्र के समान संख्यामात्रवाची[३] से षष्ठयर्थ में मात्रच् प्रत्यय होता है। यथा पञ्चत्व संख्या प्रमाणमेषां स्यान्न वेति पञ्चमात्रः प्रयोग में।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के आध्ययन से स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने कहीं-कहीं वाक्यवार्त्तिकों को ही छन्दोबद्ध करके संग्रह श्लोकवार्त्तिक के रूप में उद्धृत किया है। सूत्रोक्त पदों की विवेचना में ये श्लोकवार्त्तिक सहायक है। व्याख्या के साथ-साथ सूत्रोक्त पदों का प्रयोजन भी श्लोकवार्त्तिकों में स्पष्ट किया गया है। मात्रच प्रत्यय के विधानार्थ स्पष्टीकरण श्लोकवार्त्तिकों में प्रस्तुत है। अतः सूत्र का स्पष्टीकरण करने में संग्रह श्लोकवार्त्तिक सहायक प्रतीत होते हैं।

(२) अतिशायने तमबिष्ठनौ[४] — प्रस्तुत सूत्र विधि सूत्र है जिसके द्वारा आचार्य पाणिनि ने अतिशायन विशिष्टार्थ में विद्यमान प्रातिपदिक से स्वार्थ[५] में तमप् और इष्ठन् प्रत्यय का विधान किया है।[६] सूत्रोक्त अतिशायन पद अति उपसर्गपूर्वक शीङ् धातु से प्रकर्षार्थ में निष्पन्न है। भाव तथा कर्त्र्यर्थ में बहुलता से ल्युट् विधान होने के कारण अतिशायन पद में दीर्घत्व निपातन से हुआ है। दीर्घत्व न होने पर भी उपयुक्त अर्थ की प्राप्ति होती है।[७] अतिशय अर्थ में विद्यमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में तमप् व इष्ठन् प्रत्यय होने पर अतिशायन पद सिद्ध होता

---

१ **ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः।**
आयामस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या बाह्यातु सर्वतः।
–श्लो. वा. अ. सू., ५.१.१९

२ अ. सू., १.४.२२.

३ पञ्चत्वं संख्या प्रमाणमेषां स्यान्न वेति पञ्चमात्रः।

४ अ. सू., ५.३.५५

५ The Svārthik affixes sometimes qulalify the sense of the primitive. Vasu, S.C. Aśṭā. of Pāṇini, Vol.2, p.961.

६ का. वृ., ५.३.५५ भाग ४, पृ. २७२

७ अतिशयनमित्यपिऽदीर्घोऽपि प्रसज्यते। –श्रीकृष्ण प्रप्र. कौ. भाग २, पृ. ३८७

है। अतिशायन पद प्रकृत्यर्थ विशेषण है। भाष्यकार का मत है कि अतिशायन पद में प्रकृति का अर्थ प्रधान है प्रत्यय का नहीं। इस मत की पुष्टि के लिये व्याख्यान भाष्य में प्रतिपादित मत की विवेचना निम्न श्लोकवार्त्तिकों में की गई है—

शेत्यर्थः कारितार्थो वा निर्देशोऽयं समीक्षितः।
शेत्यर्थे नास्ति वक्तव्यं कारितार्थं ब्रवीमि ते॥
गुणी वा गुणसंयोगाद् गुणो वा गुणिना यदि।
अभिव्यज्येत संयोगात्कारितार्थे भविष्यति॥

अतिशयार्थ में विद्यमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में तमप् व इष्ठन् प्रत्यय वहित है यदि अतिशायन शब्द में भावार्थ में उक्त ल्युट् प्रत्यय ग्रहण किया जाये त प्रत्ययार्थ की प्रधानता में आपत्ति होने पर तरबन्त अन्य पदों से भी अतिशायन का बोध होगा तथा न ही स्त्रीत्व व पुंस्त्व का बोध हो सकेगा।[१] अतः अन्य किसी प्रत्ययार्थ का निर्देश न होने के कारण प्रत्ययार्थ विशेषण ग्रहण नहीं किया जा सकता है। अतिशायन विशिष्ट प्रातिपदिक से प्रत्यय विधान होने के कारण प्रकृति विशेषण भी नहीं माना जा सकता। प्रत्यय के द्वारा द्योत्य अतिशायन पद प्रकृत्यभिहित प्रधानार्थ का विशेषण है।[२] अर्थाभिधान में समर्थ गुणभूत शब्द का विशेषण नहीं है। केवल गुणभिन्न होने पर ही प्रकर्ष से योग स्वीकार्य है।[३] प्रकर्ष का योग द्रव्यवाचक प्रकृति से है द्रव्य से नहीं।[४] शब्दाभिधान के कारण तथा अभिधान के अभिधेय होने के कारण गुणभाव होने के कारण शब्द का प्रकर्षापकर्ष नहीं होता। शुक्लादि द्रव्य समवेत हैं स्वयं प्रकृष्ट हैं तथा द्रव्य को प्रकृष्ट करते हैं शब्द द्रव्य समवेत नहीं है अतः द्रव्य का प्रकर्ष करने में समर्थ नहीं है[५] क्योंकि जिस वस्तु का स्वतंत्राभिधान होता है उसका प्रकर्ष नहीं होता।[६] आश्रिताभिधेय धर्म गुण होता

---

१ नत्वतिशयित शुक्ल इति तथा च शुक्लतरेति पुंस्त्वं स्त्रीत्व च न स्यात्। –बाल. सिं. कौ., पृ. ८८९

२ हर. पद. का. वृ. भाग ४, पृ. २७२

३ यदा तु तस्य गुणभावो नास्ति तथा भवत्येव प्रकर्षयोग। –कैयट, प्रदीप व्या. म. २, पृ. ६१३

४ प्रकर्षश्च यस्य गुणस्य बाधाद् द्रव्ये शब्दनिवेशः प्रत्यासत्तेस्तस्यैवाश्रीयते। –श्रीकृष्ण प्र. – प्र. कौ. भाग २, पृ. ३८७

५ प्र. टीका - प्र. कौ. भाग २, पृ. ३८७

६ कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ६१३

है। वह शब्द प्रवृत्ति का निमित्त बनता है। पट का शुक्ल गुण न तो शुक्ल न ही अशुक्ल व्यपदेश में हेतु है इसी प्रकार स्वगत प्रकर्ष के द्वारा स्वतः अपकृष्ट द्रव्य का प्रकृष्टव्यपदेश हेतु होता है।[1]

प्रकृत्यर्थ विशेषण स्वीकार करने पर उसके द्वारा प्रकृष्यमाणार्थवाची सुबन्त से यह विधि स्वार्थ में विहित है। जाति और द्रव्य में स्वतः प्रकर्षाभाव होने के कारण प्रवृत्तिनिमित्तभूत पटुत्व का प्रकर्ष है। परन्तु आढ्यत्व (आढ्यतया पटुः) में आढ्यत्व बहिरङ्ग है अतः सहचरित गुण के बहिरंग न होने के कारण प्रकृष्ट द्रव्य का प्रकर्ष प्रवृत्तिनिमित्त जाति सहचरित लोकप्रसिद्ध गुण प्रकर्षाश्रय पर आश्रित है।[2]

कुछ आचार्य गुण समुदाय में शब्द प्रवृत्ति को स्वीकार करते हैं तथा शब्दार्थान्तर्भूत गुण का प्रकर्ष मानते हैं।[3] गुण का ग्रहण होने पर समान गुण का ग्रहण किया जाना चाहिये। जिससे कि कृष्ण से शुक्लतर अभिव्यक्ति न हो[4] परन्तु यदि गुण ग्रहण किया जायेगा तो गुण ग्रहण होने पर भी साधनप्रकर्षाश्रय में प्रत्यय विधान नहीं होता। अतः स्वार्थिक प्रत्यय विधान हो इसी कारण क्रिया ग्रहण किया जाना चाहिये। समान गुण ग्रहण करने पर ही स्पर्धा होती है। यथा कृष्ण के प्रतियोगी विवक्षित होने पर शुक्ल शब्द से प्रत्यय नहीं होता। स्पर्धा हेतु गुण का शब्द के द्वारा आश्रय नहीं होता। शब्दाश्रित स्पर्धा हेतु प्रकर्ष में प्रत्यय का विधान होता है।[5]

शुक्लतर पद का अभिधान करने पर शब्द प्रवृत्ति निमित्त प्रत्यासन्न शुक्लगुणान्तर है तथा द्रव्यान्तरीय शुक्लगुणापेक्ष प्रकर्षयुक्त शुक्लगुण के समान

---

१ द्रव्यस्याव्यपदेश्यस्य य उपादीयते गुणः। भेदको व्यपदेशाय तत्प्रकर्षोऽभिधीयते॥ भर्तृ. वा. प. काण्ड पृ.

२ शुक्लादयो द्रव्य समवेताः स्वयं प्रकृष्टाः द्रव्यप्रकर्षहेतवो भवन्तीति युक्तस्तत्र गुणप्रकर्षाश्रयः। –कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ६१३

३ केचित्तु गुणसमुदाये शब्दप्रवृत्ति मन्यमानाः शब्दार्थान्तर्भूतस्यैवायं गुणस्य प्रकर्ष इत्याहुः। –कैयट प्रदीप. व्या. म. २, पृ. ६१५

४ कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ६१४

५ आढ्याभिरूपयोराढ्यः श्रेयानिति। –वही, पृ. ६१५

शुक्ल गुण के निमित्त का बोध होता है।[१] शुक्ल गुण के एकत्व तथा नानात्व दोनों में ही भाष्यकार ने दोषों की उद्भावना की है। प्रथमतः एकत्व स्वीकार करने पर प्रकर्ष उत्पन्न नहीं होता। द्वितीयतः नानात्व स्वीकार करने पर, यथा शौकल्य का शौकल्यान्तरापेक्ष प्रकर्ष है उसी प्रकार कृष्णाद्यपेक्ष भी है तदपेक्षित प्रकर्ष में प्रत्ययनिवृत्ति के लिये समान गुण का ग्रहण करना चाहिये।[२] गुणान्तर कृष्णादि के द्वारा प्रच्छादित होने के कारण अपकर्ष होता है। औज्ज्वल्यादिगुणान्तराच्छादित का प्रकर्ष होता है।[३] भेद होने पर भी सजातीयभिन्नापेक्ष ही प्रकर्ष है न कि भिन्नजातीयापेक्ष। शुक्लादि से तरबुत्पत्ति प्रकर्ष का निमित्त है।[४]

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों में अतिशायन पद प्रकृत्यर्थ है, अथवा प्रत्ययार्थ है इसका विवेचन किया गया है। अतिशायन पद में प्रकर्ष आधिक्यार्थ का अभिधायक नहीं है अपितु अभिभवार्थ का कथन करता है।[५] अति शब्द अभिभवार्थ का ही द्योतक है।[६] परन्तु यह शंका व्यर्थ प्रतीत होती है कि प्रस्तुत सूत्र प्रकर्षे तमबिष्ठनौ पढ़ा जाना चाहिये था।[७] अतिशायन पद भावसाधन, प्रकृत्यर्थ विशेषण तथा स्वार्थिक प्रत्यय है।[८] प्रकृति से ही लिंग तथा वचन सिद्ध होते हैं। यदि कर्तृसाधन स्वीकार किया जाता है तो प्रकृत्यर्थ होने पर केवल अतिशायन, अतिशायिक,[९] अतिशायितृ प्रभृति का ही बोध होगा अन्यों का नहीं। यदि प्रत्ययार्थ स्वीकार किया

---

१ शब्दप्रवृत्तिनिभित्तभूतमतएव प्रत्यासन्नं यच्छुक्लगुणान्तरं द्रव्यान्तरीय शुक्लगुणस्तदपेक्षः प्रकर्षो यस्य तादृशो यः शुक्लगुणस्तन्निमित्तः। – नागेश, उद्योत व्या. म. भाग २, पृ. ६१६

२ गुणभेदवादी तु भेदनिबन्धनं प्रकर्ष सर्वत्रेच्छतीति तेनैव समानगुणग्रहणं कर्त्तव्यम्। – कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ६१७

३ नागेश, उद्योत, व्या. म. २, पृ. ६१७

४ स च प्रकर्षः सजातीयापेक्ष एव न तु विजातीय कृष्णाद्यपेक्ष इति भावः। – वही, पृ. ६१७

५ पूर्वान् महाभागतयाऽतिशेषे इति प्रयोग दर्शनात्। – तत्व. सि. कौ., पृ. ३६६

६ अनेकार्थत्वाद्धातूनां शेतेऽभिभवे, अतिशब्दस्तु द्योतकस्तस्यैवार्थस्य। – कैयट, प्रदीप व्या. म. २, पृ. ६१२

७ न चैव प्रकर्षे तमबिष्ठनौ इत्येव कुतो न सूत्रितमिति शङ्क्यम्। – तत्व. सि. कौ., पृ. ३६६

८ हर. पद. का. वृ. भाग ४, पृ. २७२

९ अध्यात्मादिभ्यश्च। – अ. सू.,

जाता है तो सामर्थ्य द्वारा प्राप्त समर्थ विभक्ति स्वीकार करनी पड़ेगी ।[१] तिङन्त के द्वारा विग्रह किये जाने पर द्वितीया, कृदन्त के द्वारा विग्रह होने पर षष्ठी प्राप्त होती है । षष्ठी विभक्ति के विषय में सन्देह उत्पन्न होता है कि षष्ठी कर्ता में है अथवा कर्म में है । विषय में सन्देह उत्पन्न होता है कि षष्ठी कर्ता में है अथवा कर्म में है । ल्युट् कर्त्र्यर्थ है अथवा करण में विहित है । यदि करणसाधन मानते हैं तो वहां भी प्रकृत्यर्थ जिस गुण के द्वारा ही शुक्ल शुक्लान्तर का आच्छादक है ।[२] प्रत्ययार्थत्व होने पर शुक्ल शब्द से गुण में प्रत्यय विधान होता है । गुणी सामानाधिकरण्य नहीं होता । ण्यन्त अतिशय पद से कर्त्र्यर्थक ल्युट्[३] प्रत्यय स्वीकार करने पर भी समान दोष का उद्भव होता है । गुण गुणी के प्रयोजक होते हैं । अचेतन होने पर भी समर्थाचरण के कारण गुणों की गुणी के प्रति प्रयोजकता प्रामाणिक है ।[४] गुण व गुणी परस्पर प्रयोज्य प्रयोजक हैं ।[५]

अतः श्लोकवार्त्तिक में इसी प्रयोज्यप्रयोजक भाव के आधार पर भी शेत्यर्थ को स्पष्ट किया गया है । शेति अनेकार्थक है अतः जहां जिस अर्थ की अभिव्यक्ति है वही गृहीत होगा ।[६] जहां गुण का अभिधान होगा वहां करणार्थक ल्युट् मानेंगे तथा जहां क्रिया का अभिधान होगा वहां भावार्थक ल्युट् संगत है ।

कर्त्र्यर्थक ल्युट् होने पर प्राप्ताप्राप्त विवेक से अभिभव कर्तृत्व के द्योत्य होने के कारण तथा उसका विशेषण होने के कारण प्रकृत्यर्थ विशेषण[७] आतिशायन पद माना जा सकता है प्रत्ययार्थ तथा प्रकृत्यर्थ नहीं माना जा सकता ।[८] गुणों केप्रयोजक होने पर अभिभव प्रेरणा कत्रर्यर्थ गुण में प्रत्यय होगा । गुणी के प्रयोजक होने पर अभिभव प्रेरणा कत्रर्यर्थ में वर्तमान प्रत्यय होता है । शेति पद अभिभवार्थ में संगत

---

१ नागेश उद्योत व्या.म.२, पृ.६१८

२ शुक्लनिष्ठ स्वेतराभिभवकरणं शुक्लो गुण इत्यर्थः । –वही, पृ.६१८

३ कृत्यल्युटो बहुलम् । अ.सू., ३.३.११३

४ तत्समर्थाचरणलक्षणाश्चाचेतनानामपि प्रयोजक व्यापार इति प्रतिपादितम् । –कैयट प्रदीप व्या.म.२, पृ.६१९

५ पूर्व गुणानां प्रयोजकत्वमुक्तं पश्चात् गुणिनः । –वही, पृ.६२०

६ स्थानार्थ की अभिव्यक्ति होने पर– जलाशयः पद में ।

७ प्रकृत्यर्थ विशेषणं च स्वार्थिकानां द्योत्यं भवति । –हर.पद.का.वृ.४, पृ.२७२

८ अतिशायनशब्दश्च प्रकृत्यन्तो न साधितः स्यात् । –वही, पृ.२७२

प्रतीत नहीं होता अपितु अवस्थानार्थक शेति पद का ग्रहण यहां करना चाहिये क्योंकि गुण गुणी में अवस्थापित होते हैं।[१] तमप् और इष्ठन् प्रत्यय अतिशयनार्थ में प्रातिपदिक से स्वार्थ में होते हैं। इस विवेचन के पश्चात् भाष्यकार ने निम्न संग्रह[२] श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये है—

पूर्वेण स्पर्धमानोऽयं मध्यमो लभते सितः।
परस्मिन् न्यूनतामेति न च न्यूनः प्रवर्तते॥
अपेक्ष्य मध्यमः पूर्वमाधिक्य लभते सितः।
परस्मिन्न्यूनतामेति यथाऽमात्य स्थिते नृपे॥
अस्तु वाऽपि तरप्तस्मान्नापशब्दो भविष्यति।
वाचकश्चेत् प्रयोक्तव्यो, वाचकश्चेत्प्रयुज्यताम्॥

भाष्यकार का मत है प्रकर्ष प्रत्यय तरप् तमप् इष्ठानादि के विहित होने पर अन्य प्रकर्ष प्रत्यय नहीं होता क्योंकि एक प्रत्यय से ही प्रकर्ष का द्योतन हो जाता है।[३] इसका अभिप्राय यह है कि प्रथम प्रकर्ष में अति शायनिक प्रत्यय विहित होने पर उसके ही द्योतक होने पर पुनः तरप् तमप् का विधान नहीं किया जाता[४] परन्तु कुछ प्रयोगों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि एक प्रकर्ष प्रत्यय के पश्चात् द्वितीय प्रकर्ष प्रत्यय भी लगता है यथा श्रेष्ठतमाय[५] पद में। यह छान्दस प्रयोग है अतः लौकिक संस्कृत में असाधु माना जाता है।[६] यह कहा जा सकता है कि वैदिक संस्कृत में अनेक[७] प्रयोग ऐसे प्राप्त होते हैं जिनमें प्रकर्ष प्रत्ययान्त से अन्य प्रकर्ष प्रत्यय का विधान किया गया है।

---

१ अतिशयेवैशिष्ट्येन गुणावस्थापनकर्तरि गुणिनि वर्तमानात्प्रातिपदिकाप्रत्ययः स्वार्थे इत्यर्थः। –कैयट प्रदीप व्या.म.२,पृ.६२०

२ पूर्वोक्तार्थसंङ्ग्रह श्लोका। –वही,पृ.६२१

३ एकेनैव प्रकर्षस्य द्योतितत्वात्। –कैयट प्रदीप व्या.म.२,पृ.६२१

४ जिने.न्यास का.वृ. भाग ४,पृ.२७३

५ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे। T.S. 1.1.1. Limye V.P. Crit. Stu. on MB. Page. 391.

६ श्रेष्ठतमाय इति तु छान्दसम् लोके त्वसाधुरेवेति निष्कर्षः। –नागेश,उद्योत,व्या.म.२, पृ.६२१

७ युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणामिति। **Ibid**

लोक में तरबादि प्रत्ययान्त से अतिशयार्थ में तरबादि का विधान अनिष्ट माना गया है ।[१] यथा तीन शुक्ल वस्त्रों में से प्रथम से द्वितीय कुछ प्रकृष्ट होता है तथा तृतीय अत्यन्त प्रकृष्ट होता है । मध्यमवाची शुक्ल से अन्त्य शुक्ल का अभिधान होने पर प्रत्यय होता है । मध्यम शुक्ल पूर्व की अपेक्षा शुक्लतर तथा तृतीय शुक्ल की अपेक्षा कम शुक्लवाची प्रत्यय विहित होना चाहिये ।[२] प्रथम अतद्धितान्त शुक्ल शब्द ही तृतीय शुक्ल का अभिधान होने पर प्रत्यय की उत्पत्ति करता है । एक ही तरप् प्रत्यय के द्वारा आद्य और मध्यम शुक्ल की अपेक्षा तृतीय शुक्ल शब्द प्रकर्ष का प्रतिपादन करता है अतः तरप् विहित होगा तो भी लुक् हो जायेगा ।[३]

शुक्लतरतर शब्द का प्रयोग न होने के कारण उसमें वाचकता भी नहीं रहेगी ।[४] यदि तीनों शुक्ल वस्त्रों में से एक ही प्रकृष्टता का कथन करना है तो तमप् प्रत्यय के द्वारा उसका अभिधान हो सकता है । तृतीय की उपस्थिति में द्वितीय का उत्कृष्टत्व कुछ न्यून होता है जिस प्रकार कि राजा की उपस्थिति में अमात्य की उत्कृष्टता न्यून रहती है ।[५] अतः द्वितीय शुक्लतर से पद से भी तरप् विहित नहीं हो सकता । लोक में बोधकता होने पर ही शब्द का प्रयोग करना चाहिये अन्यथा नहीं ।[६]

इस प्रकार उद्धृत श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से भाष्यकार ने अतिशायन पद में अति + शीङ् पद में प्रत्ययार्थ तथा प्रकृत्यर्थ की विशिष्टता को स्वीकार नहीं किया अपितु इसे प्रकृत्यर्थ विशेषण माना है । श्लोकवार्त्तिकों में प्रसंगवश उन्होंने अतिशायनः पद को पूर्ण रूप से स्पष्ट किया है ।

लौकिक संस्कृत भाषा में प्रयुक्त शब्दों की साधुता शिष्ट सम्मत ही स्वीकार की गई है । अतः श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भाष्यकार प्रसंगवश उपस्थित होने वाले पदों की व्याख्या भी करते हैं । छान्दस

---

१ नागेश उद्योत व्या.म.२,पृ.६२१

२ वस्तुतः उभाभ्यामप्युत्पत्तिसिद्धाविदं वचनं नियमार्थं शुक्लशब्दादेव न शुक्लतरादिति वक्तुम् युक्तम् । –वही,पृ.६२१

३ कैयट प्रदीप व्या.म.२,पृ.६२१

४ शुक्लतरतर शब्दस्य प्रयोगाभावादवाचकत्वम् । –वही,पृ.६२१

५ हर.पद.का.वृ.भाग ४,पृ.२७३

६ नागेश,उद्योत व्या.म.भाग २,पृ.६२१

प्रयोगों व लौकिक प्रयोगों का अन्तर भी श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है।

षष्ठ अध्याय (१) इको यणचि[१]

प्रस्तुत सूत्र विधि सूत्र है। सूत्र के द्वारा आचार्य पाणिनि ने इक् के स्थान पर यणादेश का विधान किया है संहिता के विषय में अच् परे रहने पर। यण् असवर्ण अच् का ग्रहण करता है क्योंकि सवर्णदीर्घ विधायक सूत्र[२] में सवर्ण का ग्रहण किया गया है।[३] प्रत्याहारों के समान यण् में भी वाच्य वाच्ये निरूढ़ लक्षणा स्वीकार की जाती है क्योंकि भाष्यमान् अण् सवर्ण ग्राहक नहीं होता। यण् के द्वारा वाच्य यकारादि वाच्यों का भी अभाव रहता है। अतः यण् विधायक सूत्र के विषय में यथासंख्य[४] व्यवस्था उपयुक्त प्रतीत नहीं होती जबकि न्यासकार ने यहां यथासांख्य स्वीकार किया है।[५] सिद्धान्तकौमुदी की पहले वाक्य वार्त्तिकों के रूप में व्याख्या करके पश्चात् छन्दोबद्ध रूप में उद्धृत किया है—

जश्त्वं न सिद्धं यणमत्रपश्य, यश्चापदान्तो हलचश्चपूर्वः।
दीर्घस्य यण् ह्रस्वइति प्रवृत्तं, सम्बन्धवृत्या गुणवृद्धि बाध्यम्॥
नित्ये च यः शाकलभाक् समासे, तदर्थमेतद्भगवांश्चकार।
सामर्थ्ययोगान्निह किंचिदस्मिन्, पश्यामिशास्त्रे यदनर्थकं स्यात्॥

भाष्यकार ने इग्ग्रहण का प्रयोजन 'इक् से ही यण् का विधान हो व्यंजन से न हो' यह माना है परन्तु यहां जश्त्व[६] अथवा कुत्व का विधान होना है वहां जश्त्व पर होने के कारण असिद्ध[७] हो जायेगा। यण् तथा जश्त्व दोनों ही अनित्य हैं, अनित्य होने के कारण विप्रतिषेध होता है अतः यणादेश ही होता है।[८] यदि जश्त्व को

---

१ अ.सू., ६.१.७७
२ अकः सवर्णे दीर्घः। – अ.सू., ६.१.१०१
३ भाष्यमानस्याणः सवर्णाग्राहकत्वात्। – तत्व.सि.कौ., पृ.१५
४ यथासंख्यमनुदेशः समानाम्। – अ.सू., ६.१.१०१
५ इकां यणाञ्च साम्यात् यथासांख्य भवतीति वेदितव्यम्। – जिने. न्यास.का.वृ. भाग ४, पृ.५३६
६ झलां जशोऽन्ते। – अ.सू., ८.२.३९
७ पूर्वत्रासिद्धम्। – वही, ८.२.१
८ सिद्धासिद्धयोर्विप्रतिषेधाभावाद्यणादेशमेवात्र निष्पतिद्वन्द्विनं प्राप्तं पश्य। – कैयट प्रदीप व्या.म. २, पृ.७२५

असिद्ध मानकर यणादेश किया जायेगा तो अतिव्याप्ति दोष माना जायेगा। अर्थात् कुत्व, जश्त्व आदि का प्रसंग न होने पर भी यण् प्राप्ति होने लगेगी। यथा पदान्त में विहित जश्त्व अपदान्त हल् से भी अच् परे रहते यणादेश होने लगेगा। यथा पचति आदि उदाहरणों में। परन्तु इस अतिव्याप्ति दोष का निवारण हो जाता है यदि दीर्घ की अनुवृत्ति कर ली जाये तथा सप्तमी विभक्ति पंचमी विभक्ति के द्वारा षष्ठी विभक्ति की प्रकल्पना करेगी[१] अर्थात् अचि सप्तम्यन्त पद दीर्घात्[२] पञ्चमयन्त पद से 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य'[३] सूत्र की उपस्थिति करायेगा।

विकल्प तथा विधान पक्षों में से विधान पक्ष ही श्रेष्ठ है।[४] अतः छे[५] यह कृतार्थसप्तम्यन्त पद दीर्घात् इसे पञ्चम्यन्त पद की कल्पना करेगा परन्तु 'शाच्छा-साह्वाव्यावेपां युक्'[६] इस सूत्र के ज्ञापन से षष्ठी विभक्ति नहीं होती। षष्ठी विभक्ति की प्रकल्पना करने पर भी दीर्घ से यण् होने के कारण ह्रस्वान्त से यणादेश नहीं होगा।[७] अतः ह्रस्व की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी। यदि ह्रस्व की अनुवृत्ति की जायेगी तो ह्रस्व से भी वैकल्पिक विधान होगा यथा चयनम् लवनम् आदि उदाहरणों में भी यणादेश होगा परन्तु यहां अयादि आदेश बाधक होंगे। यदि दीर्घ से यणादेश मानते हैं तो गुण और वृद्धि बाधक होंगे यथा खट्वेन्द्रः मालेन्द्रः आदि उदाहरणों में। अतः ह्रस्व और दीर्घ से यण् विधान होने के कारण तथा प्लुत से प्रकृतिभाव अभीष्ट होने के कारण इग्ग्रहण हल् की व्यावृत्ति के लिये ही सूत्र में उक्त है।[८] अतः सूत्र में इग्ग्रहण का प्रयोजन इक् से परे अच् रहने पर यणादेश ही हो यह विधान करना है, अर्थात् शाकल और यणादेश के एक विषय होने के कारण तथा विकल्प की व्यवस्थित विभाषा के लिये है।[९]

---

१ अकृतार्था सप्तमी दीर्घात्त इति पञ्चभ्याः पूर्वत्र पौर्वापर्यकल्पने कृतार्थायाः षष्ठ्याः प्रकल्पिका इति भावः। – कैयट प्रदीप व्या. म. भाग २, पृ. ७२५

२ अ. सू., ६.१.७५

३ वही, १.१.६६

४ वैकल्पिकेष्वनुष्ठान पक्ष एव ज्यायानिति तात्पर्यम्। – वही

५ छे च। अ. सू., ६.१.७३

६ अ. सू., ७.३.३७

७ ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्। – अ. सू., ६.१.७१ छे च। अ. सू., ६.१.७३

८ प्लुतप्रगृह्याऽचि नित्यम्। – वही, ६.१.१२५.

९ कैयट प्रदीप, व्या. म. भाग २, पृ. ७२५

इस प्रकार सित् नित्य समास का शाकल द्वारा प्रतिपादित प्रतिषेध जो पूर्वाचार्यो द्वारा स्मृत किया जाता है इग्ग्रहण से सम्पादित किया जाता है ।[१] 'इको यणाचि'[२] इस सूत्र में दो योग उच्चरित हैं एक यणादेशार्थ तथा दूसरा प्लुतपूर्वक इक् से सवर्णदीर्घ[३] तथा प्रकृतिभाव[४] का प्रतिषेध करने के लिये है ।[५] यथा भो ३ इ इन्द्र इस उदाहरण में भी शब्द प्लुत[६] संज्ञक है इकार निपात[७] है तथा प्रगृह्य[८] संज्ञक है प्रकृतिभाव प्राप्त होने पर यण् का विधान होता है । प्लुत विधान पर 'तयोर्य्वावचि संहितायाम्'[९] इस सूत्र से यणादेश होने पर स्वरित[१०] का अभाव हो जाता है ।भो३यिन्द्रम् प्रयोग छान्दस है तथा वेद में सभी विधियां वैकल्पिक हैं ।[११] अतः प्रकृतिभाव तथा सवर्णदीर्घत्व के अभाव में यणादेश होगा । सूत्र में इग्ग्रहण के प्रयोजन स्पष्ट करते हुये श्लोकवार्त्तिककार ने स्पष्ट ही यह स्वीकार किया है कि व्याकरण शास्त्र में सूत्रार्थ व्यवस्थापन के कारण एक वर्ण भी निष्प्रयोजन प्रतीत नहीं होता ।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने अनेक सूत्रों की श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से ही व्याख्या की है । श्लोकवार्त्तिक सूत्रकार का समर्थन करता है पदकृत्य को श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा स्पष्ट किया गया है । उसका समर्थन भी किया गया है । यदि सूत्रोक्त पदों का प्रत्याख्यान किया जाता है तो भी स्पष्ट प्रतिपत्ति तो प्रयोजन रहता ही है इस प्रकार प्रयोजन का स्पष्ट

---

१ कैयट प्रदीप, व्या.म. भाग २, पृ.७२५
२ एवं सतिसिन्नित्यसमासयोः शाकलप्रतिषेध इति यत्पूर्वाचार्यैः स्मर्यते तदनेनेग्ग्रहणेन सम्पाद्यते । –हर.पद.का.वृ. भाग ४, पृ.५३६
३ अ.सू., ६.१.७७
४ अकः सवर्णे दीर्घः । –वही, ६.१.१०१
५ कैयट प्रदीप व्या.म. भाग २, पृ.७२५
६ भो शब्दस्य वर्णव्यत्ययेन छान्दसः प्लुतः । –वही, पृ.७२५
७ दूराद्धूते च । –अ.सू., ८.२.८४
८ निपात एकाजनाङ् । –अ.सू., १.१.१४
९ अ.सू., ८.२.१२८
१० कैयट प्रदीप व्या.म. भाग २, पृ.७२५
११ शास्त्रसामर्थ्यात् सूत्रार्थव्यवस्थापन्नान्न किञ्चित् पदमात्रमपीहानर्थकमित्यर्थः । –कैयट प्रदीप व्या.म. २, पृ.७२७

उल्लेख न होने पर भी प्रत्येक वर्ण, पद सप्रयोजन उक्त हैं यह तथ्य संगत प्रतीत होता है । व्याकरणात्मक व्याख्यानों को ही श्लोकवार्त्तिकों में संगृहीत किया गया है । अतः इन्हें संग्रह श्लोकवार्त्तिक माना जा सकता है ।

(२) नामि[१] — प्रस्तुत सूत्र विधि सूत्र है जो नाम् प्रत्यय परे रहते अजन्त अंग को दीर्घ का विधान करता है ।[२] सूत्र में अङ्गाधिकार विधायक सूत्र 'अङ्गस्य'[३] से अंग की अनुवृत्ति है । अंग[४] संज्ञा प्रत्यय परे रहने पर ही होती है । नाम् प्रत्यय व्याकरण-शास्त्र में विहित नहीं है अतः सूत्रोक्त पद 'नामि' से नुड् सहित षष्ठी बहुवचन का ग्रहण किया गया है । भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र पर शंका की उद्भावना की है कि 'नामि' अर्थात् नकारसहित पद ग्रहण करने का क्या प्रयोजन है केवल आमि के ग्रहण से भी षष्ठी बहुवचन परे रहने पर ही अजन्त अंग को दीर्घ विधान होता । निम्न संग्रह[५] श्लोकवार्त्तिक वार्त्तिक के द्वारा भाष्यकार ने सनकार आमि पद के ग्रहण का प्रयोजन सिद्ध किया है—

नामि दीर्घ आमि चेत्स्यात्कृते दीर्घे न नुट् भवेत् ।
वचनाद्यत्र तन्नास्ति नोपधायाश्च चर्मणाम् ॥

नुट् तथा दीर्घ का एक ही विषय होने के कारण दोनों का ग्रहण करने के लिये पहले नित्य होने के कारण नुट्विधान किया जाये तथा पश्चात् दीर्घविधान कर लिया जाये क्योंकि आगम बाधक नहीं होते अतः सूत्र में नुड् रहित आम् का ग्रहण करने पर भी दीर्घ विधान हो सकता था ।[६] यदि केवल आम् परे रहते ही दीर्घत्व विवक्षा से आमि सूत्र का प्रणयन किया जाता हो नित्य होने के कारण दीर्घत्व पर[७] होने पर भी नुड् का बाधक होगा क्योंकि नुड् आगम होने पर भी दीर्घत्व होगा तथा नुड् न होने पर भी दीर्घत्व होगा ।[८] अतः नुड् का विधान अनर्थक हो जायेगा ।

---

१ अ. सू., ६.४.३
२ Vasu, S.C., Asta. Vol.II, p.1252.
३ अ. सू., ६.४.१
४ यस्माद् प्रत्यय विधिः तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् । – वही, पृ. १.४.१३
५ उक्त एवार्थे संग्रहश्लोकं पठति । – हर. पद. का. वृ. ५, पृ. ३३१
६ नागेश उद्योत, व्या.म. २, पृ. ८९५
७ ह्रस्वनद्यापो नुट् । – अ. सू. ७.१.५४ है अतः पर है ।
८ जिने. न्यास. का. वृ. भाग ५, पृ. ३३१

ह्रस्वान्त[१] अंग से ही नुड् विहित है दीर्घ से नहीं ।[२] यदि दीर्घत्व होने पर नहीं होता तो नुट् विधायक सूत्र में ह्रस्व वचन अनर्थक हो जाता है क्योंकि नुडागम के प्रसंग का अभाव हो जायेगा ॥[३]

ह्रस्व वचन के सामर्थ्य से ह्रस्वान्त अंग के उपस्थित न होने पर ही भूतपूर्व[४] ह्रस्वान्त के सामर्थ्य से दीर्घविधान होने पर भी अजन्त अंग को नुडागम हो जायेगा । दीर्घत्व का प्रतिषेध होने पर ह्रस्वचन नुट् के विधान में निमित्त होगा । यथा तिसृणाम् चतसृणाम् आदि उदाहरणों में दीर्घथत्व का प्रतिषेध [५]हैं अतः नुड् आगम हुआ है । अर्थात् दीर्घत्व न होने पर ही नुडागम होगा । अतः अग्नीनाम् आदि उदाहरणों में दीर्घत्व होने पर नुट् नहीं होता ।

साम्प्रतिक का अभाव होने पर ही भूतपूर्वगति होती है[६] परन्तु तिसृणाम् इस उदारहण में ह्रस्वान्त निमित्तक[७] नुडागम नहीं हुआ अपितु त्रि की अनुवृत्ति[८] होकर ही नुडागम सिद्ध हुआ है । इसी प्रकार चतसृणाम् प्रयोग में भी ह्रस्वलक्षण नुट का अनवकाश है ।[९] नृणाम्[१०] इस प्रयोग में ह्रस्वान्ताङ्ग नुड् विद्यमान है तथापि केवल एक ही उदाहरण को प्रमाण नहीं माना जा सकता अन्यथा नुड् विधायक सूत्र में ह्रस्व का ग्रहण नहीं किया जायेगा[११] तथा ह्रस्ववचन का अवकाश रहेगा । अतः दीर्घत्व होने पर भी भूतपूर्वगति से अग्नीनाम् आदि उदाहरणों में नुट् विधान ह्रस्व ग्रहण सामर्थ्य से हो जायेगा । अतः नुड् सहित आम् का ग्रहण न होने पर भी दीर्घ होने पर नुट् हो जायेगा । इस दोष का निराकरण करने के लिए श्लोकवात्तिककार

---

१ ह्रस्वानद्यापो नुट् । – अ. सू.,७.१.५४
२ कैयट प्रदीप, व्या. म. २, पृ. ८६५
३ ह्रस्वनद्यापो नुट् इत्यत्र ह्रस्वद्यापो नुट् इत्यत्र ह्रस्ववचनमनर्थकं स्यात् अनवकाशत्वात् । – जिने. न्यास. का. वृ.५, पृ. ३३१
४ कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ८९५
५ न तिसृचतसृभ्याम् । – अ. सू., ६.४.४
६ साम्प्रततिकाभावे हि भूतपूर्वगतिर्मवति । – जिने. न्यास का. वृ. ५, पृ. ३३१
७ ह्रस्वनद्यापो नुड् । – अ. सू.,७.१.५४
८ त्रेस्त्रयः । – अ. सू.,७.१.५३
९ षटचतुर्भ्यः । – अ. सू.,७.१.५५
१० त्वं नृणाम् नृपते जायसे शुचि ।
११ नृ ब्रद्यापो नुट् इति ब्रूयात् । – कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ८९५

ने अन्य प्रयोजन नाम परे रहते नान्त उपधा को दीर्घत्व हो जाये।[१] आम् परे रहते न हो सिद्ध किया है। यथा पञ्चानाम्, सप्तानाम् आदि उदाहरणों में नाम् प्रत्यय परे रहते दीर्घत्व विहित है। नुडागम होने के पश्चात् ही दीर्घत्व विधमान किया गया है। क्योंकि नुडागम होने पर ही नाम् परे रहते नान्त उपधा होती है।

यदि केवल 'आमि' सूत्र ही उच्चरित होता तो चर्मणाम्, वर्मणाम् आदि प्रयोगों में भी दीर्घत्व की प्रसक्ति होने लगती है। नुट् सहित आम् का ग्रहण होने के कारण दीर्घत्व नहीं हुआ। भूतपूर्वगतिविज्ञान सूत्र का प्रयोजन नही है क्योंकि ह्रस्वान्त आदेशों[२] को भी नुडागम होने लगेगा।[३]

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों के उद्धरण से सूत्रों के पदों की व्याख्या की है तथा सूत्रोक्त पदों का प्रयोजन स्पष्ट किया है। संग्रह श्लोकवार्त्तिकों में विषय का प्रस्तुतीकरण पतञ्जलि की शैली है। इनसे व्याकरणात्मक सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में सहायता प्राप्त होती है तथा रोचकता में भी वृद्धि हुई है।

सप्तम अध्याय — (१) इकोऽचि विभक्तौ[४]

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा इगन्त नपुंसक अंग से अजादि विभक्ति परे रहते नुमागम का विधान होता है।[५] सूत्र में नपुंसकस्य पद की अनुवृत्ति पूर्व[६] सूत्र की गई है। सूत्रोक्त विभक्तौ पद से सर्वनामस्थान की निवृत्ति की गई है।[७] भाष्यकार ने सूत्रोक्त पद अचि के प्रयोजन के विषय में शंका की उद्भावना की है। निम्न संग्रह श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा अच् ग्रहण के प्रयोजन का प्रतिपादन किया गया है—

---

१ नोपधायाः। – अ.सू., ६.४.७

२ पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु। – अ.सू., ६.१.६३

३ ये ह्रस्वान्तादेशास्तेष्वपि प्रसङ्गो योज्य तस्मान्न शक्यं भूतपूर्वगति-विज्ञानम्। – हर. पद.का.वृ.५, पृ.३३०

४ अ.सू., ७.१.७३

५ The augment num is added to a Neuter-stem ending in a simple vowel except 'अ' before a case-affix beginning with a vowel. Vasu, S.C. - Aṣṭā.Vol.II, p.1343.

६ नपुंसकस्य झलचः। – अ.सू., ७.१.७२

७ विभक्तौ इति वचनात् सर्वनामस्थाने इति निवृत्तम्। – जिने. न्यास का.वृ.५, पृ.६११

इकोऽचि व्यञ्जने मा भूदस्तु लोपः स्वरः कथम्।

स्वरो वे श्रूयमाणेऽपि लुप्ते किं न भविष्यति॥

रायात्वं तिसृभावश्च व्यवधानान्नुमा अपि।

नुड्वाच्य उत्तरार्थं तु इह किंचित्त्रपो इति॥

सूत्र में इकोऽचि ग्रहण का प्रथम प्रयोजन नुम् का आगम अजादि विभक्ति परे रहते ही विहित करना है। यथा त्रपुणी उदाहरण में अजादिविभक्ति परे रहते नुमागम हुआ है। हलादि विभक्तिपरे रहते नुमागम का निषेध करने के लिये अचि का ग्रहण किया गया है। यदि हलादि की निवृत्ति के लिये अजादि ग्रहण माना जायेगा तो अनर्थक ही अच् ग्रहण किया है[१] क्योंकि नुमागम होने पर भी प्रातिपदिकान्त[२] होने के कारण नुम् का लोप हो जायेगा। विहित होने पर भी नुम् का लोप हो जाने के कारण स्वर सिद्धि नहीं होगी। यथा पञ्चत्रपुभ्याम् पञ्चत्रपुभिः पदों में तद्धितार्थ[३] समास होने के कारण द्विगु[४] संज्ञा में ठक्[५] विधान तथा लोप होकर विभक्ति परे रहते नुमागम, नकार लोप[६] होने पर नलोप[७] असिद्ध होने के कारण पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व[८] की प्राप्ति न होकर इगन्त अंग न होने के कारण आदि उदात्तत्व की प्राप्ति होती है।[९]

---

१ हलादौ नुमो लोपविधानातत्तन्निवृतयर्थमज् ग्रहणं नोपयुज्यत इति। – कैयट प्रदीप व्या. म.३, पृ.६६

२ न लोपः प्राततिपदिकान्तस्य। – अ.सू., ७.२.७

३ तद्धितार्थोत्तरपद समाहारे च। – वही, २.१.५१

४ संख्या पूर्वो द्विगु। – वही २.१.५२

५ आर्हादगोपुच्छ सख्यापरिमाणाट्ठक् – वही ५.१.१९

६ अध्यर्द्धपूर्वद्विगोलुगसंज्ञायाम्। – वही ५.१.२८

७ न लोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति। – वही ८.२.२

८ इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ। – वही ६.२.२९

९ But there was a num then the second member would not end in ik but in n and the elision of this n by 8-2-7 is asidha for the purposes of accent. –Vasu, S.C. - Asta. Vol.II, p.1343.

नुम् का लोप न होने पर भी स्वरसिद्धि होती है यथा पञ्चत्रपुणः पद से पूर्वपदप्रकृति स्वरत्व सिद्ध है ।[१] अतः स्वरसिद्धि सम्बद्ध दोष की निवृत्ति हो जाती है । नुम् की विद्यमानता में यदि स्वर की प्रसक्ति होती है तो अविद्यमान होने पर भी होती है ।[२] इगन्त अंग का विधान होने के कारण नुम् के बहिरंग होने के कारण तथा अन्तरंग स्वर की प्राप्ति विभक्त्युत्पत्ति से पूर्व ही हो जायेगी ।[३] यथा अतिराभ्याम् इस उदाहरण में व्यञ्जनादि नुम् हो जायेगा तो उसका लोप करने पर नलोप असिद्ध होने के कारण हलादि परे रहते विहित आत्व[४] प्राप्त नहीं होगा क्योंकि नुम् से व्यवधान उपस्थित हो जायेगा[५] इसी प्रकार प्रियतिसृभिः उदाहरण में व्यञ्जनादि परे रहते नुम् विहित होने पर[६] तिस्रादेश की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि नुम् के द्वारा त्रिशब्द का व्यवधान उपस्थित हो जाता है ।[७]

इन दोनों उदाहरणों के विषय में यह पक्ष असंगत प्रतीत होता है क्योंकि नुम् का व्यवधान होने पर भी रै को आत्व तथा त्रि को तिसृ आदेश की प्राप्ति होती है । विभक्ति विधान अवस्था में स्थित आनन्तर्य अनाश्रयणीय है ।[८] अतः व्यवधान उपस्थित होने पर भी पर[९] होने के कारण आत्व तथा तिसृभाव हो जाता है तथा एक साथ उपस्थित होने पर विप्रतिषेध में जिसका बाध हो गया वह बाधित ही है ।[१०] इस प्रकार पुनः नुम् की प्रसक्ति भी नहीं होती । यदि नुम् की प्राप्ति हो जाये तो भी दोष नहीं होता क्योंकि सूत्र में अच् का ग्रहण नुम् और नुट्[११] के विप्रतिषेध के लिये किया गया है । अतः नुट् का विधान होने पर नुम् नहीं होता । अग्नीनाम् त्रपूणाम्

---

१ इगन्तकालकपालमचालशरावेषु द्विगौ । – अ. सू.६.२.२९

२ ततश्च नुमः सद्भावेऽपि यत्र स्वरो भवति तत्रासद्भावे कथं न स्यादित्यर्थः । – कैयट प्रदीप, व्या. म. ३, पृ. ६७

३ अङ्गस्य विधानाद्बहिरङ्गत्वाच्च नुमोऽन्तरङ्ग स्वरः पूर्वमेव प्रवर्तते । – वही

४ रायो हलि । – अ. सू., ७.२.८५

५ जिने. न्यास. का. वृ. ६, पृ. ६१४

६ त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ । – अ. सू., ७.२.९९

७ समुदाय भक्ति न नुमा त्रिशब्दस्य व्यवधानात् । – जिने. न्यास का. वृ. ५, पृ. ६१५

८ वही, पृ. ६१५

९ अतिरिभ्यामिति स्थिते नुमात्वयोरूभयोरप्यनित्ययोः परत्वादात्वमेवं तिसृभावः । – हर. पद. का. वृ. ५, पृ. ६१५

१० सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद् बाधितमेव । इति पुनर्नुम् न भवति । – जिने. न्यास. का. वृ. ५, पृ. ६१५

११ ह्रस्वद्यापो नुट् । – अ. सू., ७.१.५४

आदि उदाहरणों में नुट् विहित है जबकि इगन्त नुम त्रपुणे, जतुन आदि उदाहरणों में नुट्[१] विहित है त्रपूणाम् आदि उदाहरणों में दोनों की प्रसक्ति होती है। पूर्वविप्रतिषेध होने पर नुट् की प्राप्ति होती है।[२] नुट् करने पर अनजादि होने के कारण नुमागम नहीं होता।[३]

नुम् करने पर ह्रस्वान्त का अभाव होने से नुड् विधान नहीं होता अतः तुल्य विप्रतिषेध उपस्थित होता है। सूत्र में अच् का ग्रहण न किये जाने पर नुड् विहित होने पर तथा विहित न होने पर हलादि व अजादि परे रहते नुम् का विधान हो जाता। नुम् का विधान होने पर नुट् का ग्रहण होने पर भी विप्रतिषेध से नुम् ही होता है। नुड् का कथन करना संगत है तथा पूर्व विप्रतिषेध का भी परिगणन किया जाना चाहिये। परन्तु अच् ग्रहण तथा पूर्वविप्रतिषेध दोनों का ही आश्रय लेना होगा।[४] अतः अच् ग्रहण अनर्थक है। नुट् करने पर नुमागम न[५] हो यह प्रयोजन भी असंगत है क्योंकि नुमभाव में त्रपूणाम् आदि उदाहरणों में दीर्घत्व विधान[६] नान्त उपधा[७] के कारण हो जायेगा। शुचीनाम् आदि उदाहरणों में प्रतिपदोक्त[८] का ग्रहण होने से दीर्घत्व[९] सम्बन्धी दोष का परिहार हो जायेगा अतः नुट् विहित होने पर प्राप्त नुम् का निषेध अज् ग्रहण का प्रयोजन नहीं है। अच् ग्रहण का प्रयोजन उत्तरसूत्र 'अस्थिदधिसक्थ्य क्ष्णामनुङ: दात्तः'[१०] सूत्र के लिये है अर्थात् अस्थि, दधि, आदि से विहित अनङ् अजादि परे रहते ही हो हलादि परे रहते न हो इस विषय में शंका उत्पन्न होती है कि अच् का ग्रहण अनङ् विधायक सूत्र पर ही किया जाना चाहिये

---

१ If this be so, then the employment of अच् in the Sūtra is for the sake of the supersession of नुम् by नुट्. – Vasu, S.C. - Aṣṭā.Vol.II, p.1344.

२ नुमचरितृज्वद्भावेभ्यो नुड् भवति पूर्वविप्रतिषेधेन। – हर.पद.का.वृ.५,पृ.६१६

३ नुटि कृते नुम्न प्राप्नोति अनजादित्वात्। – जिने.न्यास का.वृ.५,पृ.६१६

४ हर.पद.का.वृ.भाग ५,पृ.६१६

५ यलान्तरेण नुटि कृते नुम्प्राप्नोतीत्यर्थः। – कैयट प्रदीप व्या.म.३,पृ.६८

६ नामि। – अ.सू.,६.४.३

७ नोपधायाः। – वही,६.४.७

८ लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्येव ग्रहणम्। – परि.

९ इन्हन्पूषार्यम्णां शौ,सौ च। – अ.सू.,६.४.१२,१३

१० अ.सू.,७.१.७५

था[1] परन्तु इस सूत्र पर अच् ग्रहण करने का प्रयोजन है त्रपु शब्द से सम्बोधन एकवचन में यदि अचि का कथन नहीं होता तो यहां भी नुम् हो जायेगा इस प्रकार नुम् का प्रतिषेध करने के लिये अचि कहा गया है। यदि नुम का विधान किया जायेगा तो प्रातिपदिकान्त[2] लोप होगा परन्तु 'न ङि सम्बुद्धयोः'[3] सूत्र से न लोप का प्रतिषेध होता है।

दो प्रकार की विभक्तियां है (१) मुख्य तथा (२) औपचारिक[4] यहां लुप्त होने के कारण मुख्य भी नहीं है। तथा प्रत्ययलक्षण प्रतिषेध[5] के कारण औपचारिक भी नहीं है। अतः विभक्ति का कथन होने के कारण नुम् का प्रसंग नहीं है।[6] हे त्रपो इस उदाहरण में नुम् की प्रसक्ति नहीं होती। प्रत्यय लोप लक्षण प्रतिषेध स्वीकार करने परपर अच् ग्रहण अनर्थक है परन्तु अज् ग्रहण ज्ञापित कराता है कि उगन्त नपुंसक परे रहते सम्बुद्धि विषय में प्रत्यय लक्षण प्रतिषेध नहीं होता।[7] अच् ग्रहण से सम्बुद्धि विषयक[8] गुण की प्रसक्ति हो जाती है। हे त्रपो ! इस उदाहरण का साधुत्व प्रतिपादन अच् ग्रहण का प्रयोजन है।[9] अतः सूत्र में अचि ग्रहण के दो प्रयोजन हैं – (१) सम्बुद्धि विषयक गुण का विधान तथा अस्थि, दधि आदि से विहित अनङ् आजादिपरे रहते ही हो हलादि परे रहते न हों।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि श्लोक-वार्त्तिकों के द्वारा भाष्यकार ने सूत्रोक्त पदों के प्रयोजन से सम्बद्ध चर्चा की है। यद्यपि कुछ प्रयोजनों का प्रत्याख्यान कर दिया गया है तथापि अन्त में सैद्धान्तिक

---

१ यद्येतत् प्रयोजनं नोपपद्यते उत्तरार्थ तर्ह्यजग्रहणं कर्तव्यम्। – जिने. न्यास का. वृ.५, पृ. ६१७
२ न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य। – अ. सू., ८.२.७
३ अ. सू., ८.२.८
४ द्विविधं विभक्तेरस्तित्वम् मुख्यमौपचारिकं च। – हर. पद. का. वृ.५, पृ. ६१२
५ न लुमताङ्गस्य। – अ. सू., १.१.६३
६ जिने. न्यास. का. वृ.५, पृ. ६१३
७ अत्रोगन्ते नपुंसके सम्बुद्धिविषये प्रत्ययलक्षण प्रतिषेधो न भवतीति। – हर. पद, वही
८ सम्बुद्धौ च। – अ. सू. ७.३.१०६
९ जिने. न्यास का. वृ.५, पृ.६१७

पक्ष का निरुपण करके सूत्रोक्त पद अचि के प्रयोजन स्पष्ट किये गये हैं। प्रयोजनों के स्पष्टीकरण में संग्रहात्मक श्लोकवार्त्तिकों का योगदान है।

अष्टम अध्याय — कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ[१]

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने कुत्सन अर्थ में गोत्रादि को छोड़कर सुबन्त परे रहते सगति तथा अगति तिङ् को अनुदात्त का विधान किया है।[२] पदात्[३] सूत्र से पद का अधिकार नहीं है परन्तु 'सगतिरपि तिङ्'[४] सूत्र की अनुवृत्ति हुई है। अतः पचति पूति इस उदाहरण में पूति शब्द कर्तृ विशेषण है क्रिया-विशेष नहीं है। सूत्र में क्रिया से कुत्सनद्योत्य होने पर अनुदात्तत्व का उपसंख्यान करना जाहिये। भाष्यकार ने इस विषय का स्पष्टीकरण निम्न संग्रह श्लोकवार्त्तिक के द्वारा किया है।

सुपि कुत्सने क्रियायाः मकारलोपोऽतिङीति चोक्तार्थम्।
पूतिश्चानुबन्धो विभाषितं चापि बह्वर्थम्॥

श्लोकवार्त्तिककार को कुत्सनार्थ में क्रिया के द्योत्य होने पर अनुदात्तत्व अभीष्ट है[५] अर्थात् पचति पूतिः इस उदाहरण में प्रत्ययार्थ कर्ता की कुत्सा की जा रही है क्रिया शोभन ही है पूति शब्द कुत्सा वाची है।[६] अतः कर्तृविशिष्ट न होने के कारण अनुदात्तत्व होता है, परन्तु पचति पूतिर्देवदत्तः इस उदाहरण में कर्तृविशेषण होने के कारण पचति पद आद्युदात्त है क्योंकि कुत्सन का सम्बन्ध कर्ता से ही है क्रिया से नहीं।[७] तिङन्त में साधन तथा क्रिया दोनों विद्यमान होते हैं अतः क्रिया की

---

१ अ.सू.,८.१.६९

२ A feminine verb along with its preceding Gati is any becomes anudātta when a Nown denoting the fault of the action with the exception of Gotra. –Vasu, S.C. Aṣṭā., Vol.II, p.1526.

३ अ.सू.,८.१.१७

४ वही,८.१.६९

५ Vasu, S.C. - Aṣṭā., Vol.II, p.1527.

६ प्रत्ययार्थ कर्ताऽत्र कुत्स्यते क्रिया तु शोभनैव। पूतिश्च कुत्सितवाची। –नागेश उद्योत व्या.म.३,पृ.३४२

७ The rule will not apply if the Kutsan refers to the action. Ibid.

कुत्सना होने पर अनुदात्तत्व का ग्रहण किया जाना चाहिये।[१] इसका कारण यह है कि कर्त्ता के कुत्सन का सम्बन्ध अभीष्ट नहीं है क्योंकि कर्त्ता का विशेषण पूतित्व है। कर्त्ता के साथ उसका समानाधिकरण नहीं होता।[२]

जिस प्रकार ऋद्धस्य राजपुरुषः इस उदाहरण में एकार्थीभाव होने पर वृत्ति में जो उपसर्जन पद है उसका विशेषण के साथ सम्बन्ध संगत नहीं है।[३] अतः ऋद्धस्य का राजपुरुष से समानाधिकरण नहीं होता उसी प्रकार पचति पूतिः देवदत्तः में पूति का देवदत्त के साथ समानाधिकरण नहीं है। एकार्थीभाव न होने पर भी अप्रधान का विशेषण से सम्बन्ध होता है।[४] यथा ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः इस उदाहरण में इसी प्रकार साधन क्रिया के प्रति गुणभूत होने पर भी एकार्थीभाव में विशेषण से सम्बद्ध होता है[५] तथा साधनप्रधान कृदन्त यथा दारूणाध्यायकादि में क्रिया की प्रधानता होने पर विशेषण से सम्बन्ध है तथैव आख्यात में भी प्राधान्य होने पर भी साधन का विशेषण से सम्बन्ध होने के कारण क्रिया कुत्सन ही अभीष्ट है।[६] यदि साधन विशेषण से योग स्वीकार करते हैं तो क्रियान्तर से भी प्राप्ति होने लगेगी[७] क्योंकि जिस प्रकार भार्या अन्या स्त्री से पति का सम्बन्ध सहन न कर स्नानादि संस्कार को स्वार्थ के लिये समझती है[८] उसी प्रकार क्रिया स्वानुरक्त कर्ता क्रियान्तरगामी होने पर कर्त्ता का विशेषण से सम्बन्ध स्वयं के लिये समझती है।[९]

---

१ तत्र क्रियायाः कुत्सनेऽनुदात्तत्व भवततीत्येतदर्थमिदं - व्याख्येयम्। – जिने. न्यास का वृ. ६, पृ. ३१६

२ तत्र कर्तृत्वस्य विशेषणं पूतित्वं न कर्त्रा समानाधिकरणम्। – हर. पद. का. वृ. ६, पृ. ३१५

३ एकार्थीभावमापन्नं वृत्तौ यदुपसर्जनम्। विशेषणेन सम्बन्धस्तस्य नेवोपपद्यते॥ – हर. पद. का. वृ. पृ. ३१५

४ वाक्य विषयस्य त्वर्थान्तरानुपादानाद्‌भवति विशेषणयोगो यथा ऋद्धस्य राज्ञः पुरूषः। – कैयट, प्रदीप, व्या. म. ३, पृ. ३४२

५ एवं साधनं क्रियां प्रति गुणभूतमप्येकार्थीभावाद्विशेषणेन युज्यते। – हर. पद. का. वृ. ६, पृ. ३१५

६ तत्र क्रियायाः कुत्सने नुदात्तत्वं भवतीत्येतदर्थमिदं। – जिने. न्यास का. वृ. ६, पृ. ३१६

७ यथा तर्हि साधनस्य विशेषणेन योगो क्रियान्तरेपापि प्राप्नोति। – कैयट, – व्या. म. ३, पृ. ३४२

८ भार्या स्त्र्यन्तरसम्बन्धं पत्युर्न सहते यथा। स्नानादिकं तु संस्कारं स्वार्थमेवानुमन्यते। – हर. पद. का. वृ. ६, पृ. ३१५

९ विशेषणेन सम्बन्ध कर्तुः स्वस्यानुमन्मते। – का. स्वानुरक्तं तु कर्त्तारं न क्रियान्तरगामिनम्॥ – वही, पृ. ३१५

अतः क्रिया से कुत्सन अर्थ ही अभीष्ट है । सूत्र में विभाषा की अनुवृत्ति[१] होकर व्यवस्थित विभाषा से भी क्रिया कुत्सन होने पर अनुदात्तत्व स्वीकार किया गया है । कर्त्ता का कुत्सन द्योत्य होने पर नहीं ।[२]

श्लोकवार्त्तिककार ने इसी पक्ष को ग्रहण किया है । पूति शब्द में चकारानुबन्ध का कथन किया जाना चाहिये । चकार का ग्रहण अनुक्त समुच्चय के लिये हैं अतः पूति से चकारानुबन्ध हो जायेगा[३] अतः चकारानुबन्ध से स्पष्ट होता है कि जहां सगति तिङ् से अनुदात्तत्व होता है वहां पूति से अनुदात्तत्व होता है । अन्यथा आद्युदात्त ही रहता है क्योंकि पूति शब्द स्त्रीत्व विवक्षा में क्तिन् प्रत्यय या क्तिज् प्रत्ययों से निष्पन्न होता है । अतएव न तो स्त्रीलिंग पद है न ही संज्ञा पद है ।[४] अव्युत्पन्न, प्रातिपदिक होने के कारण प्रातिपदिक स्वर अन्तोदात्तत्व को ग्रहण करता है । अतः कुत्सन में ही अन्तोदात्त किया जाना चाहिये । बहुवचनोक्त तिङन्त विभाषा से अनुदात्त होता है ।[५] यथा प्रपचन्ति पूति । 'मलोपश्च' इस वार्त्तिक में उक्त मकार लोप तिङ् परे न रहने पर काष्ठादि[६] समास में विहित है । तिङ् परे रहते मकार लोप अभीष्ट नहीं है । अतः दारूणाध्यायकः इस उदाहरण में मकार लोप नहीं होता, तिङ् परे रहने के कारण । प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक में मलोप लोप नहीं होता, तिङ् परे रहने के कारण । प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक में मलोप प्रसंगवश संगृहीत कर लिया गया है । अन्यथा इसका कोई विशेष प्रयोजन नहीं है ।[७] 'मलोपश्च' वार्त्तिक के द्वारा पहले ही इसका प्रयोजन निर्देश किया जा चुका है ।[८] वार्त्तिक में काष्ठादि समास से अनुदात्तत्व पूर्वोक्त है ।[९] इस श्लोकवार्त्तिक में आर्या[१०] छन्द है ।

---

१ चादि लोपे विभाषा । – अ.सू.,८.१.६३

२ जिने. न्यास. का. वृ. ६, पृ. ३१६

३ स चानुक्तसमुच्चयार्थः तेन पूतिश्चानुबन्धो भविष्यतीति । – वही

४ कैयट, प्रदीप व्या. म. भाग ३, पृ. ३४३

५ **Vasu, S.C., Aśṭā.of Pāṇini, Vol.II, p.1527.**

६ पूजनात्पूजितमनुदात्तं काष्ठादिभ्यः । – अ. सू., ८.१.६७

७ श्लोकान्तरगतत्वादयं पादः पठितो न त्वत्रास्योपयोगः कश्चित् । – हर. पद. का. वृ. ६, पृ. ३१७

८ आचार्यपरम्पराकथित प्रयोजनमेतदित्यर्थः । – प्रदीप व्या. म. ३, पृ. ३४४

९ मलोपश्चेति यत् कार्य वचनं तत् मलोपश्चेत्यादिना पूर्वमेवोक्तप्रयोजनमित्यर्थः । – जिने. न्यास. का. वृ. ६, पृ. ३१७

१० तत्र प्रमाणत्वेन भाष्यपठिताभार्या पठति । – हर. पद. का. वृ. ६, पृ. ३१७

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से ज्ञात होता है कि संग्रह श्लोकवार्त्तिक में व्याख्यात सूत्र से सम्बद्ध विषय का तो संग्रहण होता ही है साथ ही पूर्व सूत्रोक्त विषय का सामंजस्य भी कर लिया गया है। सूत्रोक्त पदों से सम्बद्ध शंका की उद्भावना तथा उनका समाधान भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा किया गया है।

इस प्रकार संग्रहात्मक श्लोकवार्त्तिकों को पुनरावृत्यात्मक श्लोकवार्त्तिक भी कहा जा सकता है क्योंकि संग्रहात्मक श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन के यह स्पष्ट होता है कि अधिकांश संग्रहश्लोकों ने वार्त्तिकों में व्याख्यात विषय का ही संग्रहण किया गया है। संग्रह होने के कारण ही ये संग्रहात्मक श्लोकवार्त्तिक कहे जा सकते हैं। परिणामतः यह कहना असंगत प्रतीत नहीं होता कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों में विषय की पुनः स्थापना की है।

नवम अध्याय

निपातनात्मक व परिभाषात्मक श्लोकवार्त्तिक

पाणिनीयाष्टक में सूत्रों के माध्यम से अधिकार तथा परिभाषा आदि का प्रतिपादन किया गया है। कुछ प्रयोग ऐसे भी हैं जो सूत्रों के माध्यम से सिद्ध नहीं हो सकते उन प्रयोगों को निपातन सूत्रों में निबद्ध किया गया है तथा इन रूपों को निपातनात्मक प्रयोगों के नाम से जाना जाता है। निपातनात्मक रूपों की व्याख्या जिन श्लोकवार्त्तिकों में की गई है उन्हें निपातनात्मक श्लोकवार्त्तिक माना गया है। इसके अतिरिक्त श्लोकवार्त्तिकों में जहां शब्दों के निर्वचन अथवा व्युत्पत्तिपरक निर्देश है वहां सूत्रोक्त पदों की परिभाषाओं से सम्बद्ध विवेचन भी उपलब्ध होता है। इन श्लोकवार्त्तिकों में सूत्रोक्त पदों का लक्षण अथवा परिभाषा सम्बन्धी व्याख्यान है अतः इन्हें परिभाषात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है। प्रस्तुत अध्याय में निपातनात्मक तथा परिभाषात्मक श्लोकवार्त्तिकों का अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

तृतीय अध्याय – (१) अमावस्यदन्यतरस्याम्[1]

प्रस्तुत सूत्र में अमा शब्द सह के अर्थ में विद्यमान है। अमा शब्द उपपद में रहते वस् धातु से कालाधिकरण अर्थ में ण्यत् प्रत्यय होता है। वैकल्पिक वृद्धयभाव निपातन से सिद्ध होता है। सूत्र में निपातित पद अमावस्यत् है। भाष्यकार ने शंका की उद्भावना की है कि निपातित पद में तकारानुबन्ध यत् प्रत्यय का है अथवा ण्यत् प्रत्यय का है। तकारोच्चारण से यह स्पष्ट है कि यहां वन्यबन्त अमावस्यत् पद का निपातन अभीष्ट नहीं है। यदि अप्रकृत यत्प्रत्ययान्त निपातन स्वीकार कर लिया जाये तो स्वरसम्बन्धी दोष उत्पन्न हो जाता है अर्थात् आद्युदात्तत्व[2] की प्राप्ति

---

१ अ.सू., ३.१.१२२
२ यतोऽनावः। – अ.सू., ६.१.२१३

होती है जबकि आद्युदात्तत्व अनभीष्ट है । उपपद[१] समास की प्राप्ति भी नहीं होती ।[२] ण्यदन्त पक्ष में विहित कार्य भी यदन्त पक्ष अमावस्यत् पद से सिद्ध नहीं होते । अमावस्यत् पद के विषय में यत् प्रत्ययान्त निपातन को असंगत स्वीकार करते हुये तथा ण्यदन्त पक्ष की पुष्टि के लिये भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं—

अमावसोरहं ण्यतोर्निपातयाम्यवृद्धिताम् ।
तथैकवृत्तिता तयोः स्वरश्च मे प्रसिद्धयति ॥

श्लोकवार्त्तिककार के अनुसार अमावस्यद् निपातन को जिस प्रकार यत्प्रत्ययान्त स्वीकार नहीं किया जा सकता उसी प्रकार क्यबन्त निपातन स्वीकार करने पर सम्प्रसारणभाव भी निपातन से स्वीकार करना होगा । अतः ण्यदन्त अमावस्यद् पद का ही ग्रहण होना चाहिये । ण्यत्[३] विधान नित्य होने के कारण सूत्रोक्त अन्यतरस्याम् पद का प्रयोजन स्पष्ट नहीं होता । इसका समाधान श्लोकवार्त्तिककार प्रस्तुत करते हैं । ण्यद् विधान नित्य होने पर वृद्ध्यभाव वैकल्पिक हो सकता है । मात्र ण्यदन्त की सिद्धि के लिये यह निपातन निरर्थक प्रतीत होता है । ण्यत् प्रत्यय को निमित्त मानकर वृद्धि[४] कार्य होने के कारण अमावास्या रूप प्राप्त होता है । श्लोकवार्त्तिककार ने दोनों पदों का निर्देश करने के लिये ही द्विवचन निर्देश किया है । अमावस्या पद के स्थान पर अमावस्यत् निपातन हुआ है अर्थात् अमापूर्वक ण्यदन्त वस् धातु से एक पक्ष में वृद्ध्यभाव निपातन से स्वीकार किया गया है ।

अतः एक ही प्रकृति के वृद्धि पक्ष तथा वृद्ध्यभाव पक्ष में भेद की विवक्षा होने के कारण ही 'अमावसोरहं ण्यतोः'[५] से एकदेशविकृतन्याय से दोनों प्रयोजन सिद्ध होते हैं । ण्यत् प्रत्यय की उत्पत्ति तथा वृद्ध्यभाव का निपातन । द्वितीय अभीष्ट स्वर की सिद्धि भी हो जाती है ।

---

१ उपपदमतिङ् । – अ. सू., २.२.१९
२ एवमप्युपपद समासो न प्राप्नोति । – हर. पद. का. वृ. भाग २, पृ. ४१४
३ ऋहलोर्ण्यत् । – अ. सू., ३.१.१२४
४ अचो ञ्णिति । – अ. सू., ७.२.११५
५ वृत्तिः पुनर्वुन्णोः प्रत्ययोरुत्पत्तिः । जिने. न्यास का. वृ. भाग २, पृ. ४१५

अमावस्यत् पद में अन्तस्वरितत्व[१] अभीष्ट है जबकि ण्यदन्त स्वीकार न करने पर आद्युदात्त[२] की प्राप्ति होती है। यदि अमापूर्वक वस् धातु का यत्प्रत्ययान्त निपातन स्वीकार कर लिया जाये तो अन्यतरस्याम् के ग्रहण से पक्ष में ण्यत् अभीष्ट है यद्यपि अमावस्य रूप सिद्ध हो जाता है तथापि यत्प्रत्यय पक्ष में स्वर सिद्ध नहीं होता। अमा शब्द के साथ समास कर दिये जाने पर भी कृदन्त के उत्तरपद को प्रकृतिस्वर करने पर वस्या शब्द आद्युदात्त[३] रहता है। ण्यदन्त वस् का निपातन भी अमा शब्द उपपद में रहते ही किया जाना चाहिये। अन्यथा उपपद के अभाव में उत्तरपद प्रकृतिस्वर की प्राप्ति नहीं होती।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जिन सूत्रों पर वार्त्तिक उपलब्ध नहीं है उन पर भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों से विवादास्पद विषय का समाधान किया है। निपातनात्मक प्रयोग का स्पष्टीकरण होने के कारण इसे निपातनात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है।

(२) छन्दसिनिष्टर्क्यं देवहूयप्रणीयोन्नीयोच्छिष्यमर्यस्तर्याध्वर्थ खन्यखान्यदेवयज्यापृच्छ्यप्रतिपीण्य ब्रह्मवाद्य भाव्यस्ताव्योपच्चायपृडानि।[४] —आचार्य पाणिनि ने वैदिक भाषा में प्रयुक्त शब्दों की सिद्धि के लिये पृथक् रूप से सूत्रों का विधान किया है। कुछ प्रयोग केवल वैदिक भाषा में ही प्रयुक्त हैं और उन्हें आचार्य निपातन से सिद्ध करते हैं। प्रस्तुत सूत्र छान्दस निष्टर्क्य, देवहूय, प्रणीय, उन्नीय, उच्छिष्य, आदि प्रयोगों को निपातन से सिद्ध करता है। निष्टर्क्य आदि पक्षों में निपातन से विहित प्रक्रिया का निर्देश भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा प्रस्तुत किया है—

निष्टर्क्ये व्यत्ययं विद्यान्निसः षत्वं निपातनात्।
ण्यदायादेश इत्येतावुपचाय्ये निपातितौ॥

प्रस्तुत कारिका निष्टर्क्य तथा उपचाय्य दो पदों में निपातन-विधान का स्पष्टीकरण करती है। श्लोकवार्त्तिककार के अनुसार निष्टर्क्य पद निस् उपसर्ग पूर्वक कृत् धातु से ण्यत् तथा मूर्धन्यादेश का निपातन होने पर सिद्ध होता है।

---

१ तित्स्वरितम्। – अ.सू., ६.१.१८५
२ यतोऽनावः। – वही, ६.१.२१३
३ गतिकारकोपपदात् कृत्। – वही, ६.२.१३९
४ अ.सू., ३.१.१२३

कृ त् धातु में वर्ण-व्यत्यय[१] होने पर पद की सिद्धि स्वीकार की गई है। निष्टर्क्य पद के भिन्न अर्थों से भी यह तथ्य पुष्ट होता है।[२] निष्टर्क्य पद में क्यप्[३] प्रत्यय के स्थान पर ण्यत् निपातन से विहित है। निस् के सकार को मूर्धन्यादेश की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि 'निसस्तपतावनासेवने'[४] सूत्र से अनासेवन अर्थ में ही तप् तथा त परे रहते निस् के सकार को मूर्धन्यादेश होता है। इस कारण निपातन से ही मूर्धन्यादेश किया गया है। निष्टर्क्य पद वेद में विशिष्ट यज्ञाग्नि की संज्ञा के रूप में प्रयुक्त है।[५]

विशिष्ट होने के कारण इसके लिये विशेष प्रकार की वेदी बनाने का विधान है। निष्टर्क्य अग्नि की गणना चित्याग्नि के अन्तर्गत की जाती है। निष्टर्क्याग्नि का फल पशु समृद्धि है। पशु सम्पत्ति की इच्छा करने वाले मनुष्य को निष्टर्क्याग्नि का चयन करना चाहिये।[६] सूत्र द्वारा निपातित उपचाय्यपृडम् पद में उप उपसर्गपूर्वक चि धातु से ण्यत् प्रत्यय तथा आयादेश निपातन से स्वीकार किये गये है। केवल ण्यत् प्रत्यय का निपातन स्वीकार कर लेने पर भी उपचाय्य पद सिद्ध नहीं होता। अतः आयादेश का विधान आवश्यक है। व्यद्विधान न होने पर इगुपधलक्षण क[७] प्रत्यय होकर अनभीष्ट रूप उपचेयपृडम् सिद्ध होता है। श्लोकवार्त्तिक में निष्टर्क्य तथा उपचाय्य इन दो पदों को विशिष्ट रूप से ग्रहण किया है इसका कारण यह है कि सूत्रोक्त निपातित पदों में से इन दोनों का ही सम्बन्ध यज्ञाग्नि से दृष्टिगत होता है। निष्टर्क्य पद के समान उपचाय्य पद का सम्बन्ध भी यज्ञाग्नि से दृष्टिगत होता है। चित्याग्नि के तीन रूपों में से उपचाय्य एक है कुण्ड में प्रज्वलन से पूर्व तैयार अग्नि परिचाय्य है संवर्धमान अवस्था की अग्नि उपचाय्य होती है।[८] अर्थात्

---

१ आद्यन्तविपर्यय इति ककारस्यादेरन्तत्वं निपात्यते। तकारस्यान्तस्यान्तस्यादित्वम्। –जिने. न्यास का. वृ. भाग २, पृ. ५१६

२ To cutoff, or out, divide separate new as under, mass acre – ऋग्वेद, शतपथ, महाभारत. –W.M.p.562.

३ ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः। –अ. सू., ३.१.११०

४ अ. सू., ८.३.१०२

५ अग्नि. प्रभु. पत. भा., पृ. ५३१

६ निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः। –वही, ५३१

७ इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। –वही, ३.१.१३५

८ अग्नौपरिचाय्योपचाय्यसमूह्याः। –वही, ३.१.१३१

परिचाय्य उपचाय्य तथा समूह्य विशेष स्थितियों में यज्ञाग्नियों के नाम है।[१] उपचाय्यपृडम् पद व्याकरणात्मक वैदिक[२] प्रयोग है जिसका साहित्य में प्रयोग नहीं मिलता।[३] अतः निष्टक्र्य तथा उपचाय्यपृडम् पद निपातन द्वारा सिद्ध किये गये हैं।

सूत्रोक्त अन्य पदों का वर्गीकरण निम्न श्लोकवार्त्तिक के माध्यम से भाष्यकार ने प्रस्तुत किया है—

ण्यदेकस्माच्चतुर्भ्यः क्यप् चतुर्भ्यश्च यतो विधिः।
ण्यदेकस्माद्यशब्दश्च द्वौ क्यपौ ण्यद्विविधिश्चतुः॥

श्लोकवार्त्तिक के आधार पर सूत्रोक्त निपातित पदों में होने वाले निपातन-विधान स्पष्ट हो जाते हैं। श्लोकवार्त्तिक में पदों का क्रम सूत्रोक्त क्रम के अनुसार ही स्वीकृत है। निष्टक्र्य प्रथम पद ण्यदन्त है। देवहूय, प्रणीय, उन्नीय, उच्छिष्यम् क्यप् प्रत्ययान्त रूप हैं। देवहूय पद में ह्वेञ्[४] धातु से अथवा हु धातु से क्यप् हुआ है। हु धातु से निष्पन्न मानने पर तुगभाव[५] तथा दीर्घत्व निपातन से सिद्ध होता है। ह्वि से व्युत्पत्ति स्वीकार करने पर क्यप् प्रत्यय निपातन से सिद्ध होता है। मर्यः, स्तर्यः, ध्वर्यः, तथा खन्यः पद यत्प्रत्ययान्त है। रवान्यः ण्यदन्त रूप है। देवयज्या[६] तथा आपृच्छ्यः क्यबन्त रूप हैं। प्रथम का निपातन केवल स्त्रीलिंग में ही होता है सूत्रोक्त अन्तिम चार ब्रह्मवाद्यः[७] भाव्यः, स्ताव्यः तथा उपचाय्यपृडम् ण्यदन्त पद हैं।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों में सूत्रोक्त निपातित पदों की सिद्ध रोचक शैली में प्रस्तुत की गई है। सूत्रोक्त पदों का व्यवस्थित वर्गीकरण श्लोकवार्त्तिककार ने

---

१ अग्नि. प्रभु., पत. भा., पृ. ५२९

२ समृद्धया उपचाय्यवृडं हिरण्यं दक्षिणा। – का. सं. १.१.१ Limye, V.P. Crit. Stu. MB. p.187.

३ Upaccāyaprdam is a mere grammatical formation not met within a literature. Ibid.

४ वचि स्वपि यजादीनां किति। – अ. सू., ६.१.१५ से सम्प्रसारण होकर हलः अ. सू., ६.४.२ से दीर्घ हो जाता।

५ ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्। – अ. सू. ६.१.७१ से प्राप्त तुक् का निषेध

६ दैव्याय कर्मणि शुन्धध्वं_देवयज्यायै। – वा. सं. १.१३

७ वदः सुपि क्यप् च। – अ. सू., ३.१.१०६ से प्राप्त क्यप् का निषेध

प्रस्तुत किया है। उद्धरण से पूर्व अपर आह शब्दों के कथन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने किसी अन्य श्लोकवार्त्तिककार के श्लोकवार्त्तिक उद्धत किये हैं। अतः भाष्य को रोचकता प्रदान करने में श्लोकवार्त्तिक सहायक सिद्ध हुये हैं यह कथन असंगत प्रतीत नहीं होता। व्याकरणाध्येताओं को व्याकरणाध्ययन के प्रति रूचि जागृत करने में इनका विशिष्ट योगदान है क्योंकि व्याकरण के सिद्धान्तों को इनमें छन्दोबद्ध कर दिया गया है तथा ये श्लोकवार्त्तिक व्याकरण की क्लिष्टता को रोचकता में परिवर्तित करने में कुछ अंशों तक महत्त्वपूर्ण हैं।

(३) आनाय्योऽनित्ये[१] — आचार्य पाणिनि निपातन से विशिष्ट अर्थों में ही विशिष्ट रूप की सिद्धि स्वीकार करते हैं। आनाय्यः पद की निष्पत्ति आङ्पूर्वक नी धातु से ण्यत् तथा आय् आदेश का निपातन करने पर सिद्ध होती है परन्तु यह निपातन केवल अनित्यार्थ[२] अभिधेय होने पर ही होता है। सूत्र पर 'दक्षिणाग्नौ'[३] वार्त्तिक उपलब्ध होता है जिसका अभिप्राय है कि दक्षिणाग्नि की अभिव्यक्ति होने पर ही आनाय्य पद निपातित होता है। इस निपातन की पुष्टि भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक से की है—

आनाय्योऽनित्य इति चेद्दक्षिणाग्नौ कृतं भवेत्।
एकयोनौ च तं विद्यादानेयो ह्यन्यथा भवेत्॥

प्रस्तुत सूत्रोक्त निपातित पद आनाय्य याज्ञिक कर्मकाण्ड से सम्बद्ध है। श्लोकवार्त्तिक के द्वारा अनित्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है।[४] अनित्यार्थ होने के कारण इससे अनित्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है।[५] दक्षिणाग्नि में भी आनाय्य पद विशिष्टार्थ को लक्षित करता है सामान्यार्थ को नहीं।[६]

---

१ अ.सू., ३.१.१२७

२ As this fire is brought from the Garhpatya fire and is not permanently kept alive. –Vasu, S.C. - Asta. Vol.I, p.397.

३ This is a species of Dakshinagni fire. –Ibid.

४ तस्य चानित्यत्वं नित्यमजागरणात्। –हर. पद. का. वृ. भाग २, पृ. ५२०

५ तस्माद्रूढ़िशब्दाद् दक्षिणाग्नावेव वर्त्तते न घटादिषु। –जिने. न्यास, का. वृ. भाग २, पृ. ५२०

६ दक्षिणाग्नावपि विशिष्ट एवेष्यते न सर्वत्रेवेति। –हर. पद. का. वृ. भाग २, पृ. ५२१

यज्ञ करते समय अग्निचयन आवश्यक है अग्नि-चयन करने वाला अग्निचित्[1] कहा जाता है। यज्ञ विशिष्ट के लिये विशिष्टाग्नि का चयन किया जाता है। गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय अन्वाहार्य तथा आवसथ्य अग्नियों की गणना अग्निहोत्र यज्ञ के लिये की गई है।[2] श्रौत यज्ञों में गार्हपत्य दक्षिणाग्नि की तथा पाकयज्ञ में केवल गार्हपत्याग्नि की आवश्यकता होती है। गार्हपत्याग्नि का सम्बन्ध गृहपति से माना जाता है।[3] जिसमें गृहपति पाणिग्रहण करता है वह गृह्याग्नि होती है।[4] विवाह के समय प्रज्वलित अग्नि को गृहपति सर्वदा प्रज्वलित रखता था। आनाटय इससे विपरीतार्थक अग्नि है। अर्थात् आनाय्य उस विशिष्टाग्नि का अभिधान है जिसे गार्हपत्य अग्नि से लेकर प्रतिष्ठित किया जाता है तथा जो सदैव प्रज्वलित नहीं रखी जाती।[5] गार्हपत्याग्नि बहुयाजी परिवार से लेकर प्रतिष्ठित की जाती है[6] जबकि दक्षिणाग्नि वैश्य कुल से भ्राष्ट से अथवा गार्हपत्य से लाकर प्रतिष्ठित की जाती है।[7] आहवनीयाग्नि तथा दक्षिणाग्नि का उत्पत्तिस्थान यदि एक ही गृह्याग्नि हो तो वह आनाय्य कही जाती है।[8] मीमांसकों के अनुसार भी आहवनीयाग्नि गार्हपत्याग्नि से ही प्रज्वलित की जाती है।[9] एक बार गार्हपत्याग्नि का प्रदीपन कर लेने पर जिस प्रकार उसे निरन्तर प्रज्वलित रखा जाता है उसी प्रकार अजस्रपक्ष में आहवनीयाग्नि भी प्रज्वलित रहती है। अतः पुनः पुनः आधान नहीं किया जाता। दक्षिणाग्नि का उद्धरण गार्हपत्याग्नि से किया जाता है तथा तत्पश्चात् प्रतिकर्म में उसका उद्धरण ही आधान है। मीमांसकों की दृष्टि में आहवनीयाग्नि का उत्पत्ति स्थान भी गार्हपत्याग्नि ही है।[10] अतः आह्वनीय तथा दक्षिणाग्नि का

---

१ पत., व्या. म., १.१.३ भाग २

२ आवसथ्याहवनीयौ दक्षिणाग्निस्तथैव च। अन्वाहार्यो गार्हपत्य इत्येते पञ्च वह्नयः॥ –श. वे. य. मीमां., पृ. २९०

३ एवं तर्हि गृहपतिना संयुक्त इत्युच्यते। –पत. व्या. म. ४.४.९० भाग २, पृ. ४८३

४ यस्मिन्नग्नौ पाणिंगृह्णीयात्सगृह्यः। –द्रा. गृ. सू., १.५१

५ अग्निप्रभु. पत. भा., पृ. ५२९

६ अम्बरीषद्वा नयेत बहुयाजिनो वोऽगाराच्छूद्रवर्जन। –द्रा. गृ. सू., १.५.५ वही

७ वैश्यकुलाद्वित्तवतो भ्राष्ट्राद्वा गार्हपत्याद्वेति। –हर. पद. का. वृ. भाग २, पृ. ५२१

८ तमानाय्यशब्दमाहवनीयेन य एकयोनि दक्षिणाग्निस्तत्र विद्यात्। –जिने. न्यास का. वृ. भाग २, पृ. ५२१

९ आह्वनीय गार्हपत्यादेव आधेयः न तु लौकिकात्। –सं. ३.२.२ मीमां. को., पृ. १०२०.

१० गार्हपत्यात् आहवनीयं ज्वलन्तनुद्धरति। –मीमां. को., पृ. १०२०.

उत्पत्तिस्थान समान है इसी विशिष्टार्थ में आनाय्य पद निपातित है।[१] यदि आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि का उत्पत्तिस्थान समान न हो तो ण्यत् और आयादेश निपातित नहीं होते अपितु ण्यत् प्रत्ययान्त रूप 'आनेयः' सिद्ध होता है।[२]

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से सूत्रोक्त पदों के विशिष्ट अर्थों का स्पष्टीकरण किया है। व्याकरणात्मक प्रक्रिया से अभीष्ट रूप के सिद्ध न होने पर निपातन किया जाता है। श्लोकवार्त्तिक के द्वारा वैदिक कर्मकाण्ड से सम्बद्ध पदों का प्रयोग विशिष्ट प्रक्रिया में स्पष्ट किया गया है। निपातित पद की व्याख्या करने के कारण इसे निपातनात्मक श्लोकवार्त्तिक माना जा सकता है।

चतुर्थ अध्याय –

अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्[३] प्रस्तुत सूत्र विधि सूत्र है जिसके द्वारा सूत्रकार ने अन्तर्वत् तथा पतिवत् शब्दों से नुगागम तथा ङीप् प्रत्यय का विधान किया है।[४] यथा अन्तर्वत्नी तथा पतिवत्नी शब्दों में अन्तर्वत् प्रकृति निपातित है जबकि नुगागम का विधान किया गया है।[५] यद्यपि ङीप् प्रत्यय नकारान्त होने के कारण ही सिद्ध है अतः निपातन से विशेष अर्थों में सिद्धि करना इस सूत्र का प्रयोजन है। भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र पर निम्न श्लोकवार्त्तिक का ग्रहण किया है—

अन्तर्वत्पतिवतोस्तु मतुब्वत्वे निपातनात्।
गर्भिण्यां जीवपत्यां च वाच्छन्दसि तु नुग्विधि॥

निपातन से जिस प्रकार अन्य अलाक्षाणिक कार्यों की सिद्धि होती है उसी प्रकार अर्थ विशिष्ट में भी निपातन की वृत्ति है।[६] नुगागम का विधान कित् होने के कारण अन्त[७] में होता है अतः अन्तर्वत् तथा पतिवत् शब्दों से नुगागम होने पर

---

१ Vasu, S.C. - Aśṭā.Vol.I, p. 397.
२ When it has not this sense, the form is Aneya meaning what ought to be brought. Vasu, S.C., Aśṭā.,Vol.I, p.३९७.
३ अ.सू.,४.१.३२
४ Vasu, S.C. - Aśṭā.Vol.I, p.623.
५ प्रकृतिर्निपात्यते नुगागमस्तु विधीयते। – का.वृ.४.१.३२, भाग ३, पृ.३२०
६ जिने.न्यास का.वृ., भाग ३, पृ.३२०
७ आद्यन्तो टकितौ। – अ.सू.,१.१.४६

अन्तर्वत्न तथा पतिवत्न् रूप सिद्ध होता है । ङीप्[१] प्रत्यय का विधान नकार होने के कारण होता है । अतः अन्तर्वत्नी तथा पतिवत्नी शब्दों से निपातन का प्रयोजन इनका अर्थ विशिष्ट में ग्रहण होना है । यथा अन्तर्वत्नी पद गर्भिणी स्त्री के लिये प्रयुक्त होता है तथा पतिवत्नी शब्द जिसका पति जीवित है उस स्त्री के अर्थ में निपातित है[२] गर्भिणी से अभिप्राय है गर्भ से संयोग ।[३] जिसका पति जीवित है उसका ही भर्तृ संयोग सम्भव है अतः भर्ता से तात्पर्य पति से है । भर्ता वह जो अग्निसाक्षीपूर्वक पाणिग्रहण से सम्बन्धी है । 'पृथ्वी का पालनकर्ता' अर्थ यहां अभीष्ट नहीं है ।[४] अतः **प्रथते त्वया पतिमती पृथिवीं** इस उदाहरण में पतिमती शब्द विशिष्टार्थ (जीवित है पति जिसका) में प्रयुक्त न होकर सामान्यार्थ में प्रयुक्त है ।[५]

अतः पतिमती पद में नुगागम नहीं हुआ । **'अन्यतरस्यां शालायां विद्यते '** इस उदाहरण में शाला में कुक्षिगत गर्भ से सम्बन्ध न होने के कारण मतुप् तथा नुग्यमय का अभाव है ।[६]

इसी प्रकार गर्भिणी स्त्री अर्थ की विवक्षा न होने पर अन्तर्वत्नी पद निपातन से सिद्ध नहीं होगा । अतः निपातित मतुप् का निषेध हो जाता है क्योंकि मतुप् प्रत्यय विद्यमानता[७] की स्थिति में होता है ।[८] अन्तर शब्द स्थिति के विषय में प्रयुक्त है अस्ति के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है अतः अन्तशब्द से मतुप् नहीं हुआ ।[९] इस मतुप् का विधान करने के लिये ही निपातन किया गया है । अन्तः शब्द की अधिकरण प्रधानता होने के कारण प्रथमा समर्थता नहीं है प्रथमा समर्थ से ही समानाधिकरण

---

१ ऋन्नेभ्यो ङीप् । – वही, ४.१.५
२ निपातनसामर्थ्याच्च विशेषे वृत्तिर्भवति । – का.वृ. ४.१.३२, भाग ३, पृ. ३२१
३ Vasu, S.C. - Aṣṭā.Vol.I, p.624.
४ यस्याः कुक्षौ गर्भो व्यज्यते । – जिने. न्यास का. वृ. ३, पृ. ३२१
५ भर्ता चेद् योऽग्निसाक्षिपूर्वकेण पाणिग्रहणसम्बन्धी स एवाभिमतः न तु यः पृथिवीस्वामी । – जिने. न्यास. का. वृ. ३, पृ. ३२१
६ शालायां कुक्षिगतेन गर्भेण सम्बन्धाभावत् । – जिने. न्यास का. वृ., भाग ३, पृ. ३२१
७ तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् । – अ. सू., ५.२.९४
८ Because Matup is added words possessing certain attributed. –Vasu, S.C. Asta. Vol.I, p.624.
९ Ibid.

होने पर मतुब् का विधान होता है ।[१] अन्तः शब्द समानाधिकरण नहीं है अतः मतुप् की प्राप्ति नही होती निपातन से अन्तर्वत् पद में मतुप् हुआ है वत्व[२] सिद्ध है । पतिवत् इस शब्द में प्रथमासमर्थ पति शब्द का अस्ति के साथ समानाधिकरण होने के कारण मतुप् सिद्ध है परन्तु वत्व निपातन से सिद्ध किया गया है । वेद में नुगागम विकल्प से होता है । नुक् विधान होने पर अन्तर्वत्नी[३] गर्भिणी अर्थ में तथा जीवित है पति जिसका इस अर्थ में पतिवत्नी शब्द सिद्ध होते हैं ।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सूत्रों के द्वारा रूपों की सिद्धि न होने पर विशिष्ट कार्य निपातन के द्वारा विहित होते हैं । सामान्यार्थ का अभिधान होने पर विशिष्ट प्रत्ययादि का विधान सूत्रों में निपातन से सिद्ध है । विशिष्ट अर्थों में भी पदों का निपातन होता है । इसे निपातनात्मक श्लोकवार्त्तिक मानना संगत प्रतीत होता है ।

(२) **कौमारापूर्ववचने** – प्रस्तुत सूत्र निपातन सूत्र है जिसके द्वारा अपूर्ववचन में अण् प्रत्ययान्त "कौमार" शब्द निपातन से सिद्ध होता है ।[४] सूत्र में अपूर्व शब्द भाव प्रधान है ।[५] अपूर्ववचन से अभिप्राय पाणिग्रहण का अपूर्वत्व है । भाष्यकार तथा काशिकाकार को स्त्रीत्व तथा पुंस्त्व दोनों की विवक्षा में अभीष्ट है । प्रस्तुत विषय का प्रतिपादन भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा किया है—

कौमारापूर्ववचने कुमार्या अण्विधीयते ।
अपूर्वत्वं यदा तस्याः कुमार्या भवतीति वा ॥

स्त्रीत्व तथा पुंस्त्व दोनों ही पक्षों में स्त्री का ही अपूर्वत्व विवक्षित है, पुंस्त्व का नहीं । यदि कौमार पद से पुंस्त्वाभिधेय है तो स्त्रीविशेषण है तथा स्त्रीत्वाभिधेय

---

१ प्रथमासमर्थाच्चास्ति समानाधिकरणेन मतुब् विधीयते ।
–जिने. न्यास का. वृ. ३, पृ. ३२१

२ मादुपधायाश्च । – अ. सू., ८.२.९

३ तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् । – वही, ५.२.९४

४ The word Kaumara is irregularly formed by adding the affix An when meaning virginity. Vasu, S.C. Aśṭā.Vol.I, p.701.

५ अपूर्वत्वस्य वचनमपूर्ववचनम् तस्मिन्नपूर्ववचने । – हर. पद. का. वृ. भागा ३, पृ.५१८

होने पर भी स्त्री का अपूर्वत्व ही विशिष्ट होता है पुंस्त्व का नहीं।[१] अपूर्वत्व से अभिप्राय स्त्री के पाणिग्रहण का अपूर्वत्व द्योत्य है।[२] स्त्री का अपूर्वत्व ही निपातन से प्राप्त होता है।[३] जिसका पाणि किसी अन्य के द्वारा पहले गृहीत नहीं है वह अपूर्वपति भार्या है। जिसका पति पहले विद्यमान नहीं है उस पति को भार्या रूप में प्राप्त करना।[४] अर्थात् कौमारो भर्ता से अभिप्राय है कुमारी का पति जिसकी पत्नी विवाह के समय कुमारी है विधवा नहीं है। कौमारी भार्या से तात्पर्य है अपूर्वपति कुमारी के द्वारा पति की प्राप्ति। इस प्रकार दोनों स्थितियां स्त्रीत्व विवक्षा में अभीष्ट है।[५]

इस प्रकार कौमार पद अपूर्ववचनार्थ में निपातित है श्लोकवार्त्तिक के द्वारा कौमारी शब्द से अण् का विधान निपातन से किया जाता है।[६] अण् प्रत्यायान्त कुमारी शब्द का निपातन किया जाता है तो वह स्त्रीत्व के अपूर्वत्व की विवक्षा होने पर ही किया जाता है पुंस्त्व में नहीं।[७] अर्थात् जब स्त्रीत्व में अपूर्वत्व होता है तो पुंस्त्व में नहीं होता। यह पक्ष सूत्र का प्रत्याख्यान कर देता है क्योंकि कौमार पद से अभिप्राय होता है जिसने कुमारी भार्या को प्राप्त किया है। अविद्यमान है पूर्व पति जिसका उसकी प्राप्ति प्रथमान्त से स्त्रीत्व-विवक्षा में स्वार्थ में प्रत्यय होता है। द्वितीया विभक्ति के सामर्थ्य से अण् प्रत्यय होता है।[८] भवार्थ[९] में 'कुमार्याम् भवः' कुमार शब्द से अणन्त कौमार शब्द व्युत्पन्न हो जायेगा तो पुंयोग[१०] लक्षण से ङीप्

---

१ अपूर्वत्वस्य वचनमपूर्ववचनम् तस्मिन्नपूर्ववचने। – हर. पद. का. वृ. भागा ३, पृ. ५१८
२ वही, पृ. ५१८
३ उभयत्रापि स्त्रियाः पाणिग्रहणस्यापूर्वत्वे प्रयोगः कार्यः इत्यर्थः। – कैयट, प्रदीप व्या.म. २, पृ. ४१०
४ जिने. न्यास का. वृ. भाग ३, पृ. ५१८
५ In both these cases the word refers to the woman. Vassu. S.C. Aśtā. Vol. I, p.701.
६ कुमारीशब्दादण् इति निपात्यते। – जिने. न्यास का. वृ. ३, पृ. ५१९
७ वही, पृ. ५१९
८ कैयट, प्रदीप व्या. म. २, पृ. ४१०
९ तत्र भवः। – अ. सू., ४.३.५३
१० पुंयोगादाख्यायाम्। – अ. सू., ४.१.४८

प्रत्यय होने पर कुमारी पद सिद्ध हो जायेगा।[१] कौमारी पद कौमारस्य स्त्री अर्थ में निष्पन्न है प्रत्यासत्ति से जो कौमारी पद सिद्ध है वह कौमारस्यपदेश से प्राप्त होता है। उसका ही अभिधान किया जाता है स्त्रयन्तर का नहीं।[२] इसका सूत्रारम्भ होने पर भी किया जाना चाहिये।[३] अन्यथा भवार्थ में अतिप्रसक्ति होने लगती है।[४]

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने अनेक श्लोकवार्त्तिकों का उद्धरण सूत्रों द्वारा सिद्ध न होने वाले प्रयोगों का निपातन करने के लिये किया है। निपातन से रूपों की सिद्धि करते समय सूत्रों का प्रत्याख्यान भी भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से किया है।

अष्टम अध्याय – (१) भित्तं शक्लम्[५]

प्रस्तुत सूत्र द्वारा अचार्य पाणिनि ने भिद् धातु से वत्तान्त निष्ठा में शकल अर्थ में भित्तमा शब्द निपातन से सिद्ध किया है।[६] भिद् धातु से क्त प्रत्यय का विधान होने पर दकार को नत्व[७] की प्राप्ति होती है अतः भिन्न रूप की सिद्धि होती है नत्व का निषेध करने के लिये ही भित्तम् निपातन आवश्यक है।

भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र पर शंका उद्भावना की है कि यदि शकलार्थ भित्तं निपातित रूप होगा तो 'भिन्नं' भित्तम्' यह प्रयोग सिद्ध होता क्योंकि शकल जातिवाचक है तथा विदारणार्थक् भिद् धातु से व्युत्पन्न होने के कारण क्रिया शब्द है अतः जयति तथा क्रिया शब्द पर्याय नहीं हो सकते। प्रस्तुत श्लोकवार्तिक में शंका का समाधान किया है —

---

१ ततः पुंयोग लक्षणे ङीषि सति हि कुमारीत्येतत् सिद्धम्। – जिने. न्यास का. वृ., भाग ३, पृ. ५१९

२ प्रत्यासत्या च यस्यामसौ भवन् कौमारव्यपदेशं लभते सैवाभिधीयते न स्त्रयन्तरम्। – हर. पद. का. वृ. भाग ३, पृ. ५१९

३ एतच्च सूत्रारम्भेऽप्यङ्गीकर्त्तव्यम्। – वही, ५१९

४ अन्यथा भवार्थमादायातिप्रसंगो दुर्वार इति बोध्यम्। – नागेश, उद्योत, व्या. म. भाग २, पृ. ४११

५ अ.सू., ८.२.५९

६ The word Bhitt is irregulary formed the sense of a fragment, portion.
Vasu. S.C. Aśtā., Vol II.p.1510.

७ रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः। — अ.सू., ८.२.४२

तत्त्वमभिधायकं चेच्छकलस्याऽनर्थकः प्रयोगः स्यात्।
शकलेन चाप्यभिहिते न भवति तत्त्वं निगमयामः ॥

'भित्तं भिन्नं इस प्रयोग में शकल अर्थात् खण्ड के अपर पर्याय के रूप में भित्तम शब्द प्रयुक्त है।[१] अतः जिस प्रकार शकल से खण्ड अभिधेय है उसी प्रकार भित्तम् से भी। शकल तथा पटादि में सामान्य रूप से विदारणार्थक भिद् धातु का प्रयोग किया जाता है परन्तु विशिष्टता का प्रतिपादन करने के लिये ही 'भित्तम् भिन्नम्' यह प्रयोग किया गया है। इस प्रयोग में भिद् क्रिया शब्द संस्कार में निमित्त है न कि शब्द की प्रवृत्ति में।[२] प्रवृत्ति के प्रति जाति निमित्त होती है अतः शकल शब्द के समान भित्तम् शब्द भी जाति है न कि क्रिया शब्द।[३] इन दोनों की समानता का प्रतिपादन करने के लिये सूत्र में शकल पद का ग्रहण किया गया है।[४] श्लोकवार्त्तिककार ने इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है। सामान्य के द्वारा विशेष का अभिधान करने के लिये ही भिन्नं भित्तम् प्रयोग कहा गया है।[५] विदारण क्रिया के द्वारा शकल की निवृत्ति है अतः उसका भित्त शब्द में ही अन्तर्भाव हो जाता है जो बाधक है।[६] दोनों ही प्रकार के प्रयोगों के कारण भित्त शब्द में क्रिया निमित्तत्व ग्रहण नहीं होता। अतः भित्त प्रयोग रूढ़ि प्रयोग कहा जा सकता है।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक[७] के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने विशिष्ट अर्थों में कुछ विशिष्ट शब्दों का निपातन श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से किया है। निपातनात्मक श्लोकवार्त्तिकों के अतिरिक्त कुछ श्लोकवार्त्तिक ऐसे हैं जिनमें सूत्रोक्त पदों के लक्षण अथवा परिभाषा से सम्बद्ध व्याख्यान किया गया है। इन श्लोकवार्त्तिकों को परिभाषात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है।

---

१ जिने. न्यास का. वृ. भाग ६, पृ ४२४
२ भित्त शब्दः शकले रूढ़इति भिदिक्रियाकेवलं व्युत्पत्तिनिमित्तं न तु प्रवृत्तिनिमित्तमिति। –कैयट, प्रदीप, व्या. म. भाग २, पृ. ४०६
३ भित्त शब्दोऽपि जाति शब्द एव न क्रिया शब्द। –वही, पृ. ४०६
४ साम्यप्रतिपादनार्थ शकलग्रहणम्। –हर. पद. का. वृ. भाग ६, पृ. ४२५
५ सामान्योपक्रमे विशेषाभिधानामिति भावः। –कैयट प्रदीप व्या. म. ३, पृ. ४०६
६ भित्त शब्देन भिदिक्रिया निमित्तकेन भिन्न शब्दस्य बाधितत्वात्। –जिने. न्यास का. वृ., भाग ६, पृ. ४२४
७ Vasu, S.C. - Aśṭā. Vol.II, p.1570.

चतुर्थ अध्याय – (१) स्त्रियाम्[१]

प्रस्तुत सूत्र अधिकार सूत्र है जिसके अन्तर्गत इस सूत्र से परे आने वाले सूत्र स्त्रयाधिकार में आते हैं।[२] स्त्रीत्व अधिकार का निरूपण करने से 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्'[३] सूत्र से विहित सर्वाधिकार होने पर भी प्रत्यय विधि में ङ्याबन्त प्रकृति से स्त्रयधिकार का अभाव होता है।[४] ङ्याबन्त प्रकृति का सम्बन्ध स्त्रयधिकार में होने पर ङ्याप् का सम्बन्ध भी होने लगेगा, प्रकृति ङ्याबन्त नहीं है अतः ङ्याप् का सम्बन्ध भी स्वीकार नहीं किया गया।[५] प्रातिपदिक मात्र की अनुवृत्ति ही अभीष्ट है।[६]

स्त्रीत्वाधिकार का प्रतिपादन करने के पश्चात् भाष्यकार ने स्त्रीत्व सम्बन्धी शंका की उद्भावना की है क्योंकि शास्त्र में अन्यत्र स्त्री की परिभाषा नहीं की गई अतः लौकिक लक्षण को ही ग्रहण करते हैं[७] परन्तु लौकिक स्त्रीलक्षण का ग्रहण करने पर खट्वा आदि शब्दों में अव्याप्ति तथा भ्रूकुंसादि में अतिव्याप्ति दोष की प्रसक्ति होती है।[८] अतः भाष्यकार ने प्रथमान्त पद निर्देश 'का स्त्री नाम' के द्वारा वस्तुस्वरूप जिज्ञासा में शंका की है।[९] स्त्री विशेष विषय में शंका होने पर सप्तम्यन्त पद से प्रश्न किया जाता है।[१०] लोक में इयं स्त्री, अयं पुमान् तथा इदं नपुंसकम् यह

---

१ अ. सू., ४.१.३

२ दैवयज्ञिशौचिवृक्षि सात्यमुग्रि काण्ठेविद्धिभ्योऽन्यतरस्याम्। – अ. सू., ४.१.८१ तक स्त्रयधिकार है।

३ अ. सू., ४.१.१

४ 'स्त्रियाम्' इत्यधिकृत्य प्रत्ययविधौ ङ्याबन्तायाः प्रकृतेरभावमाह। – जिने. न्यास का. वृ. भाग ३, पृ २६६

५ प्रकरणापेक्षया चेतदुच्यते सूत्रान्तरव्यापारसमये तु सूत्रान्तर विहितप्रत्ययान्ता प्रकृतिः सम्भवत्येव। – हर. पद. का. वृ. भाग ३, पृ. २६६

६ The Anuvritti of the word Pratipadika should be read into this Sutra from the first Sutra. Vasu, S.C. Aśṭā., Vol.I, p.607.

७ इह च शास्त्रे स्त्रिया अपरिभाषितत्वात्। – कैयट प्रदीप व्या.म. भाग २, पृ. २८९

८ हर. पद. का. वृ. भाग ३, पृ. २६६

९ यत्र वस्तुस्वरूपजिज्ञासा तत्र प्रथमान्तेन प्रश्नो युक्तः। – कैयट, प्रदीप, व्या.म. भाग २, पृ.२८९

१० कस्यां स्त्रियां तूच्यमाने विशेषविषयप्रश्नः स्यात्। – हर. पद. का. वृ. भाग ३, पृ. २६६

व्यवहार होता है। लोक से अभिप्राय है व्यवहार।[१] व्यवहार में विशिष्ट अर्थ के अभिधायक होने के कारण स्त्री आदि शब्द प्रसिद्ध हैं।[२] परन्तु द्रव्य में सत्ता, संख्या, कर्म आदि अनेकार्थों[३] की विद्यमानता होने के कारण शंका होती है कि स्त्रीत्व का लक्षण क्या है ? अतः भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिकों में स्त्रीत्व लक्षण सम्बन्धी शंका का समाधान प्रस्तुत किया है—

स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम्॥
लिङ्गात्स्त्रीपुंसयोर्ज्ञाने भ्रूकुंसे टाप् प्रसज्यते।
नत्वं खरकुटीः पश्य खट्वा वृक्षौ न सिध्यतः॥
नापुंसकं भवेत्तस्मिन् तदभावे नपुंसकम्॥
असुत्तु मृगतृष्णावत् गन्धर्वनगरं यथा।
आदित्यगतिवत्सन्न, वस्त्रान्तर्हितवच्च तत्॥
तयोस्तु तत्कृतं दृष्ट्वा आकाशेन ज्योतिषः।
आदित्यगतिवत्सन्न, वस्त्रान्तर्हितवच्च तत्॥
तयोस्तु तत्कृतं दृष्ट्वा आकाशेन ज्योतिषः।
अन्योन्यसंश्रयं त्वेतत् प्रत्यक्षेण विरुध्यते॥
तटे च सर्वलिङ्गानि दृष्ट्वा कोऽध्यवसास्यति।
संस्त्यान प्रसवो लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्ततः॥
संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्रट् स्त्री सूतेः सप् प्रसवे युमान्।
तस्योक्तौ लोकतो नाम, गुणो वा लुपि युक्तवद्॥

स्त्रीलक्षण के विषय में मतभेद है अतः श्लोकवार्त्तिककार ने लौकिक लक्षण का कथन किया है।[४] लौकिक लिंग के अनुसार स्त्री का लक्षण 'स्तनकेशवती'[५]

---

१ लोक्यते येन शब्दार्थो लोकस्तेन स उच्यते। व्यवहारोऽथवा वृद्धव्यवहर्तृ परम्परा॥ –इत्युक्तेः। –नागेश उद्योत व्या. म. भाग २, पृ. २८९
२ कैयट प्रदीप, वही
३ कैयट प्रदीप, व्या. म. भाग २, पृ. २८९
४ इह च स्त्रीत्वं प्रत्याचार्याणां दर्शनभेदः। –जिने. न्यास का. वृ., भाग ३, पृ. २६६
५ भूम्नातिशायने वा मतुप्। –वही, पृ. २६६

है। स्तनकेशत्व प्रसिद्ध होने के कारण कुमारी आदि में प्राप्त होने पर भी स्त्रीत्व प्रतिपत्ति का हेतु है।[१] अतः स्त्रीत्व के द्योतक स्तनादि उपव्यंजनों में गोत्वादि के समान सामान्य विशेषत्व गृहीत है।[२] इसके विपरीत कुमारादि में विद्यमान लोमशत्व पुंबोध का हेतु है। स्त्रीत्व तथा पुंस्त्व के सदृश अर्थात् स्तनलोमशादि दोनों का व्यंजन नपुंसकत्व है। लिंगवत्ता के कारण सादृश्य का ग्रहण होने से अव्यय तथा आख्यात में स्त्रीत्व तथा पुंस्त्व का अभाव होने पर भी नपुंसकत्व नहीं होता।[३] स्त्रीपुंस्त्वाभाव में स्त्रीपुंससमुदायरूप द्वन्द्वार्थ में नपुंसक नहीं होता। यथा कुक्कुट-मयूरी इस स्त्रीपुस्त्व समुदाय रूप पद में परवल्लिङ्गता है।[४] अतः नपुंसकत्व का अभाव है। यह वस्तु स्वरूपनिरूपणपरक लक्षण है क्योंकि स्तनकेशादि सम्बन्ध हैं स्तनादि ही विशिष्ट संस्थान हैं उसके उपव्यंजन अथवा जाति स्त्रीत्वादि हैं।[५]

यदि लौकिक लिंग लक्षण से स्त्रीत्व पुंस्त्व का निश्चय किया जाता है तो स्त्रीवेषधारी नट[६] में स्तनकेश सम्बन्ध होने के कारण स्त्रीत्व विवक्षा में टाप्[७] प्रत्यय की प्रसक्ति होती है क्योंकि नटादि में नित्यलिंग की उपस्थिति होती है। स्तनातिशय सम्बन्ध उत्तरकाल में उत्पन्न होने के कारण अतिशयार्थ में मतुप् होने पर पूर्वकाल में स्त्रीत्व नहीं होता।[८] टाप् प्रत्यय की प्रसक्ति के अतिरिक्त खरकुटी अर्थात् नापितग्रह[९] में लोमशत्व के कारण पुंस्त्व की प्राप्ति होती है। अतः पुंस्त्व निमित्तक नत्व[१०] की प्रसक्ति होने लगती है।[११] इसी प्रकार खट्वा तथा वृक्षादि में स्त्रीत्व

---

१ हर. पद. का. वृ., भाग ३, पृ.२६७

२ हस्तिन्यां वडवायां च स्त्रीति बुद्धेः समन्वयः।
अतस्तां जातिमिच्छन्ति द्रव्यादिसमवायिनीम्। – भर्तृ.वा.प. का.,

३ तेनाव्ययाख्यातार्थस्य नपुंसकत्वाभावः। – कैयट प्रदीप व्या.म. भाग २, पृ. २८९

४ परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरूषयोः। – अ. सू., २.४.२६

५ हर. पद. का. वृ., भाग ३, पृ. २६७

६ सामाजिकानां स्त्रीवेषधारिण एवतस्य दर्शनादिति भावः। – नागेश उद्योत व्या. म. भाग २, पृ. २९०

७ अजाद्यतष्टाप्। – अ. सू., ४.१.४

८ कैयट प्रदीप व्या. म., भाग २, पृ. २९०

९ खरकुटी नापितगृहमुच्यते इति केचिदाहुः। – वही, पृ. २९०

१० तस्माच्छसोः न पुंसि। – अ. सू. ६.१.१०३

११ तत्रमनुष्यस्य वाच्यत्वात्तस्य च लोपशत्वात् पुंस्त्वात् खरकुटीः पश्येत्यादौ नत्व प्रसङ्गः।

निमित्तक स्तनकेशादित्व तथा पुंस्त्व निमित्तक लोमशादित्व का अभाव है अतः स्त्रीत्व तथा पुंस्त्व की सिद्धि नहीं होती। स्त्रीत्व तथा पुंस्त्व का अभाव होने के कारण खटवा तथा वृक्ष में नपुंसकत्व होता है।[१] श्लोक वार्त्तिककार ने खट्वा तथा वृक्ष में लिंग की सिद्धि करने के लिये मृगतृष्णा को दृष्टान्त माना है अर्थात् जिस प्रकार तृषित मृग जल की धाराओं को देखते हैं परन्तु उनका अस्तित्व नहीं होता उसी प्रकार खट्वा तथा वृक्ष में अविद्यमान स्त्रीत्व तथा पुंस्त्व है। अतः मृगतृष्णाविषया मरूमरीचिका असत्य जलरूप में प्रतिभासित होती है तथा खट्वा व वृक्षादि में पुंस्त्व तथा स्त्रीत्व का भ्रम उत्पन्न करने में निदर्शन है।[२] यह भ्रम गन्धर्व नगर[३] के समान है अर्थात् गन्धर्व नगर अन्तरिक्ष में कभी भी उपलब्ध नहीं होता न ही तत्सदृश[४] कोई वस्तु है जिसके आधार पर गन्धर्व नगर का स्मरण सम्भव है अतः जिस प्रकार असत् पदार्थों के प्रति सत्ता की भ्रान्ति होती है उसी प्रकार खट्वा तथा वृक्षादि में स्त्रीत्व तथा पुंस्त्वादि की भ्रान्ति होती है।[५]

खट्वा तथा वृक्षादि में यदि स्त्रीत्व व पुंस्त्व को स्वीकार करते हैं तो भी उनकी प्राप्ति नहीं होती, जिस प्रकार आदित्य की गति[६] होने पर भी उसका बोध नहीं होता। खट्वा वृक्ष में लिंग होने पर भी सुक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल स्त्रीत्व निमित्तक टाबादि[७] कार्य होने पर ही अनुमान लगाया जा सकता है। वस्त्र में अन्तर्भूत द्रव्य उपलब्ध नहीं होते उसी प्रकार खट्वा तथा वृक्ष में विद्यमान भी लिंग उपलब्ध नहीं होता यह दृष्टान्त संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि वस्त्र के नष्ट होने पर तन्तु उपलब्ध होते हैं। परन्तु पूर्णतः वृक्षको काटने पर भी रथकार को लिंग की प्राप्ति नहीं होती। एक बार पदार्थ की उपलब्धि होने पर लिंग की प्राप्ति नहीं

---

१ तत्र मनुष्यस्य वाच्यत्वात्तस्य च लोमशत्वात् पुंस्त्वात् खरकुटीः पश्येत्यादौ नत्व प्रसङ्गः।

२ तत्र ह्येवमुक्तं भगवता शेषेण—
मृगतृष्णायामुदकं, शुक्तौ रजतं, भुजङ्गमो रज्ज्वाम्।
तैमिरिक चंद्रयुगवत्, भ्रान्तमखिलं जगद्रूपम्॥ –नागेश, उद्योत, व्या. म. २, पृ. २९०

३ गन्धर्वनगर लेखेव पश्यत एव नश्यति। –बाण. शुक., पृ.

४ कैयट प्रदीप व्या. म., २ पृ. २९१

५ तथैवाव्यपदेश्येभ्यो हेतुभ्यस्तारकादिषु। मुख्येभ्य इव लिङ्गेभ्यो भेदो लोके व्यवस्थितः॥ –भर्तृ. वा. प. काण्ड, पृ.

६ कैयट प्रदीप व्या. म. भाग २, पृ. २९१

७ अजाद्यतष्टाप्। –अ. सू., ४.१.४

होती। एक बार पदार्थ की उपलब्धि होने पर तत्पश्चात् अनुपलब्धि का कारण व्यवधान माना जा सकता है।[१] अत्यन्तानुपलब्ध पदार्थ शशविषाण[२] के समान है इसी प्रकार खट्वा, वृक्ष में लिंग अत्यन्त अविद्यमान है परन्तु विद्यमान होने पर भी प्राप्ति अनेकशः नहीं होती है। इस अप्राप्ति में निम्न षड्निमित्त माने गये हैं—

(१) अतिसन्निकर्ष, (२) अतिविप्रकर्ष, (३) मूर्त्यन्तरव्यवधान, (४) तमसावृतत्व, (५) इन्द्रियदौर्बल्य, (६) अतिप्रमाद। अतः इन छः कारणों से खट्वा व वृक्ष में लिंग की प्राप्ति विद्यमान होने पर भी नहीं होती। यथा आकाश में मेघाच्छादित होने पर भी ज्योति का अनुमान कर लिया जाता है। उसी प्रकार स्त्रीनिमित्त कार्य को देखकर खट्वा व वृक्ष में लिंग अनुमानित होता है।[३] यदि स्त्रीत्व तथा पुंस्त्व कार्यों से अनुमान लगाया जाता है तो इतरेतराश्रय दोष की प्रसक्ति होती है तथा प्रत्यक्षत्त्व के भी विरूद्ध है।[४] इसके विपरीत तट शब्द सर्वलिंग है अर्थात् स्त्रीत्व, पुंस्त्व नपुंसकत्व तीनों में प्रयुक्त होता है। तटः 'तटी' तटम् पदों में लिंग का ज्ञान करना कठिन है क्योंकि एक ही पदार्थ में तीनों लिंगों का होना असम्भव प्रतीत होता है। यह लौकिक लिंग की स्थापना श्लोकवार्त्तिककार ने की है परन्तु वैयाकरणों को लिंग का लौकिक लक्षण अभीष्ट नहीं है अतः व्याकरणात्मक अन्य लक्षण स्थापित करना आवश्यक प्रतीत होता है। भावार्थ में शास्त्रीय लक्षण सिद्ध करने का प्रयास किया है।[५] संस्त्यान अर्थ में स्त्याय् धातु से ड्रट् प्रत्यय का विधान होने पर स्त्री तथा सू धातु से प्रसव अर्थ में सप् प्रत्यय होने पर पुमान् शब्द सिद्ध होता है। स्त्यायत्यस्मौ गर्भ इस अर्थ में अधिकरणसाधन स्त्री है तथा सूते अर्थात् कर्तृसाधन पुमान् है। संस्त्यान से अभिप्राय तिरोभाव, प्रवृत्तिराविर्भाव, साभ्यावस्था अभिप्रेत हैं। संघातरूप को स्त्री प्राप्त करती है तथा अपत्य का जनन पुमान् करता है। स्त्री के द्वारा संस्त्यान तथा पुमान् के द्वारा गुणों की प्रवृत्ति होती है।[६] सत्व, रजस्, तमस् गुणों के तत्परिणामरूप शब्दादि पंच गुण हैं। गुणों के उपचयापचय

---

१ कैयट प्रदीप व्या.म.२, पृ.२९
२ अन्यथा तेषामपि सत्वं स्यादिति भावः। –नागेश, उद्योत, वही
३ स्त्रीपुंसकार्य टाम्नत्वादिकं दृष्ट्वा कारणभूतलिङ्गानुमानं क्रियते। –वही, पृ.२९२
४ कैयट प्रदीप व्या.म.भाग २, पृ.२९२
५ भावसाधनत्वं दर्शयति। –वही, पृ.२९३
६ संघातरूपं प्राप्नोति। सूते पत्यं जनयतीति पुमानित्यर्थः। –वही, पृ.२९३

से ही लिंग निर्धारण किया जा सकता है ।[१] संघातरूप ही घटादि पदार्थ है, यही अवयवी द्रव्य है । सांख्य दर्शन के अनुसार सत्व, रजस्, गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है ।[२] अतः शास्त्रीय लिंग की व्यवस्था इस प्रकार की जा सकती है संस्त्यान विवक्षा[3] में स्त्री, प्रसवविवक्षा में पुमान् तथा उभय विवक्षा में नपुंसकत्व होता है । शिष्ट व्यवहार से लिग के प्रतिपादन में व्यवस्था की जाती है ।[४] 'लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने'[५] सूत्र के समान यहां गुण का ग्रहण किया जाना चाहिये । भ्रूकुंसादि में स्तनकेशादिमत्व लक्षण लिंग की प्राप्ति होने पर पर भी परिहार किया गया है चञ्चादि में अपरित्याग होने पर भी शास्त्रीय लिंग की सिद्धि मानी गई है अतः लिंग व्यवस्था में लोक प्रमाण है । स्त्रीत्वादि से प्रतीयमान संस्त्यानादि लौकिक हैं इनमें अलौकिकत्व मानने पर खट्वा स्त्री, वृक्षः पुमान् यह व्यवहार अनुपपन्न प्रतीत होता है ।लौकिकत्व साधन के द्वारा अलौकिकत्व का परिहार कर दिया गया है । इस प्रकार भाष्यकार ने शास्त्रीय लिंग का आधार लौकिक लिंग लक्षण को माना है ।[६]

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों अध्ययन के आधार यह कहा जा सकता है कि सूत्रोक्त पदों का लक्षण सिद्ध करने में भाष्यकार ने लौकिक लक्षण को आधार माना है ।श्लोकवार्त्तिकार ने सूक्ष्मता से लौकिक लक्षण तथा शास्त्रीय लक्षण की विवेचना की है तथा लौकिक लक्षण पर आधारित शास्त्रीय लक्षण स्थापित किया है । श्लोकवार्त्तिक में सूत्रोक्त पद की परिभाषा का विवेचन होने के कारण इसे परिभाषात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है ।

---

१ अचेतनखट्वादिसाधारणं लिङ्गन्तु सत्वादीनां गुणानामुपचयापचयस्थितिरूपम् । –नागेश, लघु., पृ. १५१
२ सत्वरजतमसांसाम्यावस्था प्रकृतिः । - सां. का. का., पृ.
३ लोकव्यवहारानुवादिनी विवक्षा आश्रीयते न तु प्रयोक्ती ।
- कैयट प्रदीप व्या. म.२, पृ. २९५
४ कैयट प्रदीप व्या. म.२, पृ. २९५
५ अ. सू., १.२.५१
६ तत्र स्तनकेशवती स्त्री स्माल्लोमशः पुरुषः स्मृत इत्यादौ लौकिक लिङगसम्भवे शास्त्रीयं कार्यं शास्त्रीये उक्त एव । - नागेश लघु., पृ. १५१

(२) वो तो गुणवचनात्[१] — प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने गुणवचन उकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व विवक्षा में ङीष् प्रत्यय का विधान विकल्प से किया है।[२] सूत्र में ङीष् प्रत्यय की अनुवृत्ति 'अन्यतो ङीष्'[३] सूत्र से हुई है। गुणवचन से अभिप्राय है गुणमुक्तवान् अर्थात् गुण का कथन करने वाले। जो गुण का अभिधान करता है वही गुणवचन[४] है। गुणवचन पद ल्युट् प्रत्यय से निष्पन्न है वह प्रथमतः गुण का अभिधान करके मतुब् लोप होने के कारण अभेदोपचार से तद्वद् द्रव्य का बोध करता है।[५] गुण शब्द से सूत्र में शास्त्रीय गुण अदेङ्[६] का ग्रहण नहीं होता क्योंकि उतः का ग्रहण किया गया है जबकि अदेङ् में उत् का अध्याहार नहीं होता शास्त्र में विशेषण मात्र गुण का ग्रहण किया जाता है अर्थात् संख्या, सर्वनाम, जाति तथा समास पद गुण का बोध कराते हैं तथा इनका विशेषण के रूप में प्रयोग होता है विशेष्य की विशेषता का ज्ञान कराते हैं।[७] यथा शुक्लादि पदों में अतः वैशेषिक द्वारा प्रतिपादिक रूप रसादि[८] का ग्रहण नहीं किया गया क्योंकि गुण का अभिधान होने पर भी इसका प्रयोग विशेषण के रूप में नहीं किया गया है।[९] अतः मृदु तथा पटु शब्दों से पटुत्व तथा मृदुत्व का अभिधान होने पर पटु तथा मृदु शब्द तद्वति द्रव्य में है अतः गुणवचन हैं। भाष्यकार ने गुण की परिभाषा का प्रतिपादन करने के लिये निम्न श्लोकवार्त्तिक का ग्रहण किया है—

सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग् जातिषु दृश्यते।
आधेयाश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्वप्रकृतिर्गुणः॥

---

१ अ.सू., ४.१.४४
२ Vasu, S.C.Asta. Vol.I, p.630.
३ अ.सू., ४.१.४०
४ The word Gunavaccanah means what expresses quality. Ibid.
५ जिने.न्यास का.वृ. भाग ३, पृ. ३३८
६ अदेङ् गुणः। – अ.सू., १.१.२
७ Ibid.
८ रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाण पृथक्त्वसंयोग विभाग परत्व अपरत्वगुरूत्वद्रथव स्नेहशब्दबुद्धिसुखदुःखेच्छा द्वेषप्रयत्न धर्माधर्मसंस्कारभेदात् चतुर्विशंतिधा। कणाद् तर्कभाषा, पृ.२७
९ विशेषणस्यापि तु गुणस्य ग्रहणं प्राप्नोति। – कैयट प्रदीप व्या.म. भाग २, पृ. ३२४

सत्त्व से अभिप्राय द्रव्य से है क्योंकि जाति गुण किया इसी में आश्रित रहते हैं जिसका निवेश गुण है ऐसा कथन होने पर गुणक्रिया तथा जाति के गुण होने के कारण सत्त्व कहा गया है।[१] सत्त्व से अभिप्राय निरूक्तकार[२] ने लिंग संख्या, वचनादि जिसका अनुगमन करें उसे माना है। सत्त्व अर्थात् द्रव्य में निविष्ट होकर उसका द्रव्य से निवर्तन हो जाता है जिस प्रकार आम्रफल में पूर्णतः श्यामता प्राप्त होती है तत्पश्चात् एकता उसी प्रकार सत्व में कभी तो गुण का निवेश होता है अपगमन हो जाता है।[३] भिन्न जातियों में ही उपलब्ध होने वाला गुण है। अतः जाति में गुणत्व की कल्पना नहीं की जा सकती। जाति सर्वदा एक ही द्रव्य में अभिनिविष्ट रहती है। तथा भिन्नजातीय द्रव्यों में जाति का निवेश नहीं होता। यथा गोत्व जाति अश्वादि व्यक्तियों में उपलब्ध नहीं होती।[४] गो जाति में दृष्ट शुक्लादि गुण शङ्खादि में भी उपलब्ध होते हैं। जाति द्रव्य पर आश्रित नहीं होती[५] क्योंकि द्रव्य गुण और कर्म तीनों में सत्ता रहती है द्रव्यत्व द्रव्य में विद्यमान रहता है कर्मत्व कर्म में तथा गुणत्व गुण में विद्यमान रहता है। द्रव्यनिष्ठ जाति सत्त्व का त्याग नहीं करती।[६] जन्म से लेकर विनाश तक उसके द्वारा आधारद्रव्य का परित्याग नहीं होता अतः जाति पृथग्जातियों में उपलब्ध नहीं होती।[७] जाति में गुणत्व प्रसंग का निराकरण कर दिया गया है।[८] क्रिया में गुणत्व की जाति होती है क्योंकि उसका द्रव्य में निवेश होता है तथा इसके द्वारा द्रव्य का परित्याग होता है।[९] अतः द्रव्य कभी निष्क्रिय होता है तो कभी सक्रिय। पृथग् जातीय गवाश्वादि में इसकी प्राप्ति

---

१ सीदन्त्यस्मिन्नजातिगुण क्रिया इति सत्त्वम् द्रव्यम्। – हर.पद.का.वृ.३,पृ.३४०
२ लिङ्गसंख्ययोरत्र सद्भाव इति सत्वम्। – या.विनरूक्त अध्याय १,पृ.४
३ हर.पद.का.वृ.भाग ३,पृ.३४०
४ यद्यपि गवाश्वादिषु प्राणित्त्वमस्ति तथापि प्राणित्वेन तेषामेकजातीत्वमेव। – कैयट, प्रदीप व्या.म.भाग २,पृ.३२४
५ जिने.न्यास का.वृ., भाग ३,पृ.३४०
६ नापि द्रव्यवर्त्तिनी जाति सत्त्वादपेति। – वही,पृ.३४०
७ वही,पृ.३४०
८ यः पृथग्जातीयेषु दृश्यते सः गुणः न चैवंरूपया गोत्वादि जातिः। – हर.पद.का.वृ.,भाग ३,पृ.३४१
९ साऽपि हि द्रव्ये निविशते कदाचिद् द्रव्यान्निवर्तते।

होती है परन्तु उत्पाद्य होने के कारण अनुत्पाद्य होने के कारण क्रिया में गुणत्व का निषेध किया गया है ।[१] वाक्य द्रव्यों में रक्तता गुण अग्नि संयोग से निष्पाद्य है जबकि क्रिया से यथा आकारादि में महत्तत्वादि गुण अनुत्पाद्य हैं । आश्रय भेद से उत्पाद्यत्व तथा अनुत्पाद्यत्व स्वभाव वाला गुण है अतः नित्य उत्पाद्य कर्म में गुणत्व का अभाव है ।[२]

इसी प्रकार द्रव्य में भी गुणत्व की प्राप्ति होती है अर्थात् द्रव्य में भी गुणधर्म विद्यमान है यथा शरीररूप अवयवभूत द्रव्य में इसका निवेश होता है ।[३] तथा संयोग निवृत्ति होने पर जो परित्याग करता है पादादि द्रव्य रूप पृथक् जातियों में उपलब्ध होता है ।[४] अवयविद्रव्य के उत्पाद्य तथा अनुत्पाद्य होने के कारण द्रव्यों में गुणत्व का परिहार किया गया है[५] अर्थात् जो सत्त्व गुणों से रहित है द्रव्य स्वभाव नहीं है वह गुण है । सम्पूर्ण श्लोकवार्त्तिक के द्वारा जाति में गुणत्त्व की व्यावृत्ति की गई है । गुण के दो लक्षण प्रतिपादित हैं प्रथम—

सत्त्वे निविशतेऽपैति आधेयश्चाक्रियाजश्च ।

तथा

द्वितीये सत्त्वे निविशते पृथग्जातिषु' है ।[६]

वाक्य द्रव्य में रूप, जाति दोनों उत्पाद्य, अनुत्पाद्य स्वभाव है । अतः जाति में भी गुणत्व की प्राप्ति होती है परन्तु सजातीयत्व होने पर गुणत्वाभाव अभीष्ट है पूर्वार्द्ध के द्वारा जाति में गुणत्व की व्यावृत्ति सिद्ध की गई है ।[७] अपैति का अभिधान होने के कारण द्रव्य में कुछ क्षण स्थित रहकर उस आधार का त्याग करती है । इस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है ।

---

१ कैयट प्रदीप व्या. म. भाग २, पृ. ३२४
२ हर. पद. का. वृ. भाग ३, पृ. ३४१
३ जिने. न्यास का. वृ., भाग ३, पृ. ३४१
४ कैयट प्रदीप व्या. म. भाग २, पृ. ३२४
५ अवयविद्रव्यस्योत्पाद्यत्वादाकाशादेस्तद्वदनुत्पाद्यत्वात् । – वही,
६ हर. पद. का. वृ. भाग ३, पृ.३४२
७ सजातीयत्वे सतीति विशेषणमुपात्तमतः पूर्वार्द्धेन जाति व्यावृत्तिः । – वही, पृ. ३४२

भाष्यकार ने इसी अर्थ की पुष्टि अन्य आचार्य के मतानुसार निम्न श्लोक-वार्त्तिक के द्वारा की है—

उपैत्यन्यद् जहात्यन्यद् दृष्टो द्रव्यान्तरेष्वपि।
वाचकः सर्वलिङ्गानां द्रव्यादन्यो, गुणो स्मृतः ॥

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अनुसार शुक्रादि गुण एक द्रव्य का ग्रहण करते हैं तथा अन्य का परित्याग करते हैं।[१] जिस प्रकार कुसुम्भादि रूप वस्त्र में आ जाता है कुसुम्भ का परित्याग कर देता है।[२] इसी प्रकार पटुत्व कहीं प्राप्त होता है और कहीं नष्ट हो जाता है, क्योंकि पटु व्यक्ति में अपटुत्व तथा अपटु व्यक्ति में पटुत्व दृष्टिगत होता है।[३] यह भिन्न जातीय द्रव्यों में उपलब्ध होता है। सर्वलिंग आश्रयगत होने के कारण तथा लिंग का ग्रहण कराने के कारण यह वाचक माना गया है। शब्द धर्म वाचकत्व का आरोप अर्थ में होता है अतः गुण में वाचकता है।[४] गुणवचन संज्ञा के अन्तर्गत 'आकडारादेकासंज्ञा'[५] सूत्र में उक्त शब्दों का ग्रहण है। दोनों ही श्लोक-वार्त्तिकों में समस्त कृदन्त, तद्धितान्त, सर्वनाम, जाति, संख्या संज्ञा शब्दों के अतिरिक्त शब्दों की गुणवचन संज्ञा विहित है।[६] संज्ञा जाति द्रव्य में विद्यमान होने पर वाचकत्व रूप में कभी प्रवृत्त तथा कभी अप्रवृत्त नहीं होता।[७] सर्वनाम शब्द नियत विषय नहीं है अतः भिन्न जातीय पदार्थों में इसका ग्रहण नहीं होता। आधेयः मानने के कारण संख्या तथा जाति शब्दों का निवारण किया गया है।[८] प्रक्रिया होने से कृदन्त प्रत्ययों का विधान नहीं होता।[९] श्लोक-

---

१ कैयट प्रदीप व्या. म. भाग २, पृ. ३२४
२ नागेश उद्योत व्या. म. भाग २, पृ. ३२४
३ वही, पृ. ३२४
४ शब्दधर्मस्य वाचकत्वस्यार्थ आरोपाद् वाचक इत्युच्यते। – कैयट प्रदीप व्या.म. भाग २, पृ. ३२४
५ अ. सू., १.४.१
६ नागेश, उद्योत व्या. म. भाग २, पृ. ३२५
७ तत्राद्यपादेन संज्ञानिरासः। वही, पृ. ३२५
८ वही, पृ. ३२५
९ अक्रियाज इत्यस्य क्रियाप्रतिपादक धात्वजस्य इत्यर्थः। – वही, पृ. ३२५

वार्त्तिक में असत्त्व प्रकृति का ग्रहण होने के कारण भिन्नार्थक होने के कारण समस्त तद्धितान्त प्रत्ययों को निराकरण हो जाता है ।[१] अतः सूत्र में प्रकृति ग्रहण सार्थक प्रतीत होता है ।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने सूत्रोक्त पदों के लक्षण का निश्चय करने के लिये श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं । सूत्रोक्त पद गुणवचन का लक्षण सिद्ध न होने पर सामान्यतः गुण संज्ञा शब्द का ग्रहण होता है । सूत्र में शास्त्रीय गुण संज्ञा का ग्रहण नहीं है अपितु गुणवचन विशेषण के रूप में प्रयुक्त है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सूत्रोक्त पदों के लक्षण-निर्धारण में श्लोकवार्त्तिकों का योगदान महत्त्वपूर्ण है । अपने मत की पुष्टि के लिये अन्य समानार्थक श्लोकवार्त्तिकों का अपर आह के साथ ग्रहण श्लोक-वार्त्तिकों के रचयिताओं की भिन्नता द्योतित करता है ।

(३) **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्**[२] — प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने स्वाङ्गाभिधायक[३] उपसर्जनसंज्ञक[४] संयोगोपधान्त[५] प्रातिपदिक से स्त्रीत्व विवक्षा में विकल्प से ङीष् प्रत्यय का विधान किया है । सूत्र में बहुव्रीहि समास में आन्तोदात्त निमित्तक ङीष् अनुवृत्ति नहीं हुई 'वा' की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र[६] से की गई है । अतः स्वांगवाची उपसर्जनसंज्ञक[७] चन्द्रमुख शब्द से स्त्रीत्व-विवक्षा में विकल्प से ङीष् प्रत्यय हुआ है । सूत्रोक्त अंग शब्द के विषय में शंका उत्पन्न होती है कि प्रस्तुत अंग शब्द स्व अंग के अर्थ में प्रयुक्त है अथवा अन्य लक्षण का अभिधान करने के लिये प्रयुक्त है । अंग शब्द चेतन शरीर के अवयवार्थ में प्रसिद्ध है ।[८] भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा स्वांग का लक्षण स्पष्ट किया है—

अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम् ।
आतत्स्थं तत्र दृष्टं चेतस्य चेत्तत्तथायुतम् ॥

---

१ नागेश उद्योत व्या. म. भाग २, पृ. ३२५
२ अ. सू., ४.१.५४
३ Vasu, S.C. - Aśṭā. Vol.I, p.637
४ प्रथमा निर्दिष्टं समास उपसर्जनम् । – अ. सू.
५ हलोऽनन्तरा संयोगः । – वही, १.१.७
६ अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा । – वही, ४.१.५३
७ एक विभक्ति चापूर्व निपाते । – वही,
८ अङ्गशब्दस्य चेतनशरीरावयवे रूढ़त्वात् । – कैयट, प्रदीप व्या. म. २, पृ. ३३३

यदि स्व अंग इस अर्थ का ग्रहण किया जायेगा तो अन्य अनभीष्ट शब्दों से भी ङीष् प्रत्यय की प्राप्ति होने लगेगी । यथा श्लक्ष्णमुखा शाला इस उदाहरण में मुख शाला का अंग है तथा दीर्घ केशी इस उदाहरण में केश स्त्र्यङ्ग नहीं है अतः ङीष् प्रत्यय का निषेध होने लगेगा । इस प्रकार श्लोकवार्त्तिककार ने अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोषों का परिहार करने के लिये स्वांग को परिभाषित किया है ।[1] सर्वप्रथम द्रवरहित की स्वांग संज्ञा की है । द्रवरहित प्राणिस्थ ही अभीष्ट है, अन्य नहीं ।[2] मुख नासिका से निष्क्रमित होने वाली वायु प्राण है प्राणोऽस्याऽस्तीति इस व्युत्पति के आधार पर प्राणयुक्त ही प्राणी है प्राणी में विद्यमान ही प्राणिस्थ है अतः मुखादि की स्वांग संज्ञा होती है ।[3] यह अभिप्राय मानने पर भी कफादि में स्वांग लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती ।तथा बहुकाय आदि उदाहरणों में ङीष् प्रत्यय की प्रसक्ति भी नहीं होती क्योंकि विशेष अद्रव अंग का ग्रहण होने के कारण यह प्राप्ति नहीं होती कफ द्रवात्मक पदार्थ है ।[4] यदि केवल अद्रवत्व को ही स्वांग का लक्षण स्वीकार करते हैं तो ज्ञान की भी स्वाङ्ग संज्ञा होने लगेगी परन्तु स्वाङ्ग को लक्षण मूर्त्तिमत् ग्रहण किया गया है । जिसके आकार होने के कारण मूर्तिमत्व नहीं है ।अतः बहुज्ञाना इस उदाहरण में ङीष् विहित नहीं है । ज्ञान में आत्मगुण होने के कारण स्वाङ्गत्व लक्षण नहीं होता ।[5] इसी प्रकार काठिन्यादि स्पर्श विशिष्ट[6] मूर्ति है । इस मत के अनुसार भी ज्ञान में स्पर्श का अभाव होने के कारण मूर्तिमत्वाभाव है ।

स्वाङ्गत्व का तृतीय लक्षण अविकारजम् है । जिसका अभिप्राय है धातु वैषम्य, वातादिवैषम्य तथा भूतप्रक्षोभ आदि विकार है उनसे उत्पन्न न होनेवाला अविकारज है ।[7] विशिष्ट रूप में ग्रहण होने के कारण बहुशोफा इस उदाहरण में स्वांगलक्षण ङीष् प्राप्त नहीं होता क्योंकि शौफ श्वयुथसंज्ञक विकारज है । प्राणिस्थ

---

१ तदव्याप्त्यतिव्याप्तिपरिहारार्थ स्वाङ्गं परिभाष्यते । – हर. पद. का. वृ. भाग ३, पृ. ३५७

२ A word denoting a thing which not being a fluid. Vasu, S.C. Aṣṭā. Vol.I, p.637.

३ जिने. न्यास.का.वृ० भाग ३, पृ. ३५७

४ विशेषेणोपदानात्र भवत्ययं प्रसङ्गः कफस्य द्रवात्मकत्वात् । —वही

५ असर्वगत द्रव्यपरिमाणम् सा यस्यास्ति तत् मूर्तिमत् । कैयट, प्रदीप, व्या. म. २, पृ. ३३४

६ गुणानां च ज्ञानस्यात्मगुणत्वात् नास्य स्वाङ्गत्व प्रसङ्गः ।
— जिने. न्यास का. वृ. भाग ३, पृ. ३५७

७ येषामपि काठिन्यादि स्पर्शविशेषो मूर्तिः । — कैयट प्रदीप व्या. म. भाग २, पृ. ३३४

की ही स्वांग संज्ञा होने पर अप्राणिस्थ की स्वांग संज्ञा में आपत्ति होती है परन्तु वर्तमान क्षण में अप्राणिस्थ होने पर भी जो पूर्व प्राणिस्थ है[१] उसकी भी स्वांग संज्ञा का बिधान श्लोकवार्तिक के द्वारा किया गया है । अतः दीर्धकेशीरथ्या इस उदाहरण में रथ्यादि पतित केशों की स्वांग संज्ञा होती है तथा ङीष् प्रत्यय का विधान होकर रूप सिद्धि हुई है ।[२] स्वाङ्ग का उपरोक्त लक्षण मानने पर भी प्रतिमा के मुखादि अवयवों की स्वांग संज्ञा प्राप्त नहीं होती । यदि अप्राणिस्थ अववयवों का संस्थान प्राणिस्थ अवयवो के संस्थान के समान होगा तो अप्राणिस्थ अवयवों की भी स्वांग संज्ञा होती है ।[३]

इस प्रकार प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के माध्यम से भाष्यकार ने सूत्रोक्त स्वांग पद की परिभाषा उद्धृत की है । श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि श्लोकवार्त्तिकों में सूत्रोक्त पदों का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया गया है । सूत्रोक्त पदों की व्याख्या में श्लोकवार्त्तिकों का महत्त्वपूर्ण योग है इन्हें व्याख्यात्मक श्लोकवार्त्तिक भी कहा जा सकता है परन्तु सूत्रोक्त पद की परिभाषा का विवेचन होने के कारण परिभाषात्मक श्लोकवार्त्तिक कहना असंगत प्रतीत नहीं होता ।

(४) जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्[४] — प्रस्तुत सूत्र विधि-सूत्र है । अनियत स्त्रीविषयक जातिवाची यकार उपधा से रहित प्रातिपदिक से स्त्रीत्व विवक्षा में ङीष् प्रत्यय का विधान किया गया है ।[५] अनियत स्त्री विषय से अभिप्राय है जो स्त्रीत्व में निश्चित न हो अपितु स्त्रीत्व में तथा अन्य पुंस्त्वादि में जो अभिहित हो वह अस्त्रीविषय है ।[६] सूत्रोक्त जाति पद से लौकिक गोत्वादि[७] जाति का ग्रहण करने के कारण ब्राह्मणत्वादि[८] का ग्रहण न होने के कारण भाष्यकार ने जाति-लक्षण के

---

१ हर.पद.का.वृ.भाग ३,पृ.३५८

२ एवमपि केशादि स्वाङ्ग भवति यदि तत्प्राणिनि पूर्वं दृष्टं भवति ।
— जिने.न्यास का.वृ., वही,पृ.३५८

३ **Vasu, S.C. - Aśtā Vol., p. 637.**

४ अ.सू.,४.१.६३

५ **Vasu, S.C. - Aśṭā.Vol.I, p.641**

६ स्त्रियामेव यस्य नियमेन वृत्तिस्ततस्त्रीविषयम् ततोन्यद् स्त्रीविषयमित्यर्थः।
–हर.पद.का.वृ., भाग ३,पृ.३६५

७ एतेन गोत्वादि जातिर्लक्षिता । –कैयट प्रदीप व्या.म.२,पृ.३३८

८ हर.पद.का.वृ.भाग ३,पृ.३६५

विषय में शंका की उद्भावना की है तथा निम्न श्लोकवार्त्तिक में जातिलक्षण का प्रतिपादन किया है—

आकृति ग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक् ।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह ॥

श्लोकवार्त्तिककार ने जाति का प्रथम लक्षण आकृति ग्रहणा जाति किया है अर्थात् आक्रियते व्यज्यतेऽनेनेति आकृतिः[१] इस व्युत्पत्ति के आधार पर संस्थान का कथन आकृति के द्वारा किया गया है । जिसके द्वारा ग्रहण किया जाता है अतः करणसामान्य में ही ग्रहण शब्द व्युत्पादित है ।[२] तत्पश्चात् आकृति शब्द से अभिसम्बद्ध है स्त्रीत्व की प्रतीति कराने के कारण बहिरंग होने से प्रत्यय का निमित्त नहीं है ।[३] इस प्रथम लक्षण से नित्या, अनेकानुगता सामान्यतत्त्वरूपा[४] गोत्वादि लक्षणा जाति का ही अभिधान होता है । गोत्त्वादि विषाणादिमत्[५] संस्थान के व्यंग्य होने के कारण आकृति के द्वारा ग्रहण होते हैं ।[६] जाति का विशिष्ट अभिधान नहीं होता अपितु तदाश्रित संस्थान की अभिन्नता है ।[७] जिस प्रकार ब्राह्मण का संस्थान है उसी प्रकार क्षत्रियादि का भी है अतः श्लोकवार्त्तिककार ने जाति का द्वितीय लक्षण किया है कि जो समस्त लिंगों का ग्रहण नहीं करती वह संस्थानव्यंग्या जाति है । ब्राह्मणत्व जाति स्त्रीलिंग का पुल्लिग होने के कारण तथा नपुंस्त्व का अभाव होने के कारण सर्वलिंग ग्राहक नहीं है । ब्राह्मणत्वादि में उपदेशाभिव्यंग्यता[८] अभीष्ट है । अन्यथा देवदत्तः देवदत्ता आदि पदों में भी जातित्व की प्राप्ति होने लगेगी जबकि व्यक्ति का कथन करने के कारण देवदत्त में जातित्त्व नहीं है ।[९] अतः सर्वलिंग

---

१ A word expressing whatever is distinguishable by its for more figure. Vasu, S.C. Aśṭā.Vol.I, p.102.
२ जिने. न्यास का. वृ. भाग ३, पृ. ३६६
३ कैयट, प्रदीप व्या. म. भाग २, पृ. ३३८
४ नित्यमनेकानुगतं सामान्यम् इत्येवम् । – नागेश, उद्योत, वही
५ यत्सास्नालाङ्गूलककुदरपुरविषीणीनां संप्रत्ययः सः शब्दः । – पस्पशा. व्या. म. भाग १, पृ.
६ गोत्वादयो हि विषाणादिमत्संस्थानव्यङ्ग्यत्वादाकृति ग्रहणाः । – जिने. न्यास का. वृ. ३, पृ. ३६६
७ जिने. न्यास का. वृ. भाग ३, पृ.३६६
८ हर. पद. का. वृ. भाग ३, पृ.३६७
९ Vasu, S.C. Aśṭā.Vol.I, p.102.

विहित पद में भी प्रथम लक्षण से ही जातित्त्व होता है यथा तट पद जाति है क्योंकि सर्वलिंग[१] होने पर भी आकृति ग्रहण कराता है।[२] आकृति के द्वारा गृहीत जाति एक, नित्य तथा प्रत्येक परिसमाप्त है।[३] जाति का एक पिण्ड में एक बार कथन होने पर अन्य पिण्ड में निश्चय हो सकता है यथा शूद्र का कथन होने पर वह अन्य शूद्रों में जातित्व का विनिश्चय करता है।[४] अतः जाति एक है। एक गो व्यक्ति के विनाश से सम्पूर्ण गोत्व जाति विनष्ट नहीं होती क्योंकि जाति नित्या है।[५] यदि प्रत्येक व्यक्ति में सर्वात्मना परिसमाप्त नहीं होगी तो आख्यात पिण्ड में उसका सर्वात्मना ग्रहण नहीं होता अन्यथा अनेकत्व दोष होता है।[६] श्लोकवार्त्तिककार ने जाति के तृतीय लक्षण में गोत्र का जातित्व प्रतिपादित किया है।[७] गोत्र सर्वलिंग पद है अतः लौकिक अपत्यार्थ गोत्र का ही ग्रहण किया गया है।[८] चरण शब्द वैदिक शाखा के अध्येता के अर्थ में प्रयुक्त है।[९] प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक में प्रतिपादित अर्थ की पुष्टि के लिये अपर आह के पश्चात् निम्न श्लोकवार्त्तिक में अन्य आचार्य का मत निबद्ध है—

प्रादुर्भावविनाशाभ्यां सत्त्वस्य युगपद् गुणैः।
असर्वलिङ्गां बह्वर्थां तां जातिं कवयो विदुः॥

श्लोकवार्त्तिककार ने द्रव्य के प्रादुर्भाव तथा विनाश के साथ जाति का सम्बन्ध स्वीकार किया है। अर्थात् जाति का आविर्भाव तथा तिरोभाव द्रव्य की स्थिति पर निर्भर है।[१०] जिस प्रकार निर्गुण द्रव्य की प्राप्ति भी नहीं होती उसी प्रकार

---

१ सर्वलिङ्गभाजोऽपि पूर्वेण लक्षणेन जातित्वमस्ति। – जिने. न्यास का. वृ. भाग ३, पृ. ३६६
२ Vasu, S.C. - Aśṭā. Vol.I, p.102.
३ जातेरेकत्वनित्यत्पप्रत्येकपरिसमाप्तत्वलक्षणान् धर्मानाह। – हर. पद. का. वृ. ३, पृ. ३६७
४ Ibid.
५ पिण्डविनाशात् तस्याः अपि विनाशात् पिण्डान्तरे न गृह्येत। – जिने. न्यास का. वृ. भाग ३, पृ. ३६७
६ हर. पद., वही
७ A word expressing descendants by their parentage. Vasu, S.C. Aśṭā. Vol.I, p.102.
८ अपत्यं पौत्र प्रभृति गोत्रम्। – वही
९ चरणशब्दः शाखानिमित्तः पुरुषेषु श्रूयते। – का. वृ. २.४.३
१० नित्यत्वादुत्पत्तिः विनाशासंभवादेवमुक्तम्। – नागेश, उद्योत, व्या. म. २, पृ. ३३८

जाति रहित द्रव्य की प्राप्ति भी नहीं होती । जाति समस्त व्यक्तियों में व्याप्त है ।[१] समस्त लिंगों में प्राप्त नहीं होती । यह लक्षण भाष्यकार मतानुसार है जिस प्रकार अयस् द्रव्य है उसी प्रकार कौमारम् भी द्रव्य है तथापि आकृति का ग्रहण होने से जाति का ग्रहण किया गया है तथा पुंवद्भाव का प्रतिषेध हो जाता है । कौमारादिक में जाति का अभाव है अयस् के समान द्रव्य होने के कारण जाति लक्षण ङीष् का निषेध होता है । इस प्रकार भाष्यकाराभिमत लक्षण से कुछ भिन्न लक्षण इस श्लोकवार्त्तिक में दिया गया है ।

श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने सूत्रोक्त पदों के लक्षणों का विवेचन श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा किया है । अपने मत की पुष्टि के लिये अन्य आचार्य का मत उद्धृत किया है । दार्शनिक पक्ष की व्याख्या भी श्लोकवार्त्तिकों में कहीं-कहीं उक्त है ।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों में सूत्रोक्त पदों की सिद्धि की है । सूत्रोक्त पदों की व्याख्या करते हुये यदि शास्त्रीय प्रक्रिया सहायक नहीं होती तो श्लोकवार्त्तिकों में उन्हें निपातित दर्शाया है यही कारण है कि इन श्लोकवार्त्तिकों को निपातनात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा है । सूत्रोक्त पदों की परिभाषा के विषय में विचिकित्सा होने पर श्लोकवार्त्तिकों में उनके लक्षण का निश्चय किया गया है । इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक न केवल सूत्रों की व्याख्या में सहायक सिद्ध हुये हैं अपितु सूत्रोक्त पदों के लक्षणों की सिद्धि में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है ।

---

१ अर्थशब्दो विषयवाची, बहुविषयां बहुव्यक्ति व्यापिनीमित्यर्थः । – हर. पद. का. वृ. ३, पृ. ३६८

स्पष्टीकरणात्मक श्लोकवार्त्तिक

पाणिनीय सूत्रों पर वार्त्तिक रचना का प्रमुख उद्देश्य सूत्रों का स्पष्टीकरण करना था। सामान्य वार्त्तिकों में सूत्रों की व्याख्या की अपेक्षा उनमें उक्त विषय का प्रतिपादन, अनुक्त का कथन तथा दोषयुक्त विषय की ओर संकेत किया गया है। श्लोकवार्त्तिकों में सूत्रों के स्पष्टीकरण का कार्य वार्त्तिकों की अपेक्षा श्लोकवार्त्तिकों में अधिक प्रयुक्त प्रकार से किया गया है। इनमें सूत्रों की व्याख्या सूत्रोक्त पदों में यदि कोई पदनिष्प्रयोजन प्रतीत होता है तो उसका प्रत्याख्यान भी किया गया है। कुछ श्लोकवार्त्तिकों में सूत्रों अथवा वार्त्तिकों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का व्याख्यान अथवा स्पष्टीकरण किया गया है। इन श्लोकवार्त्तिकों को स्पष्टीकरणात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है। प्रस्तुत अध्याय में स्पष्टीकरणात्मक अथवा-सिद्धान्त प्रतिपादक श्लोकवार्त्तिकों का अध्ययन किया गया है—

प्रथम अध्याय

(१) **हयवरट्**[१] — प्रत्याहार सूत्र पर भाष्यकार ने प्रश्न उठाया है कि 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः'[२] सूत्र में अण् में अन्तःस्थ वर्णों अर्थात् य्, र्, ल्, व् का ग्रहण क्यों किया गया है ?[३] इस समस्या का समाधान निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा किया गया है—

अनुवर्तते विभाषा शरोऽचि, यद्वारयत्ययं द्वित्वयम्।
नित्ये हि तस्यलोपे, प्रतिषेधार्थो न कश्चित्स्यात्॥

---

१ प्र.सू.५
२ अ.सू.१.१.६९
३ किमर्थमणुदित्सवर्णस्य इति णकारेण प्रत्याहारः क्रियते यत्र अन्तस्था अप्यन्तमष्यिन्ते न पुनश्चकारेण प्रत्याहारः क्रियते। - 'प्रदीपिका' - **Sastri P.S.S. Lcc. Pat. MB Vol I page 160.**

स्वयं यं यन्ता, सवंवं वत्सरः आदि उदाहरणों में सं + यन्ता, सं + वत्सरः इस अवस्था में 'अनचि च'[१] सूत्र पर होने के कारण 'वा पदान्तस्य'[२] सूत्र से होने वाला परसवर्ण असिद्ध है। द्वित्व करने पर अभीष्ट रूप सयंय्यन्ता में अन्तर पड़ता है क्योंकि द्वित्व न करने पर संय्यन्ता रूप बनता है य् को द्वित्व-विधान हो जाने पर भी 'हलो यमां यमि लोपः'[३] सूत्र से यकार लोप हो जाता है परन्तु प्रकृत सूत्र नित्यलोप का विधायक नहीं है। इसका कारण यह है कि इसमें 'झयो होऽन्यतरस्याम्'[४] सूत्र से विभाषा की अनुवृत्ति होती है।

आचार्य पाणिनि 'शरोऽचि'[५] सूत्र से द्वित्व का निषेध करते हैं। यदि 'हलो यमां यमि लोपः'[६] सूत्र से होने वाला यकार लोप नित्य होता तो द्वित्व-निषेध व्यर्थ हो जाता। द्वित्व-निषेध न करने पर 'झरो' झरि सवर्णे'[७] सूत्र से यकार लोप की प्राप्ति हो जायेगी परन्तु आचार्य पाणिनि विभाषा की अनुवृत्ति स्वीकार करते हैं और वैकल्पिक लोप के आधार पर द्वित्व-निषेध करते हैं।

इसके अतिरिक्त लोप को नित्य मान लेने पर भी अर्थात् विभाषा का अनुवर्तन न मानते हुए भी द्वित्व निषेध आवश्यक है क्योंकि लोपापवाद[८] सूत्र यर् को द्वित्व का विधान कर देता है। यय् और झर् ही यर हैं जिनका लोप'हलो यमा यमि लोपः'[९] तथा 'झरो झरि सवर्णे'[१०] सूत्र से प्राप्त होता है। प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोप नित्य होने के कारण प्रतिषेध की आवश्यकता नहीं होती।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा सूत्रों का स्पष्टीकरण किया है।

---

१ अ.सू.८-४-४७
२ अ.सू.८-४-५९
३ अ.सू.८-४-६४
४ अ.सू.,८-४-६२
५ अ.सू.८-४-६२
६ अ.सू.८-४-६४
७ अ.सू.८-४-६५
८ अचो रहाभ्यां द्वे - अ.सू.८-४-४६
९ अ.सू.८-४-६४
१० अ.सू.८-४-६५

(२) निपात एकाजनाङ्[1] - सूत्रकार ने 'चादयोऽसत्वे'[2] सूत्र से चादिगण में पठित तथा 'प्रादयः उपसर्गाः क्रियायोगे'[3] सूत्र से प्रादि गण में पठित प्र, परा आदि की निपात संज्ञा का विधान करते हैं परन्तु 'प्रादयः उपसर्गाः क्रियायोगे'[4] सूत्र से जिस आङ् की निपात संज्ञा की गई है, उसकी प्रगह्य संज्ञा का निषेध हो जाता है, यह आङ् भी कहीं तो सानुबन्ध कहा गया है तो कहीं निरनुबन्ध । अतः शंका उत्पन्न होती है कि आङ् को कहां अनुबन्ध सहित ग्रहण किया जायेगा तथा कहां अनुबन्ध रहित । प्रस्तुत शंका का स्पष्टीकरण निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा किया गया है—

'ईषदर्थे क्रियायोगे, मर्यादाभिविधौ च यः ।
एतमातं ङितं विद्याद्, वाक्यस्मरणयोरङित्' ।।

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा आङ् का निषेध किया गया है । इसका कारण यह है कि डित् रहित आकार की प्रगृह्य संज्ञा न हो यथा ओदकान्तात् इस उदाहरण में (आ + उदकान्तात्) 'आद् गुणः'[5] सूत्र से गुण होता है । इस श्लोकवार्त्तिक से आकार ईषदर्थ में ङित् होता है यथा आ + उष्णम् ओष्णम् । इस उदाहरण में आकार ईषद् अर्थ में ङित है ।[6] उपसर्ग में भी आकार सानुबन्ध होता है[7] यथा आ + इतः एतः । मर्यादा और अभिविधि[8] अर्थ में प्रयुक्त आकार ङित् होता है परन्तु वाक्य का अन्यथा अर्थ लेने पर तथा स्मरण करने पर आकार ङित् नहीं होता । अतः आकार से लेने पर ओष्णम्, एतः, ओंदकान्तात्, आहिच्छत्रात् आदि उदाहरणों में प्रगृह्य संज्ञा का निषेध हो जाता है । प्रथम तीन उदाहरणों में गुण[9] तथा अन्तिम में सवर्णदीर्घ हो जाता है परन्तु जहां ङित् रहित आकार होता है वहां प्रस्तुत सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा होकर 'प्लुतप्रगृह्याऽचि नित्यम्'[10] सूत्र से प्रकृतिभाव हो जाता है ।

---

१ अ.सू.१-१-१४
२ अ.सू.१-४-५७
३ अ.सू.१-४-५८
४ अ.सू.१-४-५८
५ अ.सू.६-१-८७
६ आङीषदर्थे । वार्त्तिक ।
७ प्रादयः उपसर्गाः क्रिययोगे । अ.सू.१-४-५८
८ मर्यादाभिविध्योश्च । अ.सू.
९ आद् गुणः । अ.सू.६-१-८७
१० अ.सू.६-१-१२५

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक सूत्र के स्पष्टीकरण में सहायक है यह निर्देश करता है कि निपातसंज्ञक आकार की प्रगृह्य संज्ञा वाक्य, स्मरण अर्थों में होगी और ईषदादि अर्थों में प्रगृह्य संज्ञा का अभाव होता है। श्लोकवार्त्तिक के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ईसा पूर्व तृतीय से प्रथम शताब्दी तक संस्कृत बोलचाल की भाषा रही होगी। तत्कालीन वैयाकरण दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले वाक्यों के शुद्ध प्रयोग के प्रति सतर्क थे। यथा आ एवं नु मन्यसे वाक्य के अन्यथा अर्थ में तथा आ एवं नु किल तत् स्मरण अर्थ में प्रयुक्त वाक्यों में आकार अङित होने से प्रगृह्य संज्ञा हो कर प्रकृतिभाव हो जाता है अन्यथा गुण की प्राप्ति होती। अतः प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक सूत्र के स्पष्टीकरण में सहायक है, यह कथन असंगतप्रतीत नहीं होता।

(३) दाधाध्वदाप्[१] - पाणिनीय सूत्रों की व्याख्या करते हुए भाष्यकार उनके प्रत्येक पक्ष से सम्बद्ध शंकाओं की उद्‌भावना करके उनका समाधान करते हैं। सूत्र-विशिष्ट विषय की व्याख्या करते हुए अनेक बार सामान्य सिद्धान्त का निर्देश किया गया है। प्रस्तुत सूत्र से दो रूप चार[२] धातुएं तथा धा रूप दो[३] धातुएं दाप और देप् को छोड़कर घुंसज्ञक होती हैं। घुंसज्ञा से केवल दा, धा सार्थक धातुओं का ग्रहण ही कात्यायन[४] मानते हैं। ऐसा न मानने पर दाप् और धाप् धातु भी घुंसज्ञक हो जाती। इसका कारण यह है कि णिच्[५] परक दा, धा, धातुओं से पुक्[६] आगम होता है तथा सार्थक को होने वाला आगम उसका अवयव बन कर अर्थवान् के ग्रहण से गृहीत हो जाता है। अतः प्रणिदापयति, प्रणिधापयति, रूपों में युगागम दा, धा से गृहीत हो जायेगा। यथा लू धातु से तृच्[७] प्रत्यय होकर उदागम होगा।

---

१ अ.सू.१-१-२०
२ दा, दाण्, दो, देङ्।
३ धा, धेट्।
४ अर्थवद् ग्रहणे नानर्थकस्य। वार्त्तिक।
५ हेतुमति च। अ.सू.३-१-२६
६ आर्तिह्रीव्लीरीक्नूय्यीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ। अ.सू.७-३-३६
७ ण्वल्तृचौ। अ.सू.३-१-३३

भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक में पुक् इडादि को आगम मानने में अनौचित्य प्रदर्शित किया है—

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ॥

श्लोक वार्त्तिककार ने पाणिनीय मत से यह सिद्ध किया है कि शब्दों के नित्य होने के कारण इट् पुगादि आगम करना असंगत है क्योंकि नित्य शब्द अविचल, अविनाशी, लोप, विकार, आगम और विनाश से रहित होता है । आगम शब्द में नये वर्ण की वृद्धि करता है ।[१] आगम के स्थान पर आगमसहित आदेश स्वीकार करने से शब्दों की नित्यता अक्षुण्ण रह सकती है ।

इसका कारण यह है कि आदेश सम्पूर्ण शब्द के स्थान पर किया जाता है जबकि आगम में एक नये वर्ण या शब्द की वद्धि होती है ।[२] श्लोक वार्त्तिककार ने पाणिनीय वचन से इस सिद्धान्त का समर्थन किया है । पाणिनि के अनुसार समस्त आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होते हैं । शब्द के आदि, मध्य या अन्त में किसी आदेश के होने पर शब्द नित्य नहीं कहा जा सकता ।

महाभाष्य में 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' वार्त्तिक से शब्द की नित्यता के विषय में प्रश्न उद्भावित है । श्लोकवार्त्तिककार ने प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक से शब्द की नित्यता का समर्थन किया है । शब्द में चार प्रकार से अनित्यता की व्याख्या आपिशालि ने की है ।[३] इन चारों (आगम, विकार, आदेश और लोप) की शब्दों में प्रसक्ति न होना ही शब्द की नित्यता है । अतः आगम को आगम सहित आदेश मान कर वर्णो की नित्यता के सिद्धान्त को श्लोकवार्त्तिककार ने भी स्वीकार किया है । इससे वे पाणिनीय नियमों का स्पष्टीकरण करते हैं । इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह कहा जा सकता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा सूत्रों की व्याख्या की है ।

---

१ आगमस्तु अवस्थितस्यापूर्वः क्रियमाणो नित्यत्वं विरूणाद्धि ।
कैयट प्रदीप व्या. म. १, पृ.

२ आगमश्च नाम अपूर्वः शब्दोपजनः । पत. व्या. म. १.१.५, भाग १, पृ.

३ आगमोऽनुपघातेन, विकारश्चोपमर्दनात् । आदेशस्तु प्रसङ्गेन, लोपः सर्वापकर्षणात् ॥

(४) इद् गोण्याः[१]

महाभाष्य में कुछ श्लोकवार्त्तिक सूत्रोक्त पदों का विवेचन करने के लिये गृहीत हैं। प्रस्तुत सूत्र से तद्धित का लोप होने पर गोणी को इकारादेश हो जाता है। सूत्र में इत् में तपर करण का प्रयोजन दीर्घ निवृत्ति माना है।[२] इस सूत्र पर निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा विवेचन किया गया है कि सूत्र के स्थान 'गोण्याः नः' कहने से ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है इत् करण का क्या प्रयोजन है—

इद्गोण्या नेति वक्तव्यं ह्रस्वता हि विधीयते।

इति वा वचने तावन्मात्रार्थं वा कृतं भवेत्॥

पञ्चगोणिः यशगोणिः उदाहरणों में 'गोस्त्रियोरूपसर्जनस्य'[३] सूत्र से ही ह्रस्वत्व सिद्ध हो जाता है। श्लोकवार्त्तिककार ने इसका स्पष्टीकरण किया है कि तद्धित प्रत्यय मात्रच[४] करने पर उसके लुक् में इत्वविधान व्यर्थ हैं परन्तु मात्रच्[५] प्रत्यय के न होने पर गोणी शब्द परिमाण वाले द्रव्य में वर्तमान हो तब इत् होकर गोणि रूप ही सिद्ध होगा। 'गोण्याः न' कहने से उक्त प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि गोणी के स्त्री-प्रत्यय का लोप नहीं होता, अतः यह लोपापवाद सूत्र है।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के पश्चात् - 'अपर आह' के संकेत से निम्न श्लोक-वार्त्तिक उद्धृत किया गया है - 'गोण्या इत्वं प्रकरणात् सूच्यादर्यमथापि वा' श्लोक वार्त्तिक से भाष्यकार अन्य श्लोकवार्त्तिककार का मत प्रस्तुत करते हैं। इसके अनुसार इत् ग्रहण उपयुक्त है। प्रकरण से प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक में भी इत् ग्रहण व्यर्थ निर्दिष्ट है क्योंकि प्रकरणसे 'लुक्तद्धित लुकि' सूत्र से पूर्व 'इद् गोण्याः'[६] —।

---

१ अ.सू.१-२-५०

२ लुग्ध्रस्वयोः प्राप्तयोः पुनः स एव ईकारः प्रतिप्रसूयते। तस्मात् तपरकरणं कर्तव्यम्। हर. पद.का.वृ.१,पृ.

३ अ.सू.१-२-४८

४ प्रमाणेद्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः। अ.सू.५-२-३७

५ अ.सू.१-२-४९

६ अ.सू.१-२-५०

पढ़ देने से 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य'[१] सूत्र से ह्रस्वत्व की अनुवृत्ति हो जायेगी।[२] श्लोकवार्त्तिक के 'सूच्याद्यर्थमथापि वा' अंश से इस कथन का खण्डन किया है तथा पञ्चसूचिः, दशसूचिः इन उदाहरणों की सिद्धि के लिये सूत्र में इत् ग्रहण आवश्यक है यह स्पष्ट होता है।

इत् ग्रहण के विषय में व्याख्यानात्मक विवेचन से यह ज्ञात होता है कि श्लोकवार्त्तिक सूत्रों में गृहीत पदों का औचित्य अथवा अनौचित्य स्पष्ट करते हैं। इत् के स्थान पर 'न' रख देने से यद्यपि व्याकरण का प्रयोजन लाघव सिद्ध होता है तथापि उससे अभीष्ट कार्य सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि श्लोकवार्त्तिकों में सूत्रोक्त पदों की व्याख्या की गई है।

(५) अकथितं च[३]

सूत्रकार ने 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म'[४], 'तथायुक्तं चानीप्सितम्'[५] तथा 'अकथितं च'[६] सूत्रों से कार्य संज्ञा का विधान किया है। इनसे क्रमशः अभीष्ट, अनीप्सित तथा अविवक्षित कारक की कर्म संज्ञा कही गयी है। इन तीन विभिन्न सूत्रों से कर्म संज्ञा करने का कारण इनकी क्षेत्र विभिन्नता है अर्थात् कर्त्ता को क्रिया द्वारा जो पदार्थ अभीष्ट है, इसी प्रकार कर्ता यदि अनीप्सित क्रिया से युक्त होता है तो उसकी भी कर्म संज्ञा होती है।

प्रस्तुत सूत्र का क्षेत्र भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से स्पष्ट किया है। इस सूत्र पर दस श्लोक वार्त्तिक हैं जिनमें निम्न पांच विषयों की व्याख्या है—

(१) अकथित कर्म संज्ञा प्राप्त करने वाली धातुओं का परिगणन।

(२) लकारार्थ और कृत्यार्थ का सम्बन्ध कथित से है अथवा अकथित से।

(३) द्विकर्मक धातुओं का परिगणन।

(४) अकर्मक धातुओं में से किनकी कर्म-संज्ञा है।

---

१ अ.सू.१-२-४८
२ गोस्त्रियोरनन्तरं गोण्या इति लुगपवादह्रस्वार्थ वक्तव्यम्। कैयट प्रदीप व्या.म.१, पृ.
३ अ.सू.१-४-५१
४ अ.सू.१-४-४९
५ अ.सू.१-४-५०
६ अ.सू.१-४-५१

(५) पूर्ववर्ती कर्म विधायक सूत्रों की आवश्यकता ।

प्रथम श्लोकवार्त्तिक उदाहरणात्मक श्लोकवार्त्तिक है—

दुहियाचिरूधिप्रच्छिभिक्षि चित्रामुपयोगनिमित्तमपूर्व विधौ ।

व्रुविशासिगुणेन च यत्सचते, तदकीर्तितमाचरितं कविना ॥

इसमें सूत्र के उदाहरणों का निर्देश किया गया है दुह्, याच्, रूध्, प्रच्छ्, भिक्ष्, चि क्रियाओं के उपयोग का निमित्त तथा जिससे किसी अन्य[१] विधि का विधान नहीं किया गया ब्रुव् और शास् के प्रधान कर्म से सम्बद्ध को अकथित मान गया है ।

इसका अभिप्राय यह है कि दुह्यादि की अकथित होने से कर्म संज्ञा हुई । इनमें से पूर्वपक्षी की ओर से केवल पौरवं गां याचते । माणवकं पन्थानं पृच्छति तथा पौरवं गां भिक्षते उदाहरणों में ही उदाहरणत्व की चर्चा की गई है । अन्य उदाहरणों[२] में अपादान, अधिकरण संज्ञा का कथन पूर्वसूत्रों से ही स्वीकार करने पर उनमें उदाहरणत्व की प्रासक्ति नहीं होती ।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक से यह स्पष्ट होता है कि पतंजलि ने व्याकरणाध्येताओं की ओर से पूर्व-पक्षीय शंकाओं की उद्भावना की है तथा उनका खण्डन-मण्डन किया है । पूर्वोक्त उदाहरणों के विवेचन से भी यह ज्ञात होता है । यदि गोः, व्रजे, वृक्षात्, इनका अर्थ पूर्वसूत्रों[३] से कहना विवक्षित होता है तो प्रकृत सूत्र निष्प्रयोजन हो जाता । अपादान अधिकरण संज्ञा के अविवक्षित होने पर ही सूत्र में अकथित पद का ग्रहण किया गया है ।

दुह्, याच्, रूधादि जिन धातुओं का परिगणन उपरोक्त श्लोकवार्त्तिक में किया गया है, ये समस्त द्विकर्मक हैं । इनसे लादि[४] कर्म में होते हैं लादि कथित में

---

१ कर्मसंज्ञापेक्षया पूर्वसंज्ञानां विधिविषयाभावे इत्यर्थः । कैयट प्रदीप व्या.म.१, पृ.२६४

२ एवं रूपेऽर्थेऽपादानात्वापिवक्षाविप्रायेण सिद्धन्तिः उदाहरणदानम् । नागेश, उद्योत व्या. म.१, पृ.२६५

३ (अ) ध्रुवमपायेऽपादानम् । अ. सू. १-४-२४ (आ) आधारोऽधिकरणम् । अ. सू. १-४-४५

४ **Lādis are La-krtya-Kta-Khalarthah. Sāstri R.S.S. - Lec.Pat. MB.Vol.5, p.112.**

होते हैं अथवा अकथित कर्म में इस समस्या का समाधान निम्न श्लोकवार्त्तिककार के द्वारा किया गया है—

कथिते लादयश्चेत्स्युः षष्ठीं कुमत्तिदा गुणे।
अकारकं ह्यकथितत्वात् कारकं चेत्तु नाकथा॥

कथित में कर्म संज्ञा प्रधान[१] कर्म की होती है। अकथित में प्रस्तुत सूत्र कर्म-संज्ञाविधायक है। यदि लादि का कथित में अभिधान किया जायेगा, तो द्विकर्मक धातु के प्रधान कर्म में 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म'[२] से कर्मसंज्ञा होकर 'कर्मणि द्वितीया'[३] सूत्र से द्वितीया होती है। ऐसा कहने पर 'दुह्यते गौ पयः' तथा याच्यते पौरवस्य कम्बलम् उदाहरण सिद्ध होते हैं। गुण कर्मगोः और पौरवस्य में षष्ठी का प्रयोग किया गया है। पत्रः और कम्बल प्रधान कर्म हैं अतः कर्मसंज्ञक[४] हैं।

अकथित होने के कारण षष्ठी विधान[५] का हेतु कारक न होना माना है। कैयट अपादानादि विशेषों में ही सामान्य कारकत्व की स्थिति मानते हैं विशेष रहित सामान्य में नहीं।[६] यदि यहां कारकत्व की स्थिति होती तो अकथितत्व नहीं होता। इसका कारण निम्न श्लोक में स्पष्ट किया गया है—

कारकं चेद्विजानीद्यां यां मन्येत सा भवेत्।

कारकत्व होने पर तो जिस-जिस विभक्ति की विवक्षा की जा रही हो उसका अभिधान करना चाहिये। दोग्धि गां पयः के स्थान पर दुह्यते गोः पयः तथा याच्यते पौरवस्य कम्बलम् के स्थान पर याच्यते पौरवात् कम्बलं होना चाहिये।

पौरवात् के स्थान पर पौरव पद में कर्मत्व की ही विवक्षा है परन्तु सामान्य नियम से इसमें अपादानात्व माना गया है[७] अथवा यह अपादानत्व बुद्धिकृत् है। भाष्यकार ने पौरवस्य षष्ठ्यन्त स्वीकार किया है और पूर्व पक्षी ने पञ्चम्यान्त को।[८]

---

१ Kathitah means Pradhanah (ipsitatamah). Ibid.
२ अ.सू.१-४-४९
३ अ.सू.२-३-२
४ कर्तुरीप्सिततम कर्म - १-४-४९
५ अपादानादिषड्रूपत्वाभावात्कारकशेषत्वमित्यर्थः। नागेश, उद्योत व्या.म.१, पृ.२६६
६ कैयट प्रदीप व्या.म.१, पृ.२६६
७ न्यायस्य समानत्वादत्राप्यपादानत्वं मन्यते। कैयट, प्रदीप व्या.म.१, पृ.२६६
८ एवं च भाष्ये षष्ठ्युच्चारणवदेवेदं पञ्चम्युच्चारणं पूर्वपक्षिणः। नागेश, उद्योत व्या.म. १, पृ.२६६

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा भाष्यकार ने लकारार्थ और कृत्यार्थ का सम्बन्ध कथित कर्म से सिद्ध करने का प्रयास किया है। एक अन्य तथ्य स्पष्ट होता है कि व्याकरण के सिद्धान्तों का पूर्ण विश्लेषण करने पर ही स्पष्ट होता है कि व्याकरण के सिद्धान्तों का पूर्ण विश्लेषण करने पर ही प्रयोग में औचित्य-अनौचित्य का विचार करना चाहिये। अन्यथा 'याच्यते पौरवात् कम्बलाः' उदाहरण में भ्रम उत्पन्न हो जायेगा कि याच् धातु के योग में पंचमी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। पतंजलि ने पूर्वपक्षीय सिद्धान्त के रूप में सिद्ध किया है कि "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः"[1] सूत्र से होने वाले लडादि आदेश कृत्य, क्त और खलर्थ प्रत्ययों का सम्बन्ध कथित कर्म है। प्रधान कर्म को कथित मान लोने पर गुण कर्म में षष्ठी-विधान स्वीकार किया गया है। इस सिद्धान्त को भाष्यकार ने पूर्वपक्षीय माना है। इसका खण्डन—

कथितेऽभिहिते त्वविधिस्त्वमतिगुणकर्मणि लादिविधिः सपरे।
ध्रुवचेष्टितयुक्तिषु चाप्यगुणे तदनल्पमतेर्वचनं स्मरत॥

श्लोकवार्त्तिक में किया है। पूर्वपक्षी से अभिप्राय सूत्र को असंगत मानकर केवल तीन ही वाक्यों में उदाहरणत्व दृष्टा से है। द्विकर्मक धातुओं के प्रधान कर्म में लादि विधि का अभिधान किया गया है। इस विषय में पतञ्जलि आक्षेप करते हैं 'कथिते लादिभिरभिहिते गुणकर्मणि का कर्त्तव्या' गुणकर्म में षष्ठी विधान को भाष्यकार ने स्वीकार नहीं किया है। कैयट ने षष्ठी के साथ चतुर्थी तथा पंचमी को भी माना है।[2] भाष्यकार ने त्व विधि से त्वा को ग्रहण किया है जबकि कैयट ने त्व को अन्य वाचक कहा है।[3] इसका आधार पस्पशाह्निक में उक्त 'उत त्वः पश्यन्' माना है। अतः श्लोकवार्त्तिक के 'कथितेऽभिहिते त्वविधिस्त्वमतिः' अंश को पूर्वपक्षीय माना जा सकता है। भाष्यकार ने गुणकर्म में लादि विधि का खण्डन 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्मकाणामणि कर्ता स णौ'[4] सूत्र के द्वारा किया गया है। इस सूत्र से लादि विधि गुण कर्म में होती है।[5]

---

१ अ.सू. २-२-६९
२ प्रधानकर्मणि लादिभिरभिहिते तवेयं मतियदुक्तं गुणे षष्ठी भवति चतुर्थी पंचम्यौ चेति। कैयट प्रदीप व्या.म.१, पृ.२६७
३ त्वशब्दस्त्वन्यवाची। वही
४ अ.सू.१-४-५२
५ प्रयोजक व्यापारेणाप्यमानत्वान्माणवकस्य प्राधान्यं धर्मादिस्तु गुणभावः। कैयट प्रदीप व्या.म.१, पृ.२६८

इसका कारण यह है कि पयोर्थी प्रथमतः गो में प्रवृत्त होता है तदनन्तर अन्तरंग होने के कारण दुह्यादि गौण कर्म में लादि प्रयुक्त होते हैं। निमित्त भाव मात्र विवक्षा होने से तथा अपात्र होने पर भी उसकी अविवक्षा न होने से प्रधान कर्म पयः की कथित कर्म संज्ञा है। गुण कर्म दुह्यादि में लादि विधान किया गया है। यदि पयस् की अविवक्षा हो तब गौ के ईप्सिततम होने से कर्मसंज्ञा होगी। पयः की विवक्षा होने पर अन्तरंग होने से प्राधान्य होने पर भी गौण कर्म में लादि विधान होता हैं।[१] अपने सिद्धान्त की पुष्टि में भाष्यकार ने पूर्वाचार्यों का मत निम्न श्लोकवार्त्तिक में प्रस्तुत किया है—

ध्रुवचेष्टित युक्तिषु चाप्यगुणे

पूर्वाचायों के अनुसार ध्रुव, युक्ति और चेष्टित युक्ति धातुओं से प्रधान कर्म में लादि का विधान किया जाता है।

ध्रुवयुक्ति शब्द से अकर्मक[२] तथा चेष्टितयुक्ति शब्द से गत्यर्थक धातुएं ग्रहीत होती है। अतः मासमास्यते देवदत्तः। 'शाय्यते क्रोशं देवदत्तः।' 'गम्यते ग्रामं देवदत्तः।' उदारहणों में आस्यते, शाय्यते, गम्यते में आस्, शीङ् अकर्मक धातुयें है जबकि गम् गत्यर्थक धातु है। इन वाक्यों में प्रधान कर्म प्रयोजन व्यापार है। अतः उसमें लादि का विधान किया गया है।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक से यह स्पष्ट है कि द्विकर्मक धातुओं के गौण कर्म में तथा अकर्मक और गत्वर्थक धातुओं के प्रधान कर्म में लडादि, कृत्य का और खलर्थ का विधान किया गया है।

कथिते लादयश्चेत्स्युः, षष्ठीं कुर्यात्तदा गुणे।
अकारक ह्यकथितत्वात्, कारकं चेत्तु नान्वया॥

श्लोकवार्त्तिक से प्रारम्भ होने वाले लादि विधान प्रकरण का उपसंहार

'प्रधान कर्मण्याख्येये, लादीनाहु द्विकर्मणाम्।'
अप्रधाने दुहादीनां, ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः॥

---

१ गौदुहादीनां पयसस्तु प्राक् तस्माल्लादयस्तस्मिन्। कैयट प्रदीप व्या.म.१, पृ.२६८

२ ध्रुव इति स्वात्मनिष्ठो कर्मको धात्वर्थ उच्यते। पूर्वाचार्याप्रसिद्धा ध्रुवयुक्तयो कर्मका उच्यन्ते। वही, पृ.२६९

श्लोकवार्त्तिक से किया गया है तथा पूर्वपक्षीय सिद्धान्त का खण्डन किया है। यह इस तथ्य का द्योतक है कि आगम से भी यह मत स्वीकार्य है।[१] इसके अनुसार द्विकर्मक धातुओं में प्रधान कर्म का अभिधान होने पर लादि प्रत्ययों का विधान है दुहादि धातुओं के अप्रधान कर्म लादि उक्त है। ण्यन्त में प्रयोजन 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ शब्दकर्मकाणामणि कर्ता सणौ'[२] सूत्र से कर्मसंज्ञक होता है। 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' वार्त्तिक से इस कर्म में लादि प्रत्ययों का विधान हो जाता है। श्लोकवार्त्तिककार के द्वारा गत्यर्थक और सकर्मक धातुओं के प्रधान कर्म में तथा गौण कर्म में लादि विधि 'गुणकर्मणि लादि विधिः सपरे' शब्दों से स्वीकार किया गया है परन्तु अन्य वार्त्तिककार के मतानुसार केवल प्रयोज्य कर्म में ही लादि विधान स्वीकृत है यथा—

गम्यते यज्ञदत्तो ग्रामम् देवदत्तेन।

इस प्रकार इन श्लोकवार्त्तिकों में लकारार्थ और कृत्यार्थ का सम्बन्ध कथित कर्म से है या अकथित कर्म से है यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। तथापि यह अस्पष्ट ही है कि कथित या अकथित दोनों में से किस में लादि विधान अभीष्ट है। नागेश ने इसे अनिर्णीत ही माना है।[३]

अकथितं[४] सूत्र से कर्म संज्ञा का विधान होने पर उदाहरणस्वरूप 'दुहयाचि' श्लोकवार्त्तिक महाभाष्य में उक्त है। इन धातुओं के प्रधान और गौण कर्मो की चर्चा की है। अतः यह समस्या उत्पन्न होती है कि किन धातुओं का ग्रहण द्विकर्मक धातुओं में किया जाये ? शंका का समाधान भाष्यकार ने निम्नः—

नीवह्योर्हरतेश्चापि, गत्यर्थानां तथेव च।
द्विकर्मकेषु ग्रहणं द्रष्टव्यमिति निश्चयः॥

श्लोकवार्त्तिक से करते हैं जिससे नी, वह्, हृ तथा गत्यर्थक धातुओं को द्विकर्मक माना गया है। द्विकर्मक मानने का कारण नागेश[५] 'व्यापारद्वयार्थ

---

१ आगम एवायं न स्वमतिपररिकल्पनेति दर्शयितुमाह अपर आह। कैयट प्रदीप व्या. नं. १, पृ. २६९

२ अ. सू. १-४-५२

३ अत्र नियमो बहुदृष्ट्भिः, कार्यः। नागेश उद्योत व्या. म. १, पृ. २७०

४ अ. सू. १-४-५१

५ वही

धातूपलक्षणं' मानते हैं । च से कैयट तथा न्यासकार जि, मुष्, दण्ड् धातुओं का ग्रहण करते हैं ।[१]

———सिद्धं वाप्यन्यकर्मणः ।
अन्यकर्मेति चेद्ब्रूयाल्लादीनामविधिर्भवेत् ॥

श्लोकवार्त्तिक द्विकर्मक धातुओं का परिगणन व्यर्थ सिद्ध कर देता है । अन्य का कर्म होने से द्विकर्मत्व स्वतः सिद्ध है ।[२]

ईप्सिततम कथित तथा द्विकर्मक धातुओं की कर्म संज्ञा हो जाने पर जो अकर्मक धातुयें अवशिष्ट रह जाती हैं इनका कथन निम्न श्लोकवार्त्तिक से किया गया है—

कालाभावाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम् ।
विपरीतं तु यत्कर्म तत्फलम कवयो विदुः ॥

इससे काल, भाव, अध्वगन्तव्य[३] देश के साथ प्रयुक्त धातुओं की अकर्मक संज्ञा का विधान हो जाता है । 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे'[४] सूत्र से काल, अध्ववाची[५] शब्दों से द्वितीया सिद्ध है अतः कर्म संज्ञा विधान के दो कारण स्पष्ट किये हैं - प्रथम तो लोक में गोदोहन आदि क्रियायें काल से प्रसिद्ध नहीं हैं[६] तथा द्वितीय काल और अध्ववाची से भी लादि विधान किया जाता है[७] यथा आस्यते मासः । आसितव्यो मासः । शय्यते क्रोशः ।

'अकथितं च'[८] सूत्र पर उक्त श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से प्रस्तुत तथ्य स्पष्ट होता है । अष्टाध्यायी की रचना करते हुए सूत्रकार का यह प्रबल प्रयास है कि

---

१ अत्रापि श्लोके चकारो जयतिप्रभृतीनां प्रयोगे कथितस्य समुच्चयार्थः । जिने. न्यास का. वृ. १ पृ. ५७६

२ नीवह्योर्हरतेश्चापि गत्यर्थानां तथैव च । द्विकर्मकेषु ग्रहणं द्रष्टव्यमिति निश्चयः ॥ नागेश, उद्योत, व्या. म. १, पृ. २७०

३ गन्तव्योऽध्वा । हर. पद. का. वृ. १, पृ. ५७६

४ अ. सू. २-३-५

५ अध्वा चासौ गन्तव्यौऽध्वगन्तव्यः । कैयट प्रदीप व्या. म. १, पृ. २७१

६ गोदोहादीनां कालत्वेनाप्रसिद्धत्वात् द्वितीया न प्राप्नोतीति भावस्य कर्मसंज्ञा विधेया । वही

७ कालाध्वनोरपि लादि विधानार्था कर्मत्वमेषितव्यम् । वही

८ अ. सू. १-४-५१

भाषा में प्रचलित अधिक से अधिक प्रयोगों का अन्तर्भाव सूत्रों में कर लिया जाये। पाणिनि परवर्ती काल में कात्यायन तथा अन्य वार्त्तिककारों ने इस प्रयास को अक्षुण्ण बनाये रखा। यही कारण है कि समय के साथ परिवर्तित होने वाले प्रयोगों को पतञ्जलि के महाभाष्य में स्थान मिला है क्योंकि महाभाष्य वार्त्तिकों सहित पाणिनि सूत्रों का व्याख्यान करता है।

तृतीय अध्याय

(१) लट् स्मे[1]

प्रस्तुत सूत्र में भूत अनद्यतन तथा परोक्ष पदों की अनुवृत्ति 'परोक्षे लिट्'[2] सूत्र से है अतः सूत्र स्म उपपद में रहने पर अनद्यतन भूतार्थ परोक्षार्थ में लट् लकार का विधायक है। भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र पर 'स्मपुराभूतमात्रे' तथा 'न स्म पुराऽद्यतने दो वार्त्तिक उद्धृत करके श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से प्रथम वार्त्तिक के द्वारा ही अभीष्ट सिद्धि स्वीकार कर द्वितीय वार्त्तिक का प्रत्याख्यान किया है—

स्मादिविधिः पुरान्तो यद्यविशेषेण किङ्कृतं भवति।
न स्म पुराऽद्यतन इति ब्रुवता कात्यायनेनेह॥

स्मादि विधि तथा पुरान्त विधि से अभिप्राय है 'लट् स्मे'[3] सूत्र से लेकर 'पुरि लुङ् चास्मे'[4] तक सूत्र पंच पदी का ग्रहण कराना। स्मपुरा पद् से स्मपुरा पठित सूत्राद्यन्त पंचसूत्रात्मक समुदाय परिलक्षित है। प्रथम वाक्य वार्त्तिक के अनुसार स्मपुराघटित विधि भूतमात्र में विहित है प्रथम द्वितीय वार्त्तिक के द्वारा स्म घटित व पुराघटित सूत्रों में अनद्यतन का प्रतिषेध है। प्रथम वार्त्तिक पंचसूत्री में लक्षित है तथा द्वितीय वार्त्तिक में लक्षण नहीं है। भाष्यकार पूर्व वार्त्तिक में ही उत्तरोत्तर की लक्षणा मानकर दो पक्षों की उद्भावना करते हैं। श्लोकवार्त्तिक में ये दोनों पक्ष समाहित हैं। यदि स्मादि विधि पुरान्त सामान्य भूतमात्र में विहित है, तो वार्त्तिकका-रोक्त 'न स्मपुराऽद्यतन' वार्त्तिक निष्प्रयोजन प्रतीत होता है। इसका कारण निम्न श्लोकवार्त्तिक में स्पष्ट किया गया है—

---

१ अ.सू.३-२-११८
२ अ.सू.३-२-११५
३ अ.सू.- ३-२-११८
४ अ.सू.- ३-२-१२२

अनुवृत्तिरनद्यतनस्य लट् स्म इति तत्र नास्ति नञकार्यम्।
अपरोक्षानद्यतनौ ननौ च नन्वोश्च निनिवृत्तौ ॥

'लट् स्मे'[१] सूत्र में लङ् विधायक सूत्र[२] से अनद्यतन की अनुवृत्ति है। अतः वार्त्तिक में नञ् कार्य निष्प्रयोजन है। 'अपरोक्षे च'[३] ननौ पृष्ठप्रतिवचने'[४] तथा 'नन्वोर्विभाषा'[५] सूत्रों में अनद्यतन की अनुवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार 'पुरि लङ् चास्मे'[६] सूत्र भूतमात्र में ही प्रवर्तित हैं। अतः भाष्याकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक से आक्षेप की उद्‌भावना करके उसका निराकरण किया है—

न पुराऽद्यतन इति भवेदेतद्वाच्यं तत्र चापि लुङ् ग्रहणम्।
अथबुद्धिरविशेषात्स्मपुराहेतू तत्र चापि शृणु भूयः ॥

'न स्म पुराऽद्यतने' वार्त्तिक के स्थान पर 'न पुराऽद्यतन' यही कथन होने पर अनद्यतन की अनुवृत्ति में स्वरितत्व[७] प्रतिज्ञा स्वीकार की जा सकती है, उसकी अपेक्षा के कारण वार्त्तिक में स्मग्रहण नहीं किया जाये। प्रस्तुत आक्षेप का निराकरण सूत्र में लुङ् ग्रहण से हो जाता है। लुङ् ग्रहण ज्ञापित कराता है कि अनद्यतन का अनुवर्तन है। यदि भूतमात्र में ही पुराविधि का विधान मान लिया जाये तो विभाषा ग्रहण की अनुवृत्ति होने के कारण लट् विकल्प से विहित होगा और पक्ष में लुङ् की प्रसक्ति होती है। लुङ्ग्रहण से यह सिद्ध होता है कि अनद्यतन की अनुवृत्ति होने पर लुङ् ग्रहण की अनवस्था में पक्ष में लङ् की प्रसक्ति होती है। बाधित होने के कारण लुङ् की नहीं। यदि अनद्यतन पद की अनुवृत्ति की जायेगी तो अनद्यतन में लुङ् प्राप्ति होगी अतः लुङ् ग्रहण चरितार्थ है। इस प्रकार लुङ् ग्रहण सामर्थ्य से अनद्यतन की अनुवत्ति होने के कारण श्लोकवार्त्तिककार का अभिप्राय है कि 'न स्म पुराऽद्यतने' यह वार्त्तिक व्यर्थ है। वार्त्तिक के प्रत्याख्यान का प्रयोजन निम्न श्लोकवार्त्तिक में निबद्ध है—

---

१ अ. सू. ३-२-११८
२ अनद्यतने लङ्। अ. सू. ३-२-१११
३ अ. सू. ३-२-११९
४ अ. सू. ३-२-१२०
५ अ. सू. ३-२-१२१
६ अ. सू. ३-२-१२२
७ स्वरितेनाधिकारः। अ. सू. १.३.११

अपरोक्षे चेत्येष प्राक् पुरिसंशब्दनादविनिवृत्तः ।
सर्वत्रानद्यतनस्तया सति नञा किमिह कार्यम् ॥

'अपरोक्षे च'[१] सूत्र से लेकर 'पुरि लुङ् चास्मे'[२] सूत्र पर्यन्त मध्य में आने वाले सूत्रों के विषय में 'न स्मपुराऽद्यतन' वार्त्तिक निष्प्रयोजन है । इसका कारण यह है कि अपरोक्ष ग्रहण की अनुवृत्ति 'ननौ पृष्टप्रतिवचने'[३] 'नन्वोर्विभाषा'[४] सूत्रों में होती है । अनुवृत्ति से अनद्यतन ग्रहण की अनुवृत्ति की निवृत्ति हो जाती है । अपरोक्ष ग्रहण से परोक्षाधिकार[५] निवृत्त हो जाता है । 'अपरोक्षे च'[६] सूत्र के प्रत्याख्यान की आशंका निम्न श्लोकवार्त्तिक में उद्भूत है—

स्मादावपरोक्षे चेत्यकार्यमिति शक्यमेतदपि विद्धि ।
शक्यं हि निवर्तयितुं परोक्ष इति लट् स्मे इत्यत्र ॥

'अपरोक्षे च'[७] सूत्र अपरोक्ष में अनद्यतन भूतार्थ में वर्तमान धातु से स्म उपपद रहते लट् लकार का विधान करता है । स्मादि विधि 'लट् स्मे' सूत्र से लेकर पुरान्त अर्थात् 'पुरि लुङ् चास्मे' का विधि परिलक्षित है । 'लट् स्मे' इत्यादि सूत्रों में परोक्ष निवृत्ति होने के कारण 'अपरोक्षे च' सूत्र निष्प्रयोजन प्रतीत होता है । प्रस्तुत शंका का समाधान निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा किया गया है—

स्यादेषा तव बुद्धिः स्मलक्षणेऽप्येवमेव सिद्धमिति ।
लट् स्म इति भवेन्नार्थस्तस्मात्कार्य परार्थं तु ॥

'लट् स्मे' सूत्र में परोक्ष ग्रहण की निवृत्ति होने पर परोक्ष तथा अपरोक्ष दोनों में लट् की प्रसक्ति होगी । इस आधार पर 'अपरोक्षे च'[८] सूत्र को निष्प्रयोजन स्वीकार नहीं किया जा सकता । अपरोक्ष ग्रहण अनद्यतन की अनुवृत्ति के ज्ञापनार्थ है । प्रस्तुत सूत्र परोक्षानद्यतन में विधान करता है । यदि परोक्ष ग्रहण की निवृत्ति

---

१ अ.सू.३-२-११९
२ अ.सू.३-२-१२२
३ अ.सू.३-२-१२०
४ अ.सू.३-२-१२१
५ परोक्षे लिट् । अ.सू.३-२-११५
६ अ.सू.३-२-११९
७ अ.सू.३-२-११९
८ वही

होगी तो अनद्यतन भी निवृत्ति हो जायेगा। अतः लट् स्मे'[१] सूत्र परोक्षानद्यतनार्थ, 'अपरोक्षे च'[२] सूत्र अपरोक्षानद्यतनार्थ 'पुरि लुङ् चास्मे'[३] सूत्र लुङ् ग्रहण के कारण अनद्यतनार्थ 'ननौ पृष्टप्रतिवचने'[४] तथा 'नन्वोर्विभाषा'[५] सूत्र भूतमात्रार्थं में विहित होंगे। सूत्रों के विषय के अनुसार प्रस्तुत व्यवस्था सूत्रों से ही सिद्ध हो जाती है। परिणामस्वरूप 'न स्म पुराऽद्यतने' वार्त्तिक का प्रत्याख्यान किया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने सूत्रों के स्पष्टीकरण के लिये श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण किया है।

चतुर्थ अध्याय

(१) न षट्स्वस्रादिभ्यः[६]

प्रस्तुत सूत्र निषेध सूत्र है जो षट् संज्ञक से परे तथा स्वरत आदि प्रातिपदिकों से परे स्त्री प्रत्यय का निषेध करता है।[७] षकारान्त तथा नकारान्त संख्या की षट् संज्ञा होती है।[८] प्रस्तुत सूत्र षकारान्त तथा नकारान्त संख्या से स्त्री प्रत्यय का प्रतिषेध कराता है।

यथा 'पञ्च ब्राह्मण्यः' इस उदाहरण में पञ्चन् के नकार का लोप होने पर स्त्री प्रत्यय का निषेध किया है। यदि स्त्री प्रत्यय से ङीप् प्रत्यय का प्रतिषेध ग्रहण किया जाता है तो प्रातिपदिकान्त नकार लोप[९] होने पर अजन्त होने के कारण टाप्[१०] की प्राप्ति होती है।[११] अतः किसका प्रतिषेध किया गया है, यह शंका उत्पन्न होती है। 'टाबृचि'[१२] सूत्र ऋचा के वाच्य होने पर पादन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्वविवक्षा में टाप्

---

१ अ.सू.३-२-११८
२ अ.सू.३-२-११९
३ अ.सू.३-२-१२२
४ अ.सू.३-२-१२०
५ अ.सू.३-२-१२१
६ अ.सू.४-१-१०
७ Vasu, S.C. - Aśṭā.Vol.I, p.611.
८ ष्णान्ता षट्। - अ.सू.१-१-२४
९ न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य। - अ.सू.८-२-७
१० अजाद्यतष्टाप्। - अ.सू.४-१-४
११ कैयट प्रदीप व्या.म.भाग २, पृ.३०५
१२ अ.सू.४-१-९

प्रत्यय का विधान करता है। इस टाप् का प्रसंग न होने के कारण केवल ङीप् का ही प्रतिषेध स्वीकार करना असंगत है, अतः इस शंका का परिहार किया गया है।[१] जो जिससे प्राप्त होता है उसका प्रतिषेध किया गया है अर्थात् सर्वत्र ङीप् प्रत्यय की प्राप्ति होती है टाप् की प्रसक्ति नकार लोप होने पर अकारान्तत्व होने पर षड्संज्ञक से ही होती है।[२] भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र पर निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किया है जिसके द्वारा ङीबनन्तर का प्रतिषेध इस सूत्र के द्वारा अभीष्ट है यह प्रतिपादन किया गया है:

षट्संज्ञानामन्ते लुप्ते, टाबुत्पत्ति कस्मान्न स्यात्।
प्रत्याहाराच्चापा सिद्धं, दोषस्त्वित्त्वे तस्मान्नोभौ॥

'पञ्च ब्राह्मण्यः' आदि उदाहरण में अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा' इस परिभाषा के आधार पर ङीबनन्तर का प्रतिषेध करने पर नकार लोप[३] होने पर टाबुत्पत्ति नहीं होती। इसका कारण यह है कि नलोप असिद्ध है।[४] अतः अदन्त न होने के कारण टाप् का विधान भी नहीं होता। सुबादि[५] परिगणित विधियों में नलोप का असिद्धत्व विहित है। सुप् सप्तमी बहुवचनान्त प्रत्याहार नहीं है अपितु 'यङश्चापः'[६] सूत्र में उक्त थाप् प्रत्यय के मकार से विहित सुप् प्रत्याहार है।[७] अतः टाप् प्रत्यय का भी अन्तर्भाव होने के कारण वह सुब्विधि' ही है।[८] यदि चाप् प्रत्याहार का ग्रहण किया जायेगा तो इत्व विधान में दोष उत्पन्न होता है यथा बहुचर्मिका इस उदाहरण में। सुब्विधि सर्व विभक्त्यन्तावयव समासाश्रित होती है।[९] अतः टाप् परे रहने पर सुष् विधि में इत्व अभीष्ट है परन्तु वह प्राप्त नहीं होता क्योंकि क से पूर्व अकार न होने के कारण नलोप असिद्ध हो जाता है।[१०] अतः टाप्

---

१ यो यतः प्राप्नोति स सर्वः प्रतिषिद्धयते। का.वृ.४-१-१०, भाग २, पृ.२८५
२ हर.पद.का.वृ. भाग ३, पृ.२८२
३ न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य। अ.सू.८-२-७
४ असिद्धो न लोपः तस्यासिद्धत्वान्नैतददन्तम्। हर.पद.का.वृ. भाग ३, पृ.२८४
५ न लोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति। अ.सू.८-२-२
६ अ.सू.४-१-७४
७ जिने.न्यास का.वृ. भाग ३, पृ.२८५
८ कैयट प्रदीप व्या.म.२, पृ.३०६
९ तत्र सुब्विधिरिति सर्वविभक्त्यन्तावयवसमासाश्रितः। हर.पद.का.वृ.३, पृ.२८४
१० जिने.न्यास का.वृ.३, पृ.२८५

तथा ङीप् दोनों ही प्रत्ययों को स्त्र्यधिकार[१] में उक्त होने के कारण प्रतिषेध अभीष्ट है क्योंकि चाप् प्रत्याहार का ग्रहण करने में दोष उत्पन्न होता है । अतः स्त्रीत्वार्थ में विवक्षित प्रत्ययों का प्रतिषेध सिद्ध है ।[२]

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण सूत्रों की व्याख्या के लिये किया है । सूत्रों का स्पष्टीकरण करने में श्लोकवार्त्तिकों का महत्त्वपूर्ण योगदान है ।

(२) गोत्रेऽलुगचि[३]

प्रस्तुत सूत्र प्राग्दीव्यतीयाधिकार[४] में है । अतः सूत्र का अभिप्राय है 'यस्कादिभ्योगोत्रे'[५] सूत्र के द्वारा यस्कादि से परे गोत्र प्रत्यय का बहुवचन में वर्तमान होने पर स्त्रीलिंग न होने पर गोत्र प्रत्यय के द्वारा बहुवचन की सिद्धि होने पर लोप हो जाता है । इस सूत्र के अन्तर्गत जिन गोत्र प्रत्ययों का लुप् किया गया है प्राग्दीव्यतीय विषय[६] होने पर अजादि प्रत्यय परे रहते उनके लोप का निषेध हो जाता है । यह सूत्र यस्कादिगण से प्राप्त लुक् का अपवाद है ।[७]

सूत्रोक्त गोत्र पद का अभिप्राय शास्त्रीय गोत्र से है क्योंकि उत्तर सूत्र 'यूनि लुक्'[८] में कृत्रिम युवन् के साथ साहचर्य है ।[९] प्रस्तुत सूत्र में बहुषु की अनुवृत्ति 'तद्राजस्य बहुषु' तेनैवास्त्रियाम्'[१०] सूत्र से होती है । भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र में दोष की उद्भावना की है, उनके अनुसार गोत्रे लुक् के पश्चात् 'हलि न' यह पाठ होना चाहिये । प्रस्तुत सूत्र में पूर्व सूत्र तथा उत्तर सूत्र दोनों में लुग् विधान होने के कारण नञ् उक्त है ।[११]

---

१ स्त्रियाम् । अ.सू.४-१-३
२ जिने. न्यास का. वृ. भाग ३, पृ. २८५
३ अ.सू.४-१-८९
४ तेन दीव्यति खनति जयति जितम् । अ.सू.४-४-२ तक
५ अ.सू.२-४-६३
६ Vasu, S.C. - Aśṭā.Vol.I, p.656.
७ प्रकरणेन प्राप्तस्य लुकोविषयविशेषेऽयमपवादः । कैयट प्रदीप व्या.म.२, पृ.३६०
८ अ.सू.४-१-९०
९ उत्तरसूत्रस्थेन कृत्रिमेन यूना साहचर्यात् । वही
१० अ.सू.४-२-६२
११ पूर्वत्रोत्तरत्र च लुग्विधानादिह नञ् प्रश्लिष्यते । हर.पद.का.वृ.३, पृ.४१३

'अचि' यह सप्तम्यन्त पद है इसमें पर सप्तमी का ग्रहण किया जाये अथवा विषय सप्तमी का, यह शंका उत्पन्न होती है । भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा विषय सप्तमीत्व सिद्ध किया है—

भूम्नीति च लुक् प्राप्तो बाह्यो चार्थे विधीयतेऽजादिः ।
बहिरंगमन्तरङ्गाद् विप्रतिषेधादयुक्तं स्यात् ॥
भूम्नि प्राप्तस्य लुको यदजादां तद्धिते लुकं शास्ति ।
एतद् ब्रवीति कुर्वन्, समानकालावलुग्लुक् च ॥
यदि वा लुकः प्रसङ्गे, भवत्यलुक् छस्तथा प्रसिद्धोऽस्य ।
लुग्वाऽलुकः प्रसङ्ग प्रतीक्षते छेऽलुगस्य तथा ॥

यदि सूत्र में पर सप्तमी का ग्रहण किया जाता है तो छ प्रत्यय के विधान में इतरेतराश्रय दोष उत्पन्न होता है ।[१] यथा गार्गीयाः वात्सीया इन उदाहरणों में छ के पश्चात् अलुक् होता है । अलुक् होने पर वृद्धत्व[२] निमित्तक छ नहीं होता । गर्गस्यापत्यानि बहूनि इस अर्थ में य[३] का लोप होने पर छ प्रत्यय विहित नहीं होता ।[४] अभिप्राय यह है कि प्रत्ययलोप प्रतिषेध[५] से वृद्धयभाव होने के कारण वृद्ध संज्ञा नहीं होती, अतः वृद्ध लक्षण छ प्रत्यय भी नहीं होता ।[६]

प्राग्दीव्यतीयार्थ - विवक्षा में अलुक् होने परवृद्धत्व में छ प्रत्यय होता है । छ प्रत्यय होने पर ईयादेश[७] का विधान होकर पश्चात् अलुग् होता है । अतः छ प्रत्यय तथा अलुक् में इतरेतराश्रय दोष उत्पन्न होता है ।[८] इतरेतराश्रय दोषयुक्त कार्यो की शास्त्र में प्रकल्पना नहीं की जाती ।[९] व्यक्तिपक्ष में अचि में परसप्तमी का

---

१ यद्येषापरसप्तमी स्याच्छविद्यावितरेतराश्रयता प्रसज्यते । जिने. न्या. का. वृ. भाग ३, पृ. ४१३
२ वृद्धात्छः । अ. सू. ४-२-११४
३ गर्गादिभ्यो यञ् । अ. सू. ४-१-१०५
४ कैयट प्रदीप. मा. भा. भाग २, पृ ३६०
५ न लुमाताङ्गस्य । अ. सू. १-१-६३
६ जिने. न्या. का. वृ. भाग ३, पृ. ४१३
७ आयनेयीनियियर फढखच्छघां प्रत्ययादीनाम् । अ. सू. ७-१-२
८ कैयट प्रदीप. व्या. म. भाग २, पृ. ३६०
९ इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि शास्त्रेषु न प्रकल्पन्ते । पत. व्या. म. २ पृ. ३६०

ग्रहण दोषयुक्त है । आकृति पक्ष में विषय सप्तमी के ग्रहण से दोष उत्पन्न नहीं होता ।[१]

अजादि मात्र में ही अलुग् का विधान किया गया है । यथा गर्गाणां छात्राः इस उदाहरण में अण्[२] के पश्चात् परतः प्राप्त या[३] के लुक् का प्रतिषेध कर गर्गा उदाहरण सिद्ध होता है यद्यपि लुक् तथा अलुक् की विशिष्टता नहीं है क्योंकि यकार[४] का लुक् विधान किया गया है । आत्रेया इस उदाहरण में 'आत्रेरपत्यानि बहूनि' इस अर्थ में ठक्[५] प्रत्यय से सिद्ध नहीं है लुक्[६] होने पर अत्रीणां छात्राः इस अर्थ में अण् परे रहते प्रतिषेध होता है । अलुक् वचन से लुक् का प्रतिषेध विहित है क्योंकि प्राप्त तथा अनभिनिवृत्त की निवृत्ति की जा सकती है ।[७] यदि अजादि अण् अभीष्ट है तो पहले ही लुक् की प्रवृत्ति हो जायेगी । अन्यथा वृद्धत्व लक्षण[८] छ की प्रसक्ति होती है तथा लुक् प्रवृत्त होने पर प्रतिषेध अनर्थक प्रतीत होता है । अतः अजादि की प्रवृत्ति होने पर अलुक् प्रतिषेध होता है । अलुक् की प्रवृत्ति अजादि के द्वारा होती है यही इतरेतराश्रय दोष है ।[९] प्राग्दीव्यतीयार्थ विवक्षा न होने पर लुक् की स्थिति होती है ।[१०] विप्रतिषेध से लुक् से प्रत्यय का विधान होता है । यथा गर्गाः वत्साः, आदि उदाहरणों में तथा छ का विधान शालीयः, गार्गीयः आदि उदाहरणों में होता है । जबकि दोनों की प्राप्ति गार्गी इस उदाहरण में होती है । पर होने के कारण छ प्रत्यय होता है पर लुक् का प्रतिषेध होता है ।अपत्य बहुत्व मात्र की विवक्षा होने के कारण लुक् अन्तरंग[११] है तथा प्राग्दीव्यतीयार्थ की विवक्षा होने के कारण लुक् का प्रतिषेध होता है । अपत्य बहुत्व मात्र की विवक्षा होने के कारण

---

१ नागेश, उद्योत व्या.म. २, पृ. ३६१
२ प्राग्दीव्यतोऽण् । अ. सू. ४-१-८३
३ यञञोश्च । अ. सू. २-४-६४
४ आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति । अ. सू. ६-४-१५१
५ इतश्चानिमः । अ. सू. ४-१-१२२
६ अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठगोतमङिरो । अ. सू. २-४-४५
७ प्राप्तस्य चानभिनिवृत्तस्य प्रतिषेधेन निवृत्तिः शक्यते कर्तुम् । हर.पद.का. वृ. भाग ३, पृ. ४१३
८ वृद्धाच्छः अ. सू. ४-२-११४
९ अ. सू. ४-२-११४
१० हर. पद. का. वृ. भा. ३, पृ. ४१३
११ पूर्वकालप्राप्तिक इत्यर्थः । नागेश उद्योत. व्या. म. २ पृ. ३६१

अजादि प्रत्यय बहिरंग है । अन्तरंग तथा बहिरंग में असमान काल होने के कारण विप्रतिषेध संगत प्रतीत नहीं होता ।[१] बहुत्व विवक्षा में प्राप्त लुक् अजादि तद्धित प्रत्यय परे रहते अलुक् का विधान करता है यदि लुक् की पूर्व प्रवृत्ति होती है तो अभिनिवृत्ति की निवृत्ति सम्भव होने के कारण अलुक् विधान अनर्थक हो जायेगा ।[२] अतः अलुक् विधान से पूर्व लुक् की प्रकृति नहीं होती । लुक् के सापेक्ष तथा बहिरंग होने के कारण विप्रतिषेध उपयुक्त प्रतीत होता है ।[३]

विप्रतिषेध न होने पर भी लुगपवाद होने के कारण अलुक् होता है तन्निमित्त अजादि प्रत्यय बलवत् प्रवृत्त होता है क्योंकि जिस प्रकार अपवाद बलवत है, उसी प्रकार निमित्त[४] भी होता है । पहले अपवाद का अभिनिवेश होता है, तत्पश्चात् उत्सर्ग का । अतः लुगलुक् विषय के पर्यालोचन से पूर्व ही छ प्रत्यय का विधान होता है । लुक् यदि अलुक् प्रसंग की अपेक्षा करता है तो छ परे रहते अलुक् सिद्ध होता है । यदि उत्सर्ग नियम पहले हो जायेगा तो अपवाद निर्विषय हो जाता है क्योंकि सर्वत्र उत्सर्ग की प्रवृत्ति होने लगेगी ।[५]

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से भाष्यकार ने 'अचि' सप्तम्यन्त पद में पर सप्तमी का ग्रहण न कर विषयसप्तमी को संगत माना है । श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से सूत्रोक्त पदों की सूक्ष्म विवेचना प्रस्तुत की है । विशिष्ट विभक्ति का विशिष्टार्थ में ग्रहण ही उपयुक्त प्रतीत होता है अन्यथा अन्यार्थ में ग्रहण होने से उद्भावित दोषों की सम्भावना के साथ उनका समाधान श्लोकवार्त्तिकों में किया गया है । इस प्रकार यह कथन असंगत प्रतीत ही नहीं होता है कि सूत्रोंक्त पदों की व्याख्या में श्लोकवार्त्तिकों का महत्त्वपूर्ण योगदान है ।

---

१ अन्तरङ्गबहिरङ्गयोश्चातुल्यकालत्वादयुक्तो विप्रतिषेधः । कैयट प्रदीप व्या. प. २ पृ. ३६१

२ वही

३ नागेश उद्योत व्या.म.२,पृ.३६१

४ यथाऽपवादो बलवान् तथा तन्निमित्रमपीत्यर्थः । - नागेश उद्योत व्या.मा.२,पृ.३६१

५ अन्यथा निर्विषयोपवादः स्यात् यदि सर्वत्रोत्सर्गः प्रवर्ततेति भावः । - कैयट प्रदीप व्या. म.,पृ.३६१

पंचम अध्याय

आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक्[१]

प्रस्तुत सूत्र अधिकार सूत्र है। जो 'तदर्हति'[२] सूत्र तक ठक् प्रत्यय का अधिकार निश्चित करता है। गो, पुच्छ, संख्या, परिमाण को छोड़कर अर्हत् पर्यन्त ठक् प्रत्यय का विधान होता है। आ का अर्थ अभिविधि[३] है अतः 'तदर्हति'[४] सूत्र में ठक् का विधान होता है।[५] ठक् प्रत्यय ठञ् का अपवाद है। ठक् और ठञ्[६] प्रत्ययों में केवल स्वर का यथा निष्कया क्रीतम् नैष्किकम् में ककारास्थित अकार उदात्त है परन्तु गोपुच्छेन क्रीतम् गौपुच्छिकम् में गकार स्थित औकार स्वर उदात्त है। संख्यावाचक एवं परिमाणवाचक पदों में भी आद्युदात रहता है। यथा षाष्टिकम्। काशिकाकार ने तदर्हति तथा तदर्हम् दोनों में से प्रथम विधि का ग्रहण किया है। यदि द्वितीय का ग्रहण अभीष्ट होता तो पूर्वसूत्र[७] के द्वारा ही सिद्धि हो जाती है आर्हात् कहने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। वत्यर्थ[८] में ठगधिकार करने पर इस अर्थ में आर्हात् पद को ग्रहण नहीं किया जा सकता प्रतिपदविहित का यत के द्वारा बाध होने के कारण तथा अनभिधान के कारण ठञ् के समान ठक्[९] नहीं होता। अतः अर्हति शब्द के एकदेश अहं शब्द का अवधित्व स्वीकार करना न्यायसंगत प्रतीत होता है।[१०] सूत्र में गोपुच्छ संख्या और परिमाण से ठक् प्रत्यय का निषेध होता है क्योंकि अन्य अर्थ सम्भव नहीं है।

---

१ अ.सू.५-१-१९
२ अ.सू.५-१-६३
३ The force of a here is abhividhi or inclusive. Vasu, S.C. -Aśṭā. Vol.I, p.858.
४ अ.सू.५-१-६३
५ अभिविधावयमकारः तेनार्हत्यर्थेऽपि ठक् भवत्येव। अ.सू.वृ.५-१-१९
६ प्राग्वतेष्ठञ्। अ.सू.५-१-१८
७ प्राग्वतेष्ठञ्। अ.सू.५-१-१८
८ उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे इत्यत्रापि वत्यर्थे ठक् प्राप्नोति। हर.पद.का.वृ. भाग ३, पृ. २८
९ अ.सू.५-१-१८
१० तस्मादर्हति शब्देकदेशस्यैवार्हशब्दस्यावधित्वं न्याय्यम्। जिने.न्यास का.वृ.४ पृ.२८

भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र पर संख्या और परिमाण के कथन के विषय में शंका की उद्‌भावना की है कि संख्या का परिमाण से पृथग् ग्रहण का क्या कारण है - नियम पूर्वक परिमाण शब्दों में संख्या का अन्तर्भाव नहीं होता परन्तु निर्वचनात्मक रीति से हो जाता है । पाणिनि ने कुछ सूत्रों में परिमाण शब्द का प्रयोग तकनीकि वृत्ति[१] में किया है जबकि अन्य सूत्र में निर्वचनात्मक[२] प्रयोग किया है । 'संख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु'[३] सूत्र की वृत्ति[४] है । परिमाण के क्रियापरक अर्थ को स्वीकार करने पर संख्या से भी परिच्छेद होने के कारण संख्या का पृथग् ग्रहण नहीं करना चाहिये । इसलिए भाष्यकार ने उक्त प्रश्न की उद्‌भावना की है । संख्या का ग्रहण अन्यत्र परिमाण का ग्रहण होने पर संख्या का ग्रहण न हो इसलिए किया गया है यदि परिमाण पर्युदास से संख्या पर्युदास माना जाये तो संख्या की परिमाण नहीं कहा जा सकता । सूत्रकार ने 'अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धित लुकि'[५] सूत्र के द्वारा आचार्य ने परिमाणवाचक बिस्तादि पदों से परिमाणान्त होने के कारण ङीष् होता है । बिस्त आदि का पृथग् ग्रहण होने के कारण ही परिमाण शब्द से उन्मान का ग्रहण भी होता है ।[६] अतः परिमाण पर्युदास से संख्या का पर्युदास नहीं होता । 'तदस्य परिमाणम्'[७] सूत्र में गृहीत परिमाण पद परिच्छेद हेतु मात्र है, सर्वतोमान नहीं है । 'संख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु'[८] सूत्र में परिमाण पद का ग्रहण संख्या के विशेषण[९] के रूप में किया गया है । इस सूत्र में संख्या परिच्छेदिका स्वीकार किया गया है ।[१०] संख्या तथा परिमाण के पृथक्त्व की विवेचना भाष्यकार ने भिन्न श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा की है—

---

१ अ.सू.४-१-२२
२ अ.सू.४-३-१५६
३ अ.सू.५-१-५७
४ का.वृ.५-१-१९, भाग ४, पृ.५९
५ अ.सू.४-१-२२
६ विस्तादीनां पृथक् ग्रहणादेवात्र परिमाणशब्देनोन्मानमपि गृह्यत इति भावः। नागेश, उद्योत, व्या.म.२, पृ.३१७
७ अ.सू.५-१-५७
८ अ.सू.५-१-५८
९ तस्मादुपपन्नं संख्यायाः परिमाणं विशेषणम् । जिने. न्यास का. वृ. भाग ४, पृ.६०
१० वही

ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं, परिमाणं तु सर्वतः।
आयामस्तु प्रमाणं, संख्या बाह्या तु सर्वतः ॥

भेदमात्रं ब्रवीत्येषा, नैषा मानं कुतश्च न।

संख्या तथा परिमाण का पृथक्त्व श्लोकवार्त्तिककार ने उन्मान[१] परिमाण तथा प्रमाण का लक्षण बताकर सिद्ध किया है। ऊर्ध्व आरोपण से गुरूत्वमान् उन्मान होता है।[२] ऊर्ध्व दिशा में अवस्थित परिच्छेदक को कुछ आचार्य उन्मान मानते है।[३] अन्याचार्यों के द्वारा हस्त्यादि के प्रमाण में ही अन्तर्भाव हो जाने के कारण तुला, दण्ड आदि आरोपित करके द्रव्यान्तर परिच्छिन्न गुरुत्व फलादि शब्द वाच्य जिस पाषाणादि से सुवर्णादि का गुरुत्व मापा जाता है, वह उन्मान माना गया है।[४] विस्तार का मापदण्ड आयाम परिच्छेदक होने के कारण प्रमाण माना जाता है दारू, वस्त्रादि के हस्तादि दैर्ध्य का निर्देश करने वाला प्रमाण है। प्रमाण कभी तो तिर्यगभिमुख[५] वस्तु का होता है तो कभी ऊर्ध्वाधरदिगवस्थित[६] वस्तु का। उन्मान, प्रमाण तथा परिमाण मूर्त द्रव्य के विषय हैं। परिमाण आरोह, परिणाह से युक्त है। आरोह का अभिप्राय उच्छ्राय तथा परिणाह का अर्थ विस्तार है। आरोह तथा परिणाह के अपने में स्थित काष्ठादिमय जिस के द्वारा ब्रीह्यादि का मापा जाता है वह परिमाण कहा जाता है।[७] संख्या, उन्मान, परिमाण तथा प्रमाण केत विषय-क्षेत्र से पूर्ण पृथक् है। संख्या तथा परिमाण की विशिष्टता का अन्तर ज्ञात करने के लिए ही संख्या को विशेषः[८] प्रश्न किया गया है। संख्या भेद का गणन है।[९] जिसके द्वारा भिन्न पदार्थों का संख्यायन अथवा परिच्छेदन किया जाता है, वह संख्या है।

---

१ ऊर्ध्वमानमित्युपसमस्तमपि मानम्। हर. पद. का. वृ. भाग ४, पृ. ३०
२ वही
३ ऊर्ध्वादिगवस्थितं परिच्छेदकमुन्मानमुच्यते। कैयट्, प्रदीप व्या. म. भाग २, पृ. ४९९
४ Vasu, S.C. - Aśṭā. - Vol.II, p.858.
५ तिर्यग्विस्तारपरिच्छेदकमेव च प्रमाणमिति। नागेश, उद्योत, न्या. म., भाग २, पृ. ४९९
६ वही
७ आरोहपरिणाहाभ्यां स्वगताभ्यां धान्यादि येन मीयते काष्ठादि मयेन तत् परिणामम्। कैयट, प्रदीप. या. म. धृ. ४९८
८ का. वृ. (५-१-१९) भाग ४, पृ. २९
९ भेदगणनम् संख्या - एकत्वादि। वही

संख्याभेद होने पर ही पदार्थानुसङ्कल्पन एकत्वादि के द्वारा किया जाता है। द्रोणादिपरिमाण भी संख्या के द्वारा परिच्छिन्न है यथा द्वौ द्रोणो, परिमाण का ग्रहण उपलक्षण मात्र है क्योंकि सर्वत्र संख्या में परिच्छेद्यत्व है।[१] अत संख्या केवल भेदगणनात्मिका है।[२] संख्या से विशेष की गणना की जाती है। द्वौ प्रस्थां त्रय-प्रस्था. आदि भिन्न सन्निविष्ट का हस्तादि से परिच्छेद होता है। समान सन्निवेश का प्रतिपादन करने के लिये समानाकृति का ग्रहण भाष्यकार ने किया है। भेद-पदार्थों की विलक्षणता का प्रतिपादन संख्या शब्द करता है।[३] संख्या मूर्त और अमूर्त गणनात्मक है अतः एक घटः शब्दों से द्वि आदि का निराकरण होने से भेद का ज्ञान होता है। अल्पपरिमाण, महापरिमाण तथा अपरिमाण रूप क्रियादि सब का गणन संख्या के द्वारा हो जाता है।[४] यह संख्या कहीं भी सन्निवेश का मापदण्ड नहीं है, अपितु निरपेक्ष मानदण्ड है। इस सन्निवेश के निरपेक्षत्व तथा सापेक्षत्व के द्वारा संख्या तथा परिमाण का भेद निर्दिष्ट है।[५] संख्या का सर्वबाह्योक्तत्व इस श्लोकवार्त्तिक के द्वारा उक्त है इससे अबाह्यत्व भी परस्पर सूचित होता है। अतः 'अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्योनतद्धित लुकि'[६] सूत्र में तथा 'परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः'[७] सूत्र में परिमाण ग्रहण से उन्मान का ग्रहण भी हो जाता है। संख्या को प्रत्ययार्थ की परिच्छेदिका स्वीकार करने पर प्रत्यय[८] होगा यथा पञ्चको गोसंघ। अतः संख्या तथा परिमाण का विशिष्ट रूप से पृथक् ग्रहण किया गया है।

---

१ दिष्टिप्रस्थसुवर्णादि मूर्तिभेदाय कल्पते। क्रियाभेदाय कालस्तु सङ्ख्या सर्वस्य भेदिका। भर्तृ.वा.प.पृ.

२ संख्या तु भेदगणनात्मिका। अभि.-प्रत्यभिज्ञा विवृत्ति Limye V.P. Crit. Stu. on M.B., p. 339.

३ भेदः पदार्थानां वैलक्षण्यं तन्मात्रं संख्याशब्दः प्रतिपादयति। कैयट प्रदीप.व्या.म.२,पृ. ४९८

४ नागेश,उद्योत,व्या.म.२,पृ.४९९

५ कैयट प्रदीप व्या.म.२,पृ.४९९

६ अ.सू.४-१-२२

७ अ.सू.७-३-१७

८ संख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु। अ.सू.५-१-५८

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सूत्रोक्त पदों के विषय में पूर्ण विवेचन करने के लिये भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण किया है। सूत्रोक्त पदों की व्याख्या करते हुए श्लोकवार्त्तिकों में अन्य सम्बद्ध पदों का विवेचन भी किया गया है। अतः सूत्रों के पदकृत्य को समझने में श्लोकवार्त्तिकों का विशिष्ट महत्त्व ज्ञात होता है।

षष्ठ अध्याय

(१) तस्माच्छसो: न: पुंसि[1]

आचार्य पाणिनि ने प्रस्तुत सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ से परे शसावयव के सकार को पुंस्त्व होने पर नकार का विधान किया है। पूर्वसवर्णदीर्घ से परे शस् सम्भव नहीं है।[2] पुंसि यह प्रकृतिविशेषण है अर्थात् पुंशब्द से परे शसवयव के सकार को नत्व होता है।[3] पुंस्त्व में विहित नत्व होता है अतः भाष्यकार पुंस्त्व के विषय में दो पक्षों की उद्भावना की है—

(१) यह नत्व पुंस्त्व बहुत्व में होता है अथवा (२) पुंशब्द से बहुत्व में इस शंका की उद्भावना करके दोनों पक्षों की विवेचना निम्न संग्रह श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से की है—

नत्वं पुंसां बहुत्वे चेत्, पुंशब्दादिष्यते स्त्रियाम्।
नपुंसके तथैवेष्टं, स्त्रीशब्दाच्च प्रसज्यते॥
पुंशब्दादिति चेदिष्टं, स्थूरापत्ये न सिध्यति।
कुण्डिन्या अररकायाः, पुंस्प्राधान्यात् प्रसिध्यति॥
पुंस्प्राधान्ये न एव स्युर्ये दोषाः पूर्व चोदिताः।
तस्मादर्थे भवेन्नत्वं वध्रिकादिषु युक्तवत्॥

'पुंसि' यह प्रत्ययार्थ विशेषण है अर्थात् पुंस्त्व में शस् उत्पन्न है अथवा यह प्रकृति विशेषण है अर्थात् पुंशब्दसे परे शस्। यदि यहां प्रत्ययार्थ को ग्रहण करते

---

१ अ.सू.६-१-१०३

२ उत्तरस्येत्येतच्छसवयवस्य विंशेषणं तस्मादुत्तरो य शसो वयवस्तस्येति न तु शसः असम्भवात्। हर.पद.का.वृ.४ पृ.५७६

३ वही

हैं तो यद्यपि वृक्षान् अग्नीन्, वायून् आदि उदाहरण उपयुक्त प्रतीत होते हैं क्योंकि पुंस्त्व में बहुत्व में शस् उत्पन्न है तथापि दो दोषों की उद्भावना की गई है - प्रथमतः स्त्रीत्व विवक्षा[१] में भी नत्व की प्राप्ति होने लगती है यथा भ्रूकुंसान्[२] पश्य । भ्रूकुसं में वास्तविक रूप से स्त्रीत्वाभाव[३] होने पर भी लौकिक स्त्रीत्व आरोपित है परन्तु यहां पुंगत बहुत्व नहीं है अपितु पुंशब्द से जो बहुत्व विवक्षित है उसमें शस् विहित है ।

द्वितीय शेष यह है कि षण्डकान्[४] पण्डकान् आदि नपुंसकों से भी बहुत्व में शस् उत्पन्न होता है परन्तु वृक्षादि शब्द न केवल पुल्लिग सामान्य विशेषण के द्वारा विशिष्ट स्वार्थ का प्रतिपादन करते हैं अपितु षण्डक पण्डक आदि शब्दों के अर्थ का भी प्रतिपादन करते हैं । जिस प्रकार वृक्षादि पुंस्त्वार्थ का अभिधान करने वाले हैं, उसी प्रकार नपुंसक षण्डक पण्डक आदि से उत्पद्यमान शस् भी पुंस्त्व में बहुत्व में उत्पन्न होता है ।[५] इस प्रकार दोनों ही दोषों की सम्भावना का निराकरण कर दिया है ।

यदि प्रत्ययार्थ को ही स्वीकार करते है तो अतिव्याप्ति दोष की सम्भावना होती है । स्त्री शब्दों से भी नत्व की प्रसक्ति होने लगेगी यथा चञ्चाः पश्य चञ्चा[६] शब्द पुंस्त्व का अभिधायक हैं अतः नत्व की प्रसक्ति होने लगती है ।[७] यहां भी स्त्री बहुत्व में शस् उत्पन्न है न कि पुंबहुत्व में, अतः नत्व नहीं होता और अतिव्याप्ति दोष भी नहीं होता । यदि प्रकृति-विशेषणअर्थात् पुंशब्द बहुत्व ग्रहण करते हैं तो भी दोष होता है । यथा स्थूरकान् तथा अररकान् शब्द संगत प्रतीत नहीं होते । वृक्षान् आदि उदाहरणों में पुंशब्द से परे शस् है परन्तु स्थूर, अररक इन लुगन्त पदों

---

१ स्त्रियाम् । अ.सू.४-१-३
२ लिङ्गात् स्त्रीपुंसयोर्ज्ञाने भ्रूकुंसे टाप् प्रसज्यते । (श्लोकवार्त्तिक अ.सू.४-१-३) अर्थात् स्त्रीवेशधारी नर्तकः । कैयट प्रदीप व्या.म.२,पृ.७५९
३ स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः । (श्लोकवार्त्तिक अ.सू.४-१-३)
४ षण्डशब्देन प्रसवासमर्थस्य नपुंसकस्याभिधानम् । कैयट प्रदीप व्या.म.२,पृ.७५९
५ जिने.न्यास का वृ.भाग ४,पृ.५७७
६ कैयट प्रदीप व्या.म.२,पृ.७५९
७ प्रकृतिरेव चञ्चा शब्दः पुंस्त्वविशिष्टं प्रत्ययार्थमस्मिन् प्रयोग अहिति नत्व प्रसङ्गः । हर.पद.का.वृ.भाग ४,पृ.५७७

से उत्पन्न शस् स्त्रीशब्दपरक है न कि नपुंसक शब्दपरक । अतः प्रकृति प्रत्ययार्थ में वर्तमान है और वह प्रत्ययार्थ पुल्लिग विशिष्ट है ।[१] इसलिए वृक्षानादि पद न केवल पुल्लिग विशिष्ट वृक्षादिक स्वार्थ का प्रतिपादन करते हैं अपितु स्थूरकान् अररकान् पद भी पुल्लिग विशिष्ट स्वार्थ का प्रतिपादन करते हैं पुंस्त्व प्रधान होने के कारण इन शब्दों में नत्व हो जायेगा । दोनों पक्षों में पृथक् रूप से दोषों की उद्‌भावना करने के पश्चात् श्लोकवार्त्तिककार ने पुल्लिग विशिष्ट अर्थ को स्वीकार करने पर पुनः उन्हीं दोषों की कल्पना की है परन्तु दोनों ही पक्ष दोष रहित हैं । पुंवाची शब्द पुंशब्द कहा जाता है । भ्रूकुंसादि शब्द में लिंगत्व की स्थापना लौकिक आधार पर गई है जबकि स्थूरादि पदों में प्रत्यय लोप होने पर स्थूरकान् आदि पद पुंस्त्व में वर्तमान होने के कारण पुंशब्द ही होते हैं ।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिककार ने लौकिक लिंग लक्षण तथा शास्त्रीय लिंग लक्षण को पृथक् माना है । भाष्यकार ने भी लौकिकलिंग लक्षण को शास्त्रीय पक्ष में स्वीकार नहीं किया है ।[२] शास्त्रीय लिंग का ग्रहण करने पर पुंस्बहुत्व तथा पुंशब्दबहुत्व दोनों ही पक्षों की स्थिति होती है परन्तु लौकिक लिंग लक्षण का ग्रहण करने में दोनों ही पक्ष दोषयुक्त प्रतीत होते हैं परन्तु शास्त्रीय लिंग का ग्रहण करने पर चञ्चाः पश्य इसी पक्ष में दोष अवशिष्ट रहता है । अतः शास्त्रीय लिंग लक्षण का ग्रहण करना ही उपयुक्त प्रतीत होता है ।

श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि नत्व-विधान में पुंस्त्व के प्रकृत्यर्थ तथा प्रत्ययार्थ दोनों ही पक्ष उपयुक्त हैं । श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा ही इस सम्पूर्ण सूत्र की व्याख्या की गई है तथा शास्त्रीय लिंग लक्षण ही शास्त्रीय प्रक्रिया में गृहीत होना चाहिये, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है ।

(२) दिव उत्[३]

प्रस्तुत सूत्र विधि सूत्र हे जो दिव पद को उकारान्तादेश का विधान करता है । प्रस्तुत सूत्र में पद शब्द का अनुवर्तन 'एङः पदान्तादति'[४] सूत्र से होता है यदि

---

१ प्रकृतिरेव ह्यत्र तद्धितलुगन्ता प्रत्ययार्थे वर्तते स च प्रत्ययार्थः पुल्लिङ्गेन विशिष्टः । - जिने. न्यास, का. वृ. ४, पृ. ५७७

२ न वैयाकरणैः शक्यं लौकिकलिङ्गमास्थातुम् । पत. व्या. म. (४-१-३), भाग २, पृ. २९३

३ अ. सू. - ६-१-१३१

४ अ. सू. - ६-१-१०९

केवल अन्तादेश का ग्रहण किया जाता तो उत्तरपद से भी पद ग्रहण की अनुवृत्ति होती और तदन्त अर्थ में षष्ठी उत्पन्न होती है ।[१] यहां दिवः यह प्रतिपादिक पद है न कि धातु । दिवु धातु सानुबन्ध है जबकि प्रातिपदिक से कोई अनुबन्ध नहीं होता ।[२] निरनुबन्ध का ही ग्रहण किया जाता है सानुबन्ध का नहीं । अतः प्रातिपदिक का ही ग्रहण किया जायेगा धातु का नहीं ।[३]

प्रकृत सूत्र पर भाष्यकार ने उत् के विषय में शंका की उद्‌भावना की है । सूत्र में उ को तपर् ग्रहण करने का क्या प्रयोजन है, इसका समाधान इस श्लोकवार्त्तिका के द्वारा किया है - 'तदर्थं तपरः कृतः' यद्यपि 'ऋत उत्' सूत्र से ज्ञापित होता है कि भाव्यमान उकार भिन्न काल वाले सवर्णो का ग्रहण कर लेता है[४] तथापि आन्तरतम्य के कारण यहां अर्द्धमात्रिक व्यंजन के स्थान पर मात्रिक उकार ही सिद्ध होता है ।[५] दीर्घ ऊकार की प्राप्ति नही होती परन्तु ऊठ्[६] की प्राप्ति होती है । ऊठ् का निषेध करने के लिये ही उकार को तपरक पढ़ा गया है । उत्व की प्राप्ति झलादि क्विप् परे न रहने पर होती है यथा विमलद्यु जबकि ऊठ् की प्राप्ति भी होती है ।[७] उत्व और ऊठ् दोनों की प्राप्ति होने पर पर होने के कारण ऊठ् ही होता परन्तु तपरक होने के कारण उत्व से उसकी निवृत्ति हो जाती है । ऊठ् की निवृत्ति ही यदि उत्व का प्रयोजन माना जायेगा तो अठ् विधायक सूत्र से ह्रस्व रूप सिद्ध नहीं होंगे क्योंकि ऊठ् करने पर ऊठ् का ही मात्राकाल ऊकार होगा ।[८] 'दिव उत् इस सूत्र में तपरक उकार का ग्रहण करने से तपरक मात्राकाल उकार ही होगा ।[९] कुछ आचार्य क्ङिति का

---

१ अन्तग्रहेनोपसमस्तमपि केवलं पदग्रहणमेवानुर्तते ततश्चार्थात् षष्ठ्यन्तं जायते । हर. पद. का. वृ. भाग पृ. ६७४

२ Vasu, S.C. - Aśṭā. Vol.II, p.1089.

३ निरनुबन्धकस्य ग्रहणे न सानुबन्धकस्य । जिने. न्यास का. वृ. ४, पृ. ६७४

४ च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६-४-१९) सूत्र पर सम्पूर्ण श्लोकवार्त्तिक है -
शूठ्त्वे क्ङिदधिकारश्चेच्छः षत्वं तुक्प्रसज्यते ।
निवृत्ते दिव ऊठभावस्तदर्थं तपरः कृतः ॥

५ भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति । जिने. न्यास का. वृ. ४ पृ. ६७४

६ वही

७ च्छ्वोः शूडनुनासिके च । अ. सू. ६-४-१९

८ हर. पद. का. वृ. भाग ४, पृ.६७५

९ जिने. न्यास का. वृ. भाग ४ पृ. ६७५

अनुवर्तन ग्रहण न करते हुये शंका करते हैं कि द्युभ्यां द्युभिः आदि प्रयोग ऊठ् करने पर सिद्ध नहीं होंगे।[१] क्ङिति का अनुवर्तन न होने के कारण यहां भी ऊठ ही होना चाहिये परन्तु दिव उत् सूत्र से तपरक मात्राकाल उकार ही इस दोष का परिहारक है। तपर करण का प्रयोजन ऊठ् की निवृत्ति है अन्यथा वह अनर्थक हो जायेगा इसलिये उत्व ही करना चाहिये ऊठ् नहीं।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने सूत्रों की व्याख्या करने के लिये कहीं-कहीं सम्पूर्ण उद्धृत श्लोकवार्त्तिक को आंशिक रूप से अन्यत्र ग्रहण किया है। सूत्रों के पदों की व्याख्या में श्लोक-वार्त्तिकांशों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है।

(३) परादिश्छन्दसि बहुलम्[२]

प्रस्तुत सूत्र वेद के विषय में पर को आद्युदात्त का विधान बहुलता से करता है।[३] पूर्वसूत्रोक्त[४] सक्थं पद का अनुवर्तन होकर पर शब्द से प्रकृत सूत्र में सक्थ शब्द का ही ग्रहण होता है।[५] अतः पर ग्रहण अनर्थक प्रतीत होता है परन्तु बहुव्रीहि की अनुवृत्ति होने सर पर का ग्रहण उपयुक्त है।[६] अतः बहुव्रीहि को आद्युदात्तत्व की प्राप्ति होने लगेगी। 'विभाषोत्पुच्छे'[७] सूत्र से विभाषार्थ में वर्तमान बहुल का ग्रहण वध्वर्थ प्रतिपादन के लिये किया गया है। यथा ऋजुबाहुः इस उदाहरण में पूर्वपद प्रकृतिस्वर[८] होना चाहिये था परन्तु बहुल ग्रहण से पर को आद्युदात्तत्व हो जाता है। बहुल ग्रहण का अर्थ भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक से उद्धृत किया है—

परादिश्च परान्तश्च पूर्वान्तश्चापि दृश्यते।
पूर्वादयश्च दृश्यन्ते व्यत्ययो बहुलं स्मृतः॥

---

१ कैयट प्रदीप व्या.म.२ पृ.७७४
२ अ.सू.६-२-१९९
३ The first syllable of second member is diversely acute in the Veda. Vasu, S.C. - Aṣṭā.Vol.II, p.1208.
४ सक्थ चाक्रान्तात्। अ.सू.६-२-१९८
५ परशब्देनात्र सक्थ शब्द एव तस्यैव पूर्वसूत्रे संनिहितत्वाद्। सु.,सि.कौ.,पृ.७३७
६ हर.पद.का.व्या.वृ. भाग पृ.१८७
७ अ.सू.६-२-१९६
८ बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्। अ.सू.६-२-१

सूत्र में बहुल का ग्रहण होने से स्वर व्यत्यय की प्राप्ति होती है।[१] परादि अर्थात् उत्तरपद आद्युदात्त होता है अजिजसक्यम् पद में अजिज पद अन्तोदात्त है परन्तु प्रस्तुत सूत्र से आद्युदात्त हो जाता है।[२] पूर्ण तौर पर शब्दों से पूर्वपद और उत्तरपद का ग्रहण होता है।[३] बहुल ग्रहण से उत्तरपदादि उदात्तत्व तथा उत्तरपदान्तोदात्तत्व की प्राप्ति स्वरव्यत्यय से होती है। सूत्र पदान्तर में तथा समासान्तर में परादि उदात्तत्व का विधान करता है।[४] श्लोकवार्त्तिक में परान्त, पूर्वान्त तथा पूर्वादि का भी ग्रहण कर लिया गया है। स्वर व्यत्यय का विधान लौकिक सूत्रों में ही कर दिया गया है।[५] यथा वाक्पतिः, चित्पतिः इन उदाहरणों में समासान्तोदात्तत्व से प्रकृतिस्वरत्व का प्रतिषेध विहित है[६] परन्तु छान्दस प्रयोग में वाक्पतिः चित्पति पद भी परादि उदात्त है क्योंकि बहुल ग्रहण के कारण स्वरव्यत्यय हुआ है। उत्तरपद अन्तोदात्त होता है यथा त्रिचक्र उदाहरण में बहुव्रीहि होने के कारण पूर्वपदप्रकृतिस्वर की प्रसक्ति है परन्तु स्वर व्यत्यय से उत्तरपद के अन्त को उदात्त होता है। पूर्व पद के अन्त्याच् को उदात्त होता है तथा पूर्वपद के आदि को भी यह श्लोकवार्त्तिक उदात्त का विधान करता है।[७] अतः बहुलता से स्वर व्यत्यय स्वीकार किया है। सूत्र से अभिप्राय है वेद में उत्तरपद का आदि व अन्त्याच् उदात्त होते हैं और यह सूत्र पूर्वस्वर विधायक सूत्रों का अपवाद है।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि श्लोकवार्त्तिक सूत्रों द्वारा सिद्ध न होने वाले प्रयोगों की सिद्धि में सहायक हैं तथा प्रसंगवश उपस्थित प्रकरण की व्याख्या में भी भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं।

(४) आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः[८]

---

१ बहुलग्रहण लभ्यः स्वरव्यत्यय इत्यर्थः। कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ८४०
२ हर. पद. का. वृ. भाग ५, पृ. १८७
३ पूर्वपर शब्दाभ्यां पूर्वोत्तर पययोर्ग्रहणम्। का. वृ. ६-२-१९९, भाग ५, पृ. १८७
४ जिने. न्यास का. वृ. भाग ५, पृ. १८८
५ वही
६ थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्। अ. सू. ६-२-१४४
७ सप्तमीहारिणौ धर्म्येऽहरणे। अ. सू. ६-२-६५
८ अ. सू. ६-३-४६

प्रस्तुत सूत्र समानाधिकरण तथा जातीय प्रत्यय उत्तरपद में रहते महत् को आकार अन्तादेश का विधान करता है ।[१] महादेवः महत्पुत्रः उदाहरण में सन्महतः परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः[२] । इस सूत्र से कर्मधारय समास हुआ है । समास लक्षण प्रतिपदोक्त परिभाषा से महतः प्रतिपदोक्त का ही लक्षण से ग्रहण होता है लाक्षाणिक का ग्रहण नहीं किया जाता । अतः महत्पुत्रः उदाहरण में 'षष्ठी'[३] सामान्य लक्षण से समास होने के कारण आत्व नहीं हुआ ।[४] आत्व के विषय में शंका उत्पन्न होती है परन्तु समानाधिकरण का ग्रहण करने से बहुव्रीहि समास में भी आत्व हो जाता है ।[५] यदि लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा का ग्रहण किया जायेगा तो समानाधिकरण का ग्रहण अनर्थक सिद्ध होगा क्योंकि महत् से जो समास होगा वह समानाधिकरण पद होता है। समानाधिकरण का ग्रहण न करने पर 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः' प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् परिभाषा के आश्रय से आत्व नहीं होगा ।[६]

भाष्यकार ने सूत्र पर आत्वाधिकरण के विषय में शंका की उद्भावना की है तथा शंका का निराकरण निम्न श्लोकवार्त्तिकों में किया गया है—

अन्यप्रकृतिरमहान्, भूतप्रकृतौ महान् महत्येव ।
तस्मादात्वं न स्यात्पुंवत्तु कथं भवेतत्र ॥
अमहति महान् हि वृत्तस्तद्वाची चात्र भूतशब्दोऽयम् ।
तस्मात्सिद्धयति पुंवन्निवर्त्यमात्व तु मन्यन्ते ॥
यस्तु महतः प्रतिपदं समास उक्तस्तदाश्रयं ह्यात्वम् ।
कर्त्तव्यं मन्यन्ते न लक्षणेन लक्षणोक्तश्चायम् ॥
शेषवचनत्तु योऽसौ प्रत्यारम्भात्कृतोबहुव्रीहिः ।
तस्मात् सिध्यति तस्मिन्, प्रधानतो वा यतो वृत्तिः ॥

---

१ Vāsu, S.C. - Aśṭā.Vol.II, p.1224.
२ अ.सू.२-१-६१
३ जिने.न्यास का.वृ. भाग ५,पृ.२४४
४ बहुव्रीहावपि यथा स्यादित्येवमर्थमित्यर्थः । हर.पद.व्या.वृ. भाग ५,पृ.२४४
५ वही
६ तस्याश्चानुपस्थाने सति बहुव्रीहावपि आत्यं भवति । जिने.न्यास.का.वृ.५ पृ.२४४

बहुव्रीहि[१] समास में आत्व विधान के लिये सूत्र में समानाधिकरण नहीं होगा वहां आत्व भी नहीं होगा तथापि महद्भूतचन्द्रमा इस उदाहरण में समानाधिकरण की प्रसक्ति होने लगती है तथा आत्व विधान की प्राप्ति की आशंका होती है ।[२] अमहान् महान् सम्पन्न महद्भूतः चन्द्रमा इस विग्रह में जिस अर्थ में च्व्यन्त महान् शब्द विद्यमान है उसी अर्थ में भूत शब्द भी इस प्रकार अर्थ में समानाधिकरण स्वीकार किया है ।[३] अमहान् शब्द तथा भूत शब्द विभिन्न अर्थों में विद्यमान है भूत शब्दार्थ में अमहान् का प्रयोग हुआ है अतः अमहान् का भूत के साथ समानाधिकरण है न कि महत् शब्द के साथ । महत् शब्द महदर्थ में ही विद्यमान है क्योंकि प्रकृति संख्याश्रित होती है विकृति का संख्या से आश्रय नहीं होता ।[४] अतः भूत निष्ठान्त पद भवन क्रिया के कर्ता अमहत् में व्युत्पन्न है विकार महत् से उसका समानाधिकरण नहीं है ।[५] यदि अमहान् प्रकृति और महान् विकृति में वैयाधिकरण मानकर आत्व प्रतिषेध को संगत मानते हैं । महत्भूता ब्राह्माणी इस उदाहरण में पुंवद्भाव भी नहीं होगा क्योंकि यहां 'अमहती महती सम्पन्ना ब्राह्मणी' महत् भूता ब्राह्मणी यह विग्रह होगा । इस विग्रह में पुंवद्भाव भी नहीं होगा क्योंकि यहां 'अमहती महती सम्पन्ना ब्राह्मणी' महत् भूता ब्राह्मणी यह विग्रह होगा । इस विग्रह में पुंवद्भाव नहीं होगा, इस दोष का निराकरण हो जाता है । क्योंकि लोक में प्रकृति के समान विकृति में भी कर्तृत्व की प्राप्ति होती है ।[६] लोक में विकारसंख्याश्रित वचन भी व्यवहृत है । यथा असंघो ब्राह्मणसंघो भवति, अपटः तन्तवः पटः भवति । यदि न वाक्यों को प्रमाण मान कर विकृति के कर्तृत्व के आधार पर समानाधिकरण आश्रित पुंवद्भाव का विधान होता है तो आत्व की प्रसक्ति होने लगती है ।[७] परन्तु महत् शब्द च्व्यन्त है च्वि प्रत्यय का विषय परिणाम है[८] तथा प्रकृति के द्वारा विकृति के रूप का प्रतिपादन होने पर च्वि प्रत्यय होता है । प्रकृति और विकृति के द्वारा एक ही अर्थ

---

१ बहुव्रीहावपि यथा स्यादित्येवमर्थमित्यर्थः । हर. पद. का. वृ. भाग ५, पृ. २४४

२ क्रियासम्बन्धान्महत् भूतशब्दयोः सामानाधिकरण्यादात्वप्राप्तिरिति प्रश्नः । नागेश उद्योत व्या. म. ८, पृ. ८४५

३ कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ८६५

४ प्रकृतिसंख्याश्रयं वचनं दृश्यते न विकृतिसंख्याश्रयम् । वही

५ हर. पद. का. वृ. भाग ५, पृ. २४४

६ यथा च प्रकृते दृश्यते तथा विकृतेरपि । - वही

७ हर. पद. का. वृ. भाग ५, पृ. २४५

८ जहद्धर्मान्तरं पूर्वमुपादत्ते यदापरम् । तत्वादप्रच्युतो धर्मी परिणाम स उच्यते ॥ भर्तृ. वा. प. काण्ड पृ.

का प्रतिपादन होने पर परिणाम व्यवहार होता है तथा उत्तरावस्था पूर्वावस्था[१] पर आश्रित होने पर च्वि का अभाव होता है। अतः विकृति का कर्तृत्व स्वीकार करने पर भूत शब्द से समानाधिकरण होने से पुंवद्भाव सिद्ध होता है। अमहत्यर्थ में महत् शब्द वर्तमान है अतः पुंवद्भाव[२] की सिद्धि होने पर भी आत्व प्रसक्ति सम्बन्धी दोष की सम्भावना रहती है।

कहीं समानाधिकरण में प्रयोग होते हैं तो कहीं व्यधिकरणाश्रित।[३] महत्भूत यह प्रयोग विकृति कर्तृत्व पर आश्रित है महत्भूतश्चन्द्रमा। यह प्रयोग प्रकृति आश्रित है यदि विकृति कर्तृत्व होगा तो प्रकृति आनुमानिकी होगी।

प्रकृति के कर्तृत्व होने पर सामर्थ्य से विकारावस्था प्रतीत होती है।[४] एक ही प्रयोग में प्रकृति तथा विकृति दोनों का कर्तृत्वाश्रय नहीं रह सकता प्रस्तुत उदाहरण में भी भूत शब्द महत्त्व के द्वारा असंस्पृष्ट चन्द्रमा अभिव्यक्त है अतः व्यधिकरण होने के कारण आत्व का अभाव हो जाता है[५] श्लोकवार्त्तिक के माध्यम से भी आत्व प्रसक्ति का खण्डन किया गया है। 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः'[६] सूत्र से विहित समास प्रतिपदोक्त है। महत् भूतश्चन्द्रमा इस उदाहरण में लाक्षणिक समास के कारण आत्वाभाव है। यदि प्रतिपदोक्त समास का ही ग्रहण करेंगे तो बहुव्रीहि समास में भी आत्व का अभाव होने लगेगा परन्तु बहुव्रीहि समास विधायक सूत्र में शेष[७] तथा अन्य पदार्थ[८] ग्रहण पुनर्विधान के लिये है। पुनर्विधान से प्रतिदोक्त बहुव्रीहि समास होता है इस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है[९] प्रतिपदोक्त के द्वारा पुनर्विधान होता है। अतः बहुव्रीहि समास में भी आत्व सिद्धि होती है।

---

१ यदा ह्युत्तरावस्था पूर्वावस्था वा नाश्रियते तदा च्वेरभावः। कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ८६६

२ प्रकृतिसं. - वही

३ वही, पृ. ८६७

४ कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ. ८६७

५ भूतशब्दस्तु महत्वेनासंस्पृष्टश्चन्द्रमा स्वरूपे वर्तते इति वैयधिकरण्यादात्वाभावः। हर. पद. व्या. वृ. ५, पृ. २४६

६ अ. सू. २-१-६१

७ शेषो बहुव्रीहि। अ. सू. ३-२-३

८ अनेकमन्यपदार्थे। अ. सू. २-२-२४

९ कैयट प्रदीप व्या. म. भाग २, पृ. ८६७

महत्भूतश्चन्द्रमा इस उदाहरण में आत्व सिद्ध नहीं है क्योंकि लोक में उच्चरित शब्द से गौण तथा मुख्यार्थ सम्भव होने के कारण मुख्यार्थ से सम्प्रत्यय होता है गौण से नहीं ।[१] गो की उपस्थिति अभीष्ट होने पर सास्नादिमत् ही अभीष्ट होगा वाहीक नहीं, उसी प्रकार महत् शब्द से उच्चरित मुख्य में ही सम्प्रत्यय होगा गौण में नहीं । महदर्थ गौण है, उसका अभिधान होने पर महत् शब्द भी गौण है ।[२] महत् की गौणता के विषय में शंका व्यर्थ प्रतीत होती है क्योंकि च्व्यन्त अर्थ आश्रितपूर्वावस्थ होता है तथा उपचरित उत्तरावस्था का कथन करना है ।[३] चन्द्रमा अमहान् पूर्वावस्थ महत शब्द के द्वारा उच्चरित उपचरित महत्वानुगत उत्तरावस्था का बोध कराता है । अर्थाश्रय में आत्व का निषेध हो जाता है । परन्तु पुंवद्भाव होता है क्योंकि स्त्रीत्वार्थ प्रमुख है तथा पुंवदभाव तदाश्रित है ।[४]

मुख्यार्थ को स्वीकारकरने पर गौण को ही वृद्धि आत्व होने के कारण गौ शब्द से वृद्धि, आत्व नहीं होता । पद का अन्य पद से सम्बन्ध होने पर गौणार्थत्व की अभिव्यक्ति होती है । शब्द स्वार्थ का पूर्ण परित्याग करके अर्थान्तर का अभिधान नहीं करता ।[५] स्वार्थ का पूर्ण परित्याग करके अर्थान्तर का अभिधान नहीं करता ।[६] यथा गौर्वाहीकः इस प्रयोग में गोत्व वाहीकत्वारोपित गोशब्दप्रयोजक है । कभी मुख्य होता है यथा रज्जु में सर्पत्व की भ्रान्ति होने पर सर्प शब्द प्रयुक्त होता हुआ भी स्वार्थ का परित्याग नहीं करता । पद का पदान्तर के साथ सम्बन्ध होने पर अर्थ का विपर्यास होने के कारण पद कार्यों में ही गौणत्व और मुख्यत्व सम्बन्धी सन्देह होता है प्रतिपदिक कार्यों में नहीं ।[७] अतः मुख्यार्थ में ही वृद्धि तथा आत्व होकर गो शब्द वाहीक अर्थ में प्रवृत्त है । महत्भूतश्चन्द्रमा इस उदाहरण में महत् शब्द उत्तरपद में रहने पर विधीयमान आत्व महान् अवस्था में मुख्यार्थ में ही

---

१ जिने. न्यास का. वृ. भाग ५, पृ. २४५

२ जिने. न्यास का. वृ. भाग ५, पृ.२४५

३ कैयट प्रदीप व्या. म. भाग २, पृ. ८६८

४ महत् भूतेत्यत्र स्त्रीत्वमर्थस्य मुख्यमेव तदाश्रयश्च पुंवद्भावः । - वही

५ शब्दो न कदाचित् स्वार्थपरित्यागेनार्थान्तरस्मभिदधाति अनित्यत्व प्रसङ्गात् शब्दस्य । - वही

६ नागेश उद्योत व्या. म. २, पृ. ८६८

७ जिने. न्यास का. वृ. भाग ५, पृ. २४७

प्राप्त होता है ।[१] पुंवद्[२] यह योग विभाग करने पर वह गौणार्थ में ही होता है वृद्धि तथा आत्व दोषों की प्रसक्ति भी नहीं होती । क्योंकि वाक्य से ही गौणत्व की प्रतीति होती है । पद केवल मुख्यार्थ का ही अभिधान करता है[३] जिस अर्थ का प्रत्यायन शब्द के द्वारा होता है, वह मुख्य है तथा जो तदाश्रित है, वह गौण होता है ।[४]

अतः श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि आत्वाधिकरण में प्रतिपदोक्त समास का ही ग्रहण किया गया है लाक्षणिक का नहीं । आश्रय दो प्रकार का है शब्दाश्रय तथा अर्थाश्रय । अर्थाश्रय भी दो प्रकार का है - मुख्यार्थ तथा गौणार्थ । पद के द्वारा मुख्यार्थ का तथा वाक्य के द्वारा गौणार्थ का कथ होता है । इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा सूत्र का स्पष्टीकरण किया गया है ।

सप्तम अध्याय

(१) अतो भिस् ऐस्[५]

प्रस्तुत सूत्र अंग[६] के अधिकार में आता है अतः सूत्र का अभिप्राय है अकारान्त अंग से परे भिस् को ऐस् आदेश होता है ।[७] 'अतः' का अधिकार 'जसः शी'[८] सूत्र तक विहित है ।[९] 'अतः' पंचम्यन्त पद है 'आदेः परस्यः'[१०] तथा 'अनेकाल्शित्सर्वस्य'[११] सूत्र की प्राप्ति होती है । अतः सम्पूर्ण भिस् के स्थान पर ऐसादेश होता है । अतः विशेषण है अतः अर्थ होता है तदन्त पर ।[१२] प्रातिपदिक संज्ञा[१३] में भिस्

---

१ जिने. न्यास का. वृ. भाग ५, पृ. २४७
२ पुंवद् कर्मधारय । अ. सू.
३ जिने. न्यास का. वृ. ५, पृ. २४७
४ नागेश उद्योत व्या. म. २, पृ. ८६८
५ अ. सू. ७-१-९
६ अङ्गस्य । वही ६-४-१
७ Vasu, S.C. - Aśṭā.Vol.II, p.1319.
८ अ. सू. ७-१-१७
९ The adhikara of atah. extends upto 7-1-17. Ibid.
१० अ. सू. १-१-५४
११ अ. सू. १-१-५५
१२ अत इति विशेषणं तेन तदन्तपरम् । लक्ष्मी टीका उत्तरार्ध सि. कौ. पृ. २८८
१३ अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् । अ. सू. १.२.४५

की उत्पत्ति होने पर प्रकृत सूत्र ऐसादेश का विधान करता है । यथा वृक्षैः उदाहरण में अदन्त अंग वृक्ष से परे भिस् को ऐसादेश हुआ है । ऐसादेश के विषय में भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा स्पष्टीकरण किया है—

एत्वं भिसि परत्वाच्चेदत, ऐस्क्व भविष्यति ।

कृते एत्वे भौतपूर्व्यादिस्तु, नित्यस्तथा सति ॥

सूत्र से अदन्त अंग से परे भिस् को ऐस् का विधान होता है तथा एत्व की प्राप्त झल् परे रहने के कारण होती है ।[१] अर्थात् ऐत्व तथा एत्व दोनों की प्रसक्ति होती है ।[२] प्रथम एत्व[३] की प्राप्ति होने के कारण तथा ऐस्भाव की पश्चात् प्राप्ति होने के कारण पर होने से एत्व विहित होगा ।[४] एत्व का प्रसंग वृक्षेषु आदि पदों में है जबकि ऐसादेश का प्रसंग एत्व विधान के पश्चात् है ।[५] यदि अदन्त अंग से परे भिस् को एत्व हो जायेगा तो प्रस्तुत सूत्र ऐस् का विधान नहीं कर सकता ।[६] इसका कारण यह है कि ऐसादेश अदन्त अंग को विहित है परन्तु एत्व होने पर अदन्त अंग नहीं रहता ।[७] एत्व विधान होने पर भी भूतपूर्व[८] गति का आश्रय लेने से ऐसादेश का विधान होता है । साम्प्रतिक का अभाव होने पर भूतपूर्व गति का आश्रय लिया जाता है ।[९] इस वचन के प्रामाण्य से एत्व होने पर भी अकारान्तत्व का आश्रय होने से ऐसा देश हो जाता है । अतः ऐस्भाव नित्य विधि है क्योंकि एत्व निहित होने पर भी होती है तथा एत्व की प्राप्ति सम्भव नही है क्योंकि एत्व झलादि निमित्त परे

---

१ बहुवचने झल्येत् । अ.सू.७-३-१०३
२ जिने. न्यास का. वृ. भाग ५ पृ.५३९
३ बहुवचने झल्येत् । अ.सू.७-१-१७
४ हर.पद.का.पृ.५ पृ.५४०
५ जिने. न्यास का. वृ.५ पृ.५३९
६ कैयट प्रदीप व्या.म.३ पृ.१८
७ Because there will be no stem left ending in 'a'. Vasu, S.C. Aśṭā.Vol.II, p.1319.
८ सांप्रतिककाभावात्भूतपूर्वगतिज्ञाश्रीयत इति भावः । हर.पद.का.वृ. भाग ५ पृ.५४०
९ एवं कृते प्येत्वे ऐस्भावेन भवितव्यमणीति कृताकृत प्रसङ्गित्वात् । जिने. न्यास का. वृ.५ पृ.५४०

रहते ही होता है ।[१] अतः अनित्य है । नित्य[२] तथा अनित्य का तुल्य बल होने के कारण विप्रतिषेध उपयुक्त नहीं है । उत्सर्ग और अपवाद में विप्रतिषेध उपयुक्त असंगत है ।[३] अतः पर होने पर भी एत्व का निषेध होकर ऐसादेश होता है । प्रयोग में ऐसादेश होने के पररूप[४] की निवृत्ति के लिये ऐस् विधान किया गया है ।[५]

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने सूत्रों से सम्बद्ध शंकाओं का स्पष्टीकरण करने के लिये श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं ।

(२) युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्[६]

प्रस्तुत सूत्र युष्मद् तथा अस्मद् से परे स् को अश् आदेश का विधान करता है । सूत्र में अशादेश को शित्[७] करने का प्रयोजन समस्त उस स्थानी के स्थान पर आदेश करना है । अन्यथा केवल आदि[८] को ही अश आदेश की प्राप्ति होती । सर्वादेशार्थ शित्करण का प्रयोजन स्वीकार न करने पर अलोऽन्त्य[९] परिभाषा के आधार पर अन्त्य मकार को आकार करने पर 'शेषे लोपः'[१०] सूत्र से दकार का लोप होने पर पररूपत्व[११] सिद्ध होता है ।

युष्मद् अस्मद् के स्थान पर तव और मम आदेश[१२] होने पर तव स्वम् । मम स्वम् आदि उदाहरण सिद्ध होते हैं । शकार का ग्रहण न करने पर आकार के स्थान

---

१ हर. पद. का. वृ. ५ पृ. ५४०
२ Because it takes effect after the application of rule 7-3-103 and being nitya it debars that rule. Ibid.
३ नित्यानित्ययोश्च तुल्यबलत्वाद् विप्रतिषेधो नोपपद्यते । जिने. न्यास का. वृ. ५ पृ. ५४०
४ अतो गुणे । अ. सू. ६-१-६७
५ प्रयोगे ऐस एव उपस्थितत्वात् पररूपवारणाय एकारोच्चारणासामर्थ्यं कल्पनरूप गौरवाच्च ऐस्करणम् । लक्ष्मी उत्तरार्द्ध, पृ. २८८
६ अ. सू. ७-१-२७
७ अनेकाल्शित्सर्वस्य अ. सू. १-१-५५
८ आदेः परस्य । अ. सू. १-१-५४
९ अलोऽन्त्यस्य । अ. सू. १-१-५२
१० अ. सू. ७-२-९०
११ अतो गुणे । अ. सू. ६-१-१९७
१२ तवममौङसि । अ. सू. ७-२-९६

पर अकार की प्राप्ति होती है परन्तु अकार को आकार वचन निष्प्रयोजन है क्योंकि शकार का ग्रहण न करने पर भी सर्वादेश का विधान हो जायेगा ।[१] शित्करण का प्रयोजन भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक से स्पष्ट किया है—

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ॥

यदि शित्करण नहीं किया जाता तो आदेश जो कि व्यपदेश[२] है, उसकी निष्पत्ति के लिए ही आदि अकार को आदेश की प्राप्ति होगी ।[३] अकार को आकार विधान सार्थक है क्योंकि आदेश में करना इसका प्रयोजन है । अन्त्यलोप विधायक सूत्र के द्वारा आदेश में लोप का विधान किया जाता है अतः मकार को आकार वचन सप्रयोजन प्रतीत होता है । आदेश व्यपदेश स्वीकार करने पर यत्व की प्राप्ति नहीं होती । अतः यत्वाभाव आदेश व्यपदेश का प्रयोजन है । 'योऽचि'[४] सूत्र में अनादेशे की अनुवृत्ति है । अनादेश में आत्व और यत्व का विधान होने से आदेश शेष है अर्थात् 'शेषे लोपः'[५] सूत्र में विभक्ति का अनुवर्तन होता है अतः विभक्ति का विशेषण शेष ग्रहण है । अतः आदेश है जो विभक्ति का यह अभिप्राय होता है । यत्व विधान जहां विभक्ति आदेश नहीं होती वहीं विहित होता है क्योंकि अनादेशाधिकार में उक्त है । अतः आदेशादि होने के कारण तथा विभक्ति के आदेश न होने के कारण यह शेष नहीं है अर्थात् आकार तथा यत्व का विधान नहीं होगा । अतः अकार को आत्वविधान निष्प्रयोजन है । आदेश व्यपदेश की निष्पत्ति होने के कारण आदि अकार को ही अश् की प्राप्ति होने लगेगी और अनभीष्ट रूप सिद्ध होगा ।[६] आचार्य पाणिनि के मतानुसार समस्त आगम समस्त पदों के आदेश हैं अतः आदि विकार के द्वारा विभक्ति में आदेशत्व का विधान होता है अतः शित्व

---

१ कैयट प्रदीप व्या. म. २, पृ.३१

२ आदेश इति व्यपदेशः आदेशव्यपदेशः यस्यादेशस्य प्रयोजनं नास्तीति मन्यसे तस्मैव स्यादित्येव शब्दार्थः । हर. पद. का. वृ.५ पृ. ५५९

३ आदेः परस्य । अ. सू. १-१-५४

४ अ. सू.७-२-८९

५ अ. सू.७-२-७०

६ कैयट प्रदीप व्या. म. ३ पृ. ३२

का ग्रहण सर्वादेश[१] के लिये किया गया है। सर्वपद से अभिप्राय पद संज्ञा से नहीं है अपितु पद शब्द से है जिसके द्वारा अर्थ का प्रतिपादन किया जाये अथवा प्रतीयमान प्रकृति प्रत्ययादि समस्त पद संज्ञक है।[२] यद्यपि सर्वविकार होने पर भी अनित्यत्व होता है जिस प्रकार पिठरस्य दुग्ध का पाकादि में विकार नहीं होता उसी प्रकार तथापि एकदेशविकार होने पर विकाराभाव का प्रतिपादन श्लोकवार्त्तिक के द्वारा किया गया है। बुद्धि विपरिणाम की सत्ता होने के कारण नित्यत्व में हानि नहीं होती।[३] जिस प्रकार उत्वविधायक[४] सूत्र में दोनों अवयव श्रौत स्थानी, आदेश होने पर भी नित्यत्व प्रतिपादक समुदाय की कल्पना की जाती है[५] उसी प्रकार अवयवत्व से विधान होने पर भी निरवयव तथा सावयव बुद्धि के विपरिणाम मात्र से आदेशत्व व्यवहार गौण है तथा नित्यत्व रक्षण के लिये उसकी कल्पना की जाती है।[६] अतः जिस प्रकार इकार को उकार विधान होकर पयंतु रूप सिद्ध होता है उसी प्रकार इस को अशादेश होता है अतः विभक्ति में आदेशत्व सिद्ध होता है। द्वयकार लक्षण समुदाय को अनेकाल् होने के कारण सर्वादेश की प्रवृत्ति होती[७] है पर रूप[८] होने पर अभीष्ट रूप सिद्ध होता है।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार के सूत्रों की व्याख्या में प्रसंगवश आगत सिद्धान्तों की यथास्थान व्याख्या की है। इस कार्य में श्लोकवार्त्तिकों का योगदान है। प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होने वाले आदेश का नित्यत्व प्रतिपादित है। एक देश के स्थान पर होने वाला आदेश अनित्यत्व है।

---

१ अनेकाल्शित्सर्वस्य। अ.सू.१-१-५५
२ हर.पद.का.वृ. भाग ५, पृ.५५९
३ बुद्धिविपरिणाममात्रस्यैव सत्वेन न नित्यत्वदानिरिति भावः। नागेश उद्योत व्या.म.१, पृ.१८४
४ एस। अ.सू.३-४-८६
५ नागेश उद्योत व्या.म. भाग १, पृ.१८४
६ ततश्चाकार द्वयलक्षणः समुदायोऽनेकाल्त्वात्सर्वादेशः भविष्यति। कैयट प्रदीप व्या.म. ३ पृ.३१
७ अनेकाल्शित्सर्वस्य। अ.सू.१-१-५५
८ अतो गुणे। अ.सू.६-१-९७

अष्टम अध्याय

गतिर्गतौ[१] सूत्रकार ने 'उपसर्गाः क्रियायोगे'[२] सूत्र के द्वारा क्रिया से योग होने पर उपसर्ग संज्ञा का विधान किया है तथा 'गतिश्च'[३] सूत्र से क्रिया योग में वर्तमान उपसर्ग गति संज्ञक होते हैं। अर्थात् उपसर्ग ही गति संज्ञक है। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार को गति परे रहते गति से अनुदातत्व अभीष्ट है[४] यथा अभ्युद्धरति उदाहरण में अभि गतिसंज्ञक है जो उत् गतिसंज्ञक परे रहते अनुदात्त है। भाष्यकार ने गति संज्ञक के अनुदात्त होने पर गति ग्रहण को अनर्थक माना है। क्योंकि 'तिङि चोदात्तवति'[५] सूत्र के द्वारा अनुदात्त तिङन्त परे रहते गति संज्ञक अनुदात्त होता है। अतः सूत्र में गति ग्रहण निष्प्रयोजन हो जाता है यदि वैदिक प्रयोगों के लिये गति ग्रहण माना जाये तो आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि इस उदाहरण में मन्द्रैः पद क्रियावाची नहीं है। याहि पद क्रियावाची है अतः आङ् का याहि के साथ क्रियायोग है। इसी उदाहरण का विवेचन करते हुए वार्त्तिककार ने छन्दसार्थ गति ग्रहण को स्वीकार नहीं किया। निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा भाष्यकार ने गति संज्ञक का अन्य गति संज्ञक से सम्बन्ध स्पष्ट किया है—

गतिना तु विशिष्टस्य गतिरेव विशेषकः।
साधने केन तु न स्याद्बाह्यमाभ्यन्तरो हि सः॥

क्रिया के प्रति गति संज्ञा होती है तथा क्रिया धातु के द्वारा वाच्या है।[६] धातु अगति तथा सगति भेदों से दो प्रकार की है तथा प्रत्यय भी कृत् और तिङ् भेद से द्विविध[७] है। कृदन्त प्रत्यय में सगति और अगति दोनों में ही कृत् स्वर का विधान होने पर शेष निघात के द्वारा गति को निघात नहीं होता।[८] तिङ् परे रहते ही

---

१ अ.सू.८-१-७०
२ अ.सू.१-४-५९
३ अ.सू.१-४-६०
४ A Gati becomes unacented , when followed by another Gati. Vasu, S.C. - Aṣṭā.Vol.II, p.1527.
५ अ.सू.१-४-७१
६ क्रियां प्रति गतिर्भवति क्रिया च धातुवाच्या। हर.पद.का.वृ. भाग ६, पृ.३१८
७ प्रत्यया अपि धातोर्द्वये भवन्ति। कृतः। तिङ्श्च। हर.पद.का.वृ.६ पृ.३१८
८ कैयट प्रदीप व्या.म.३ पृ.३४४

अनुदात्तत्व विधान होने के कारण गति संज्ञक का प्रसंग नहीं रहता।[१] इसी कारण भाष्यकार ने गतौ ग्रहण से सम्बद्ध शंका की उद्‌भावना की है। आ मन्दैरिन्द्र हरिभिर्याहि 'वैदिक उदाहरण में गतिसंज्ञक आङ् का योग मन्द्रैः से न होकर क्रियावाचक याहि पद से है। वैदिक नियमों के अनुसार धातु से पूर्व[२] व्यवहित[३] भी उपसर्ग प्रयुक्त होते हैं। 'ते प्राग्धातोः'[४] सूत्र के प्रयोग नियम तथा संज्ञा नियम पक्षों में से प्रयोग नियम उपयुक्त है क्योंकि इससे व्यवहित होने पर भी गतित्व होता है।[५] यदि संज्ञा नियम स्वीकार करते हैं तो धातु से पूर्व प्रयुज्यमान गति उपसर्ग संज्ञक होते हैं पर होने पर तथा व्यवहित होने पर गति संज्ञा नहीं होती।[६] अतः आङ् से गतित्व न होने के कारण निघात की प्राप्ति भी नहीं होती। जिस प्रकार क्रियायोग में प्रादि की गति संज्ञा होती है तो याहि के प्रति गतित्व होने के कारण तथा मन्द्र के प्रति गतित्वाभाव होने के कारण अनुदात्तत्व की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार अभ्युद्धरति आदि उदाहरणों में भी अनुदात्त का अभाव होगा क्योंकि अभि उद् के प्रति गति संज्ञक नहीं है परन्तु उद् समुदाय के प्रति गति संज्ञक है उद् विशिष्ट क्रिया अभि के द्वारा विशिष्ट है।[७] समुदाय के प्रति गतित्व स्वीकार करने पर भी मन्द्रादि साधन उक्त इन्द्र कर्तृत्व यान की आङ् के द्वारा विशिष्टता द्योत्य है। इस क्रियावाची समुदाय के प्रति आङ् गति संज्ञक है।[८] अतः अनुदात्त की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि धातु पहले उपसर्ग से युक्त होती है पश्चात् साधन से[९] परन्तु आङ् विशिष्टयाना-

---

१ हर.पद.का.वृ.भाग ६ पृ.३१८
२ ते प्राग्धातोः। अ.सू.१-४-८०
३ व्यवहिताश्च। अ.सू.१-४-८२
४ अ.सू.१-४-८०
५ सत्यपि व्यवधाने व्यवहिताश्चेति गतिसंज्ञा विधानादिति भावः। जिने.न्यास का.वृ.६ पृ.३१८
६ धातोः प्राक् प्रयुज्यमाना गत्युपसर्ग संज्ञा भवन्ति न तु परे नापि व्यवहिता। कैयट प्रदीप व्या.म.३ पं.३४५
७ अन्योन्या नास्ति गतित्वं यद्यपि द्वयो। क्रियां प्रति गतित्वात्तु निहतोऽभिर्गतिगतौ। हर. पद.का.वृ.६ पृ.३१७
८ कैयट प्रदीप व्या.म.३ पृ.३४६
९ वही

क्रियामन्द्रादिसाधनों से सम्बद्ध है। इस समुदाय विशिष्ट के प्रति आङ् गति संज्ञक नहीं है अपितु याहि के अवयव के प्रति गतित्व है।[1] अतः साधन सहित क्रिया का आङ् विशेषण होने के कारण मन्द्र के प्रति क्रियायोग की निवृत्ति के लिये गतौ पद का ग्रहण किया गया है[2] साधन ही क्रिया की निवृत्ति करता है। अतः उपसर्ग उसका विशेषक है धातु और उपसर्ग का सम्बन्ध अभ्यन्तर है अतः धातु का पहले साधन के साथ योग होता है पश्चात् उपसर्ग से।[3] परन्तु क्रियाविशिष्ट ही साधन से उत्पाद्य है अतः प्रयोक्ता क्रिया का साधन से सम्बन्ध प्रतिपादित करने के लिये सोपसर्ग समुदाय का प्रयोग करता है।[4] अतः उपसर्ग योग अन्तरंग है तथा साधन योग बहिरंग है। अकर्मक धातुओं से लकार की उत्पत्ति भी उपसर्ग योग के आधार पर ही होती है। साधन योग के पूर्व में होने पर अकर्मक क्रियाओं से कर्म में लकार की प्राप्ति नहीं होती।[5] यथा आस्यते गुरुणा इस उदाहरण में अकर्मक क्रिया है तथा उपास्यते गुरु इस प्रयोग में सकर्मक क्रिया है अतः साधन बाह्य है तथा उसका सम्बन्ध बहिरंग है अतः धातु उपसर्ग का सम्बन्ध अन्तरंग होने के कारण मन्द्र के प्रति गति संज्ञक नहीं है, मन्द्र में अनुदात्तत्व नहीं हुआ[6] अतः सूत्र में गतौ ग्रहण का प्रयोजन इस श्लोकवार्त्तिक के द्वारा स्पष्ट किये गये हैं यदि गतौ पद उक्त नहीं होता तो अनाश्रित पर निमित्त को ही अनुदात्तत्व होता।[7]

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक में भाष्यकार ने शंका तथा समाधान दोनों की स्थापना की है। सूत्रोक्त पद का प्रयोजन स्पष्ट किया गया है तथा उसके आधार पर सामान्य सिद्धान्त का व्याख्यान किया है। इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पद विशेष का प्रयोजन सिद्ध करते हुए व्याकरणात्मक नियमों की स्थापना की गई है।

---

१ कैयट प्रदीप व्या.म.३ पृ.३४६
२ नागेश उद्योत व्या.म.३ पृ.३४६
३ पूर्व धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण पत.व्या.म.३ पृ.३४६
४ नागेश उद्योत व्या.म.पृ.३४६
५ नागेश उद्योत व्या.म.३ पृ.३४६
६ साधनं बाह्यं तत्सम्बन्धस्य बहिरङ्गत्वात्। कैयट प्रदीप व्या.म.३ पृ.३४६
७ ततोऽनाश्रित परंनिमित्तमेवानुदात्तत्वमुक्तं स्यात्। जिने.न्यास का.वृ.६ पृ.३७९

(२) अदसोऽसेर्दादु दो मः[१]

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा आचार्य पाणिनि ने अदस् के असकारान्त वर्ण को दकार से परे उवर्णादेश किया है तथा दकार को मकारादेश का निर्देश किया है।[२] यथा अमुम्, अमू, अमून्, आदि उदाहरणों में त्यदादि अत्व[३] होकर अद से परे अकार को उत्व होता है तथा मकारादेश परे अकार को उत्व होता है तथा मकारादेश होता है। भाव्यमान उकार सवर्णो का ग्रहण करेगा अतः एकमात्रिक के स्थान पर एकमात्रिक तथा द्विमात्रिक के स्थान पर द्विमात्रिक आदेश की प्राप्ति होती है परन्तु स्थान आन्तरतम्य[४] के कारण मात्रिक के स्थान पर मात्रिक आदेश की प्राप्ति होती है तथा द्विमात्रिक के स्थान पर द्विमात्रिक आदेश की प्राप्ति होती है तथा द्विमात्रिक के स्थान पर द्विमात्रिक आदेश का विधान किया गया है। भाव्यमान अण् सवर्णो का ग्रहण नहीं करता।[५] सूत्र में असकारान्त वर्ण को उवणादेश विहित है। अनुवृत्ति होने के कारण असकारान्त पद को ही अवर्णादेश होगा जबकि अदस्यति में यह पद नहीं है।[६] इससे स्पष्ट होता है कि मु आदेश का विधान पद न होने पर होता।[७] भाष्यकार के द्वारा 'अदसोऽनोस्रे' वार्त्तिक के द्वारा सकार के साथ-साथ ओकार और रेफ ग्रहण ही वक्तव्य है। अदोऽत्र, अदस्यति अदः आदि उदाहरणों में ओकार, सकार तथा रेफ होने के कारण उत्व का तथा मकारादेश का प्रतिषेध हुआ है। जहां सकार को त्यदादि अत्व क्रिया जायेगा वहां मुत्व नहीं होता।[८] अतः ओकार सकार तथा रेफान्त अदस से मुत्व का प्रतिषेध हो जायेगा।[९]

भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र पर निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किया है जिसके द्वारा अद्रि आदेश के विषय में अन्य वैयाकरणों का मत उक्त है—

---

१ अ.सू.- ८-२-८०
२ Vasu, S.C. - Aṣṭā. Vol.II, p. 1579.
३ त्यदादीनामः। अ.सू.७-२-१०२
४ स्थानेऽन्तरतमः। अ.सू.१.१.५०
५ भाव्यमानोऽण् सवर्णान् न गृहणाति इति प्रतिषेधात्। ज्ने.न्यास का.वृ.भाग ६,पृ.४४३
६ Vasu, S.C. - Aṣṭā.Vol.II, p.1580.
७ अपदस्याप्यदस एतन्मुत्वं भवतीति। हर.पद.का.वृ.भाग ६ पृ.४४९
८ यत्र सकारस्य त्यदाद्यतवं क्रियते तत्र मुत्वं नान्यत्र। कैयट प्रदीप व्या.म.३ पृ.४१३
९ ओकारसंकाररेफान्तस्यादसोऽन मुत्वमित्यर्थः।

अदसो द्रे पृथङ् मुत्वं केचिदिच्छन्ति लत्ववत्।
'केचिदन्त्यसदेशस्य नेत्येकेऽसेर्हि दृश्यते ॥

सकारान्त अदस् के साथ-साथ ओकार तथा रेफान्त अदस् से भी मुत्व का प्रतिषेध हो जाये ।[१] इस कारण कुछ आचार्यों ने सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है । जिस सकार में अकार उच्चारणार्थ है वह यह असि ।[२] जहां सकार को अकार किया जाता है अर्थात् त्यदादि अत्व का विधान होने पर उत्व सिद्ध होता है अन्यत्र नहीं । असिः यह बहुव्रीहि समास है ।[३] अतः जिसके सकार को अकार विहित है यह अर्थ होता है । यह सूत्र अद को सत्व से विहित स्वीकार करता है अन्य को नहीं ।[४] मुत्वादेश के विषय में शंका उत्पन्न होती है अदस् को अद्रि[५] आदेश होने पर मुत्व विधान नहीं किया जा सकता । इस विषय में तीन मत उपलब्ध होते हैं – (१) प्रथम अद के दकार तथा अद्रि के इकार दोनों से ही मुत्व विहित है ।[६] जिस प्रकार चलीक्लृप्यते इस उदाहरण में क्लृप् धातु के रेफ को तथा री शब्द दोनों को ही लत्व[७] अभीष्ट है । उसी प्रकार अदस् से अद्रि आदेश तथा मुत्व दोनों अभीष्ट है ।[८] द्वितीय - कुछ वैयाकरण प्रथम दकार को मुत्व विधान नहीं मानते हैं इ को ही मुत्व विधान स्वीकार करते हैं ।[९] जबकि तृतीय पक्ष के अनुसार न तो अदस् के दकार को और न ही अद्रि के इकार को दोनों में से किसी को भी मुत्वादेश विहित नहीं होगा ।[१०] इस प्रकार जब अदस् को अद्र्यादेश किया जाता है तब मुत्व नहीं होता ।[११] इसका कारण यह है कि सकार के स्थान पर अदस् का अकार होता है

---

१ सकाररेफयोरपि प्रतिषेधो यथा स्यादित्येवमर्थम् । जिने. न्यास का. वृ. पृ. ४४४
२ Vasu, S.C. Aśṭā.Vol.II, p.1580.
३ अकारोऽस्येति भाव्येण व्यधिकरण बहुव्रीहिरित्युक्तम् । नागेश उद्योत व्या. अ. ३ पृ. ४१३
४ Vasu, S.C. - Aśṭā.Vol.II, p.1580.
५ विष्वग्देवयोश्च टेरद्यञ्चता व प्रत्यये । अ. सू. ६-३-९२
६ अदसोऽद्रेश्चोभयोरपि केचित् मुत्वमिच्छन्तीतत्यथीः । जि. न्यास. का. वृ. ७, पृ. ४४४
७ कृपो रो लः । अ. सू. ८.२.१८
८ Vasu, S.C. Aśṭā.Vol.II, p.1580.
९ अद्र्यादेशः इकारान्तः तस्य केचिद्मुत्वमिच्छति न पुनरद्र्यादेश सम्बन्धीदकारो रेफश्च । जिने. न्यास का. वृ. ६, पृ. ४४४
१० None is change. Ibid.
११ जिने. न्यास का. वृ. भाग ६ पृ. ४४५

उसको आचार्यों द्वारा मुत्व अभीष्ट है अद्रि आदेश विहित अदस् के सकार के स्थान पर अत्व नहीं होता अतः मु आदेश नहीं होता।[१]

प्रथम पक्ष ने असेः की व्याख्या असनकारान्त अदस् की है अतः अनत्य का विकार होने पर अन्त्य संदेश को कार्य होना चाहिये यह न्याय सिद्ध नहीं होता।[२] यथा 'अमुमुयङ्' इस उदाहरण में अद्रि[३] आदेश होने पर पूर्व दकार से परे उत्तर को उत्व तथा मत्व होने पर द्वितीय दकार के रेफ को उत्व तथा दकार को मत्व हुआ है।

द्वितीय पक्ष ने इस न्याय का आश्रय लेकर केवल द्र के स्थान पर मुत्व का विधान किया है।[४] यथा अदमुयङ्दमुयञ्चौइत्यादि। अन्तिम पक्ष के अनुसार सकार की अविद्यमानता है जिसमें उस अदस् को मुत्वादेश का विधान किया गया है[५] यथा अदद्रयङ् अदद्रयञ्चौ आदि उदाहरणों में त्यदादि अत्व होने पर रूप सिद्ध होते हैं।[६]

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन के आधार पर सूत्र के दो तात्पर्य स्पष्ट किये गये हैं। आचार्यों के मतभेद से उपस्थित तीनों ही पक्ष साधु प्रतीत होते हैं।[७] भाष्यकार को द्वितीय मत ही अभिप्रेत है।[८] अतः यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने सूत्रों की व्याख्या करने के लिये श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण किया है। वाक्य वार्त्तिकों में और अधिक पदों से सम्बद्ध विवेचन भी किया गया है। एक ही पक्ष से सम्बद्ध विविध आचार्यों के मत संकलन एक ही श्लोकवार्त्तिक में किया गया है।

---

१ जिने. न्यास का. वृ. भाग ६ पृ. ४४५
२ कैयट प्रदीप व्या. म. ३ पृ. ४१३
३ विष्वग्देव्योश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये। अ. सू. ६-३-९२
४ **Vasu, S.C. - Aṣṭā. Vol.II, p.1580.**
५ अन्त्यसदेश परिभाषाश्रये त्वदुमुयङिति। कैयट प्रदीप व्या. म. ३ पृ. ४१३
६ वही
७ आचार्यमतभेदाच्च रूपत्रयमिति साध्विति भावः। नागेश उद्योत व्या. म. ३ पृ. ४१४
८ वही

महाभाष्य में श्लोकवार्त्तिकों के उद्धरण का प्रमुख प्रयोजन सूत्रों का स्पष्टीकरण है यह स्पष्टीकरण सूत्र के पदों अथवा सम्पूर्ण सूत्र से सम्बद्ध प्रत्येक पक्ष की व्याख्या से होता है। व्याकरणात्मक सिद्धान्तों के व्याख्यान में इन श्लोकवार्त्तिकों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। स्पष्टीकरण इनका विषय होने के कारण इन्हें स्पष्टीकरणात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है।

एकादश अध्याय

विविध श्लोकवार्त्तिक

श्लोकवार्त्तिकों में प्रतिपादित विषय के दृष्टिकोण से श्लोकवार्त्तिकों को प्रयोजनात्मक, प्रत्याख्यानात्मक, निपातनात्मक, आदि वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है। इन वर्गों के अतिरिक्त कुछ ऐसे श्लोकवार्त्तिक भी हैं जिनमें इनसे अतिरिक्त विषय का प्रतिपादन प्राप्त होता है। यथा सूत्रों से सिद्ध होने वाले उदाहरणों का निर्देश जिन श्लोकवार्त्तिकों में किया गया है उन्हें उदाहरणात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है। इसी प्रकार सुत्रोक्त पदों का व्युत्पत्यात्मक निर्देश करने वाले श्लोकवार्त्तिक व्युत्पत्त्यात्मक तथा सूत्रोक्त पदों, उदाहरणों अथवा सूत्रों का परिगणन करने वाले श्लोकवार्त्तिक परिगणनात्मक कहे जा सकते हैं। प्रस्तुत अध्याय में इन श्लोकवार्त्तिकों का निम्न प्रकार से अध्ययन करने का प्रयास किया है— उदाहरणात्मक श्लोकवार्त्तिक, निर्वचनात्मक या व्युत्पत्यात्मक श्लोकवार्त्तिक, परिगणनात्मक श्लोकवार्त्तिक, सामान्य व्यवहार का निर्देश करने वाले श्लोकवार्त्तिक, अधिकारात्मक श्लोकवार्त्तिक, निराकरणात्मक श्लोकवार्त्तिक तथा पूर्त्यात्मक श्लोकवार्त्तिक।

उदाहरणात्मक श्लोकवार्त्तिक

श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा सूत्रों की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने अनेक ऐसे श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं जिनमें सूत्रों अथवा वार्त्तिकों से सिद्ध न होने वाले उदाहरणों का सिद्धिपरक उल्लेख है। इन श्लोकवार्त्तिकों में उदाहरणों से सम्बद्ध विवेचना होने के कारण इन्हें उदाहरणात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है। प्रस्तुत अध्याय में उदाहरणात्मक श्लोकवार्त्तिकों का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है—

(१) तृतीय अध्याय

(१) **मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च**[१] - प्रस्तुत सूत्र में कर्तरि तथा क्त पदों की अनुवृत्ति कर्तरि चर्षिदेवतयो[२] तथा ञीतः क्तः[३] सूत्रों से हुई है। सूत्रकार इच्छा, ज्ञान तथा पूजार्थक धातुओं से वर्तमानार्थ में विद्यमान होने पर कर्ता अर्थ में क्त प्रत्यय का विधान करते हैं। सूत्र में मति तथा बुद्धि दोनों पदों का पृथक् ग्रहणभिन्नार्थक स्वीकार करने के कारण किया गया है।[४] सूत्रोक्त चकार का ग्रहण मत्यर्थक बुद्ध्यर्थक तथा पूजार्थक धातुओं से भिन्न अर्थक धातुओं से भी क्त प्रत्यय का विधान करने के लिये किया गया है।[५] भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण किया है—

शीलितो रक्षितः क्षान्तः आक्रुष्टो जुष्ट इत्यपि।

रुष्टश्च रुषितश्चोभावभिव्याहृत इत्यपि॥

हृष्टतुष्टौ तथाक्रान्तस्तथोऽभौ संयतोद्यतौ।

कष्टं भविष्यतीत्याहुरमृताः पूर्ववत्स्मृताः॥

उद्धृत श्लोकवार्त्तिकों में भाष्यकार ने सूत्रोक्त धातुओं से भिन्न क्त प्रत्ययान्त उदाहरणों का परिगणन किया है। जिनका ग्रहण सूत्रोक्त च पद के आधार पद किया जा सकता है। सूत्रविशिष्टार्थक धातुओं से ही क्त प्रत्यय का विधान करता है। यथा राज्ञां[६] मतः, राज्ञां इष्टः। राज्ञां बुद्धः राज्ञां ज्ञातः। राज्ञां पूजितः। राज्ञां अर्चितः। प्रस्तुत उदाहरणों में भूतार्थ[७] में ही निष्ठा का विधान होना चाहिये था परन्तु प्रस्तुत सूत्र भूतार्थ का निषेधक है तथा वर्तमानार्थ में क्त प्रत्यय का विधायक

---

१ अ.सू. ३-२-१८८
२ अ.सू. ३-२-१८६
३ अ.सू. ३-२-१८७
४ मतिरिच्छा न तु बुद्धि तस्याः पृथगुपात्तत्वात्। भट्टोजिदीक्षित श.कां.पृ.४७६
५ The force of the word ca is to include other kinds of verbs not included in the above sutra. Vasu, S.C. Aśṭā. Vol.I, p.482.
६ क्तस्य च वर्तमाने। अ.सू. २-३-६७ से षष्ठी विधान।
७ निष्ठा। अ.सू. ३-२-१०२

है । कैयट ने तक्र कौण्डिन्य न्याय[१] से वर्तमानार्थ को भूतार्थ का बाधक स्वीकार किया है ।[२] यथा यणादेश[३] तथा सवर्णदीर्घत्व[४] दोनों की प्रसक्ति होने पर सवर्ण परे रहते पर यणादेश सर्वथा बाध्य होता है उसी प्रकार वर्तममानार्थ के द्वारा भूतार्थ का सर्वथा निषेध अभीष्ट है । नागेश के मतानुसार विधेय (क्त प्रत्यय) के विषय में ही बाध्य बाधक भाव होता है अनुवाद्य में नहीं । प्रकृत प्रसंग में काल अनुवाद्य है अतः भूतकाल में भी सूत्रोक्त धातुओं से क्त प्रत्यय की प्राप्ति की सम्भावना होगी । यह मत असंगत प्रतीत होता है क्योंकि उन्होंने विधेय क्त प्रत्यय को स्वीकार किया है और विधि अपूर्व ही होती है । क्त प्रत्यय का विधान भूतार्थ में किया जा चुका है अतः उसे विधेय नहीं माना जा सकता, अपितु वह अनुवाद्य है । अपूर्वत्व के कारण वर्तमानार्थ विधेय है । बाह्य बाधक भाव विधेय के प्रसंग में ही चरितार्थ होता है अनुवाद्य के विषय में नहीं अतः विधेय क्त प्रत्यय को मानना उचित प्रतीत नहीं होता । वर्तमानार्थ षष्ठी विधायक[५] सूत्र से कर्तव्य विवक्षा में षष्ठी[६] प्राप्त होती है । अतः षष्ठी से प्राप्त समास का भी निषेध हो जाता है । भूतार्थ में क्त विधान होने पर ही तृतीया होती है अतः 'पूजितो यः सुरासर जनैरविदितविभवो भवानीपतिः'[७] स पुण्यकर्ता मुनि पुजितो नृपैः[८] आदि प्रयोग भी सिद्ध होते हैं । यदि भाव तथा कर्म अर्थ में क्त प्रत्यय भूतार्थ में होता है तो तृतीयान्त प्रयोग होता है । कर्ता अर्थ में तथा वर्तमानार्थ में होने पर षष्ठी का प्रयोग किया गया है । मति बुद्धि पूजार्थक धातुओं के अतिरिक्त शील, रक्ष, क्षम्, क्रुश, जुष्, रूष्, अभि + वि + आ + हृ, हृष्, तुष, कम, सम्, + यम्, कष्, मृड् धातुओं से भी वर्तमानार्थ में क्त प्रत्यय का विधान होता है । शीलित आदि रुपों के सम्बन्ध में

---

१ सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयताम् कौण्डिन्याय तंक्र दीमताम् । न्याय

२ क्तस्य मत्याद्यर्थेभ्यः परस्य भूतविषयतापि वर्तमान विषयतयातक्रकौण्डिन्य न्यायेन बाध्यते । - कैयट प्रदीप व्या. म. २ पृ. २०१

३ इको यणचि । अ. सू. ६-१-७७

४ अकः सवर्णे दीर्घः । अ. सू. ६-१-१०१

५ क्तस्य च वर्तमाने ।अ.सू. २.३.६७.

६ षष्ठी । अ. सू. २.२.८

७ भा. किरात. सर्ग - श्लोक

८ सुश्रुत संहिता ।

प्रक्रिया कौमुदीकार ने दो पक्षों को उद्धृत किया है - प्रथम पक्ष के अनुसार शीलित, रक्षित आदि अप्रयोग हैं। दूसरे प्रक्ष के अनुसार 'तेन' के अधिकार में होने के कारण 'उपज्ञाते' भूतत्व से निर्दिष्ट वर्तमान में क्त द्वारा बाध नहीं होती। इस सामान्य ज्ञापकाश्रयण से ये प्रयोग भी समर्थनीय है।[१] शीलित, रक्षित दोनों पद सेट्[२] हैं। क्षान्त, कान्त[३], हृष्ट[४] जुष्ट[५], कष्ट[६] प्रयोगों में इट का प्रतिषेध है। रुष्ट तथा रुषित पदों में विकल्प से इट् विधान है।[७] कष्ट पद के अतिरिक्त अन्य समस्त क्तान्त रूप कर्तृ अर्थ में वर्तमानार्थ में सिद्ध है। रुष्ट रुपु भविष्यत् अर्थ में पठित है।[८] अमृत पद वर्तमानार्थ में प्रयुक्त है। अमृत शब्द का प्रयोग शब्दब्रह्म के लिये किया गया है।[९]

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा भाष्यकार सूत्र से अतिरिक्त रूपों की भी सिद्धि करने का प्रयास करते हैं। सूत्रों के विधान क्षेत्र को विस्तृत करने में श्लोकवार्त्तिकों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। सूत्रों की व्याख्या करते समय भाष्यकार सूत्र से सम्बद्ध अन्य रूपों की सिद्धि भी प्रसंगवश करते हैं।

(३) हेतुहेतुमतोर्लिङ्[१०]

---

१ प्रक्रियाकौमुदी २-३६७, पृ.७३
२ आर्धधातुकस्येड् वलादेः। अ.सू.७-२-३५
३ अ.सू.७-२-१५
४ हृषेर्लोमसु। अ.सू.७-२-२९
५ श्वीदितो निष्ठायाम्। अ.सू.७-२-१४
६ कृच्छगहनयोः कषः। अ.सू.७-२-२२
७ रुष्यमत्वर संघुषास्वनाम्। अ.सू.७-२-२८
८ कष्ट इति भविष्यत्काले। का.वृ.२ पृ.६८३
९ तथेदममृतं निर्विकारमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्तते॥
भर्तृ.ना.प.१-१ अमृतमिति भावे क्तः।
मरणादि क्रिया यस्य नास्तीत्यमृतं प्रध्वंसाभावरहितम्। - Limye, V.P. - Crit. Stu. MB. p.222.
१० अ.सू.३-३-१५६

हेतु से अभिप्राय कारण है तथा हेतुमत् से अभिप्राय है फल।[१] प्रस्तुत सूत्र के द्वारा हेतुभूत हेतुमत् अर्थ में वर्तमान धातु से लिङ् लकार का विधान किया गया है। यथा दक्षिणं चेद्यायायान्न शकटं पर्याभवेत् इस उदाहरण में दक्षिण जाना हेतु मत् है। अतः लिङ् लकार प्रयुक्त है। सूत्र में 'विभाषा धातौ भावनवचनेऽयदि'[२] सूत्र से विभाषा की अनुवृत्ति होती है।[३] अतः लिङ् प्रत्यय विकल्प से प्राप्त होता है। 'उताप्योः समर्थयोर्लिङ्'[४] सूत्र में लिङ् का ग्रहण होने पर भी प्रकृत सूत्र में पुनर्ग्रहण भविष्यत् काल का ग्रहण कराने के लिये किया गया है। भाष्यकार ने 'हेतुहेतुमतोर्लिङ्' का तथा भविष्यदधिकारे च' वार्त्तिकों के द्वारा विभाषा तथा भविष्यत् का ग्रहण किया है। प्रस्तुत लिङ् लकार समस्त लकारों का अपवाद है।[५] भविष्यत् काल का ग्रहण करने से लृट् लकार का विधान[६] भी हेतुमत् अर्थ में किया जाता है। यथा हन्तीति पलायते, वर्षतीति धावती उदाहरण में वर्तमान काल की विवक्षा में लट् लकार होता है। यदि लृट् लकार की प्रसक्ति भी होती है तो शंका उत्पन्न होती है कि शतृ, शानच् प्रत्ययों की प्राप्ति न होने का क्या प्रयोजन है। इस शंका का समाधान भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक के माध्यम से किया है—

देवत्रातो गलो ग्राह इति योगे च सद्विधिः।
मिथस्ते न विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः॥

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक में श्लोकवार्त्तिकार ने व्यवस्थित विभाषा के आश्रय से 'लक्षण हेत्वोः क्रियायाः'[७] सूत्र से शतृ आदेश की प्रसक्ति नहीं होती। व्यवस्थित विभाषा से अभिप्राय है कहीं नित्य प्रवृत्ति, कहीं विकल्प से प्रवृत्ति तथा कहीं प्रवृत्ति का अभाव। इस प्रकार विविध रूप से अवस्थित विभाषा ही व्यवस्थित विभाषा

---

१ Vasu, S.C. Aśṭā.Vol.I, p.546.
२ अ.सू. ३-३-१५५
३ Vasu, S.C. - Aśṭā.Vol.I, p.546.
४ अ.सू. ३-३-१५२
५ सर्वलकाराणामपवादः। हर. पद. का. वृ. भाग ३, पृ. १२५
६ वही
७ अ.सू. ३-२-१२६

है ।[१] श्लोकवार्त्तिक में व्यवस्थित विभाषा के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं ।[२] 'इति योगे च सद्विधिः' में सत्[३] संज्ञक शतृ शानच् का ग्रहण है ।

देवगातः पद में संज्ञा में क्त[४] प्रत्यय विहित है । देव शब्द संज्ञा का उपलक्षण[५] है केवल त्रात शब्द से भी संज्ञा में नत्व[६] का प्रतिपादन नहीं किया गया ।[७]

क्रिया शब्द होने पर जातम् तथा त्रातम् दोनों ही स्थिति होती है । 'अचिविभाषा'[८] सूत्र व्यवस्थित विभाषा है जिसके द्वारा अजादि प्रत्यय परे रहे गृ धातु के रेफ को विकल्प से लकारादेश होता है । ग्रीवा अर्थ होने पर गृ को लत्व होकर गल तथा विष अर्थ होने पर रेफ ही रहता है ग्राह इस उदाहरण में ण[९] प्रत्यय विहित है । जलचर अर्थ होने पर ण प्रत्यय होता है, परन्तु आदित्य सोमादि अर्थ होने पर अच्[१०] प्रत्यय होता है ।

क्रिया के परिचायक हेतु में वर्तमान धातु के लट् लकार में शतृ और शानच् प्रत्ययों का विधान किया गया है ।[११] परन्तु इति का प्रयोग होने पर शतृ और शानच् का बाध किया गया है ।[१२] यथा हन्ति इति पलायते वर्षतीति धावति आदि उदाहरणों में व्यवस्थित विभाषा से सत्संज्ञक शतृ शानच् का प्रयोग नहीं हुआ ।[१३] व्यवस्थित

---

१ क्वचिन्नित्यं प्रवृत्तिः क्वचिद्विकल्पेन, क्वचिन्नैव प्रवत्तिः, इत्येवं विविधमवस्थिता विभाषा व्यवस्थित विभाषा । हर.पद.का.प.६ पृ.१६०

२ साधारणेन न्यानेन सिद्धवादतएव तु त्यधर्मणः शब्दानुपन्यस्ति । कैयट प्रदीप व्या.मं.३ पृ.२५८

३ तौ सत् । अ.सू.३-२-१२७

४ क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । अ.सू.३-३-१७४

५ देवग्रहस्योपलक्षणत्वात् - भवज्ञात इत्यादावपि संज्ञायां नत्वाभावः । हर.पद.का.वृ.६ पृ.१६०

६ मुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम् । अ.सू.८-२-५६

७ केवलस्यापि त्रात शब्दस्य संज्ञायां न नत्वं प्रतिपद्यते । जिने.न्यास का.वृ.६ पृ.१६०

८ अ.सू.८-२-२१

९ विभाषा ग्रहः । अ.सू.३-१-४३

१० नन्दिग्रहिपचादिभ्यः ल्युणिन्यचः । अ.सू.३-१-१३४

११ लक्षणहेत्वोः क्रियायाः । अ.सू.३-२-१२६

१२ Vasu, S.C. - Aśṭā.Vol.I, p.1469.

१३ सत्संज्ञकौ शतृशानचावितिप्रयोगे न भवत एव व्यवस्थित विभाषया । जिने.न्यास का.वृ.६ पृ.१६१

विभाषा से 'लृट् शेषे च'[१] सूत्र में उक्त च से क्रिया उपपद में रहने पर क्रियार्थ में लृट प्रत्यय होता है। उस लृट् की सद्विधि का निषेध किया गया है।[२] अप्रथमान्त समानाधिकरण से इति ही का योग होने पर अन्यत्र नित्य रूप से सत् विधि होती है यथा करिष्यन्तं पश्येति प्रथमा समानाधिकरण में विकल्प से सद्विधि होती है। यथा ब्राह्मण करिष्यन्; ब्राह्मणः करिष्यति।

श्लोकवार्त्तिकोक्त उदाहरण देवत्रात गल, ग्राह आदि त्राण, गर तथा ग्रह पदों के साथ एक ही विषय में विकल्प से उक्त नहीं है।[३] अपितु भिन्न विषय में विभाषा से व्यवस्थित है। इसी प्रकार गवाक्षः उदाहरण में वातायन अर्थ होने पर अवङ्[४] की प्राप्ति नित्य रूप से होती है परन्तु प्राण्यङ्ग अर्थ होने पर अवङ् न होकर अवादेश[५] तथा पूर्वरूप[६] होकर गवाक्षम् गोऽक्षम् दो रूप सिद्ध होते हैं। संशितव्रतः पद में भी व्रत विषय होने पर नित्य इत्व होता है।[७] अन्यार्थ होने पर विकल्प से इत्व विहित होता है। यह व्यवस्था व्यवस्थित विभाषा विज्ञाना सिद्धम् इस न्याय से विहित है।[८] यह विविध रूप से अवस्थित विषय पदार्थ विशिष्ट है[९] विधि और प्रतिषेध जाति और पदार्थ दोनों में होते हैं अतः इस अर्थ का प्रतिपादन सूत्र का कार्य है[१०] कहीं विधि कहीं प्रतिषेध तत्र कहीं दोनों का विविधअर्थों में विभाषा से प्रतिपादन ही व्यवस्थित विभाषा है। भाष्यकार ने गवाक्षः को उदाहरण नहीं माना है।[११]

---

१ अ.सू.३-३-१३
२ वही
३ In all the above examples the option though taught fgenerically should be limited to specific cases. Vasu, S.C. - Aśṭā.Vol.II, p.1469.
४ अवङ् स्फोटयनस्य। अ.सू.६-१-१२३
५ एचोऽयवायावः। अ.सू.६-१-७८
६ एङः पदान्तादति। अ.सू.६-१-१०९
७ शाच्छोरन्यतरस्याम्। अ.सू.७-४-४१
८ Vasu, S.C. - Aśṭā.Vol.II, p.1469.
९ एतच्चाकृति पक्ष उपपद्यते। कैयट प्रदीप व्या.म.३ पृ.२५८
१० वही
११ एतच्चोदाहरणं न व्यवस्थितविभाषाणां परिगणनम् तस्य व्यवस्थित विभाषात्वकथनात्। - वही

अन्यथा अन्य शब्दों में भी अतिप्रसक्ति होने लगेगी। प्रस्तुत सूत्र के विषय में यह कहा जा सकता है कि व्यवस्थित विभाषा होने के कारण सद्विधि नहीं होती।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों के उद्धरण से सूत्रों में विभाषा की स्थिति को स्पष्ट किया है। श्लोकवार्त्तिक से उदाहरणों का ग्रहण किया गया है तथा उनका स्पष्टीकरण भी प्रस्तुत है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से भाष्यकार ने सूत्रों के प्रायोगिक पक्ष की सिद्धि की है। उदाहरणों की व्याख्या होने के कारण प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक को उदाहरणात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है।

चतुर्थ अध्याय

स्त्रीभ्यो ढक्[१]

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों से अपत्यार्थ में ढक् प्रत्यय का विधान होता है।[२] सूत्रोक्त स्त्रीभ्य पद के ग्रहण से ठकादि स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों का ग्रहण किया गया है।[३] यथा - वैनतेयः तथा सौपर्णेय इन उदाहरणों में विनता तथा सुपर्णा स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों से ढक् प्रत्यय हुआ है। स्त्रीभ्य पद के विषय में भाष्यकार ने शंका की उद्भावना की है स्त्रीभ्य स्त्रीप्रत्यय ग्रहण, स्त्रीशब्द ग्रहण अथवा स्त्र्यर्थ ग्रहण में से किसका द्योतक है। स्त्रीभ्य पद बहुवचनान्त है अतः स्वरूप ग्रहण नहीं किया है।[४] स्वरूप ग्रहण होने पर एकवचनान्त[५] निर्देश किया जाता।

'उपर्युक्त तीनों पक्षों में से भाष्यकार ने स्त्रीप्रत्यय ग्रहण की उपयुक्त माना है। अन्य दोनों पक्षों में दोष की उद्भावना की है स्त्र्यर्थ का ग्रहण अनर्थक है क्योंकि स्त्र्यर्थ विमातृ शब्द शुभ्रादिगण में पठित है इसका स्त्र्यर्थत्व विधवा शब्द से साहचर्य से ज्ञात होता है।[६] यदि स्त्रयर्थ मात्र स्त्रीशब्द का ग्रहण किया जायेगा तो शुभ्रादि

---

१ अ.सू.-४-१-१२०

२ Words ending in the feminine affixes take the affix ढक् in forming their patronymic Vasu, S.C. Aṣṭā. Vol.I, p.674.

३ वही

४ स्वरूपग्रहणं तु न भवति बहुवचननिर्देशात्। हर.पद.का.वृ.३ पृ.४६१

५ स्वरूपग्रहणे हि तस्यैकत्वादेकवचनेनैव निर्देशं कुर्यात्। जिनेन्यास का.वृ.३ पृ.४६१

६ तस्य तु स्त्र्यर्थध्वं विधवाशब्दसाहचर्याद्विज्ञेयम्। वही

में पाठ अनर्थक ही जायेगा क्योंकि इस सूत्र से ही ढक्[१] प्रत्यय सिद्ध ही होता है। कहीं स्त्री लिङ्ग[२] शब्द का ग्रहण है तो कहीं स्त्र्यर्थाविधान है। स्त्री शब्द का ग्रहण भी अनुपयुक्त प्रतीत होता है। स्त्री शब्द से स्वरितत्वविहित है[३] तथा स्वरितत्व[४] अधिकार का ज्ञापक है। अतः ठकादि प्रत्ययान्त शब्दों का ही ग्रहण किया जाता है। क्तनादि[५] प्रत्यय स्त्रीत्व विवक्षा में विहित होने पर भी अनेक सूत्रों का व्यवधान होने के कारण गृहीत नहीं हैं।[६] इसी प्रकार स्त्रीलिंग शब्दों का ग्रहण भी असंगत माना गया है। कुछ[७] आचार्य स्त्रीलिंग बोधक शब्दों का ग्रहण स्वीकार करते हैं इडविदादि पदों के शिवादिगण में पठित होने के कारण अनभिधान होने में ढक् प्रत्यय का अभाव होता है। भाष्यकार ने स्त्रीशब्द ग्रहण से अभिप्राय स्त्रीलिंग शब्दों का ग्रहण माना है। परन्तु स्त्री प्रत्यय ग्रहण अभीष्ट होने के कारण स्त्र्यर्थक व स्त्रीलिंग बोधक का ग्रहण नहीं होता अतः 'ऐडविडः तथा दारदः' इन उदाहरणों में इडविड तथा दरद स्त्री शब्दों से अपत्यार्थ में अण् प्रत्यय का विधान होता है ढक् का नहीं। क्योंकि ये स्त्रीलिंग शब्द तो है परन्तु स्त्री प्रत्ययान्त शब्द नहीं है।[८] प्रस्तुत सूत्र पर भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किया है—

वडवाया वृषे वाच्ये, अण् कुञ्चाकोकिला स्मृतः।
आरक् पुंसि ततोऽन्यत्र, गोधाया द्रक् विधौ स्मृतः॥

श्लोकवार्त्तिककार ने प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक में अर्थविशिष्ट में विशिष्ट प्रत्ययों का विधान किया है। वडवा शब्द से वृषर्थ वाच्य होने पर ढक् प्रत्यय का विधान होता है। वृष से अभिप्राय हो जो उसके गर्भ में बीज की स्थापना करता है। वह वाडवेय संज्ञा से अभिहित होता है।[९] अपत्यलक्षणार्थ पर ढक् से बाध होकर

---

१ शुभ्रादिभ्यश्च। अ.सू.४-१-१२३
२ यू स्त्रयर्थत्वं विधवाशब्दसाहचर्याद्विज्ञेयम्। वही
३ हर.पदा.का.वृ.३ पृ.४६१
४ स्वरितेनाधिकारः। अ.सू.१.३.११२
५ स्त्रियाम् क्तिन्। अ.सू.३-३-९४
६ एतत्प्रकरणाविहितास्तु प्रत्यया व्यवधानान्न गृह्यन्ते। कैयट प्रदीप व्या.म.२ पृ.३८९
७ केचित्तु स्त्रीलिङ्गबोधकशब्दग्रहणमेवात्र। नागेश, उद्योत व्या.म.८, पृ.३८९
८ For though these words are feminine they do not end in feminine affixes. –Vasu, S.C. Aṣṭā. - Vol.I, p.614.
९ यस्तस्या गर्भे बीजं प्रक्षिपति स वृषो वाडवेय इत्युच्यते। जिने न्यास का.वृ.३ पृ.४६१

वाडवेयः पद सिद्ध होता है ।[१] अपत्यार्थ अण् प्रत्यय विहित होकर वाडवः पद सिद्ध होता है ।[२] वाडव शब्द चतुष्पादी वाची नहीं है जबकि 'चतुष्पादो गर्भिण्या':[३] सूत्र पर वार्त्तिककार के द्वारा चतुष्पाज्जाति का ही ग्रहण किया है ।[४] यहां देवताविशिष्ट स्त्री सूर्यस्त्रीरुप के द्वारा ग्रहीत अश्वरूप का वाचक वडवा शब्द अभीष्ट है ।[५] वृष से अभिप्राय बीजाश्व है । बीजाश्व शब्द से भी अश्वाकार रुप पुरुष सूर्य का ग्रहण होता है ।[६] अतः वाडवेयः पद से अपत्यलक्षण अण् तथा चतुष्पाद जातिलक्षण ढञ्[७] का अभाव है । ब्राह्मणीवाची वडवा शब्द से ढकापवाद होने पर अण्[८] प्रत्यय विहित होकर वाडवः रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार अपत्यार्थ होने पर क्रुञ्चा तथा कोकिला शब्दों से अण्[९] प्रत्यय का विधान होकर तथा कोकिलः पद सिद्ध होते हैं । यह ढक् प्रत्यय का अपवाद है । पुस्त्वार्थ का अभिधान होने पर आरक् प्रत्यय होता है । गोधा शब्द के पुंस्त्वार्थाभिधान में ढ्रक् प्रत्यय का विधान किया गया है । अतः मूषिकायाः अपत्यं पुमान् मौषिकारः तथा गोधाञाः अपत्यम् पुमान् गौधेरः उदाहरणों में पुंस्त्वार्थ में ढ्क का विधान न होकर आरक् तथा ढ्रक् प्रत्यय हुये हैं ।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार के सूत्रों की व्याख्या करने के लिये श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण किया है । भिन्न भिन्न अर्थों में भिन्न भिन्न प्रत्ययों का प्रयोग किया गया है । विशिष्टार्थ का अभिधापन विशिष्ट प्रत्यय होता है । श्लोकवार्त्तिक में प्रत्ययों की विशिष्यार्थ में व्याख्या उदाहरणों के माध्यम से की गई है । वार्त्तिकों में योगदान करने में भी श्लोकवार्त्तिक महत्त्वपूर्ण है ।

---

१ तेन चार्थेन विशेष विहितेनापत्यलक्षणेऽर्थे ढका बाध्यते । हर.पद.का.वृ.३ वृ.४६१
२ तेनापत्ये वाडव इति भवति । कैयट प्रदीप व्या.म.२ पृ.३९०
३ अ.सू.२-१-७२
४ नागेश उद्योत व्या.म.२ पृ.३९०
५ देवताविशेषस्य सूर्यस्त्रीरुपस्य गृहीताश्वारुपस्य वाचकवाडवशब्दस्यैवात्र ग्रहणात् । वही
६ वही
७ चतुष्पाल्लक्षणो ठञपि न वति अचष्पाद्वाचित्वात् । हर.पद.का.वृ.३ पृ.४६१
८ अवृद्धाभ्यो नदीमानुषीभ्यस्तन्नाभिकाभ्यः । अ.सू.४-१-११४
९ Vasu, S.C. Aṣṭā. Vol.I,p.674.

(२) मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च[१]

प्रस्तुत सूत्र विधिसूत्र है जिसके द्वारा मनु शब्द से समुदाय अर्थ अभिव्यक्त होने पर अञ् तथा यत् प्रत्यय का विधान होता है - तत् सन्नियोग से वुगागम भी होता है।[२] अपत्यार्थ की अभिव्यक्ति होने पर अञ् तथा यत् प्रत्यय नहीं होते क्योंकि मानुषाः इस बहुवचनान्त से लुक् नहीं होता।[३] अपत्यार्थ होने पर लौकिक गोत्र का ग्रहण होने के कारण बुहवचनान्त पद से लुकप्राप्ति[४] होती है। अतः अपत्य विवक्षा में मनु शब्द से अण् प्रत्यय का विधानं होता है।[५] यथा मानवी मानवः इस उदाहरण में मनु शब्द से अण् प्रत्यय हुआ है क्योंकि यहां मनोः अपत्यय अपत्यार्थ द्योत्य् है। भाष्यकार ने अण् प्रत्ययान्त मानव शब्द के स्थान पर माणवः शब्द की सिद्धि करने के लिये श्लोकवार्त्तिक का ग्रहण किया है—

अपत्ये कुत्सिते मूढ़े मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः।
नकारस्य च मूर्धन्यस्तेन सिध्यति माणवः॥

अण् प्रत्यय का विधान अपत्यार्थ[६] में अभीष्ट है। अण् की सिद्धि होने पर णत्व विधान के लिये उक्त श्लोकवार्त्तिक का ग्रहण किया गया है। न 'दण्डमाण-वान्तेवासिषु'[७] सूत्र में माणव शब्द पठित होने के कारण निपातन से माणव शब्द की सिद्धि सम्भव होने के कारण पुनः णत्वविधान अनुपयुक्त प्रतीत होता है परन्तु निपातन से अर्थ का निश्चय नहीं होता[८] जबकि णत्व विधान का प्रयोजन विशिष्ट अर्थ में णत्वसिद्धि करना है। बहुलता से भी मूर्धन्यादेश सिद्ध नहीं होता। अतः श्लोकवार्त्तिक बहुलग्रहण की अनुवृत्ति से प्राप्त अर्थ ही निबद्ध है।[९] मूर्धन्यादेश विशिष्ट विषय मूढ़ कुत्सित अपत्यार्थ में विहित है। वेदों का अध्ययन न करने वाला व्यक्ति मूढ़ माना गया है। मूढ़त्व के कारण विहित का आचरण न करने

---

१ अ.सू.४-१-१६१
२ Vasu, S.C. - Aśṭā. Vol.I, p.688.
३ एकञ्च कृत्वा मानुषा इति बहुषु लुग्न भवति। जिने. न्यास का.वृ.३ वृ.४८८
४ हर.पद.का.वृ.३ पृ.४८८
५ When the descendant is to be express. Ibid.
६ तस्यापत्यम्। अ.सू.४.३.९२
७ अ.सू.४-३-१३०
८ निपातानादर्थ विशेषस्यानिश्चयात्। कैयट प्रदीप व्या.म.२, पृ.३९७
९ एवं तर्हि बहुलग्रहणानुवृत्तेर्लभ्य एवार्थः श्लोकेन कथ्यते। जिने.न्यास का.वृ.३ पृ.४८८

वाला पुरूष कुत्सित माना गया है ।[१] मूढ़ तथा कुत्सित ब्राह्मणजातीय पुरुष माणवः कहा गया है ।[२]

भाष्यकार के स्थिति काल में माणव विद्यार्थी के अर्थ में प्रयुक्त होता था। माणव छोटा बालक है । प्रारम्भिक अध्ययन के लिये शाला में प्रविष्ट होते समय इनका मुण्डन संस्कार कराया जाता था । ये छोटी कक्षाओं के छात्र होते थे ।[३]

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने सूत्रों के द्वारा सिद्ध न होने वाले विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त प्रयोगों की सिद्धि करने के लिये श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण किया है । श्लोकवार्त्तिककार के स्थिति काल में वेदों का अध्ययन आवश्यक समझा जाता था । वेदों का अध्ययन न करने वाला व्यक्ति मूढ़ कहा जाता था । वेद विहित आचरण सर्वश्रेष्ठ ममाना जाता था ।वेद विरुद्ध आचरण करने वाला व्यक्ति कुत्सित समझा जाता था ।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों में न केवल व्याकरणात्मक सिद्धान्तों की व्याख्या की गई है अपितु तत्कालीन वैदिक आस्था भी इनमें सहज प्राप्य है ।

सप्तम अध्याय

शाच्छोरन्यतरस्याम्[४]

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने शा तथा छा धातुओं को तकारादिकित् प्रत्यय परे रहते विकल्प से इकारादेश का विधान किया है ।[५] यथा विशितम्, अवच्छितम् आदि उदाहरणों में तकरादि कित् क्त प्रत्यय परे रहने पर शा तथा छा धातुओं को इत्व विधान किया गया है । सूत्र पर शयतेरित्वं व्रते नित्यम् वार्त्तिक उक्त है अतः शा धातु के व्रत शब्द परे रहने पर इत्व नित्य रूप से विहित है । व्रत शब्द से यहां विषय का निर्देश किया गया है अतः व्रत से अभिप्राय व्रत उत्तरपद परे रहते नहीं

---

१ अनधीतवेदत्वामूढ़त्वम् । हर.पद.का.वृ.३ पृ.४८८

२ मूढ़त्वात् - प्रतिषिद्धाचरणाद्वा कुत्सितो यः स ब्राह्मण जातीयो माणवः उच्यते । जिने. न्यास - वही ।

३ अग्नि.प्रभु.पत.भा.पृ.४१८

४ अ.सू.७.४.४१

५ **Vasu, S.C. -Aśṭā.II, p.1469.**

है ।[१] यही कारण है कि संशितब्राह्मण पद में भी शा धातु को इत्व हुआ है । संशित[२] ब्राह्मण के अभिप्राय है संशितव्रत अर्थात् व्रत के विषय में यत्नवान् ब्राह्मण संशितव्रत है ।[३] संशित सामान्य शब्द है व्रत शब्द का प्रयोग विशेष का प्रतिपादन करने के लिये किया गया है ।[४] अतः व्रत में द्योतितत्व स्वीकार करके अन्यत्र इत्व विधान वैकल्पिक होने के कारण व्रत शब्द का प्रयोग नित्य विधानार्थ प्राप्त होता है ।[५] व्रत के नित्य इत्व का विधान करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि व्यवस्थित विभाषा से यह सिद्ध होता है[६] व्यवस्थित विभाषा से अभिप्राय है कहीं नित्य प्रवृत्ति, कहीं विकल्प से प्रवृत्ति तथा कहीं प्रवृत्ति का अभाव इस प्रकार विविध भाव के अवस्थित विभाषा ही व्यवस्थित विभाषा है ।[७]

भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र पर निम्न श्लोकवार्तिक उद्धृत किया है जिसमें व्यवस्थित विभाषा के अन्य उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं[८]—

देवत्रातो गलो ग्राह इतियोगे च सिद्विधिः ।

मिथस्ते न विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः ॥

---

१ व्रत इति विषयो निर्दिश्यते नेत्तिरं पदम् तेन संशितो ब्राह्मण इत्यत्रापिनित्यामित्वं भवति । पदमञ्जरी, का. वृ. ६ पृ. १६०

२ यत्नेन सम्यक् प्रतिपादितं व्रतं यस्य येन वा स एवमुच्यते । न्याय - वही

३ आचारविशेषे व्रतारव्ये यत्नवानेवोच्यते संशित व्रत इति । न्याय - वही

४ संशितशब्दः सामान्य शब्दः इति विशेष प्रतिपादनाया विरुद्धो व्रतशब्दप्रयोगः । - कैयट, प्रदीप, व्या., म. ३, पृ. २५८

५ अन्यत्र हीत्वं भवत्येव व्रत तु नित्यमाख्यायते सोऽयं सामान्य शब्दों भवति । न्याय - का. वृ पृ. १६०

६ The rule of this sutra thus becomes a vyavasthita vibhasha. Vasu, S.C. Aṣṭā. Vol.II, p.1469.

७ क्वचिन्नित्यं प्रकृत्तिः कवचिद्विक्ल्पेन, क्वचिन्नेव प्रवृत्तिः इत्येव विविधमवस्थिता विभाषाः व्यवस्थित विभाषा । हर. पद. मंजरी, का. वृ. ६ पृ. १६०

८ साधारणेन न्यायेन सिद्धत्वाद त एव तुल्यधर्मणः शब्दानुपन्यस्ति । कैयट, प्रदीप, व्या. महा. ३, पृ. २५८

देवत्राता पद में संज्ञा में क्त[१] प्रत्यय विहित है देव शब्द संज्ञा का उपलक्षण है[२], केवल ज्ञात शब्द कभी नत्व[३] का प्रतिपादन नहीं किया गया।[४] क्रिया शब्द होने पर ज्ञातम् तथा त्राणम् दोनों ही स्थिति होती है।[५] अचि विभाषा'[६] सूत्र व्यवस्थित विभाषा है जिसके द्वारा अजादि प्रत्यय परे रहते गृ धातु के रेफ को विकल्प के लकारादेश होता है। ग्रीवा कार्य होने पर गृ को लत्व होकर गल तथा विष अर्थ होने पर रेफ ही रहता है। ग्राह इस उदाहरण में ण[७] प्रत्यय विहित है। जलचर अर्थ होने पर ण प्रत्यय होता है परन्तु आदित्य सोमादि अर्थ होने पर अच्[८] प्रत्यय होता है। क्रिया के परिचायक हेतु में वर्तमान धातु के लट् लकार में शतृ और शानच् प्रत्ययों का विधान किया गया है[९] परन्तु इति का प्रयोग होने पर शतृ और शानच् का बाध किया गया है।[१०] यथा हन्ति इति पलायतें वर्षतीति धावति आदि उदाहरणों में व्यवस्थित विभाषा से सत्संज्ञक शतृ शानच् का प्रयोग नहीं हुआ।[११] व्यवस्थित विभाषा से लृट् शेषेच[१२] सूत्र में उक्त च से क्रिया उपपद में कहने पर क्रियार्थ में लृट् प्रत्यय होता है उप लृट् को सद्विधि का निषेध किया गया है।[१३] अप्रथमान्त

---

१ क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्। अ.सू.३-३-१७४
२ देवग्रहणस्योपलक्षणत्वात् भवनात इत्यादावपि संज्ञायां नत्वाभावः। हर.पदमंजरी का. वृ.६ पृ.१६०
३ नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्यो न्यतरस्याम्। अ.सू.८-२-५६
४ केवलस्यापि त्रातशब्दस्य संज्ञायां न नत्वं प्रतिपद्यते। न्याय का.वृ.६ पृ.१६१
५ While in denoting action both forms are valid. Vasu, S.C. - Aśṭā. Vol.II, p.1469.
६ अ.सू.८-२-२१
७ विभाषा ग्रहः। अ.सू.३-१-१९३
८ नन्दिग्रहिपचादिभ्योल्युणिन्यचः। अ.सू.३-१-१३४
९ लक्षणहेत्वोः क्रियायाः। अ.सू.३-२-१२६
१० Similarly, the addition of the Present Participle affix शतृ and शानच् under 3-2-126 is debared when Fefle is added. –Vasu, S.C. Aśṭā.Vol.II, p.1469.
११ सत्सज्ञंको शतृशानचावितियोगे न भवत एव व्यवस्थित विभाषा। न्यास.का.वृ.६ पृ. १६१
१२ अ.सू.३-३-१३
१३ चकारात क्रियायामुपपदे क्रियार्थायां लृट्तस्य लृटः सद्विधिर्न भविष्यति। वही - न्यास

समानाधिकरण को इति का योग होने पर अन्यत्र नित्य रुप से सत्विधि होती है - यथा करिष्यन्तं पश्येति । प्रथमासमानाधिकरण में विकल्प से सद्विधि होती है । यथा ब्राह्मणः करिष्यन्, ब्राह्मणः करिष्यति ।

श्लोकवार्त्तिक में प्रस्तुत उदाहरण देवत्रात गल ग्राह आदि त्राण गर तथा ग्रह पदों के साथ एक ही विषय में विकल्प के उक्त नहीं [१] अपितु भिन्न विषय में विभाषा से कथित है । अतः इसी प्रकार गवाक्ष उदाहरण में वातायन अर्थ होने पर अवङ् [२] की प्राप्ति नित्य रूप से होती है परन्तु प्राण्यङ्ग अर्थ होने पर अवङ् न होकर अवादेश [३] तथा पूर्वरूप [४] होकर गवाक्षम् गोऽक्षम् दो रूप सिद्ध होते हैं । संशितव्रतः पद में भी व्रत विषय होने पर नित्य इत्व होता है । अन्यार्थ होने पर विकल्प से इत्व विहित होता है । यह व्यवस्था 'व्यवस्तिविभाषा विज्ञानात् सिद्धम्' इस न्याय से विहित है । [५] यह विविध रूप से अवस्थित विषय पदार्थ विशिष्ट है । [६] विधि और प्रतिषेध जाति और पदार्थ में दोनों में होते हैं । [७] अतः इस अर्थ का प्रतिपादन सूत्र का कार्य है । [८] कहीं विधि कहीं प्रतिषेध तथा कहीं दोनों की प्राप्ति होने पर सङ्कर महान के कारण व्यवस्था की गई है । [९] इस प्रकार विधि, प्रतिषेध तथा दोनों का विविध अर्थों

---

१ In all the above examples the option though taught generically should be limited to specific cases. Vasu, S.C. - Aśṭā.Vol.II, p.1469.

२ अवङ् स्फोटायनस्य । अ.सू.६-१-१२३

३ एचोऽयवायावः । अ.सू.६-१-७८

४ एङः पदान्तादति । अ.सू.६-१-१०९

५ We should limit a general Vibhāshā to a Vyavasthita Vbhāshā on the maxim व्यवस्थितविभाषा विज्ञानात् सिद्धम्, – Vasu, S.C. - AêùÂ.Vol.II, p.१४६९.

६ एतच्चाकृति पक्ष उपपद्यते । कैयट, प्रदीप, व्या. महा. ३, पृ. २५८

७ एतच्च विविधमवस्थानामाकृतो पदार्थे वेदितव्यम् । न्याय. का. वृ. ६ पृ. १६२

८ तत्र हि व्यर्थ लक्ष्ययकध्यायापाद्याभयमुपदिश्यते ततश्चोभयम् भवतीत्येतावतैव लक्षणस्य व्यापारा । कैयट, वही ।

९ असङ्करेण व्यवस्थानम्, एच्चाविच्छिन्नाचार्य पारम्पर्योपदेशाल्लभ्यते । न्यास - वही ।

में विभाषा से प्रतिपादन ही व्यवस्थित विभाषा है। भाष्यकार ने गवाक्षः को उदाहरण नहीं माना है[१] अन्यथा अन्यों[२] में भी अतिप्रसक्ति होने लगेगी।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों के उद्धरण से सूत्रों में विभाषा की स्थिति को स्पष्ट किया है। श्लोकवार्त्तिकों में उदाहरणों का ग्रहण किया गया है तथा उन्हें स्पष्ट किया गया है। सूत्र तथा वार्तिकों के प्रायोगिक के पक्ष की सिद्धि श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा की गई है।

इदरिद्रस्य[३]

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने दरिद्रा धातु को हलादि, सार्वधातुक, कित्, ङित् प्रत्यय परे रहते इकारादेश का विधान किया है।[४] यथा दरिद्रितः उदाहरण में। सूत्र से विहित एक केवल सार्वधातुक प्रत्यय परे रहने पर ही होता है अन्यत्र आकार लोप हो जाने के कारण।[५] वार्त्तिक के द्वारा आर्धधातुक संज्ञक प्रत्ययों के परे रहने पर लोप का विधान अभीष्ट है। अल्लोप[६] विधायक सूत्र से लोप की अनुवृत्ति होने पर सार्वधातुक, हलादि, तथा क्ङित इन विशिष्टों की निवृत्ति होकर दरिद्रा धातु से सामान्य रूप से इत्व तथा लोप विधान हो जायेगा। इत्व तथा लोप विधान होने पर संकर दोष उत्पन्न नहीं होगा।[७] प्रस्तुत इत्व विधान तथा लोप के विषय में शंका होती है कि किस प्रयोग में इत्व किया जायेगा और किस में आकार लोप किया जायेगा। भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा इत्व विधान तथा लोप विधान के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—

न दरिदायके लोपे दरिद्राणे च नेष्यते।
दिद्वरिद्रासतीत्येके दिदारिद्विषतीति वा॥

---

१ एतच्चोदाहरण न व्यवस्थितबिभाषाणां परिगणनम्। तस्य व्यवस्थितविभाषात्वकथनात्। कैयट, प्रदीप, व्या., महा., ३, पृ. १६२
२ अजेर्वीति सूत्रे भाष्ये। नागेश - वही
३ अ. सू. ६-४-११३
४ Vasu, S.C. - Aśṭā. Vol.II, p.1291.
५ इदमपि सार्वधातुक एव अन्यत्र लोपविधानात्। हर. पद. का. वृ. ५, पृ. ४६४
६ श्नसोरल्लोपः। अ. सू. ६-४-१११
७ न चैवं सति तौ सङ्करेण प्रसजतः। जिने. न्यास. का. वृ. ५, पृ. ४६४

वार्त्तिककार ने आर्धधातु के लोपः वक्तव्यः इस वार्त्तिक का प्रत्याख्यान कर दिया है क्योंकि जिस प्रकार प्रत्यय विधान काल में यह सिद्ध होता है उसी प्रकार आकार लोप करना चाहिये । यह प्रत्यय विधान काल में ही निष्पन्न है ।[१] अतः अभिप्राय यह है कि आर्धधातुक प्रत्यय के विषय भूत होने पर प्राप्ति से पूर्व ही लोप किया जाना चाहिये ।[२] आर्धधातुक इस पद में विषय सप्तमी आश्रित है[३] यदि पर सप्तमी का ग्रहण किया जायेगा तो आर्धधातुक प्रत्यय उत्पत्ति के पश्चात् ही लोप का विधान सम्भव है ।[४] यदि प्रत्ययोत्पत्ति के पश्चात् लोप विधान होने पर आकारान्तलक्षण ण[५] प्रत्यय होगा । आकार लोप तथा युक्[६] दोनों की प्रसक्ति होने लगेगी क्योंकि लोप शब्दान्तर प्राप्ति होने के कारण अनित्य है ।[७] लोप करने पर युक् की प्राप्ति नहीं होती । दोनों ही अनित्य हैं । अतः पर होने के कारण युक् आगम होता है ।[८] यदि लोप विधान करते हैं तो अदरिद्र इस उदाहरण में स्वर[९] की प्राप्ति नहीं होती तथा ईषद्दरिद्रम् में युक्[१०] की प्राप्ति नहीं होती । रेफ दोष का निराकरण करने के लिये आर्धधातुक पद में विषय सप्तमी का ग्रहण करना चाहिये । इस स्थिति में प्रत्ययोत्पत्ति से पूर्व ही आकार लोप[११] हो जाता है । अतः आकारान्त न होने के कारण अच्[१२] प्रत्यय होता है । अतः दरिद्र अभीष्ट रूप सिद्ध होता है ।[१३]

---

१ यथा प्रत्यय विधौ प्रत्ययविधानकाल एव सिद्ध भवति तथा लोपः वक्तव्यः । हर.पद. वा.वृ.५ पृ.४६४

२ आर्धधातुके प्रत्यये विषयभूतेऽनुत्पन्ने एव लोपः कत्तव्यः । जिने. न्यास का. वृ.५ पृ. ४६४

३ आर्धधातुके इति विषयसप्तमी इत्यर्थः । कैयट,प्रदीप,न्या. महा. ३,पृ.९५३

४ आर्धधातुके इति परसप्तभ्यां तस्योत्पत्तिं प्रतीक्ष्य लोपः कर्तव्यः । हर पद.का.,वृ.,वही ।

५ श्याद्व्यधास्रु ____ । अ.सू.३-१-१४१

६ आतो युक् चिण्कृतोः । अ.सू.७-३-३३

७ लोपस्य शब्दान्तैरप्राप्त्याऽनित्यत्वम् । कैयट,प्रदीप,व्या.,महा.२,पृ.९५३

८ द्वयोरनित्ययोः परत्वाद्युक् स्यात् । - वही

९ अच्कावशक्तौ । अ.सू.६-२-१५७

१० आतो युच् । अ.सू.३-३-१२८

११ श्नाभ्यस्तयोरातः । अ.सू.६-४-११२

१२ नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । अ.सू.३-१-१३४

१३ Thus Ce comes after roots ending in long Dee but the affix would not be applied here but the general affix Deṅed Vasu, S.C. - Aṣṭā.Vol.III, p.1292.

श्लोकवार्त्तिक के द्वारा जिस प्रयोग प्रयोग में आर्धधातुक निमित्तक लोप अनभीष्ट है, इसका कुछ आचार्यों के मतानुसार विकल्प से अभीष्ट है उन उदाहरणों को प्रस्तुत किया गया है। यथा दरिद्रायक तथा दरिद्राण प्रयोग ण्वुलन्त[१] तथा ल्युडन्त है। दोनों में ही आकार लोप अनभीष्ट है। सन् प्रत्ययान्त दिदरिद्रासति तथा दिदरिद्रिषति दो प्रयोग अभीष्ट हैं।[२] प्रथम प्रयोग में आकार लोप का अभाव है जबकि विकल्प से लोप अभीष्ट होने के कारण द्वितीय प्रयोग में आकार लोप होने पर इडागम हुआ है। लोप के विषय में 'तनिपति दरिद्राणामुपसंख्यानम्'[३] व्यवस्थित[४] विभाषा है, जिसके आश्रय से लोप पक्ष में इडागम होता है।[५] व्यवस्थित विभाषा के अभिप्राय है कि उसके जो जहां अभीष्ट है वह वहीं होता है अन्यत्र नहीं। अतः लोप के विषय में व्यवस्थित विभाषा यह होगी कि लुङ् परे रहने पर विकल्प से तथा सन्, ण्वुल् ल्युट् परे रहने पर लोप अनभीष्ट होगा।[६]

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्य में श्लोकवार्त्तिकों का उद्धरण उदाहरणों की सिद्धि के लिये भी किया गया है। भाष्यकार ने जहां एक और सूत्रों तथा वार्त्तिकों के व्याख्यान के लिये श्लोकवार्त्तिक ग्रहण किये हैं, वहां दूसरी और उदाहरणों का स्पष्टीकरण की श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से किया है अन्यथा अभीष्ट उदाहरणों की सिद्धि असम्भव प्रतीत होती है।

अतएकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि[७]

प्रस्तुत सूत्र विधिसूत्र है जो लिट् परे रहते आदेश जिस अंग के आदि में नहीं है, उसके दो असहाय[८] हलों के मध्य में जो अकार है उसको एकारादेश तथा

---

१ ण्वुलतृचौ। अ.सू.३.१.१३३
२ The Desiderative may be either, दिदरिद्रासति or दिदरिद्रिषति। Vasu, S.C. Aṣṭā.Vol.II, page.192
३ वार्त्तिक, दम्भ इच्च। अ.सू.७-४-५६
४ सा च व्यवस्थित विभाषा तेन यत्रैवेष्यते यत् तत् तत्रैव भविष्यति नान्यत्रेति। न्यास का. वृ.५ पृ.४०४
५ सनीबन्तर्ध इत्यत्र तनिपतिदरिद्राणाम् इत्युपसंख्यानाद्विकल्पेने। वही, पृ.४६५
६ लुङ्वा सनि ण्वुलि ल्युटि च न। ऐतेष्वातोलोप नेत्यर्थः। सि.कौ. पृ.४६२
७ अ.सू.६-४-१२०
८ एक शब्दोऽयमसहायवाची। जिने न्यास.का.वृ.,५,पृ.४६८.

अभ्यासलोप लिट् परक कित् ङित् प्रत्यय परे रहते होता है। लिट् परक कहने का अभिप्राय है लिट् परे रहने पर जिस आदेश का विधान किया गया है वह जिस अंग के आदि में नहीं है[१] उसको एत्व तथा अभ्यास लोप किया जाता है यथा पेचतु, पेचुः आदि उदाहरणों में। प्रस्तुत सूत्र पर भाष्यकार ने 'दम्भ एत्वम्' वार्त्तिक उद्धृत किया है जिसके द्वारा दम्भ धातु को एत्व तथा अभ्यास लोप का विधान किया गया है।[२] निम्न श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से किया गया है —

नशिमन्योरलिट्येत्वम्, छन्दस्यमिपचोरपि।
अनेशं मेनकेत्येतद्, व्येमानं लिङि पेचिरन्॥
यजायेजे वपावेपे, दम्भ एत्वमलक्षणम्।
श्नसोरत्वे तकारेण, ज्ञायते त्वेत्वशासनम्॥

दम्भ् यद्यपि लिट् परक आदेश से रहित अंग है तथापि एत्व तथा अभ्यास लोप का अभाव रहता है अतः उसका कथन किया जाना चाहिये क्योंकि उपधास्थित नकार[३] का लोप अधिक है अतः दम्भ् से एत्व तथा अभ्यास लोप की प्राप्ति नहीं होती। दम्भ के परे लिट् को कित्वद्भाव[४] की प्राप्ति है कित्व होने पर विहित उपधा लोप आभीय अधिकार[५] सूत्र से अधिक है।[६] यही कारण है कित पृथक् रूप से दम्भ से एत्व तथा अभ्यास लोप का विधान किया है। अल्लोप[७] विधायक सूत्र में 'अत्' तपरकरण से आभीयाधिकार से विहित असिद्धत्व अनित्य है[८] अतः दम्भ से एत्व करने पर लोप असिद्ध नहीं होता तथा दम्भ से एत्व सिद्ध हो जाता है।[९]

---

१ लिटि परभूते म आदेशो विधीयते स आदिर्यस्याङ्गस्य नास्तीथ्यर्थः। वही, पृ. ४६९
२ दम्भ् एत्वं वक्तव्यम्। व्या. मII, पृ. ९५४
३ अनिदितां हलः उपधायाः क्ङिति। अ. सू. ६-४-२४
४ ग्रन्थिश्रन्थिदम्भिस्वञ्जीनाम्। अ. सू. -
५ असिद्धवदत्राभात्। अ. सू. ६-४-२२
६ तस्मिन् सति य उपधाया लोपस्तस्य असिद्ध वदत्राभात् इत्यसिद्धावान्न प्राप्नोति। जिने. न्यास का. वृ. ५, पृ. ४७२
७ श्नसोरल्लोपः। अ. सू. ६-४-१११
८ असिद्धित्वस्यानित्यत्वज्ञापनाम तकारः कृतः। कैयट, प्रदीप, व्या. म. २, पृ. ९५५
९ दम्भेरेत्वे कर्तृव्ये लोपस्यासिद्धत्वं न भवति, ततश्च दम्भेर्लिट्येत्वं भविष्यतीति। जिने. न्यास का. वृ. ५, पृ. ४७२

श्लोकवार्त्तिककार वैदिक[१] उदाहरणों को उद्धृत किया है। अनेशम् तथा मेनका उदाहरणों में नश् तथा मन् धातु के आकार को एत्व विधान किया जाना चाहिये लिट् भिन्न प्रत्यय परे रहने पर। दोनों उदाहरणों में क्रमशः लुङ् लकार तथा वुन्[२] प्रत्यय है।वैदिक प्रयोग होने के कारण लौकिक भाषा से मेनका (पृषोदरादिगण को छोड़कर अनेशम् पदों में एत्व प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार चानश्[३] प्रत्ययान्त व्येमानं[४] छान्दस प्रयोग है। पेचिरन् पचेरन् के स्थान पर एत्वं ह्रस्व[५] विधान होकर लिङ् लकार में निष्पन्न है।[६] आयेजे तथा आवेषे उदाहरणों में यज् तथा वद् धातु से लङ् लकार पर रहते, इट् परे, रहते, आडागम हुआ है।[७] दम्भ से एत्व की सिद्धि के लिये तथा अन्य छान्दस् उदाहरणों में भी एत्व विधान के लिये न्यासकार ने योग विभाग को संगत माना है। अतः 'एकहल्मध्ये' योग विभाग करने पर जहां एत्व अभीष्ट होगा वहां हो जायेगा।[८]

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि श्लोक-वार्त्तिकों के माध्यम से प्रसंगवश उपस्थित वैदिक उदाहरणों की व्याख्या भी यथास्थान की गई है। वार्त्तिकों की पुष्टि करने के लिये श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण किया गया है। वार्त्तिकोक्त विषय का अधिक स्पष्टीकरण श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से किया गया है।

निर्वचनात्मक या व्युत्पत्यात्मक श्लोकवार्त्तिक

निर्वचन से अभिप्राय है निःशेषेण वचनम् अर्थात् शब्द की अर्थ, धातु, प्रत्यय आदि की दृष्टि से सिद्धि। सूत्रोक्त पदों की सिद्धि के लिये अनेक ऐसे श्लोकवार्त्तिक

---

१ छन्दसीति पूर्वेणापि सम्बन्धाद्भाषाया एत्व भावः। प्रदीप पृ.९५४

२ मनेराशिषि। अ.सू.।४.१.३२

३ 'चेष्टा व्यनेशन्निखिलास्तदाऽस्याः' इति श्रीहर्षस्य तु प्रमादः। उद्योतः नागेश, व्या. महा. २, पृ.९५४

४ ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्। अ.सू.३-२-१२९

५ ङ्यापोः -संज्ञाछन्दसोबर्हुलम्। अ.सू.६-३-६३

६ The shortening is also a Vedic irregularity. Vasu,S.C. Aśṭā.Vol.II, p.1294.

७ छन्दस्यपि दृश्यते। अ.सू.६-४-७३

८ यत्र यत्रेत्वभिष्यते तत्र तत्रभविष्यतीति। जिने.न्यास.का.वृ.५ पृ.४७२

महाभाष्य में उद्घृत हैं जिनमें शब्दों की उत्पत्ति का निर्देश प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त कुछ श्लोकवार्त्तिक पदों का प्रकृति प्रत्ययादि परक निर्देश करते हैं, ऐसे श्लोकवार्त्तिकों का इस अध्याय के अन्तर्गत अध्ययन किया गया है।

प्रथम अध्याय - ञमङणनम्[१] झभञ्[२] प्रत्याहार सूत्रों पर भाष्यकार ने 'अक्षर' शब्द की व्युत्पत्ति सम्बन्धी शंका की उद्भावना की है तथा निम्न श्लोकवार्त्तिक में अक्षर शब्द की व्युत्पत्ति का निर्देश किया है—

अक्षरं न क्षरं विद्याद् अश्नोतेर्वा सरो क्षरम्।
वर्ण वाहुः पूर्वसूत्रे, किमर्थमुपदिश्यते॥

भाष्यकार ने सूत्रों को अक्षर समाम्नाय[३] पदसे व्यवहृत किया है। 'यो वा इमां स्वरशोऽक्षरशः' इस भाष्यवचन में अक्षर शब्द का उच्चारण किया गया है।[४] अक्षर शब्द का अर्थ बोध कराने के लिये ही प्रकृत श्लोकवार्त्तिक में व्युत्पत्तिपरक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अक्षर शब्द की व्युत्पत्ति तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में क्षर् (संचलन) तथा क्षि (क्षय होना) धातुओं से मानी गई है। न क्षरन्ति इति अक्षराणि। क्षरणं अन्याङ्गतया चलनम्। तदभावात् स्वरेषु अक्षरशब्दो वर्तते।[५] महाभाष्यकार ने न क्षीयते न क्षरतीति वाऽक्षरम् इस कथन से क्षि और क्षर् दोनों ही धातुओं से अक्षर शब्द को व्युत्पन्न माना है।[६] शंकराचार्य ने अक्षर को अक्षरण, अक्षय एवं अक्षत माना है।

क्षि और क्षर धातुओं के अतिरिक्त अशूङ् (व्याप्तौ) धातु से औणादिक सरन् प्रत्यय से भी अक्षर शब्द की निष्पत्ति सम्भव है अर्थात् जो व्याप्त होता है यह अक्षर

---

१ प्र.सू.-७

२ प्र.सू.-८

३ Since the '14' sutras are called अक्षर-समाम्नायः he gives the meaning of अक्षर. Sāstri, P.S.S. - Lec.Pat. MB. Vol.I, p.173.

४ अक्षर समाम्नाय इति व्यवहारात् यो वा इमांस्वरशो क्षरशः इति चोक्तत्वात् प्रश्नः। कैयट, प्रदीप व्या.म.१, पृ.१०१

५ *LImye, V.P. - Crit. Stu. on Pat. MB. p.48.*

६ *येनाक्षरं पुरूषं वेद सत्यम्। अक्षरं च अक्षरणात् अक्षतत्वात् अक्षयत्वाच्च।* मु. उ. शंकराचार्य - पृ.४९

है ।[१] अक्षर शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्लोक-वार्त्तिककार अविनाशी, समस्त विश्व व्याप्त संचालक तत्व को ही अक्षर मानते हैं। परमार्थ रूप से ब्रह्म तत्वनित्य है जिसे भर्तृहरि ने 'अनादिनिधनम् ब्रह्म'[२]

इस प्रकार प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि व्युत्पत्तिपरक श्लोकवार्त्तिकों में पदों का व्युत्पत्यात्मक दृष्टि से विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय - (१) भृञोऽसंज्ञायाम्[३] - प्रस्तुत सूत्र भृञ् से भिन्न विषय में क्यप् प्रत्यय का विधान करता है ।[४] भाष्यकार ने सूत्र में गृहीत 'असंज्ञायाम्' पद का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये प्रत्युदाहरण के रूप में भाषां शब्द दिया है । भार्य पद की सिद्धि के विषय में अपर आह के पश्चात् भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं—

संज्ञायां पुंसि दृष्टत्वान्न ते भार्या प्रसिद्ध्यति ।
स्त्रियां भावाधिकारोऽस्ति तेन भार्या प्रसिद्ध्यति ।।
अथवा बहुलं कृत्याः संज्ञायामिति तत्कृतम् ।
यथापत्य यथा जन्यं यथा भित्तिस्तथैव सा ।।

भार्यां पद के विषय में शंका उत्पन्न होती है । भार्यां पद क्यप् प्रत्ययान्त है अथवा ण्यत् प्रत्ययान्त है क्योंकि प्रतिषेध करने पर भी इष्ट-सिद्धि नहीं होती । भार्यां शब्द गृहिणी पद की संज्ञा है, अतः भृ धातु से क्यप् प्रत्यय नहीं होता परन्तु संज्ञायां समजनिषद निपतमनविदषुञ् शीङ् भृञिणः'[५] सूत्र संज्ञा के विषय में भी क्यप् प्रत्यय का विधान करता है क्योंकि इस स्थिति में तो भार्या पद सिद्ध हो जाता है । संज्ञा का प्रतिषेध हो जाने पर भी स्त्रीत्वविवक्षा में प्रतिषेध नहीं होता, अतः असंज्ञायाम् पद का ग्रहण (भार्या नाम क्षत्रिया) जो स्त्रीसंज्ञक नहीं है उसके लिये किया गया है ।

---

१ अर्थमस्नुते व्याप्नोतीत्यक्षरम् । शा.चा.व्या.म.पृ.११८

२ वा.प.ब्रह्म खण्ड १

३ अ.सू.३-१-११२

४ भृत्याः भृञ् क्यप् - those who ought to be supported servants. –Vasu, S.C. - Aśṭā.Vol.I, p.

५ अ.सू.३-३-९९

अर्थात् पुरूषवाचक संज्ञा के निमित्त ही प्रतिषेध की चरितार्थता सिद्ध होती है । सूत्र से भार्या शब्द सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पुरूष विषयक से निषेध हो जाने पर स्त्री विवक्षा में क्यप् की प्राप्ति होती है[१] अन्य सूत्र के द्वारा क्यप् विधान होता है । भार्या शब्द की सिद्धि में वार्त्तिककार का मत है कि यदि 'संज्ञाया समजनिषदनिपतमन-विदषुञ् शीङ् भृञिणः'[२] सूत्र के साथ ही न स्त्रियां भृञः 'शब्दों का अध्याहार कर लिया जाये तो गृहिणीवाचक भार्या शब्द ण्यत् प्रत्यय से सिद्ध होता है । भाष्यकार ने वार्त्तिककार के मत का खण्डन किया है । सूत्र[३] में भाव की अनुवृत्ति होने के कारण[४] संज्ञा शब्द से भावसाधन अर्थ लिया जाना चाहिये कर्मसाधन अर्थ नहीं । भावाधिकार से अभिप्राय है भाव का अभिधेय भावोपगम लक्षण व्यापार न कि शास्त्रीयाधिकार ।[५] स्त्रीप्रकरण में क्यप् का विधान भावाधिकार में होता है कर्माभिधान में नहीं । कर्माभिधान में ण्यत् प्रत्यय का अभिधान होकर भार्या पद सिद्ध होता है ।

द्वितीय श्लोकवार्त्तिक के माध्यम से भाष्यकार ने भार्या पद की सिद्धि 'कृत्यल्युटो बहुलम्'[६] सूत्र से ण्यत् विधान द्वारा स्पष्ट की है । संज्ञार्थ में ण्यत् का विधान बहुलता से होता है जिस प्रकार अजन्त से विधीयमान कार्य बहुलता से हलन्त से भी किये जाते हैं यथा अंग के विषय में क्तिन् ।[७] इसी प्रकार क्यप् का प्रसंग उपस्थित होने पर भी भार्या शब्द ण्यत् प्रत्यय से सिद्ध होता है । प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकों का कथन 'अपर आह' के पश्चात् किया गया है अतः ये भाष्यकार प्रणीत नहीं हैं, यह स्पष्ट होता है । वार्त्तिककार के मत को ही श्लोकवार्त्तिककार ने छन्दोबद्ध किया है । अतः यह तथ्य स्पष्ट होता है कि श्लोकवार्त्तिककार वार्त्तिककार से भिन्न कोई अन्य वैयाकरण है । वार्त्तिकों में व्याख्यान प्रक्रम भेद के कारण तथा

---

१ पुंसि प्रतिषेधे हि चरितार्थे स्त्रियां क्यपा भवितव्यम् । जिने. न्यास का. वृ. २ पृ. ५०८

२ अ. सू.र ३-३-९९

३ संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदुषाशीङ् भृञिः । अ. सू. ३-३-९९

४ भावे इति तत्रानुवर्तते । व्या. म. भाग २, पृ.

५ भावस्याभिधेय भावोपगमलक्षणो व्यापारो विवक्षितः न तु शास्त्रीयोऽधिकाराः । जिने. न्यास का. वृ. भाग २, पृ. ५०९

६ अ. सू. - ३-३-११३

७ स्त्रियां क्तिन् । अ. सू. ३-३-९४

'अमर आह' भाष्यकार के समान होने की आशंका नहीं की जा सकती। वार्त्तिककार के द्वारा प्रस्तुत सूत्रभेद का निवारण करने के पश्चात् भाष्यकार ने स्वकीय शब्दों से उसे सिद्ध करके संग्राहक वार्त्तिकों के द्वारा अन्त में नियोजित कर दिया है। इस शैली को वाक्यवार्त्तिकों के प्रसंग में भाष्यकार ने ग्रहण नहीं किया है। अतः श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से श्लोकवार्त्तिकों की कर्तृत्व, सम्बन्धी समस्या पर प्रकाश पड़ता है।

श्लोकवार्त्तिक विशिष्ट उदाहरणों की सिद्धि में सहायक सिद्ध हुये हैं। अभीष्ट रूप की सिद्धि किन अन्यसूत्रों से सम्भव है, यह श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। सूत्र तथा वार्त्तिकों की सहायता से जो रूप सिद्ध नहीं होते, उन्हें श्लोकवार्त्तिकों में प्रदत्त व्युत्पत्तियों के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है।

राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथ्याः।[१] - पाणिनीय सूत्रों में अनेक ऐसे सूत्रों का विधान है जो निपातन के द्वारा अभीष्ट रूपों की सिद्धि करते हैं। शास्त्र-प्रक्रिया के द्वारा यदि प्रयोग सिद्ध करना सम्भव नहीं हुआ तो कुछ प्रयोगों को आचार्य ने प्रयुक्त रूप में ही सूत्रबद्ध कर दिया है। इसे ही निपातन संज्ञा दी गई है। अतः निपातन के द्वारा प्रयोग में अभीष्ट किन्तु अनुप्राप्य प्रक्रिया को भी स्वीकार कर लिया जाता है। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा आचार्य ने राजसूय, सूर्य, मृषोद्य, रूच्य, कुप्य, कृष्टपच्य तथा अव्यथ्य इन क्यबन्त पदों की निपातन से सिद्धि स्वीकार की है। राजसूय पद की सिद्धि राज उपपद रहते षुञ् धातु से क्यप् मानकर की गई है। राजसूय पद के निर्वचन - (१) राज्ञा सोतव्य इति अथवा (२) राजा वेह सूयते किये जा सकते हैं।

प्रस्तुत प्रयोग में दीर्घत्व अभीष्ट हैं जो निपातन से किया गया है। सूर्य, सच्य तथा अव्यथ्य पदों के विषय में वार्त्तिककार का मत है कि ये तीनों क्यबन्त पद कर्ता अर्थ में निपातित हैं। सूर्य शब्द के निर्वचनार्थ भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिकार्ध उद्धृत किया है—

'सूसर्तिभ्यां सरतेरुत्वं सुवतेवां रुडागमः॥'

---

१ अ.सू.३-१-११४

श्लोकवार्त्तिक के द्वारा सूर्य पद का निर्वचन दो धातुओं से माना गया है - (१) षू प्रेरणे तथा (२) सृगतौ। अर्थात् सूर्य पद की व्युत्पत्ति सू धातु से अथवा सृ से क्यप् होकर स्वीकार की गई है।

सृ धातु से क्यबन्तवस्था में उत्व तथा दीर्घ अभीष्ट हैं। उत्व निपातन से सिद्ध होता है तथा दीर्घ 'हलि च'[१] सूत्र से। सृ धातु से क्यप् विधान करने से पूर्व ण्यत्[२] प्रत्यय की प्राप्ति होती है परन्तु ण्यद्विधान करने पर अभीष्ट रूप की सिद्धि नहीं होती। अतः क्यबन्त सूर्य पद निपातन से सिद्ध होता है। आकाश में सरण करने के कारण सूर्य कहा जाता है।[३] सूर्य पद की द्वितीय व्युत्पत्ति सू धातु से स्वीकार की गई है। षू प्रेरणार्थक धातु है। सू धातु से यत् प्रत्यय की प्राप्ति होती है तथा निपातन से क्यप् प्रत्यय तथा रुडागम का विधान होता है। यत् प्रत्यय का विधान होने पर अभीष्ट रूप की सिद्धि नहीं होती। सू धातु से सूर्य शब्द का अर्थ 'प्रेरक' है अर्थात्, जो समस्त लोक को कार्यों के प्रति प्रेरित करता है[४] क्योंकि सूर्य के उदित होते ही लोकप्रवृत्ति क्रियाओं में दृष्टिगोचर होती है। प्रत्यय कर्ता में होने के कारण कर्त्र्यर्थ में ही सूर्य पदनिपातन से सिद्ध होता है। प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भाष्यकार ने व्याकरण के सिद्धान्तों के प्रतिपादनार्थ न केवल सम्पूर्ण श्लोकवार्त्तिकों का ही ग्रहण किया है अपितु प्रसंगवश कहीं-कहीं वार्त्तिकांशों का भी ग्रहण कर लिया है। श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा सूत्रों में गृहीत पदों की व्याख्या करते हुये पद विशिष्ट के निर्वचन का प्रसंग भी ग्रहण कर लिया है। अर्थात् सूत्रों की व्याख्या करते समय वे शब्दों की व्याख्या भी प्रसंगवश करते हैं। श्लोकवार्त्तिकों का इन निर्वचन प्रसंगों में विशिष्ट योगदान प्रतीत होता है।

(३) परोक्षे लिट्[५]

अनद्यतन भूतार्थ में परोक्षार्थ में विद्यमान धातु से लिट् लकार का विधान किया गया है। सूत्रोक्त परोक्ष पद का क्या अभिप्राय है तथा यह पद कैसे व्युत्पन्न हुआ है ? इन शंकाओं की उद्भावना भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र का व्याख्यान करते

---

१ अ.सू.८-२-७७
२ ऋहलोर्ण्यत्। अ.सू.३-१-१२४
३ सरतीति-आकाशे। हर.पद.का.वृ.२ पृ.५१०
४ तस्मिन् ह्युदिते लोकस्य क्रिया प्रवृत्तिः। जिने.न्यास का.वृ. भाग २, पृ.५१०
५ अ.सू.३-२-११५

हुए की है । परोक्ष पद की व्युत्पत्ति भाष्यकार परम् अक्ष्णः इति परोक्षम् करते हैं । समास[१] तथा समासान्त अच्[२] प्रत्यय होकर परोक्ष शब्द सिद्ध होता है । अक्षि पद मात्र चक्ष्विन्दिय पर्याय न होकर समस्त इन्द्रियों का बोधक है[३] अन्यथा अन्य इन्द्रियों के द्वारा विज्ञान वस्तुओं का परोक्ष में ग्रहण सम्भव हो जाता । अतः अक्षि शब्द का अर्थ दर्शन न मान कर समासान्त अच्[४] भी विहित हो सकता था । परोक्ष पद की सिद्धि समासान्त टच् प्रत्यय से भी स्वीकार की जाती है ।[५] अक्षि शब्द से सर्वेन्द्रिय अर्थ ग्रहण करने पर अश् धातू से औणादिक सि प्रत्यय करने पर अक्षि शब्द सिद्ध होता है । समास प्रक्रिया के पश्चात् तथा समासान्त प्रत्ययविधान के पश्चात् परोक्ष पद की प्राप्ति होती है जबकि अभीष्ट प्रयोग परोक्ष है । परोक्ष पद की व्युत्पत्तिं में कौन सी प्रक्रिया सहायक सिद्ध होती है । इस शंका का समाधान भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक के माध्यम से स्पष्ट किया है—

परो भावः परस्याक्षे परोक्षे लिटि दृश्यताम् ।
उत्वं वाऽऽदेः परादक्ष्णः सिद्धं वा सन्निपातनात ॥

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक परोक्ष शब्द की व्युत्पत्ति तीन विकल्पों से सिद्ध करता है । अक्षि शब्द परे रहने पर पर शब्द को परो भाव मान लेने पर परोक्ष पद सिद्ध हो जाता है । अथवा पर शब्द से परे अक्षि शब्द के आदि अकार की उत्व हो जाने पर तथा गुण विधान होने पर परोक्ष पद सिद्ध हो सकता है । अथवा सूत्रोक्त होने के कारण परोक्षपद इन्द्रिय गोचरार्थ[६] में निपातन से सिद्ध हो जाता है ।

परोक्ष पद की निष्पत्ति निपातन से स्वीकार कर लेने पर शंका उत्पन्न होती है कि परोक्ष अर्थ में लकार का विधान किससे किया जाता है । यदि कालं से परोक्षार्थ में लिट् विधान स्वीकार किया जाये तो बाधा उत्पन्न होती है । काल का नित्यत्व पक्ष उपाधि भेद से भूतादि में विभक्त कर लिया जाता है, उसी परोक्षत्व भी उपाधि

---

१ मयूरव्यंसकादयश्च । अ.सू.२-१-७२
२ अच्प्रत्यन्ववपूवो । अ.सू.५.४.७५
३ वृत्तिविषये अचा क्षि शब्दः सर्वेन्द्रियवाची न तु चक्षुमात्रपर्यायः । कैयट प्रदीप व्या.म. २ पृ.
४ अक्ष्णोऽदर्शनात् । अ.सू.५-४-७६
५ प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः । अ.सू.
६ निर्भागः समुदायः एवेन्द्रियाऽगोचरार्थवाची निपात्यते इत्यर्थः । कैयट प्रदीप व्या.म.२,

भेद से ग्रहण करना आवश्यक हो जााता है ।धात्वधिकार[१] के अन्तर्गत पठित होने के कारण यदि परोक्ष धातु से लिट् विधान स्वीकार किया जाये तो धातु के शब्द होने के कारण तथा शब्दों की प्रत्यक्षता तथा परोक्षता असम्भव होने के कारण आपत्ति होती है । धातु अभिप्राय है धात्वर्थ तथा धात्वर्थ दसे क्रिया का ग्रहण होता है । पूर्वा परीभूतावयवा साध्यमाना क्रिया होती है ।[२] क्योंकि समान फलोद्देश्य में प्रवृत्त होने के कारण क्रम से घटित होती हुई भी एक क्रिया के समान प्रतीत होने वाली अवयवभूत क्रिया में ही धात्वर्थ है अतः सद्विषयों की ग्राहक इन्द्रियों का वह विषय नहीं हो सकती है ।अतः धात्वर्थ परोक्ष[३] है । धात्वर्थ में परोक्षत्व ग्रहण करने के कारण सूत्र में परोक्ष ग्रहण अनर्थक प्रतीत होने लगता है । परन्तु क्रिया की साध्यावस्था में साधन शक्त्याश्रय भूत(फूत्कार सीत्कार आदि) विशिष्ट द्रव्य प्रत्यक्ष रहते हैं और धात्वर्थ प्रत्यक्ष हैं, यह मिथ्याज्ञान बना रहता है ।[४] इस मिथ्याज्ञान की व्यावृत्ति ही परोक्ष ग्रहण का प्रयोजन है ।[५]

उत्तम पुरुष के विषय में भी चित्त[६] व्याक्षेप के कारण परोक्षता सम्भव होने के कारण[७] परोक्ष ग्रहण सार्थक प्रतीत होता है । सुप्त तथा मत्त व्यक्ति के प्रसंग में यह तथ्य सिद्ध होता है ।[८] परोक्ष की काल निर्धारण की सीमा के लिये भाष्यकार ने विभिन्न मत उद्धृत किये हैं जो वर्षशत, वर्षसहस्र, द्व्यह, त्र्यह आदि को परोक्ष

---

१ धातोः अ.सू.३-१-९१

२ व्यापारस्तु भावनाऽभिधा साध्यत्वेनाभिधीयमाना क्रिया । कौण्ड भट्ट - वै.भू.पृ.९

३ एवं यैकैकस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि समूहरूपो धात्वर्थ परोक्षः एव । नागेश उद्योत व्या.म.२ पृ.१७९

४ क्रियाकृतं विशेषप्रत्यक्षत्वेऽपि लोकस्य क्रिया प्रत्यक्षत्वाभिमानः । कैयट प्रदीप व्या.म. २ पृ.१७९

५ अभिमानः मिथ्याज्ञानम् । तद्वया वृत्तये परोक्षग्रहणम् । - वही

६ उदाहरणार्थ - वैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्गे आसीनः शकटसार्थ मान्तं नोपलेभे ।

७ If by reason of some distracted unconscious or absent state of mind it is possible for the agent to speak of action as one which he was he not a conscious witness the perfect may be used in the first person. –Vasu, S.C. - Aśṭā.Vol.I, p.456.

८ सुप्तमत्तयोरुत्तमः। सुप्त सुप्तो हं किल विललाप। सुप्तमत्तग्रहणं चित्तविक्षेपोपलक्षणम् । कैयट प्रदीप व्या.म.८ पृ.१७९

की अवधि स्वीकार करते हैं । अत्यापह्नव[१] अर्थ होने पर भी लिट् लकार का विधान किया गया है । यथा नोकलिंग माजगाम, न कारिसोमं प्रपपावग्ने आदि ।

शब्दकौस्तुभकार ने लिट् विषय होने पर भूत के सामान्यांश मात्र की विवक्षा में लुङ् के प्रयोग को स्वीकार किया है यथा अभून्नृपो विबुधो सखो अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मानाम् ।[२] अतः श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सूत्रोक्त परोक्षे पद की सिद्धि निपातन के द्वारा की गई है । परोक्ष के विशिष्ट अर्थों को स्पष्ट किया गया है । परोक्ष के इन विशिष्ट अर्थों में ही धातु से लिट् लकार का विधान किया जाता है ।

भाष्यकार से सूत्रोक्त पदों का प्रयोजन स्पष्ट करने के लिये उन पदों की व्युत्पत्ति सिद्ध करने के लिये तथा उनसे सम्बद्ध अर्थों के स्पष्टीकरण में श्लोकवार्त्तिकों का ग्रहण किया है । इस प्रकार प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूत्रोक्त पदों का व्युत्पत्मात्मक निर्देश श्लोकवार्त्तिकों में उपलब्ध होता है ।

परिणामतः व्युत्पत्यात्मक श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन के आधार पर यह कथन संगत प्रतीत होता है कि व्याकरणात्मक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में भाष्यकार ने व्युत्पत्यात्मक पक्ष को भी ग्रहण किया है । सूत्रोक्त पदों का निर्वचनात्मक तथा व्युत्पत्यात्मक संकेत सूत्रों की व्याख्या में सहायक सिद्ध होता है ।

परिगणनात्मक श्लोकवार्त्तिक

उदाहरणात्मक पक्ष से सम्बद्ध विवेचन करते हुए भाष्यकार ने परिगणनपरक श्लोकवार्त्तिकों को भी उद्धृत किया है । परिगणन से अभिप्राय गणना से है । सूत्रों की व्याख्या करते हुए वार्त्तिकों द्वारा अनुक्त कुछ उदाहरण श्लोकवार्त्तिकों में परिगणित हैं अथवा किसी श्लोकवार्त्तिक में सूत्रों का परिगणन किया गया है । प्रस्तुत अध्याय में परिगणनात्मक श्लोकवार्त्तिकों का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है—

---

१ परोक्षे लिडङत्यन्तापह्नवे च । वार्त्तिक
२ श. कौ., पृ.

चतुर्थ अध्याय

(१) अव्ययात्त्यप्[१]

प्रस्तुत सूत्र विधि सूत्र है जिसके द्वारा आचार्य पाणिनि ने अव्यय से त्यप् शैषिक प्रत्यय का विधान किया है।[२] भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र के व्यापक[३] विषय को दृष्टिगत करते हुए निम्न श्लोकवार्त्तिकार्ध के माध्यम से उन विशिष्ट अव्ययों का परिगणन किया है जिनसे त्यप् प्रत्यय अभीष्ट है।

अमेहक्वतसित्रेभ्यस्त्यब्विधिर्योऽव्ययात्स्मृतः।

प्रकृत सूत्र के द्वारा विहित त्यप् प्रत्यय का विधान अमा, इह, क्व, तसि प्रत्ययान्त[४], त्रल् प्रत्ययान्त[५] अव्ययों से किया गया है। यथा अमात्य, इह्रत्यः आदि उदाहरणों में अमा इह आदि अव्ययों से त्यप् प्रत्यय किया गया है अमा शब्द समीपवाचक[६] है। स्वरादि पाठ होने के कारण अव्यय है।[७] अतः अव्यय संज्ञक होने के कारण त्यप् प्रत्यय का विधान हुआ है। श्लोकवार्त्तिक में अमा इहादि अव्ययों के परिगणन का प्रयोजन अव्ययात् अव्यय में उनकी अप्राप्ति तथा वैयर्थ्य है[८] अतः जो अव्यय से त्यप् विधि है वह अमादि से ही विहित है। अमादि परिगणन का द्वितीय प्रयोजन अन्य अव्यय संज्ञकों से त्यप् प्रत्यय का निषेध करना है यथा औपरिष्टः पद उपरि अव्यय से अण्[९] प्रत्यय होने पर टिलोप[१०] होकर सिद्ध हुआ है। अतः अमादि का परिगणन करना चाहिये। न्यासकार को उत्तर सूत्र से अन्यतरस्याम का परिगणन भी इस सूत्र में अभीष्ट है।[११]

---

१ अ.सू.४-२-१०४
२ The affix tyap comes after an Indeclinable in the remaining senses. Vasu, S.C. - Aśṭā.I, p.736.
३ This rule is too wide. Ibid.
४ पञ्चम्यास्तसिल्। अ.सू.५-३-७
५ सप्तम्यास्त्रल्। अ.सू.५-३-१०
६ अमाशब्दः सहार्थे सामीप्ये च वर्तते। कैयट,प्रदीप,व्या.मा.२,पृ.४३३
७ स्वरादिनिपातमव्ययम्। अ.सू.१-१-३७
८ नागेश उद्योत व्या.म.भाग २,पृ.५३३
९ तत्र भवः। अ.सू.४-३-५३
१० अव्ययानां च मात्रे टि लोपः। हर.पद.का.वृ.३ पृ.५८९
११ जिने.न्यास का.वृ.भाग ३,पृ.५८९

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकार्ध का ग्रहण भाष्यकार ने किया है परन्तु काशिका[१] तथा अष्टाध्यायी[२] में—

निनिभ्यां ध्रुवगत्योश्च प्रवेशो नियमो तथा इस पद्यांश को उत्तरार्ध के रूप में ग्रहण किया है। जबकि सिद्धान्त कौमुदीकार ने इस श्लोकवार्त्तिकार्ध का ग्रहण नहीं किया है। इस पद्यांश से नियतार्थ में तथा गत्यर्थ में नि तथा निस् अव्ययों का भी परिगणन अभीष्ट है।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण श्लोकवार्त्तिकों के साथ भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकांशों को भी उद्घृत किया है। अन्य वैयाकरणों द्वारा सम्पूर्ण उदधृत श्लोकवार्त्तिक के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिक का जो अंश आवश्यक समझा, उसका ग्रहण कर लिया सम्पूर्ण का नहीं। श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा सूत्रों के विधान के सहयोग प्राप्त होता है। सूत्रों का स्पष्टीकरण करते हुए श्लोकवार्त्तिककार ने परिगणन किया है।

(२) अन्तः पूर्वपदाट्ठञ्[३]

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा अव्ययीभाव समाव में अन्तः शब्द पूर्वपद में रहने पर 'तत्र भवः' अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है।[४] अन्तः शब्द का विभक्त्यर्थ में समास होता है। सूत्र में अव्ययी भावात्[५] तथा तत्र भवः[६] पद की अनुवृत्ति होती है। ठञ् प्रत्यय अण् प्रत्यय का अपवाद है। अन्तः पद का समास विभक्त्यर्थ[७] में किया जाता है। यथा आन्तर्वेश्मिकम् इस समस्त पद में अन्तः शब्द पूर्व पद में है तथा विभक्त्यर्थ में वेश्म पद से समास हुआ है, ठञ् प्रत्यय का विधान किया गया है। भाष्यकार ने प्रकृत सूत्र का अधिकार सीमित माना है क्योंकि अन्तः शब्द का साथ-साथ समान

---

१ का.वृ.३ पृ.५८९

२ अष्टाध्यायी सूत्र - ४-२-१०४, पृ.७३६

३ अ.सू.-४-३-६०

४ Vasu, S.C. - Aṣṭā.Vol.I, p.769.

५ अव्ययीभावाच्च। अ.सू.४-३-५९

६ तत्र भवः। अ.सू.४-३-५३

७ अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रति-शब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्य योगपद्यसादृश्यसंपत्तिसाकल्यान्तवचनेषु। अ.सू.२-१-६

आदि अन्य शब्दों का ग्रहण भी अभीष्ट है। इन समानादि शब्दों का परिगणन भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से किया है—

समानस्य तदादेश्य अध्यात्मादिषु चेष्यते।
अर्ध्वदमाच्य देहाच्च लोकोत्तरपदस्य च॥
मुखपार्श्वतसौरीयः कुग् जनस्य परस्य च।
ईयः कार्योऽथ मध्यस्य मण्मीयौ चापि प्रत्ययौ॥
मध्यो मध्यं दिनष्ट चास्मात् स्थाम्नोलुगजिनात्तथा।
बाह्यो देव्यः पाञ्चजन्यो गाम्भीर्यं चञय इष्यते॥

सूत्र में अन्तः पूर्वपदात् का ग्रहण होने के कारण जो अधिक पद का ग्रहण है वह अधिक कार्य होता है[१] अतः समान शब्द से भी ठञ् प्रत्यय विहित है। यथा समाने भवं सामानिकम्। इसी प्रकार अन्य शब्दों से भी ठञ् विहित है। समान शब्द आदि में होने पर ठञ् होता है यथा सामानदेशिकम्। श्लोकवार्त्तिककार अध्यात्मादि गण में पठित शब्दों से ठञ् प्रत्यय का विधान किया गया है। अध्यात्मादि आकृति गण है[२] अतः अर्धन्दम, अर्ध्वदेह तथा लोक शब्द उत्तर पद में रहने पर प्रत्यय होता है।[३] अध्यात्मादि को आकृति गण मानने पर अर्ध्वन्दम आदि शब्दों का अन्तर्भाव हो जाने के कारण समान आदि के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि अध्यात्मादि समानादिक ही प्रपञ्च है।[४] आध्यात्मिक उदाहरण में उभय[५] पद वृद्धि तथा समासान्त टच्[६] प्रत्यय विहित है। अर्ध्वदम् शब्द से - और्ध्वन्दमिकम् तथा ऊर्ध्व देह से और्ध्वदेहिकम् समस्त पद सिद्ध होते हैं। ऊर्ध्व शब्द का समानार्थक ऊर्ध्वम् पद है।[७] दम उत्तरपद में रहने के योग के कारण ऊर्ध्व शब्द से

---

१ इहान्तः पूर्वादित्येवं सिद्धे यदधिकं पदग्रहणं तदधिकमिह कार्य भवत्येवमर्थं क्रियते। जिने.न्यास.का.वृ.३ पृ.६५५

२ **The class Ādhyatmādi is Akrtigana. –Vasu, S.C. Aṣṭā. Vol.I, p.770.**

३ जिने.न्यास,का.वृ. भाग ३,पृ.६५५

४ एवं च समानशब्दादित्यादिश्स्मैव प्रपञ्चः। हर.पद.का.वृ. भाग ३,पृ.६५६

५ अनुशतिकादीनां च। अ.सू.७.३.२०

६ अनश्च। अ.सू.५-४-१०८

७ ऊर्ध्वशब्देन समानार्थ अधृर्वशब्द इति। हर.पद.का.वृ.३,पृ.६५६

भकार निपातिति है।[१] देह शब्द परे रहते मत्व निपातन नहीं होता। लोक शब्द उत्तर पद में रहने पर ठञ् प्रत्यय का विधान हो कर ऐहलौकिक पारलौकिक उदाहरण उभयपद[२] वृद्धि से सिद्ध है। श्लोकवार्त्तिककार के द्वारा तसन्त[३] मुख तथा पार्श्व शब्दों से ईय प्रत्यय विहित है। यथा मुखतीयम्, पार्श्वतीयम् आदि उदाहरण ईय प्रत्ययान्त टिलोप[४] होकर सिद्ध हुये हैं। जब तथा पर शब्दों से ईय् प्रत्यय तथा कुक् आगम दोनों अभीष्ट है यथा जनकीयम् तथा परकीयम् उदाहरणों में। मध्य शब्द से ईय प्रत्यय होने पर मध्यीयः रूप सिद्ध होता है। मध्य शब्द से ही मण् तथा मीण प्रत्यय होकर माध्यमम् तथा मध्ययीयम् उदाहरण अभीष्ट है। मध्य शब्द गहादि गण में पठित है अतः पृथ्वीमध्यवाची मध्य शब्द का ग्रहण किया गया है।[५] भदार्थ में गहादि गण से भिन्न होने पर भी इतरार्थ में भीमीय् प्रत्यय विहित है।[६] जातादि गण में पठित होने के कारण पृथ्वीमध्यवाची ही मध्यमीय पद होता है।[७] मध्यान्तरवाची मध्य शब्द से मीय् प्रत्यय नहीं होता। अपितु मण् प्रत्यय होता है।[८] मध्य शब्द को मध्यम भाव तथा दिनण् प्रत्यय होता है। यथा मध्य भव माध्यन्दिनम्। स्थामन् शब्द में भवार्थ में विहित अण्[९] प्रत्यय का लोप हो जाता है। यथा अश्वत्थामा इस उदाहरण में अश्वस्येव स्थाम अर्थ में सकार को तकार[१०] होकर तथा भवार्थ प्रत्यय को लोप हुआ है।[११] अजिनान्त शब्द से अण् प्रत्यय का लोप होता है। यथा कृष्णाजिनः वृकाजिन आदि उदाहरणों में अण् का लोप हुआ है। स्थामन् तथा अजिनान्त दोनों में ही तदन्तविधि अभीष्ट है।[१२] बाह्य दैव्य पाञ्चजन्य

---

१ कैयट प्रदीप व्या.म.२,पृ.४५५
२ अनुशतिकादीनाञ्च। अ.सू.७-३-२०
३ अपादाने चाहीयरूहोः। अ.सू.५-४-४५
४ अव्ययानां भमात्रे टिलोपः। हर.पद.का.पृ.३ पृ.५८९
५ हर.पद.का.वृ.३ पृ.६५७
६ कैयट प्रदीप व्या.म.२ पृ.४५५
७ हर.पद.का.वृ.२ पृ.६५७
८ गहादिषु पृथिवीमध्यस्य मध्यमभाव इत्युक्तम्। कैयट प्रदीप व्या.म.२ पृ.४५५
९ तत्र भवः। अ.सू.४-३-५३
१० पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्। अ.सू.६-३-१०९
११ भवार्थ प्रत्ययस्य लुगित्यर्थः। नागेश उद्योत व्या.नं.२,पृ.४५५
१२ उभाभ्यामपि तदन्तविधिरिष्यते। कैयट प्रदीप व्या.म.२पृ.४५५

तथा गाम्भीर्य पदों से ञ्य प्रत्यय अभीष्ट है। गम्भीर शब्द से विहित ञ्य[१] प्रत्यय बहि देव तथा पञ्चजन् पदों में भी वक्तव्य है।[२] यद्यपि बाह्य दैव्य पद यञञ्[३] प्रत्यय से सिद्ध है तथापि भवार्थ में इनकी प्रवृत्ति अभीष्ट है। बहिर्भवो-बाह्य यह विग्रह किया गया है। इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों से भाष्यकार ने सूत्र से सिद्ध न होने वाले अन्य उदाहरणों का परिगणन किया गया है। सूत्र के विहित प्रत्यय के अतिरिक्त अन्य प्रत्ययों का विधान भी श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से किया गया है। अतः यह कथन असंगत प्रतीत नहीं होता कि श्लोकवार्त्तिकों में उदाहरणों का परिगणन किया गया है।

(३) आकर्षात्ष्ठल्[४]

प्रस्तुत सूत्र विधि सूत्र है जिसके द्वारा आकर्ष शब्द से 'चरति' इस अर्थ में ष्ठल् प्रत्यय होता है।[५] चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद के प्रारम्भ से ही ठक् प्रत्यय का अधिकार है।[६] ष्ठल् प्रत्यय ठक् का अपवाद है। चरति इस अर्थ की अनुवृत्ति पूर्व[७] सूत्र से हुई है। ष्ठल् प्रत्यय को लित् करने का प्रयोजन प्रत्यय से पूर्व का उदात्त[८] करना है। आकर्ष शब्द से ष्ठल् प्रत्यय विहित होने पर आकर्षितः पद सिद्ध होता है जो क्रय-विक्रय में व्यवहृत होने वाले स्वर्ण की परीक्षा के लिये बुलाया जाता था। वह पारिश्रमिक लेकर कार्य करता था। इसी शब्द से कुछ भिन्नार्थ में आकर्षक शब्द का प्रयोग किया जाता था।

वह साधारण स्वर्णकार है जो अपने व्यवसाय के अंग के रूप में स्वर्ण परीक्षा में भी निपुण होता था जबकि आकर्षक की आजीविका का आश्रय नहीं था।[९]

---

१ गम्भीराञ्ज्यः। अ.सू.४-३-५८
२ यो गभीराञ्ज्य उक्तः स एष्विष्यत इति भाष्यक्षरार्थ। कैयट प्रदीप भा.म.२ पृ.४५५
३ देवाचञञो। अ.सू.
४ अ.सू.- ४-४-९
५ **Vasu, S.C., Aśṭā. Vol.I, p.810.**
६ प्राग्वहतेष्ठक्। अ.सू.४-४-१
७ चरति। अ.सू.४-४-८
८ लिति। अ.सू.६-१-१९३
९ अग्नि.प्रभु.पत.भा.पृ.३२३

ष्ठल् प्रत्यय के प्रसंग में शंका उत्पन्न होती है, कहीं तो यह साहित्यिक षकार प्रतीत होता है तथा कहीं प्रत्ययानुबन्ध प्रतीत होता है ।[१] ठगाधिकार होने के कारण यह ज्ञात नहीं होता कि सांहितिक षकार का ग्रहण कहां होगा । निम्न श्लोकवार्त्तिक के द्वारा भाष्यकार ने प्रस्तुत शंका का समाधान करने के लिये परिगणन् किया है—

आकर्षात्पपोदर्भस्त्रादिभ्यः कुसीदसूत्राच्च ।
आवसथात्किसरादेः षितः षडेते ठगधिकारे ॥

यह परिगणन असन्देहार्थ है ।[२] एक अथवा एक से अधिक षकार की व्यंजनपरक श्रुति होने के कारण - विशेष का निश्चय न होने के कारण द्वित्वविधान[३] के कारण अनेक षकारों की संभावना होती है ।[४] सन्देह का निराकरण श्लोकवार्त्तिक में किया गया है ।[५] आकर्ष शब्द से विहित बठल्[६] प्रत्यय षित् है, पर्प आदि से चरति अर्थ में विहित ष्ठन्[७] प्रत्यय भस्त्रा आदि से तृतीया समर्थ-शब्दों से हरत्यर्थ में विहित ष्ठन्[८] प्रत्यय कुसीद तथा दशैकादश शब्दों से द्विगुणित देने के अर्थ में क्रमशः ष्ठन् तथा ष्ठज्[९] प्रत्यय अवस सप्तमी समर्थ शब्द से वसति अर्थ में विहित ष्ठल्[१०] प्रत्यय तथा किशरादि शब्दों से तदस्य पण्यम् इस अर्थ में विहित ष्ठन्[११] प्रत्यय षित् माने गये हैं । इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक में छः षित् दो प्रत्ययों का विधान है तथापि छः के स्थान पर सात षित् प्रत्ययों का परिगणन नहीं किया गया क्योंकि विधि वाक्यवेदा औपचारिक षट्त्व अभीष्ट है ।[१२] अतः षित्प्रत्ययार्थक छः सूत्रों

---

१ इह प्रकरणे केषुचित् - सांहितिकः षकारोः हष्टः केषुचित् प्रत्ययस्यैवानुबन्धः । जिने.न्यास का.वृ.३ पृ.७३९

२ अतो असन्देहार्थं परिगणन् कर्त्तव्यम् । - वही

३ अनीच च । अ.सू.८-४-४७

४ द्वित्वविधानादेकषकारत्वसंभावात्संशयः । कैयट प्रदीप व्या.म.२,पृ.४७७

५ श्लोकवार्त्तिककारः संदिग्धानसंदिग्धांश्च भ्रान्तिनिरासाय पर्यजीगणत् । कैयट - प्रदीप - व्या.म.२,पृ.४७७

६ आकर्षात्ष्ठल् । अ.सू.४-४-९

७ पर्पादिभ्यः ष्ठन् । अ.सू.४-४-१०

८ भस्त्रादिभ्यः ष्ठन् । अ.सू.४-४-१६

९ कुसीददशैकादशात् ष्ठनष्ठयौ । अ.सू.४-४-३१

१० आवसथात् ष्ठल् । अ.सू.४-४७४

११ किशरादिभ्यः ष्ठन् । अ.सू.४-४-५३

१२ सप्तानां प्रत्ययानां विधि वाक्यापेक्षमौपचारिकतं षट्त्वमाश्रित्य षितः षडेते इत्युक्तम् । हर.पद.का.वृ.३ पृ.७४०

का ग्रहण किया गया है ।[१] षित् प्रत्ययों का परिगणन होने के कारण डीष् प्रत्यय के विषय में भी शंका होती है परन्तु ठगधिकारोक्त[२] षितप्रत्ययों का ही परिगणन अभीष्ट है डीष् प्रत्यय ठगाधिकार में नहीं है अतः डीष् प्रत्यय का ग्रहण नहीं किया गया ।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाभाष्य में श्लोकवार्त्तिकों में न केवल उदाहरणों का परिगणन किया गया है अपितु सूत्रों का परिगणन भी प्राप्त होता है । प्रान्ति का निराकरण करने के लिये परिगणन अभीष्ट है । श्लोकवार्त्तिककार ने अपने स्थिति काल में प्रचलित प्रयोगों का ग्रहण किया है । भाष्यकार ने व्याकरणात्मक प्रयोगों का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है । कार्य कि दृष्टि से थोड़ा सा भी अन्तर होने पर भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग-व्यवसायियों के लिये किया जाता था ।

सामान्य व्यवहार के विषय में संकेत प्रदान करने वाले श्लोकवार्त्तिक

सूत्रों तथा वार्त्तिकों में प्रतिपादित व्याकरणात्मक सिद्धान्तों की व्याख्या श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा की गई है । सूत्रों के प्रत्येक पक्ष से सम्बद्ध विवेचन इन श्लोकवार्त्तिकों में किया गया है । तत्कालीन लोक व्यवहार का परिचय भी श्लोकवार्त्तिकों में उपलब्ध होता है ।

श्लोकवार्त्तिकों में उपलब्ध के समय में व्यवहृत भाषा के संकेत श्लोक-वार्त्तिकों में मिलते हैं । तत्कालीन व्यापार विनिमय तथा क्रीड़ाओं के सम्बद्ध संकेत श्लोकवार्त्तिकों में प्राप्त होते हैं । प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत सामान्य व्यवहार के विषय में परिचय प्रदान करने वाले श्लोकवार्त्तिकों का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है—

द्वितीय अध्याय

(१) अशलाका संख्याः परिणा[३] - भाष्यकार ने महाभाष्य में अनेक ऐसे श्लोकवार्त्तिकों को ग्रहणकिया है जो सूत्र में विभक्ति, वचन के विषय में विवेचन

---

१ सप्तानां प्रत्ययानां विधि वाक्यापेक्षमौपचारिकतं षट्त्वमाश्रित्य षितः षडेते इत्युक्तम् । हर. पद. का. वृ. ३ पृ. ७४०

२ वही

३ अ. सू. २-१-१०

प्रस्तुत करते हैं । 'अक्षशलाका संख्याः परिणा'[१] सूत्र से अक्ष, शलाका और संख्या वाचक शब्दों का परि के साद समास किया जाता है और यह अव्ययीभाव समास कहा जाता है । इस सूत्र के विभक्ति वचन तथा व्यवहार का निर्देश पतञ्जलि ने निम्न श्लोकवार्त्तिक में किया है—

अक्षादयस्तृतीयान्ताः पूर्वोक्तस्य यथा न तत् ।
कितवव्यवहारे च एकत्वेऽक्षशलाकयोः ॥

इस सूत्र में 'अक्षशलाकासंख्याः' पद प्रथमान्त है । श्लोकवार्त्तिक के अनुसार यह पद तृतीयान्त होना चाहिये । इस विषय में शंका उत्पन्न होती है कि यहां प्रथमा का विधान उपयुक्त है, अथवा तृतीया का । कैयट ने इस शंका का कारण अक्षादि में वर्तन[२] क्रिया का कर्तृत्व माना है[३] तथा तृतीया को ही स्वीकार किया है । उन्होंने श्लोकवार्त्तिक का प्रयोजन अन्य विभक्ति का निवारण माना है ।[४]

अक्षादि का अन्यथा वृत्ति में ही कर्तृत्व या करणत्व होता है अतः तृतीया ही होनी चाहिये और तदन्त का परि के साथ समास किया जाता है । अक्ष फैंकने से पूर्व द्यूत कर अक्षों के विषय में इच्छानुसार घोषणा करता है । उसकी घोषणानुसार अक्षों का वर्तन न होने पर अक्ष , शलाका, एक, द्वि आदि का परि के साथ समास किया जाता है ।[५] अभिप्राय यह है कि विजयकाल के समान अक्षादि का वर्तन न

---

१ व्या.म.के बनारस संस्करण में इसके आगे 'अयथाद्योतने' पद भी गृहीत है परन्तु शास्त्री पी.एस.एस. ने इसे व्यर्थ माना है - Ayathādyotane is added at the end of some editions. Since it happens to be to explanation of purvottarya yatha na tat. Theeee reading without it seemes better. Lec. Pat. MB. Vol.5, p.238.

२ Throw or rolling of thee dice (Vartanam). Joshi, S.D., MB. अव्ययीभावतत्पुरूषाह्निक, पृ. १०९

३ अक्षादीनां वर्तन क्रियायांकर्तृत्वादित्याहुः । कैयट, म. भा., पृ. ३६२

४ विभक्त्यन्तरनिरासार्थमेतदुक्तम् । वही

५ When the throw does not turn out according to the announceement, the gambler will exclaim Aksapari, dvipari etc. as the case may be. Joshi, S.D., अव्ययीभावतत्पुरूषाह्निक्, पृ. १०९.

होने पर अक्षादि का परि के साथ समास हो जाता है । इस मत से पदमंजरीकार भी सहमत हैं ।[१]

द्यूत क्रीड़ा पांच अक्षों वाली होती है । इनमें से एक अक्ष के भी अन्यथा वर्तन सें पराजय होती है और वह परि से निर्दिष्ट होती है ।[२] तब एक वचन से ही उसका अभिधान हो जाता है, अतः द्विवचन, और बहुवचन की अपेक्षा नहीं होती । यही कारण है कि एकत्व का ही विधान करने में अक्ष, शलाका का परि के साथ समास होता है । अक्षाभ्यां वृत्तम्, अक्षैः वृत्तम इन पदों में समास नहीं होता । क्योंकि अक्ष द्विवचनान्त और बहुवचनान्त हैं ।

केवल कितव व्ययवहार में ही अक्ष का परि के साथ समास-विधान किया गया है । अन्य अर्थ में यह समास नहीं होता । अनयथा 'अक्षेणेदं न तथा वृत्तं यथा पूर्वं शकटेन' पदों में भी समास हो जाता ।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक से यह संकेत प्राप्त होता है कि उस समय में द्यूत क्रीड़ा बहुप्रचलित विनोद का साधन रहा होगा । द्यूत-क्रीड़ा के विषय में इस विशद चर्चा से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत अवश्य ही बहुप्रयोग की भाषा थी । इस तथ्य के दो आधार माने जा सकते हैं । प्रथम तो यह कि पाणिनि ने भाषा के सभी प्रयोगों को नियमों में बांधने का प्रयत्न किया है । अतः द्यूतसम्बन्धी व्यवहार के विषय में भी नियम कहा है । द्वितीय आधार यह है कि द्यूतकार भी संस्कृत भाषा में व्यवहार किया करते थे ।

तृतीय अध्याय

(१) णि श्रि द्रु स्रुभ्यः कर्तरिचङ्[३]

---

१ पूर्वजये, वृत्तस्याक्षादेर्यथा तद् वृत्तमभूत, यदि सम्प्रति तथा न भवति एवं समासो भवतीत्यर्थः । हर. पद. का. भाग १

२ पञ्चिका नाम द्यूतं पञ्चभिरक्षैः शकालाभिवां भवति । तत्र यदा सर्वे एकरूपाः पतन्ति तदा पातयिता जयति, अन्यथा तु पाते पराजीयते । कैयट, म. भा., पृ. ३६३

३ अ. सू. ३-१-४८

लुङ्[१] लकार करने पर धातु से तिबादि[२] आदेश किये जाते हैं तथा 'च्लिलुङि'[३] सूत्र च्लि का विधान करता है। च्लि के स्थान पर 'सिच्'[४] की प्राप्ति होती है परन्तु सिच् का निषेध होने पर अङ्[५] कस भी हो जाते हैं। णि, श्रि, द्रु, स्रुभ्यः कर्तरि चङ्[६] यह सूत्र भी सिजादेश का अपवाद सूत्र है। ण्यन्त धातुओं से तथा त्रि, द्रु, स्र, धातुओं से परे चिल् को चङ् आदेश होता है। कर्तृवाचक लुङ् के परे रहने पर।

प्रस्तुत सूत्र पर वार्त्तिककार ने 'कमेरूपसंख्यानम्' वार्त्तिक कहा है अर्थात् ण्यन्त, क्षि, द्रु, स्रु धातुओं के साथ कम् धातु का भी उपसंख्यान करना चाहिये। कम् धातु से 'कमेर्णिङ्'[७] सूत्र णिङ् का विधान करता है अतः णिङ् भावपक्ष में कम ण्यन्तधातु है। यदि कामि ण्यन्त धातु ही है तो कमेरूपसंख्यानम् वार्त्तिक निष्प्रयोजन प्रतीत होता है। परन्तु यह वार्त्तिक सार्थक हैं, क्योंकि कमेर्णिङ्[८] सूत्र के पश्चात् 'आयादयः आर्धधातुके वा'[९] सूत्र है जो आर्धधातुक की विवक्षा में होने वाले प्रत्ययों का विकल्प से विधान करता है। णिङ् का वैकल्पिक विधान होने के कारण उक्त वार्त्तिक उपयुक्त प्रतीत होता है। अण्यन्तावस्था में भी कम् धातु से च्लि को चङ् आदेश हो जाये इस कारण कम् धातु का भी सूत्र में उपसंख्यान करना चाहिये था।[१०]

भाष्यकार ने कम् धातु क णिङन्त[११] तथा अणिङन्त रूपों से सम्बद्ध श्लोकवार्त्तिक उद्धत किया है—

---

१ लुङ्। अ. सू. ३-२-११०
२ तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस् तातांझथासाथांध्वमिडवहिमङ। अ. सू. ३-४-७८
३ अ. सू. ३-१-४३
४ च्लेः सिच्। अ. सू. ३-१-४४
५ इरितो वा अ. सू. ३-१-५७ पुषादिद्युतादिलृदितः परस्मै पदेषुः - अ. सू. ३.१.५५
६ अ. सू. ३-१-४८
७ अ. सू. ३-१-३९
८ अ. सू. ३-१-३०
९ अ. सू. ३-१-३१
१० Vasu, S.C. - Aśṭā. Vol.I, p.368.
११ कमेर्णिङ्। अ. सू. ३-१-३०

नाकमिष्टं सुखं यान्ति सुयुक्तैर्वडवारथैः ।
अथ पत्काषिणा भवन्ति येऽचीकम भाषिण ।।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक में अचकमत तथा अचीकमत दोनों रूपों के प्रयोग का परिणाम एक लोकोक्ति के रूप में निबद्ध है । कम् धातु का लुङन्त रूप यदि कोई व्यक्ति अचकमत प्रयुक्त करता है तो वह मानो सुन्दर अश्वों से सुसज्जित रथ पर आरूढ़ होकर अभीष्ट स्वर्ग को प्राप्त करता है । परन्तु जो अचीकमत प्रयोग करते हैं वे मानो अपने पैरों को रगड़ते हुए अर्थात् अत्यधिक परिश्रम करते हुए अभीष्ट स्वर्ग की प्राप्ति करते हैं ।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि अचकमत रूप को सिद्ध करने की प्रक्रिया अचीकमत की अपेक्षा सरल है । इस प्रकार प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि श्लोकवार्त्तिकों में व्याकरणात्मक प्रयोगों का प्रक्रियागत स्वरूप सिद्ध किया गया है । उदाहरणों की सिद्धि करते हुए तत्कालीन मान्यताओं का संकेत प्राप्त होता है । शब्दों का साधु प्रयोग स्वर्ग में अभीष्ट सुखों को प्रदान करता है जबकि असाधु प्रयोग अत्यधिक कष्टसाध्य है । इसका अभिप्राय यह है कि व्याकरण के ज्ञान के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति की मान्यता भी श्लोकवार्त्तिकों में उपलब्ध होती है ।

पंचम अध्याय

'संख्याया गुणस्य निमाने मयट्'[१]

प्रस्तुत सूत्र में 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्यः इतच्'[२] सूत्र को तदस्य की अनुवृत्ति है । यह सूत्र तद् इस प्रथमा समर्थ, संख्यावाची प्रातिपदिक से 'अस्य' इस षष्ठ्यर्थ में मयट् प्रत्यय का विधान करता है यदि वह गुण(भाग या वस्तु के अंश) के निमान के रूप में वर्तमान हो[३] 'तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः'[४] सूत्र में पुनः तद् शब्द के ग्रहण से तद् का सम्बन्ध नहीं रहता । प्रस्तुत सूत्र में प्रतिबन्धाभाव, होने के कारण तदस्य सम्पूर्ण समुदाय की अनुवृत्ति होती है । अतः 'तदस्मिन्' इसमें उक्त

---

१ अ.सू.५-२-४७
२ अ.सू.५-२-३६
३ Vasu, S.C. - Aśṭā. Vol.II, p.913.
४ अ.सू.५-२-४५

तद् शब्द के आनन्तर्य के कारण अनुवृत्ति युक्त है। 'अस्मिन्' से विभिन्न होने के कारण अस्य की अनुवृत्ति उपयुक्त है।

सूत्रोक्त निमान[१] पद महत्त्वपूर्ण है जो मूल्यवाचक है तथा गुण का अर्थ है भाग[२]। एक वस्तु से दूसरी वस्तु के गुणों की तुलना करने में निमान मूल्य होता है। जिस मूल्य भूत के द्वारा गुण का विक्रय होता है वह भी सामर्थ्य के कारण भाग ही जाना जाता है।[३] इस सूत्र से दो महत्त्वपूर्ण पक्ष स्पष्ट होते हैं - प्रथम निमान मूल्य वाचक था, जिससे गुण के भाग या अंश का मूल्य नापा जाता था तथा द्वितीय जिसको देने पर कोई वस्तु मिले उसे निमान और जो वस्तु मिलती है वह निमेय कही जाती है[४]। निमान के भाग के बिना निमेय के गुण का निश्चय करना सम्भव नहीं है। यदि मूल का भाग नहीं है तो भाग की प्रवृत्ति भी नहीं होती।[५] अतः यद्यपि निमान की भागता का व्ययन नहीं किया गया तथापि सामर्थ्य के द्वारा भागत्व प्रतीत होता है। यथा - 'यवानां द्वौ भागों निमानें यस्योदश्विद्भागस्य द्विमयमुदश्विद्यवानाम्।' भाग विशेष की प्रतिपत्ति के लिये प्रकृत्यर्थ विशेष का ग्रहण नित्य सापेक्ष होने के कारण वृत्ति होती है।[६] निमेय के गुणसन्निहित होने पर निमान की अपेक्षा होती है। यद्यपि निमान और निमेय दोनों पक्षों में ही स्वत्याग तथा परकीय ग्रहण समान रूप से होता है तथापि किसी समय कोई एक पक्ष असमान भी हो सकता है। धान्यं विक्रीणीते ऐसा व्यवहार किया जाता है - 'कार्षापणी विक्रीणीते' यह कथन नहीं होता। अतः यव और उदश्वित् के उदाहरण में यव का निमानत्व तथा उदश्वित् का निमेयत्व सिद्ध होता है। अथवा यह कहना असंगत प्रतीत होता नहीं कि निमान निमेय भाव देशकालापेक्ष है।[७] निमान को निमेय की अपेक्षा होने के कारण निमान का निमेय प्रत्ययार्थ है। यथा एक गुण उदश्वित् का दो गुण यव

---

१ मेङ् प्रणिदाने - इत्यस्माद्धातोः करणे ल्युटि निमान शब्दः। स च मूल्यय - कैयट प्रदीप व्या.म.२ पृ.५६५

२ गुणशब्दः समानावयववचनः। वही

३ गुणो येन निमियते मूल्यभूतेन सोऽपि सामर्थ्य भाग एव विज्ञायते। का.वृ. भाग ४, पृ. १६७

४ अग्नि.प्रभु.पत.भा.पृ.३३३

५ नहि तस्य भागत्वमन्तरेण निमेमस्य गुण इत्येव निर्दिष्टस्य भागत्वाध्यवसातुं शक्यम्। जिने.न्यास व्या.वृ. भाग ४, पृ.१६६

६ कैयट प्रदीप व्या.म.२ पृ.५६५

७ देशकालापेक्षव्यवहारापेक्षत्वान्निमाननिमेय भावस्य। - वही, पृ.५६७

मूल्य है। भाग विशेष की प्रतिपत्ति के लिये प्रकृत्यर्थ विशेषण यवादि का प्रयोग किया गया है।[१] अतः द्विमयमुदश्वित आदि उदाहरणों में गुण में निमेय में मयट् प्रत्यय होता है स्वार्थ में नहीं। नियान भाग संख्या यदि निमेय भाग संख्या से अधिक है त मयट् प्रत्यय का विधान होगा अन्यथा नहीं।[२] इसके विपरीत निमेय गुण के एक होने पर प्रत्यय विधान होगा बहुत गुण होने पर नहीं होगा।[३] सूत्रोक्त गुण शब्द समानीवयववाची है। अतः उसमें निमेय भाग का कथन करने की सामर्थ्य है। उसके भाग का बोध गुण शब्द नहीं कराता। प्रस्तुत सूत्र मयट् प्रत्यय का विधान निमान के संदर्भ में ही करता है। भाष्यकार ने—

'निमेये चापि दृश्यते'

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकांश के द्वारा अतिव्याप्ति दोष की आशंका की उद्भावना की है। अर्थात् निमेय में वर्तमान संख्या में प्रत्यय प्राप्त होने लगेगा। इसका कारण यह है कि निमान शब्द करण साधन[४] तथा कर्मसाधन[५] दोनों ही प्रकार से व्युत्पन्न है। करण साधन होने पर 'गुणस्य' कर्म में षष्ठी है। कर्मसाधन होने पर कर्ता अर्थ में प्रयुक्त है। गुण निमान क्रिया का करण है यह कर्तृत्व के द्वारा विवक्षित है। क्योंकि करण की कर्तृत्व के द्वारा विवक्षा होती है। प्रथम व्युत्पत्ति के द्वारा निमान में वर्तमान संख्या से निमेय में अभिधेय प्रत्यय का विधान किया जाता है तथा द्वितीय व्युयत्पत्ति के अनुसार निमेय में वर्तमान संख्या से निमान के अभिधेय होने पर भी प्रत्यय का अभिधान किया है। अतः प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकांश से निमान निमेय भाव की स्थिति निमान से प्राप्त होने वाला मयट् प्रत्यय निमेय में भी प्राप्त होता है। यथा द्विमयाः त्रिमयाः आदि।[६] अतिव्याप्ति दोष की उद्भावना के साथ साथ भाष्यकार ने निमान और निमेय की पक्षों की व्याख्या प्रस्तुत की है।[७]

---

१ भागविशेष प्रतिपत्यर्थप्रकृत्यर्थविशेषणस्य यवादेः प्रयोगः। - वही

२ निमेय भाग संख्याया निमानभाग संख्या यदाऽधिका भवति तदा प्रत्ययो यथा स्यात्। - वही

३ द्वयोर्वहुषु च निमेयगुणेषु न भवति। कैयट, प्रदीप व्या. म., भाग २, पृ. ५६७

४ वही

५ वही

६ निमेये वर्तमानायाः संख्याया निमाने प्रत्ययो दृश्यते। का. वृ. भाग ४, पृ. १६४

७ नागेश उद्योत व्या. म. भाग २, पृ. ५६७

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकांश के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने सम्पूर्ण श्लोकवार्त्तिकों के अतिरिक्त अनेक श्लोकवार्त्तिकांशो का ग्रहण भी किया है। अनेक सूत्रों पर उन्होंने केवल वार्त्तिकांशो का ही ग्रहण किया है। सूत्रों अथवा वार्त्तिकों की व्याख्या के अतिरिक्त श्लोकवार्त्तिकों के उद्धरणों द्वारा भाष्यकार ने तत्कालीन सामाजिक व्यावहारिक पक्ष को भी स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिकांश से यह स्पष्ट होता है कि उस काल में व्यापार वस्तु विनिमय के द्वारा भी किया जाता था। जिसमें से मूल्य निमान तथा वस्तु निमेय कही जाती थी।

अधिकारात्मक श्लोकवार्त्तिक

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक में श्लोकवार्त्तिक ने अधिकार का निर्देश किया है कि सूत्र विशिष्ट का अधिकार किस विशिष्ट सूत्र तक है उसका बोध श्लोकवार्त्तिक के द्वारा होता है।

सप्तम अध्याय

त्यदादीनामः[१]

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने त्यदादि को विभक्ति परे रहते अकारादेश होता है[२] है। यथा त्यद् को तद् हो जाता है। अष्टम आ[३] विभक्तौ सूत्र से विभक्तौ की अनुवृत्ति हुई है। त्यादादि से विहित अकार वचन द्वि पर्यन्त[४] को भी हो ऐसा कथन करना चाहिये। इस वक्तव्य का प्रयोजन अस्मद् युष्मद्[५] तथा भवदन्त से अत्व न हो। भाष्यकार ने द्विपर्यन्त अकार वचन का ग्रहण करने के लिये निम्न संग्रह श्लोकवार्त्तिक उद्धृत किये हैं—

त्यदादीनामकारेण सिद्धत्वाद्युष्मदस्मदोः।
शेषे लोपस्य लोपेन ज्ञायते प्राक्ततोऽदिति॥

---

१ अ.सू.-७-२-१०२
२ Vasu, S.C. - Aśṭā. Vol.II, p.1402.
३ अ.सू.७-२-८४
४ द्विपर्यान्तानामिष्टिरेवियम्। हर.पद.का.वृ.५ पृ.७९०
५ यद्यप्यस्च्छव्द एवान्तस्तथाप्यन्तसाहचर्याच्छास्त्रे युष्मदस्मच्छब्दो निर्दिष्टः। कैयट प्रदीप व्या.म.३ पृ.१७४

अपि वोपसमस्तार्थमत्वाभावात्कृतं भवेत्।
टिलोपष्टावभावार्थः कर्तव्यः इति तत्समृतम्॥
अथवा शेषसप्तम्यां शेषे लोपो विधीयते।
लुप्त विशिष्टे हि तस्याऽऽहुः कार्यसिद्धिं मनीषिणा॥

सूत्र में द्विपर्यन्त का कथन करने का प्रयोजन यह है कि किम् शब्द को त्यदादि के अन्त में होने पर भी कादेश[1] का विधान होने के कारण कियन्त का कथन नहीं किया गया। कुछ आचार्य द्वि शब्द के पूर्व किम् का ग्रहण करते हैं[2] परन्तु किम् का ग्रहण त्यदादि में नहीं किया जाता[3] श्लोकवार्त्तिककार ने त्यादि अत्व से ही अस्मद् युष्मद् की सिद्धि मानी है आत्व और यत्व लोप विशेष विहित है, उनसे अत्व का बाध हो जाता है।[4] शेषे लोपः सूत्र से शेष[5] विभक्ति परे रहते अस्मद् और युष्मद् के अन्त्य का लोप हो जाता योऽचि[6], सूत्र से विहित यकार आत्व तथा लोप का विधान होता है। 'त्यदादीनामः' सूत्र से अस्मद्, युष्मद् रूप सिद्ध नहीं होते क्योंकि 'द्विपर्यन्तानामकारवचनम्' इष्टि से त्यदादिनिमित्त अत्व द्विपर्यन्त रहता है युष्मद्, अस्मद् भवतु तथा किम् का अन्तर्भाव उसमें नहीं होता।[7] युष्मद् अस्मद् रूपों से अत्व की सिद्धि शेषो लोपः'[8] सूत्र से ही हो जाती है।[9] सूत्र में उक्त लोप ज्ञापक नहीं है कि युष्मद् अस्मद् में अत्व की सिद्धि हो जाती है।[10] अतियूयम् अतिवयम् उदाहरणों में प्रादि[11] समास के पश्चात् उपसर्जन संज्ञक युष्मद् अस्मद्

---

१ किमः क। अ.सू.७-२-१०३
२ केचित्तु द्विशब्दात्पूर्ण किंशब्दमधीयते। वही
३ किं सर्वनामबहुभ्यो द्वयादिभ्य इति किमो ग्रहणं नकर्तव्यं भवति। कैयट प्रदीप व्या.म. ३ पृ.१७४
४ तत्त्व.सि.की.पृ.७३
५ पञ्चम्पश्च चतुर्थ्याश्च षष्ठी प्रथमयोरपि। यान्यद्विवचनान्यत्र तेषु लोपो विधीयते। Vasu, S.C., Aṣṭā. Vol.II, page. 1386
६ अ.सू.७-२-८९
७ Ibid.
८ अ.सू.७-२-९०
९ लोपशब्देन तद्विद्यायिशास्त्रं लक्ष्यते इत्यर्थः। नागेश उद्योत व्या.म.३ पृ.१७४
१० यत्तूच्यते शेषेलोप वचनं ज्ञापकमिति तदयुक्तम्। हर.पद.का.वृ.५ पृ.७९१
११ प्रादयः क्रान्तद्यर्थे द्वितीयया। वार्त्तिक

में उपसर्जनार्थ लोप है ।[१] अर्थात् यदि त्यदादि पदों का ग्रहण समास में संज्ञा के रूप में हो अथवा उनका अर्थ समास में गौण हो तो अन्य विधान नहीं होता ।[२] यथा अतित्यम् अतित्यदौ आदि उदाहरणों में उपसमस्त होने के कारण अत्व का अभाव है ।[३] समास में त्यदादि प्रधान अर्थ होने पर अत्व विधान किया जाता है यथा परमतां, परमते आदि उदाहरणों में शेषे लोपः[४] सूत्र से युष्मद् तथा अस्मद् पदों की टि अर्थात् अद् का लोप हो जाता है । अत्व विधान के पश्चात् स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् का प्रतिषेध करने के लिये टि लोप का कथन नहीं किया जाना चाहिये । यथा त्वं ब्राह्मणी अहं ब्राह्मणी इन उदाहरणों में टाप् का प्रतिषेध सन्निपात लक्षणों विधि निर्मितंतद्विघातस्य[५] परिभाषा के आधार पर ही जाता है । युष्मद् और अस्मद् न तो पुल्लिग है नही स्त्रीलिंग[६] अतः उनसे स्त्री प्रत्यय का प्रतिषेध हो जाता है ।[७] कुछ आचार्यों के अनुसार टाप् प्रत्यय सम्बन्धी समस्या का समाधान युष्मद अस्मद् पद की टि का लोप करने से होता है ।[८] उनके मतानुसार 'मपर्यन्तस्य'[९] सूत्र से टि का लोप होने पर युष्म और अस्म रूप अवशिष्ट रहता है । उसी के स्थान परअत्व विधान होना चाहिये, क्योंकि शेष अद् है उसी का शेष लोप[१०] सूत्र लोप विधान करता है ।[११] लोप करने पर अवशिष्ट युष्म् और अस्म् में टाप् निमित्त अजादि न रहने के कारण टाप् का प्रसंग उपस्थित नहीं होता[१२] तब और ममादि रूपों में अकार

---

१ कैयट प्रदीप व्या.म.३ पृ.१७५
२ **Vasu, S.C. Aśṭā. Vol. II, p.1402.**
३ वही
४ अ.सू.७-२-९०
५ **Vasu, S.C. Aśṭā.Vol.II, p.1396.**
६ वही
७ न षट्स्वसादिभ्यः इति च स्त्रीप्रत्ययनिषेध । षडभ्यः कृतः । कैयट, प्रदीप, व्या.म.३ पृ. १७५
८ **In order to avoid all the difficulty about tāp some would elide the ad. Vasu, S.C., Aśṭā.Vol.II, p.1396.**
९ अ.सू.७-२-६१
१० अ.सू.७-२-९०
११ कैयट प्रदीप व्या.म.३ पृ.१७६
१२ 'अजाद्यतष्टाप्' सूत्र से अजादि से टाप् की प्राप्ति होने के कारण ।

उच्चारणार्थ है । अतः हलन्त आदेश होने के कारण टाप् की प्रसक्ति नहीं होती । आचार्यों ने सूत्र में शेष ग्रहण का प्रयोजन टाप् का निषेध माना है ।[१]

'किमः क'[२] सूत्र के द्वारा किम् के स्थान पर विभक्ति परे रहते कादेश का विधान किया गया है और यह अकच्[३] प्रत्यय सहित निर्देश है । अकच् निर्देश समस्त अकच् प्रत्यय विहित को कादेश हो जाये इसलिये किमः क सूत्र की निष्पत्ति है । यद्यपि किम् को कादेश त्यदादीनामः से अत्व विधान होने पर ही सिद्ध था परन्तु समस्त त्यदादि को अत्व नहीं होता अतः 'किमः क' सूत्र भी सप्रयोजन है । अतः सूत्र में द्विपर्यन्त ही अत्व का विधान किया जाना चाहिये ।

प्रस्तुत श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने सूत्रों का अधिकार निश्चित करने के लिये श्लोकवार्त्तिक उद्घृत किये हैं । सूत्रों के द्वारा विहित कार्य किस सूत्र तक अथवा किन शब्दों की सिद्धि में सहायक है । विशिष्ट पदों तक सूत्र का अधिकार ग्रहण करने का प्रयोजन श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा स्पष्ट किया गया है । शंकाओं का समाधान करने में भी श्लोकवार्त्तिक सहायक हैं ।

निराकरणात्मक श्लोकवार्त्तिक

कुत्सिते । ५-३-७४

सूत्रकार ने 'प्रागिवात्कः'[४] सूत्र से 'इवे प्रतिकृतौ'[५] सूत्र तक क प्रत्यय का अधिकार विहित किया है । क प्रत्यय के अधिकार में ही 'अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक् टेः'[६] आता है जिसके द्वारा अव्यय तथा सर्वनाम के पूर्व प्रागिवीय अर्थ में अकच् प्रत्यय होता है जो टि के पूर्व होता है । प्रागिवात्कः[७] तथा अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक् टेः[८] सूत्रों की अनुवृत्ति होकर 'कुत्सिते' सूत्र का अभिप्राय है कुत्सितत्व अर्थ में

---

१ मनीषिणा आचार्या यत्रस्य शेषग्रहणस्य फलमाहु । नागेश उद्योत व्या. म. ३ पृ. १७६
२ अ. सू. ७-२-१०३
३ ओकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकच् अन्यत्र सुबन्तस्य । हर. पद. का. वृ. ५ पृ. ७०१
४ अ. सू. - ५-३-७०
५ अ. सू. - ५-३-९६
६ अ. सू. - ५-३-७१
७ अ. सू. - ५-३-७०
८ अ. सू. - ५-३-७१

वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में क प्रत्यय होता है ।[१] प्रस्तुत सूत्र विधि सूत्र है । प्रकृति के अनिर्धारित विशेष अर्थ में प्रवृत्त होने पर उसकी विशिष्टता का द्योतन करने के लिये स्वार्थिक प्रत्यय का विधान होता है ।[२] कुत्सिते पद में न तो प्रकृत्यर्थ की प्रधानता है तथा न ही प्रत्ययार्थ की प्रधानता है, इसे प्रकृत्यर्थ विशेषण मानना ही उपयुक्त प्रतीत है[३] यदि इसे उपलक्षण मात्र रूप में ग्रहण किया जायेगा तो अन्य शब्दों से भी 'क' प्रत्यय की प्राप्ति होने लगेगी ।[४] प्रत्ययार्थ स्वीकार करने पर प्रकृति और प्रत्यय का युगपत् कथन होने पर उनमें प्रत्ययार्थ प्रधान होता है ।[५] अतः प्रकृत्यर्थ की विशिष्टता हो जाती है तथा कुत्सित विशेष्य हो जाता है । परन्तु लोक-व्यवहार इससे विपरीत है अर्थात् प्रकृत्यर्थ की प्रधानता न होकर कुत्सित का विशेषणत्व होता है । इसीलिये प्रकृत्यर्थ विशेषण साधु माना गया है । क प्रत्यय से रहित शब्द जाति विशिष्ट अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं । कुत्साविशिष्टार्थ की बोधकता का द्योतन क प्रत्यय करता है ।[६] प्रकृति के 'क' प्रत्यय नहीं होता क्योंकि प्रत्यय के बिना भी वह विशिष्टार्थ का बोधन कराता ही है । 'क' प्रत्यय के प्रसंग में भाष्यकार ने शंका की उद्‌भावना की है कि यदि निर्ज्ञात विशेषार्थ में ही कुत्सितादि शब्द प्रवृत्त होते हैं, तो विशिष्टार्थ की प्रतीति के कारण तथा उक्तार्थत्व होने के कारण 'क' प्रत्यय के विधान में आपत्ति होती है ।[७] इस अनवस्था दोष का निराकरण करने के लिये भाष्यकार ने निम्न श्लोकवार्त्तिक उद्‌धृत किये हैं—

---

१ The above affixes come when the thing is spoken of a contemptible. Vasu, S.C. - Aṣṭā. Vol.II, p.967.

२ अनिर्धारित = विशेष्येऽर्थे यदा प्रकृतिर्वर्तते तदातद्विशेषद्योतनाय स्वार्थिकः प्रत्ययो विधीयते । – कैयट प्रदीप - व्या.म. - २-६३४

३ प्रकृत्यर्थस्यैतद्विशेषणम् न तूपलक्षणमित्यर्थः । हर. पद. का. वृ. ४ पृ. २९४

४ यः कुत्सितस्तत्र वर्त्तमानादिति विज्ञापमाने इदं धवकं, इदं तैलाकमित्यत्रेदंशब्दादपि प्राप्नोति । – हरदत्त - पदमञ्जरी - का. वृ. ४, पृ. २९४

५ प्रत्ययार्थत्वे तु प्रकृतिप्रत्ययो प्रत्ययार्थ सह ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थः प्रधानम् । – हर. पद. का. वृ. ४ पृ. २९४.

६ येन धर्मेण कुत्सादयः तद्धर्मयुक्तार्थाभिधायिनः स्वार्थे प्रत्ययविधानमित्यर्थः । – कैयट, प्रदीप - व्या. महा. २, पृ. ६३७.

७ प्रतीतप्रत्यायनेऽनवस्थाप्रसङ्गादिति । वही, पृ. ६३४.

स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम्।
समवेतस्य च वचने लिङ्ग वचनं विभक्ति च॥
अभिधा तान् विशेषान्पेक्षमाणश्च कृत्स्नमात्मानम्।
प्रियकुत्सनादिषु पुनः, प्रवर्ततेऽसौ विभक्त्यन्तः॥

कोई भी शब्द अपने अर्थ का कथन दो प्रकार से करा सकता है जातिगत तथा व्यक्तिगत। स्वार्थ से अभिप्राय है अर्थ का कथन करने वाला। यह स्वार्थ जाति, गुण, सम्बन्ध, स्वरूप से अनेक प्रकार का है। द्रव्य[१] का अभिधान होने पर स्वार्थ अपेक्षित होता है परन्तु स्वार्थ का कथन होने पर शब्द अन्य अर्थगत निमित्त की अपेक्षा नहीं करता। जाति और व्यक्ति में से शब्द जब जाति में वर्तमान रहता है तो जाति का कथन करता है तब उसका स्वरूप[२] स्वार्थ है और जाति द्रव्य। यदि जाति विशिष्ट द्रव्य का अभिधान होता है तो जाति स्वार्थ होती है। यथा गो का कथन करने पर गो जाति व व्यक्ति दोनों पक्षों का अभिधान होता है। गोत्व का कथन होने पर गो जाति स्वार्थ है। कुत्सितार्थ में 'क' प्रत्यय का विधान है वह स्वार्थिक है तथा स्वार्थिक प्रत्ययों में प्रवृत्ति निमित्त जहां प्रधान रूप से नहीं होता वहां अभिधेय के साथ उपस्थित धर्मान्तर पर आश्रित प्रत्यय होता है।[३] यथा अश्वकः उदाहरण में जो अश्व साध्य क्रिया को यथोचित प्रकार से नहीं करता इस अर्थ में क प्रत्यय होकर अश्वक-पद बनता है। समवेत द्रव्य का अभिधान होने पर लिङ्ग; वचन विभक्ति का ही कथन होता है अर्थात् लिङ्ग संख्या व कारक ही स्वार्थ होता है।[४] यद्यपि लोकव्यवहार में उच्चरित पद अर्थों की अभिव्यक्ति कराता है तथापि प्रातिपदिक के प्रयोगार्ह न होने के कारण अर्थबोधकता की कल्पना करके प्रातिपदिक संज्ञा तथा तत्सम्बद्ध[५] प्रक्रिया की कल्पना की जाती है।[६] विशेषण का

---

१ 'द्रव्यम्' शब्देन च इदं तदिति परामर्शयोग्यं वस्त्वभिधीयते। कैयट - प्रदीप - व्या. म. २, पृ. ६३५

२ स्वरूपपदेन पदस्वरूपं व्यक्तिस्वरूपं चेति बोध्यम्। नागेश - उद्योत व्या. म. वही.

३ तत्राभिधेयसहचरितधर्मान्तराः प्रत्ययो भवतीत्युक्तम्। हर. पद. का. वृ. ४ पृ. २९५.

४ स्वार्थद्रव्ययोर्विशेषत्वाभावादिति। नागेश, उद्योत, व्या. म. २, पृ. ६३६.

५ अर्थवत् प्रातिपदिकं, प्रातिपदिकाड्डीप् अन्तात्स्वादयः इत्येवं कल्पितन्यायलब्धक्रम। नागेश, उद्योत, व्या. म. २, पृ. ६३६.

६ प्रातिपदिकस्याप्रयोगार्हस्य कल्पितामर्थवत्तां कल्पितन्यायवशात्, क्रमवतीमाश्रित्येदमुच्यते। कैटय प्रदीप, व्या. म. २, पृ. ६३५.

बोध न होने पर विशेष्य का ज्ञान नहीं होता ।[1] इस न्याय के आधार पर प्रथमतः स्वार्थाभिधान से, तत्पश्चात् लिङ्गादि आश्रित द्रव्याभिधान से बोध होना चाहिये ।[2] शब्दोपाक्ष धर्माश्रया कुत्सा होती है ।[3] वह कभी तो स्वार्थ में होती है यथा दुकः, पण्डित आदि प्रयोगों में, कहीं लिङ्ग कुत्सा होती है यथा प्राप्य गाण्डीवधन्वानं विद्धि कः वकान् स्त्रियः, यहां अर्जुन की संनिधि में कौरवों के पौरुष की कुत्सा है । संख्या बहिरङ्ग है और उसकी अपेक्षा लिंग अन्तरंग है ।[4] कहीं कहीं संख्या कुत्सा होती है यथा 'इदमेकमेकशतमिति' । शत के पालन में जो दुख है वह एक के भरण में ही है यहां शतत्व रूप से कुत्सा है । स्वार्थादि प्रिय कुत्सनादि पदों का बोध कराने के लिये अपने पूर्ण स्वरूप की अपेक्षा करता हुआ लिंग, संख्या, कारक का अभिधान करके तद्गत कुत्सनादि का बोध कराने के लिये विभक्त्यन्त शब्द प्रवृत्त होता है ।[5] तत्पश्चात् सम्पूर्ण शब्द से स्वार्थ के व्यतिरिक्त, स्वार्थादिगत कुत्सा का फल अभिधान करने के लिये 'क' प्रत्यय का विधान होता है ।[6] जिस प्रकार प्रकृष्ट का प्रकर्ष द्योतित करने के लिये तमप् प्रत्यय का विधान होता है उसी प्रकार जब कुत्सित की कुत्सा सम्यक् कुत्सितत्व नहीं होती तब 'क' प्रत्यय होता है ।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि शब्द अपने जाति व व्यक्ति दोनों ही पक्षों से युक्त होता है यदि वह समवेत द्रव्य का अभिधान करायेगा तो कुत्सा अर्थ में प्रत्यय नहीं होता केवल व्यक्ति पक्ष का अभिधान होने पर भी प्रत्यय विहित होगा । श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सूत्रों के पदकृत्य की व्याख्या में भी श्लोकवार्त्तिकों की पूर्ण योगदान है । दोष का निराकरण करने के कारण इस श्लोकवार्त्तिक को निराकरणात्मक श्लोकवार्त्तिक माना जा सकता है ।

---

१ नागृहीत विशेषणा बुद्धिविशेष्ये उपजायते ।

२ पूर्व स्वार्था भिधानेन भायम् तत्पश्याद्विशिष्टस्य लिङ्गधायस्य द्रव्यस्याभिधानेन । वही.

३ शब्दोपा धर्माश्रयेव कुत्सा । हर. पद. का. वृ. ४ पृ. २९५

४ सा हि विजातीयक्रियाङ्गसाधनापेक्षया तुल्यजातीय क्रियापेक्षान्तरङ्ग । कैयट प्रदीप - व्या. म. २, पृ. ६३५.

५ सर्वो प शब्दः स्वार्थव्यतिरिक्तां स्वाथादिगतां कुत्सामभिधातुं प्रत्यय लभते तथा यमपीत्यर्थः । नागेश, उद्योत, व्या. म. २, पृ. ६३६.

६ तत्र कुत्सितशब्दप्रवृत्तिनिमित्तव्यतिरिक्तायां कुत्सितत्वस्य कुत्सायां क प्रत्ययो उपपन्नो भवति । – कैयट प्रदीप पृ. ६३५.

पूर्त्यात्मक श्लोकवार्त्तिक

ढाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः । ५-३-८३

आचार्य पाणिनि ने 'बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा'[१] सूत्र से बह्वच प्रातिपदिक से मनुष्यार्थ अधिगम होने पर अनुकम्पा अर्थ गम्यमान होने पर ठच् प्रत्यय विकल्प से विहित किया है । 'घनिलचौ च'[२] तथा 'प्राचामुपादे रडज्वुचौ च'[३] सूत्रों से क्रमशः घन्, इलच् तथा अडच् व वुच् प्रत्यय विहित हैं ।

प्रस्तुत सूत्र ठच् तथा अजादि प्रत्यय परे रहते प्रकृति के द्वितीय अच् के परे जो शब्द है उसका लोप हो जाता है । सूत्र में लोप की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र[४] से होती है । ऊर्ध्व पद का ग्रहण द्योतित करता है कि प्रातिपदिक के द्वितीय अच् के परे है कि प्रातिपदिक के द्वितीय अच् के परे भी शब्द है उसका लोप हो जाये[५] अन्यथा प्रातिपदिक के केवल तृतीयाच का प्रथम वर्ण का ही लोप किया जा सकेगा ।[६] प्रस्तुत सूत्र विधि सूत्र है यह लोप का विधान करता है इस लोप के विषय में भाष्यकार ने पूर्वाचार्यरचित निम्नकारिका उद्धृत की है—

चतुर्थादमजादौ च, लोपः पूर्वपदस्य च ।

अप्रत्यये तथैवेष्टः, उवर्णाल्ल इलस्य च ॥

प्रथमतः श्लोकवार्त्तिक उद्धृत करके तत्पश्चात् भाष्यकार ने सूत्रोक्त ठ ग्रहण के प्रयोजन का व्याख्यान किया है । अर्थात् सूत्र में ठग्रहण व्यर्थ प्रतीत होता है । इक आदेश[७] होने पर अजादि हो जाने के कारण । इक् आदेश के प्रति तो यह

---

१ अ.सू.- ५-३-७८

२ वही - ५-३-७९

३ वही - ५-३-८०

४ अजिनान्तस्योत्तरपदलोपश्च। अ.सू.५-३-८२.

५ The word अर्धभ् indicates that the while of that portion of the term which follows the second vowel should be elided. – Vasu, S.C. - Aśṭā.Vol.II, p.970.

६ अ.सू.- १-१-५४ (आदेः परस्य)

७ This rule would have applied to subsitute of but not to. Vasu, S.C. -Aśṭā., Vol.II, p.970.

सूत्र लोप विधान करेगा क्योंकि वह अजादि है परन्तु क के प्रसंग में यह लोप विधान नहीं होगा ।[१] क प्रत्यय उ, ऋ, त् इक्, उक् से अन्त होने वाले पद के ही होता है ।[२] ठ को इक् आदेश होने के पूर्व ठ की अवस्था में ही लोप हो जाये यह सूत्र में ठ ग्रहण का प्रयोजन है ।[३] अन्यथा वायुदत्तकः आदि प्रयोगों में उत्तरपद लोप नहीं होगा । जिन प्रयोगों में[४] ठ प्रत्ययोपशान्त उगन्त निमित्त क आदेश की प्राप्ति होती है । अतः प्रथमतः इकादेश असम्भव होने के कारण अजादि लक्षण उत्तरपद लोप नहीं किया जा सकता यह ठग्रहण का प्रयोजन है । ठावस्था में ही उत्तरपद लोप होने के कारण का देश की प्राप्ति नहीं होती अतः इकादेश होने पर प्रयोग सिद्ध होते हैं ।[५] ठजादि में यदि वर्णमात्र प्रत्यय का ग्रहण किया जायेगा तो स्थानित्व मानने पर क ठवर्ण के स्थान पर होगा । अविधि होने के कारण स्थानिवद् भाव संगत नहीं होता ।[६] यदि ठज् इस समूह में प्रत्ययत्व मानेंगे तो ठग्रहण के पश्चात् तत्सामर्थ्य से इकादेश होने से पूर्व ही लोप हो जायेगा[७] । क आदेश होगा ही नहीं । अतः उक् का ठ प्रत्यय से आन्तरतम्य होने के कारण तथा अजादि होने के कारण विघात नहीं करेगा ।[८] यदि ठ का ग्रहण नहीं करेंगे तो ठ के आनन्तर्य से कादेश नहीं होगा । अतः उक से द्वितीयत्व में क विधान के लिये ठ का ग्रहण किया गया है ।[९]

ठज् विधान होने पर तथा अजादि प्रत्यय परे रहने पर प्रकृति के द्वितीय अच् से परे जो शब्दरूप है उसका लोप हो जाता है । इसी लोप का विवेचन श्लोकवार्त्तिक में किया गया है । सूत्र में द्वितीयादचः का ग्रहण किया है जिसका अर्थ है द्वितीय

---

१ ठस्येकः अ. सू. - ७-३-५० .

२ इसुसुक्तान्तात्कः – वही ७-३-५१ .

३ अकृत एवैकादेशे ठावस्थायामेव लोपो यथा स्याद् इत्येवमर्थं तावट्ठग्रहणम् । हर. पद. का. वृ. ४, पृ. ३००

४ चित्रगुप्रभृतिभ्यष्ठय । – तत्व सि.कौ., पृ. ३७०

५ तेन ठावस्थायामुत्तरपदलोपे कादेशस्यासंभवादिकादेशे चित्रिक इति रूपं सिध्यति । – वही, पृ. ३७० .

६ तत्र वर्णग्रहणे त्विधित्वात् स्थानिवद्भावोनोपद्यते । – न्यास - का.वृ. ४, पृ. ३०१ .

७ संघातस्य तु प्रत्ययत्वे तत्रापि संघातस्य ग्रहणम् । हर. पद. का. वृ. ४, पृ. ३०० .

८ 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य ।' – न्यास - वही.

९ तस्मादुको द्वितीयत्वे कविधानार्थं ठग्रहणम् । – वही.

अच् से परे परन्तु श्लोकवार्त्तिककार के अनुसार चतुर्थादयः का भी कथन करना चाहिये जिससे चतुर्थ अच् में भी ठ तथा अजादि प्रत्यय परेत रहने पर उत्तरपद का लोप किया जा सके। चतुर्थादयः का ग्रहण करने से अन्य प्रयोग भी सिद्ध किये जा सकते हैं। यथा अनुकम्पितः बृहस्पति बृहस्पतिकः। सूत्र में अजादि प्रत्यय परे रहेत ही लोप विधान है जबकि श्लोकवार्त्तिक में अनजादि प्रत्यय परे रहते भी विकल्प से लोप अभीष्ट है।[१] यह द्वितीय अच् से परे ही लोप का विधान करता है।[२] उत्तरपद के लोप के साथ साथ श्लोकवार्त्तिककार ने पूर्वपद लोप की व्यवस्था ही है।[३] अजादि तथा अनजादि दोनों ही प्रत्यय परे रहने पर पूर्वपद लोप हो जाता है।[४] अजादि, अनजादि प्रत्यय परे रहते लोप की व्यवस्था करने पर प्रत्ययरहित प्रयोगों में भी पूर्व पद अथवा उत्तरपद दोनों का लोप हो सकता है। भाष्यकार ने केवल पूर्वपद लोप का उदाहरण प्रस्तुत किया है।[५] काशिकाकार ने दोनों उदाहरण दिये हैं।[६] उदर्णान्त से परे इलच् प्रत्यय के स्थान पर ल शेष रहता है। इकार का लोप[७] हो जाता है।[८] ऋवर्णान्त भी इलच् के स्थान पर ल अवशिष्ट रहता है।[९]

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के माध्यम के भाष्यकार ने उन अनेक प्रयोगों की सिद्धि की है जो सूत्र के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकते। इसका अभिप्राय यह है कि सूत्रों के अधिकार के जो विषय अस्पृष्ट रह गया है कहीं कहीं उसकी पूर्ति श्लोकवार्त्तिकों के द्वारा की गई है। एक अन्य सम्भावना यह भी है कि सम्भवतः आचार्य पाणिनि के पश्चात् तथा भाष्यकार से पूर्व इन उदाहरणों का प्रयोग किया जाता रहा हो।

---

१ When an affix not beginning with a vowel follows, the elision is optional. –Vasu, S.C., Aśṭā.Vol.II, p.970.
२ देवदत्तकः - दत्तकः यज्ञदत्तकः, यज्ञकः
३ तत्र ठाजादौ पूर्वोत्तरयोरन्यतरस्य नित्यं लोपः, अनजादौ विकल्पः। हर. पद. का. वृ. ४, पृ. ३०१.
४ अजाधनजादिसाधारणम्। नागेश उद्योत. व्या. म. - ४, पृ.६३७.
५ भाष्ये तु पूर्वपदलोप उदाहरणमात्रम्। देवदत्तः दत्तः। कैयट प्रदीप - व्या. म. पृ. ६३७.
६ विनापि प्रत्ययेन पूर्वोत्तरपदयोर्विभाषा लोपो वक्तव्यः देवदत्तो दत्तः। देव इति वा। कैयट प्रदीप व्या. म. २ पृ. ६३७
७ पदमञ्जरी, का. वृ. ४, पृ. ३०१.
८ आदेः परस्य - १.१.५४
९ So also after a word ending in ऋ as सावनृलः.

अतः यह कहा जा सकता है कि श्लोकवार्त्तिक सूत्रों के पूरकों के रूप में कार्य करती है।

अनुक्त विषय का प्रतिपादन

सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः।[१]

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने सूर्य, तिष्य, अगस्त्य, मत्स्य से सम्बद्ध, असंज्ञक जो मकार उपधा में है। इत् परे रहते तथा तद्धित प्रत्यय परे रहते उसका लोप किया है।[२] सूत्र में भ संज्ञा से सूर्यादि का सम्बन्ध नहीं है यदि सूर्यादि विशिष्ट से भ संज्ञा ग्रहण करेंगे तो[३] सूर्यादि भ संज्ञक अङ्ग की उपधा का लोप यह सूत्रार्थ होगा।[४] जबकि विवक्षितार्थ है भ संज्ञक जो मकार उपधा में है उसका लोप हो जाये यदि वह मकार सूर्यादि से सम्बन्ध है। भ की अनुवृत्ति होने पर भी वह सूर्यादि के सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।[५] यद्यपि भ संज्ञा का सम्बन्ध सूर्यादि से नहीं होगा तथापि सूर्यादि से सम्बद्ध उपधास्थित यकार का लोप होता है।[६] यथा सौरी बलाका इस उदाहरण में यकार की द्विधा लोप प्राप्ति है प्रथमतः अन्य परे रहते तथा द्वितीयतः ईत् परे रहते। प्रथम में अण् परक यकार का लोप व्याश्रयत्व के कारण असिद्ध नहीं है। इन पदों का अध्याहार करने पर सूत्र का अर्थ होता है लिट् परे रहते अनभ्यान्त एकाच् धात्वयव के प्रथम की द्वित्व होता है। यथा जजागार उदाहरण में ईकारपरक मकार के असिद्ध होने के कारण उपधा मकार का भ संज्ञक अणन्त सूर्य के सम्बद्ध होने के कारण लोप किया जाता है।[७] सूत्र में उपधा ग्रहण करने के सूत्र का अर्थ होता है इत् तथा तद्धित परे रहते जो अंग अनाक्षित रूप विंशिष्ट है उसके मकार का

---

१ अ.सू.६-४-१४९.

२ Vasu, S.C. -Aśṭā.Vol.II, p.1304.

३ ते तु सूर्यादयो भत्वेन न विशिष्यन्ते। जिने.न्यास.का.वृ.पृ.५

४ सूर्यादीनामङ्गानां भसंज्ञकानामिति उपधालोप इति सूत्रार्थ। नागेश - उद्योत व्या.म.२, पृ.९६५.

५ अत्र भस्येत्यन्द्रवर्तमानमपि न संबध्यते। तत्व.- सि.कौ., पृ.१४७.

६ तदापि तस्योपधायकारस्य लोपो भवत्येव यद्यमौयकारः सूर्य्यादीनां सम्बन्धी भवति। जिने.- न्यास.का.वृ.५, पृ.४९८

७ ईकारे तु यः तस्यासिद्धत्वात् उपधायकारो भस्माणन्तस्य सूर्यस्य सम्बन्धीति लुप्यते। का.वृ.पृ.९९८

लोप हो जाये यदि वह सूर्या-अवयव है ।[१] यकार ग्रहण का प्रयोजन उत्तरार्थ माना गया है ।[२] यकार-लोप के विषय का परिगणन करने के अति प्रसंग दोष का निवारण हो जाता है ।[३] भाष्यकार ने 'अन्तिकस्य तसि काटिलोप आद्युदात्तत्वं च'[४] वार्त्तिक परिगणित किया है जिसका अभिप्राय है अन्तिम शब्द से तस् प्रत्यय परे रहते ककार के आदि का लोप हो जाता है और आदि स्वर उदात्त[५] होता है । प्रस्तुत वार्त्तिक पर भाष्यकार ने निम्न श्लोक वार्त्तिक उद्धृत किया है—

तसीत्येष न वक्तव्यो, दृष्टोदाशतमेऽपि हि ।
द्यो लोपो न्तिषदित्यत्र, तथा द्यौ येऽन्त्यर्थवसु ॥

श्लोकवार्त्तिककार के अनुसार अन्तिवस्यतापि का विलोप आद्युदात्तत्वं च वाक्य वार्त्तिक में तसि का ग्रहण नहीं किया जाना चाहिये था । कादिलोपो बहुलम् केवल इतना ही वार्त्तिक पढ़ा जाना संगत प्रतीत होता है ।[६] वार्त्तिक के द्वारा तसि[७] प्रत्ययान्त अन्तितः उदाहरण में ककार का लोप हुआ है । वार्त्तिक में तधि ग्रहण को केवल तस् परे रहते ही ककार आदि लोप का विधान है जबकि अन्य उदाहरणों में तसि भिन्न प्रत्यय परे रहते द्यु[८] अर्थात् उत्तरपद लोप की प्राप्ति होती है यथा राशतये अर्थात् बाह्वच्[९] संहिता में पठित उदाहरण अन्तिषत्[१०] में । यह क्विप्[११] प्रत्ययान्त

---

१ ईति तद्धिते च यदङ्गमनाक्षितरूपविशेषं तस्य यकारस्य लोपा स चेद्यकारः सूर्याद्यवयवो भवतीति सूत्रार्थ । - कैयट,प्रदीप - व्या.म.२,पृ.९६६
२ उत्तरार्थत्वाच्च यग्रहणस्य । वही.
३ विषमपरिमवानेनेवातिप्रसङ्गनिवारणात् । तत्व.सि.कौ.,पृ.१४७
४ प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते सत्याद्युदात्रार्थ वचनम् । जिने.न्याय.का.वृ.५,पृ.५९९
५ Of अन्तिक before the affix तसि the is elided and Vasu, S.C. - Aśṭā.Vol.II, p.1305.
६ कादिलोपो बहुलम् इत्येव विषयमनुपादाय वढितव्यम् । कैयट - प्रदीप व्या.म.२,पृ. ९६७
७ अपादाने चाहीयरूहोः । अ.सू.५-४-४५
८ घुशब्देनोत्तरपदं पूवाचार्यप्रसिद्ध । कैयट - प्रदीप व्या.म.२,पृ.६६७.
९ चतुःषष्ठयध्याययुक्तत्वाच्च बह्वृयानां संहिता तथोच्यते सैव दशमण्ड़लाख्यावयवसत्वाद्दाशतयशब्दवाच्या । उद्योत.नागेश - व्या.म.२,पृ.९६७.
१० पूर्वपदात् । अ.सू.८-३-१०६
११ सत्सूद्विष् । वही

रूप है जिसका विग्रह है आन्तिके सीदति – अतः बहुलम् का ग्रहण करना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि इस उदाहरण में उत्तरपद के पूर्ण मकार का लोप हुआ है। अथर्ववदे में उत्तरपद परे न रहने पर भी य प्रत्यय परे रहते का दिलीप कृत अन्तिम शब्द का ग्रहण किया[१] गया है। अन्तिक भवः अन्तिमः इस उदाहरण में भवार्थ[२] में य प्रत्यय विहित है। क्यादि लोप [३]आभीयाधिकार के कारण असिद्ध है अतः यकार का लोप नहीं होता अतः कादिलोपो बहुलम् का ही ग्रहण किया जाना[४] चाहिये था।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिक के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि वार्त्तिकोक्त विषय के स्पष्टीकरण के लिये तथा उनमें अनुक्त विषय का व्याख्यान करने के लिये श्लोकवार्त्तिकों को उद्घृत किया गया है। वार्त्तिक तथा श्लोकवार्त्तिकों के इस सम्बन्ध से यह कहना असंगत प्रतीत नहीं होता कि वार्त्तिकों की रचना किसी अन्य वैयाकरण ने की है जबकि श्लोकवार्त्तिकों की रचना किसी अन्य वैयाकरण के द्वारा की गई है।

इस प्रकार श्लोकवार्त्तिकों के अध्यया से यह सिद्ध होता है कि वार्त्तिकों द्वारा सूत्रों में प्रतिपादित विषय का स्पष्टीकरण प्राप्त होता है परन्तु श्लोकवार्त्तिकों ने इस व्याख्यान से सम्बद्ध प्रत्येक पक्ष की शंकाओं की उद्भावना की है तथा उनका समाधान रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। निष्कर्षतः महाभाष्य के महत्त्व प्रतिपादन में श्लोकवार्त्तिकों का महत्त्वपूर्ण योगदान है यह कथन असंगत प्रतीत नहीं होता।

---

१ The elision takes place also before the affix asthis as This is found fin the Athrvaveda. Vasuk, S.C., Aśṭā.Vol.II, p.1305.

२ भवे छन्दसि। अ.सू.४.४.११०

३ असिद्धवदत्राभात्। वही ६-४-२२

४ कादिलोपस्य असिद्धवदक्रमात् इत्यासिद्धत्वात् यस्य इति लोपो न भवति। कैयट - प्रदीप.व्या.म.२,पृ.९६७.

उपसंहार

संस्कृत व्याकरणाध्ययन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वेदों का अध्ययन भी व्याकरण के द्वारा ही पूर्ण समझा जाता है। संस्कृत व्याकरण को 'त्रिमुनिव्याकरणम्' इस आभाणक से विभूषित किया जाता है। इसका कारण यह है कि व्याकरणाध्ययन का विशाल सागर इसी त्रिवेणी के संगम से आप्लावित और यह त्रिवेणी — पाणिनि कात्यायन तथा पतञ्जलि हैं। आचार्य पाणिनि ने सूत्रात्मक ग्रन्थ अष्टाध्यायी की रचना की। इन्होंने भाषा में प्रचलित प्रयोगों को सूत्रात्मक शैली में निबद्ध करने का सफल प्रयास किया।

आचार्य पाणिनि के अष्टाध्यायी ग्रन्थ के पश्चात् प्रचलित प्रयोगों की सिद्धि के लिये कात्यायन ने वार्त्तिकों का प्रणयन क्रिया जो सूत्रों में प्रतिपादित विषय का व्याख्यान, उनमें अनुक्त विषय का ग्रहण तथा दोषयुक्त का परिहार करते हैं। सामान्य वार्त्तिकों की परम्परा में ही छन्दोबद्ध वार्त्तिक भी प्राप्त होते हैं जिन्हें श्लोकावार्त्तिक कहा जाता है। इन श्लोकवार्त्तिकों को 'कारिका' नाम से अभिहित किया गया है। सम्पूर्ण महाभाष्य में लगभग २६० श्लोकवार्त्तिक हैं। जिनमें सूत्रोक्त तथा वार्त्तिकोक्त व्याकरणात्मक सिद्धान्तों का प्रतिपादन वार्त्तिकों की अपेक्षा सरल रोचक शैली में किया गया है इन २६० श्लोकों के अतिरिक्त अन्य सूत्रों पर भी महाभाष्य में श्लोक उद्धृत हैं परन्तु समस्तश्लोक श्लोकवार्त्तिक नही है। जिन श्लोको में सूत्रोक्त पदों की व्याख्या, सूत्रोक्त पदों का प्रत्याख्यान तथा उनसे सम्बद्ध किसी भी पक्ष की उद्भावना भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से की है तथा उनका समाधान किया गया है। उन्हीं को श्लोकवार्त्तिक माना जा सकता है। इसी आधार पर श्लोकवार्त्तिकों का अध्ययन किया गया है।

सामान्य वार्त्तिकों पर नागेश भट्ट, कैयट, भर्तृहरि आदि वैयाकरणों ने शब्दार्थ मात्र व्याख्यान किया है तथा डा. वेदपति मिश्र आदि विद्वानों ने वार्त्तिकों के उद्देश्य, प्रतिपादित विषय से सम्बद्ध अध्ययन प्रस्तुत किया है। श्लोकवार्त्तिकों के स्वरूप से सम्बद्ध विचार प्रो. कीहार्न, प्रो. गोल्डस्टूकर तथा डा. रामसुरेश त्रिपाठी ने प्रस्तुत किये हैं। कर्तृत्व से सम्बद्ध पर्याप्त अध्ययन किया गया है तथा अव्याख्यात, व्याख्यात तथा अंशतः व्याख्यात श्रेणियों में विभक्त करके उस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया गया है।

श्लोकवार्त्तिकों के कर्तृत्व का विवेचन उनमें प्रतिपादित विषय के आधार पर किया गया है । अर्थात् जिन श्लोकवर्त्तिकों में वार्त्तिकों द्वारा प्रतिपादित विषय की पुनरावृत्ति प्राप्त होती है उन्हें कात्यायन प्रणीत श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है । जिन श्लोकवार्त्तिकों पर सम्पुटीकरण-भाष्य नहीं है उन्हे भाष्यकार-कृत कहा जा सकता है । कुछ श्लोकवार्त्तिक प्राचीन वैयाकरणों व्याघ्रभूति, गौनर्दीय आदि के द्वारा निबद्ध है जिनका संग्रह भाष्यकार ने किया है ।

श्लोकवार्त्तिकों में प्रतिपादित विषय के अनुसार श्लोकवार्त्तिकों का निम्न प्रकार से वर्गीकरण करके यथासम्भव विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

कुछ श्लोकवार्त्तिकों में प्रयोजन से सम्बद्ध विवेचन प्राप्त होता है । सूत्रोक्त पदों का प्रयोजन स्पष्ट करने के लिए तथा वार्त्तिकों का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये जो श्लोकवार्त्तिक उद्धृत है उन्हें प्रयोजनात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है ।

सूत्रोक्त पदों, सूत्र वार्त्तिक प्रयोजन सिद्ध न होने पर उन्हे निष्प्रयोजन स्वीकार कर लिया गया है । अतः जिन श्लोकवार्त्तिकों में सूत्र अथवा वार्त्तिक का प्रत्याख्यान प्राप्त होता है उन्हे प्रत्याख्यानात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है । सूत्रों से अथवा वार्त्तिकों से सम्बद्ध शंकाओ की उद्‌भावना श्लोकवार्त्तिकों के माध्यम से की गई है तथा उनका समाधान भी साथ-साथ प्रस्तुत किया गया है । कुछ श्लोकवार्त्तिकों में केवल शंका अथवा समाधान मात्र ही प्राप्त होता है । अतः इन्हें शंका समाधानात्मक श्लोकवार्त्तिक कहा जा सकता है ।

भाष्यकार ने श्लोकवार्त्तिकों के उद्धरण में एक विशिष्ट शैली का प्रतिपादन किया है । पहले श्लोकवार्त्तिक की सामान्य वार्त्तिकों के समान व्याख्या करके पुनः सम्पूर्ण श्लोकवार्त्तिक को संगृहीत रूप मे पढ़ा है । ऐसे श्लोकवार्त्तिकों को संग्रह-श्लोक या सार श्लोक अभिधान से अभिहित करना संगत प्रतीत होता है । सूत्रोक्त पदों की पूर्व व्याख्या प्रस्तुत करने के लिये श्लोकवार्त्तिकों में उनके निर्वचन प्राप्त होते हैं तथा कुछ श्लोकवार्त्तिकों में प्रकृति प्रत्यय निर्देश से शब्दों की व्युत्पत्ति सिद्ध की है उन्हें निर्वचनात्मक तथा व्युत्पत्यात्मक श्लोकवार्त्तिक कहना उपयुक्त प्रतीत होता है ।

सूत्रोक्त विषय का अथवा सूत्रोक्त पदों का स्पष्टीकरण करने के लिये अनेक श्लोकवार्त्तिक निबद्ध हैं जिनमें सत्रों अथवा वार्त्तिकों का स्पष्टीकरण करते हुये सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है । इसके अतिरिक्त कुछ श्लोक-

वार्त्तिकों में अनुक्त विषय का प्रतिपादन अथवा सूत्रों का अधिकारात्मक निर्देश उपलब्ध होता हैं। तत्कालीन क्रीडा नियमों का संकेत, व्यापार से सम्बद्ध शब्दों का निर्देश भी श्लोकवार्त्तिकों में प्राप्त होता है।

निष्कर्षतः यह कहना असंगत प्रतीत नहीं होता कि भाष्य को 'महाभाष्य' विशिष्टाभिधान से अलंकृत कराने में श्लोकवार्त्तिकों का महत्त्वपूर्ण योगदान है क्योंकि श्लोकवार्त्तिकों की रचना का उद्देश्य व्याकरण के दुरूह और शुष्क नियमों को अपेक्षाकृत सरल एवं रोचक ढंग से प्रस्तुत करना है। श्लोकवार्त्तिकों के अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि श्लोकवार्त्तिकों के अस्तित्व से रहित व्याकरणशास्त्र अपूर्ण प्रतीत होता है।

अथ प्रथमोऽध्यायः

पतञ्जलिकृत महाभाष्ये श्लोकवार्त्तिकानि

व्याकरणमहाभाष्य-परिशिष्टम्

अइउण् । प्र.सू.१

स्थानी प्रकल्पयेदेतावनुस्वारो यथा यणम् ।

हयवरट् । प्र.सू.५

अनुवर्तते विभाषा शरोऽचि, यद्वारयत्ययं द्वित्वम् ।

नित्ये हि तस्य लोपे, प्रतिषेधार्थो न कश्चित् स्यात् ॥

लण् । प्र.सू.६

असन्दिग्धं पराभावात् सवर्णेऽण् तपरं ह्युरऋत् ।

य्वोरन्यत्र परेणेण् स्यात्, व्याख्यानाच्च द्विरूक्तितः ॥

ञमङणनम् । झभञ् । प्र.सू.७

अक्षरं न क्षरं विधात्, अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम् ।

वर्णं वाऽऽहुः पूर्वसूत्रे, किमर्थमुपदिश्यते ॥

इको झल् ॥ १.२.९ ॥

१. इकः कित्त्वं गुणो मा भूद्दीर्घारम्भात्कृते भवेत् ।

अनर्थकं तु ह्रस्वार्थं दीर्घाणां तु प्रसज्यते ॥ १ ॥

२. सामर्थ्याद्धि पुनर्भाव्यमृदित्त्वं दीर्घसंश्रयम् ।

दीर्घाणां नाकृते दीर्घे णिलोपस्तु प्रयोजनम् ॥ २ ॥

स्थाघ्वोरिच्च ॥ १.२.१७ ॥

३. इच्च कस्य तकारेत्त्वं दीर्घो मा भूदृतेऽपि सः ।

अनन्तरे प्लुतो मा भूत् प्लुतश्च विषये स्मृतः ॥

न क्त्वा सेट् ॥ १.२.१८ ॥

४. न सेडिति कृतेऽकित्त्वे निष्ठायामवधारणात् ।
ज्ञापकान्न परोक्षायां सनि झल्ग्रहणां विदुः ॥ १ ॥

५. इत्त्वं कित्संनियोगेन रेण तुल्यं सुधीवनि ।
वस्वर्थं किदतीदेशान्निगृहीतिः क्त्वा च विग्रहात् ॥ २ ॥

इद् गोण्याः ॥ १.२.५० ॥

६. इद् गोण्या नेति वक्तव्यं ह्रस्वता हि विधीयते ।
इति वा वचने तावन्मात्रार्थं बा कृतं भवेत् ॥ १ ॥

७. गोण्या इत्त्वं प्रकरणात् सूच्याद्यर्थमथापि वा ॥

लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने ॥ १.२.५१ ॥

८. प्रागपि वृत्तेर्युक्तं वृत्तं चापीह यावता युक्तम् ।
वक्तुश्च कामंचारः प्राग्वृत्तेर्लिङ्गसङ्ख्ये ये ॥

सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ ॥ १.२.६४ ॥

९. संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गम्...... ।
संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्रट् स्त्री सूतेः सप् प्रसवे पुमान् ॥

भूवादयो धातवः ॥ १.३.१ ॥

१०. [१]भूवादीना वकारोऽयं मङ्गलार्थः प्रसुज्यते

स्वरितेनाधिकारः ॥ १.३.३१ ॥

११. अधिकारगतिस्त्रयर्था विशेषायाधिकं कार्यम् ।
अथ योऽन्याऽधिकः कारः पूर्वं विप्रतिषेधार्थः सः ॥

दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे ॥ १.३.५५ ॥

१२. सहयुक्ते तृतीया स्याद् व्यतिहारे तङो विधिः ।

बहुषु बहुवचनम् ॥ १.४.२१ ॥

---

१ 'भुवो वार्थं वदन्तीति भ्वर्था वा वादयः स्मृता' इत्युत्तरार्धं काशिकादिषु दृश्यते ।

१३. सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङाम् ।
प्रसिद्धो नियमस्तत्र नियमः प्रकृतेषु वा ॥

अकथितं च ॥ १.४.५१ ॥

१४. दुहियाचिरूधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ ।
ब्रुविशासिगुणेन न च यत्सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना ॥ १ ॥

१५. कथिते लादयश्चेत्स्युः षष्ठीं कुर्यात्तदा गुणे ।
अकारकं ह्यकथितत्वात् कारकं चेत्तु नाकथा ॥ २ ॥

१६. कारकं चेद्विजानीयाद्यां यां मन्येत सा भवेत् ॥

१७. कथितेऽभिहिते त्वविधिस्त्वमतिर्गुणाकर्मणि लादिविधिः सपरे ।
ध्रुवचेष्टितयुक्तिषु चाप्यगुणे तदनल्पमतेर्वचनं स्मरत ॥ ३ ॥

१८. प्रधानकर्मणयाख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम् ।
अप्रधाने दुहादीनां णयन्ते कर्तुश्च कर्मणाः ॥ ४ ॥

१९. नीवह्योर्हरतेश्चापि गत्यर्थानां तथैव च ।
द्विकर्मकेषु ग्रहणां द्रष्टव्यमिति निश्चयः ॥ ५ ॥

२०. ....सिद्धं वाप्यन्यकर्मणा ।
अन्यकर्मेति चेद्ब्रूयाल्लादीनामविधिर्भवेत् ॥ ६ ॥

२१. कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम् ।
विपरीतं तु यत्कर्म तत्कल्म कवयो विदुः ॥ ७ ॥

प्राग्रीश्वरान्निपाताः ॥ १.४.५६ ॥

२२. रीश्वराद्वीश्वरान्मा भूत् कृन्मेजन्तः परोऽपि सः ।
समासेष्वव्ययीभावो लौकिकं चातिवर्तते ॥

परः संनिकर्षः संहिताः ॥ १.४.१०९ ॥

२३. बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्ता धीरस्तत्वन्नीतिः ।
शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम् ॥

अथ प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

समर्थः पदविधिः ॥ २.१.१ ॥

२४. सुबलोपो व्यवधानं यथेष्टमन्यतरेणाभिसम्बन्धः स्वरः ।
संख्याविशेषो व्यक्ताभिधानमुपसर्जनविशेषणां चयोगः ॥

अक्षशलाकासंख्याः परिणा ॥ २.१.१० ॥

२५. अक्षादयस्तृतीयान्ताः पूर्वेक्तस्य यथा न तत् ।
कितव्यवहारे च एकत्वेऽक्षशलाकयोः ॥

क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ् ॥ २.१.६० ॥

२६. अवधारणां नञा चेन्नुडिड्विशिष्टेन न प्रकल्पेत ।
अथ चेदधिकविवक्षा कार्यं तुल्यप्रकृतिकेनेति ॥

कर्मणि द्वितीया ॥ २.३.२ ॥

२७. उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु ।
द्वितीयाम्रे डितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥

हेतौ ॥ २.३.२३ ॥

२८. निमित्तकारणाहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम् ।

अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति ॥ २.४.३६ ॥

२९. जग्धिविधिर्ल्यपि यत्तदकस्मात्सिद्धमदस्ति कितीति विधानात् ।
हिप्रभृतींस्तु सदा बहिरङ्गो ल्यब्भरतीति कृतं तदु विद्धि ॥ १ ॥

३०. जग्धौ सिद्धेऽन्तरङ्गत्वात्ति कितीति ल्यबुच्यते ।
ज्ञापयत्यन्तरङ्गाणां ल्यपा भवति बाधनम् ॥ २ ॥

लुटः प्रथमस्य डारौरसः ॥ २.४.८५ ॥

३१. डारौरसः कृते टेरे यथा द्वित्वं प्रसारणो ।
समसंख्येन नार्थोऽस्ति सिद्धं स्थानेऽर्थतोऽन्तराः ॥ १ ॥

३२. आन्तर्यतो व्यवस्था त्रय एवेमे भवन्तु सर्वेषाम् ।
टेरेत्वं च परत्वात् कृतेऽपि तस्मिन्निमे सन्तु ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् ॥ ३.१.२२ ॥

१. [१]वाच्य ऊर्णोर्णुवद्भावो यङ्प्रसिद्धिः प्रयोजनम् ।
आमश्च प्रतिषेधार्थमेकाचश्चेडुपग्रहात् ॥

कण्ड्वादिभ्यो यक् ॥ ३.१.२७ ॥

२. धातुप्रकरणाद्धातुः कस्य चासञ्जनादपि ।
आह चायमिमं दीर्घं मन्ये धातुर्विभाषितः ॥

णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ् ॥ ३.१.४८

३. नाकमिष्टसुख यान्ति सुयुक्तैर्वडवारथैः ।
अथ पत्काषिणो यान्ति येऽचीकमतभाषिणः ॥

सार्वधातुके यक् ॥ ३.१.६७ ॥

४. [२]सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङाम् ।
प्रसिद्धो नियमस्तत्र नियमः प्रकृतेषु वा ॥ १ ॥

५. भावकर्मणोरित्यननुवृत्त्यैव सिद्धे सत्यनुवृत्तिर्यको भावाय ।
कर्तरीति च योगविभागः श्यनः पूर्वविप्रतिषेधवचनाय ॥ २ ॥

तनादिकृञ्भ्य उः ॥ ३.१.७९ ॥

६. तनादित्वात् कृञः सिद्धं सिज्लोपे च न दुष्यति ।
चिण्वद्भावेऽत्र दोषः स्यात् सोऽपि प्रोक्तो विभाषया ॥

व्यत्ययो बहुलम् ॥ ३.१.८५ ॥

७. सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च ।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥

---

१ कारकेयं ३.१.३६ सूत्रभाष्येऽपि विद्यते ।
२ कारकेयं ३.३.१६१ सूत्रभाष्येऽप्यस्ति ।

धातोः ॥ ३.१.९१ ॥

८. आद्ये योगे न व्यवाये तिङः स्युः, न स्यादेत्वं टेष्टितां यद्विधत्ते ।
एशः शित्त्वं यच्च लोटो विद्यत्ते, यच्चाप्युक्तं लङ्लिङोस्तच्च न स्यात् ॥

भृञोऽसंज्ञायाम् ॥ ३.१.११२ ॥

९. संज्ञायां पुंसि दृष्टत्वान्न ते भार्या प्रसिध्यति ।
स्त्रियां भावाधिकारोऽस्ति तेन भार्या प्रसिध्यति ॥ १ ॥

१०. अथवा बहुलं कृत्याः संज्ञायामिति तत्स्मृतम् ।
यथा यत्यं यथा जन्यं यथा भित्तिस्तथैव सा ॥ २ ॥

राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथ्याः ॥ ३.१.११४ ॥

११. सूसर्तिभ्यां सर्तेरूत्वं सुवतेर्वा रूडागमः ।

अमावस्यदन्यतरस्याम् ॥ ३.१.१२२ ॥

१२. अमावसोरहं ण्यतोर्निपातयाम्यवृद्धिताम् ।
तथैकवृत्तिता तयोः स्वरश्च मे प्रसिध्यति ॥

छन्दसि निष्टक्र्य.....स्ताव्योपचाय्यपृडानि ॥ ३.१.१२३ ॥

१३. निष्टर्क्ये व्यत्ययं विद्यान्निसः षत्वं निपातनात् ।
ण्यदायादेश इत्येतावुपचाय्ये निपातितौ ॥ १ ॥

१४. ण्यदेकस्माच्चतुर्भ्यः क्यप् चतुर्भ्यश्च यतो विधिः ।
ण्यदेकस्माद्यशब्दश्च द्वौ क्यपौ ण्यद्विधिश्चतुः ॥ २ ॥

आनाय्योऽनित्ये ॥ ३.१.१२७ ॥

१५. आनाय्योऽनित्य इति चेद् दक्षिणाग्नौ कृतं भवेत् ।
एकयोनौ तु तं विद्यादानेयो ह्यन्यथा भवेत् ॥

आतोऽनुपसर्गे कः ॥ ३.२.३ ॥

१६. नित्यं प्रसारणं ह्वो यण् वार्णादाङ्गं न पूर्वत्वम् ।
योऽनादिष्टादचः पूर्वस्तत्कार्ये स्थानिवत्त्वं हि ॥ १ ॥

१७. प्रोवाच भगवान् कात्यस्तेनासिद्धिर्यणस्तु ते । आतः को लिणनैङः पूर्वः सिद्ध आह्वस्तथा सति ॥ २ ॥

कर्तरि भुवः खिष्णुच्खुकञौ ॥ ३.२.५७ ॥

१८. इष्णुच इकारादित्वमुदात्तत्वात् कृतं भुवः ।
नञस्तु स्वरसिद्ध्यर्थमिकारादित्वमिष्णुचः ॥

उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च ॥ ३.२.१०९ ॥

१९. नोपेयिवान्निपात्यो द्विर्वचनादिङ् भविष्यति परत्वात् ।
अन्येषामेकाचां द्विर्वचनं नित्यमित्याहुः ॥ १ ॥

२०. अस्य पुनरिट् च नित्यो द्विर्वचनं च न विहन्यते ह्यस्य ।
द्विर्वचने चैकाच्त्वात् तस्मादिड्बाधते द्वित्वम् ॥ २ ॥

परोक्षे लिट् ॥ ३.२.११५ ॥

२१. परोभावः परस्याक्षे परोक्षे लिटि दृश्यताम् ।
उत्वं वादेः परादक्ष्णः सिद्धं वाऽस्मान्निपातनात् ॥

लट् स्मे ॥ ३.२.११८ ॥

२२. स्मादिविधिः पुरान्तो यद्यविशेषेण किं कृतं भवति ।
न स्मपुराद्यतन इति ब्रुवता कात्यायनेनेह ॥ १ ॥

२३. अनुवृत्तिरनद्यतनस्य लट् स्म इति तत्र नास्ति नञ्कार्यम् ।
अपरोक्षानद्यतनौ ननौ च नन्वोश्च विनिवृत्तौ ॥ २ ॥

२४. न पुराद्यतन इति भवेदेतद्वाच्यं तत्र चापि लुङ्ग्रहणाम् ।
अथ बुद्धिरविशेषात् स्मपुरा हेतू तत्र चापि शृणु भूयः ॥ ३ ॥

२५. अपरोक्षे चेत्येष प्राक् पुरिसंशब्दनादविनिवृत्तः ।
सर्वत्रानद्यतनस्तथा सति नञा किमिह कार्यम् ॥ ४ ॥

२६. स्मादावपरोक्षे चेत्यकार्यमिति शक्यमेतदपि विद्धि ।
शक्यं हि निवर्तयितुं परोक्ष इति लट् स्म इत्यत्र ॥ ५ ॥

२७. स्यादेषा तव बुद्धिः स्मलक्षणेऽप्येवमेव सिद्धमिति ।
लट् स्म इति भवेन्नार्यस्तस्मात् कार्यं परार्थं तु ॥ ६ ॥

तौ सत् ॥ ३.२.१२७ ॥

२८. अवधारणं लृटि विधानं योगविभागतश्च विहितं सत् ।

ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः ॥ ३.२.१३९ ॥

२९. स्नोर्गित्त्वान्न स्थ ईकार क्ङितोरीत्त्वशासनात् ।
गुणाभावस्त्रिषु स्मार्यः श्र्युकोऽनिट्त्वं गकोरितोः ॥

मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च ॥ ३.२.१८८ ॥

३०. शीलितो रक्षितः क्षान्त आक्रुष्टो जुष्ट इत्यपि ।
रूष्टश्च रूषितश्चोभावभिव्याहृत इत्यपि ॥ १ ॥

३१. हृष्टतुष्टौ तथा क्रान्तस्तथोभौ संयतोद्यतौ ।
कष्टं भविष्यतीत्याहुरमृताः पूर्ववत स्मृताः ॥ २ ॥

उणादयो बहुलम् ॥ ३.३.१ ॥

३२. बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः, प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम् ।
कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तं, नैगमरूढिभवं हि सुधासु ॥ १ ॥

३३. नाम च धातुजमाह निरूक्ते, व्याकरणे शकटस्य च तोकम् ।
यत्र विशेषपदार्थसमुत्थं, प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदुह्यम् ॥ २ ॥

३४. संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।
कार्याद्विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥ ३ ॥

हेतुहेहेतुमतोर्लिङ् ॥ ३.३.१५६ ॥

३५. देव[१]त्रातो गलो ग्राह इतियोगे च सद्विधिः ।
मिथस्ते न विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः ॥

विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् ॥ ३.३.१६१ ॥

---

१ श्लोकवार्त्तिकमिदं ७.४.४१ सूत्रेऽपि विद्यते ।

३६. सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङाम् ।
प्रसिद्धो नियमस्तत्र नियमः प्रकृतेषु वा ॥
करणे हन्तेः पूर्वविप्रतिषेधो वार्तिकेनैव ज्ञापितः ।

॥ तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

स्त्रियाम् ॥ ४.१.३ ॥

३८. स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरूषः स्मृतः ।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुसकम् ॥ १ ॥

३९. लिङ्गात् स्त्रीपुंसयोर्ज्ञानि भ्रूकु से टाप् प्रसज्यते ।
नत्वं खरकुटीः पश्य खट्वावृक्षौ न सिध्यतः ॥ २ ॥

४०. नापुंसकं भवेत्तस्मिन् तदभावे नपुंसकम् ॥ ३ ॥

४१. असत्तु मृगतृष्णावत्, गन्धर्वनगरं यथा ।
आदित्यगतिवत्सन्न, वस्त्रान्तर्हितवच्च तत् ॥ ४ ॥

४२. तयोस्तु तत्कृतं दृष्ट्वा यथाकाशेन ज्योतिषः ।
अन्योऽन्यसंश्रयं त्वेतत् प्रत्यक्षेण विरुध्यते ॥ ५ ॥

४३. तटे च सर्वलिङ्गानि दृष्ट्वा कोऽध्यवस्यति ।
संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्ततः ॥ ६ ॥

४४. संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्रट् स्त्री सूतेः सप् प्रसवे पुमान् ।
तस्योक्तौ लोकतो नाम गुणो वा लुपि युक्तवत् ॥ ७ ॥

न षट्स्वस्रादिभ्यः ॥ ४.१.१० ॥

४५. षट्संज्ञानामन्ते लुप्ते टाबुत्पत्तिः कस्मात्र स्यात् ।
प्रत्याहाराच्चापा सिद्धं दोषस्त्वित्त्वे तस्मान्नोभौ ॥

सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः ॥ ४.१.१८ ॥

४६. कण्वात्तु शकलः पूर्वः कतादुत्तर इष्यते ।
पूर्वोत्तरौ तन्तादी ष्फाणौ तत्र प्रयोजनम् ॥

अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक् ॥ ४.१.३२ ॥

४७. अन्तर्वत्पतिवतोस्तु मतुब्वत्वे निपातनात् ।
गर्भिण्यां ज़ीवपत्यां च वा च च्छन्दसि नुग्भवेत् ॥

वोतो गुणवचनात् ॥ ४.१.४४ ॥

४८. सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते ।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणाः ॥

अपर आह—

४९. उपैत्यन्यज्जहात्यन्यद् दृष्टो द्रव्यान्तरेष्वपि ।
वाचकः सर्वलिङ्गानां द्रव्यादन्यो गुणः स्मृतः ॥

स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् ॥ ४.१.५४ ॥

५०. अद्रवं मूर्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम् ।
अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तस्य चेत्तत्तथा युतम् ॥

जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ॥ ४.१.६३ ॥

५१. आकृतिग्रहणां जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक् ।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह ॥

अपर आह—

५२. प्रादुर्भावविनाशाभ्यां सत्त्वस्य युगपद्गुणैः ।
असर्वलिङ्गां बह्वर्थां तां जातिं कवयो विदुः ॥

अणिञोरनार्षयर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे ॥ ४.१.७८ ॥

५३. प्रकर्षे चेत्तमं कृत्वा दाक्ष्या नोपोत्तमं गुरू ।
आम्विधिः केन ते न स्यात् प्रकर्षे यद्ययं तमः ॥ १ ॥

५४. उद्गतस्य प्रकर्षोऽयं गतशब्दोऽत्र लुप्यते ।
नाव्ययार्थप्रकर्षोऽस्ति धात्वर्थोऽत्र प्रकृष्यते ॥ २ ॥

५५. उद्गतोऽपेक्षते किञ्चित् त्रयाणां द्रौ किलोद्गतौ ।
चतुष्प्रभृतिकर्तव्यो वाराह्यां न सिध्यति ॥ ३ ॥

५६. भिद्यतेऽस्य स्वरस्तेन विधिश्चामो न लक्ष्यते ।
शब्दान्तरमिदं विद्याद् दृष्टमभ्यन्तरं त्रिषु ॥ ४ ॥

५७. अनुबन्धौ त्वया कार्यौ चाबर्थं टाब्विधिर्मम ।
उक्तेऽपि हि भवन्त्येते......... ॥ ५ ॥

५८. अस्थानिवत्त्वे दोषस्त वृद्धिरत्र न सिध्यति ।
त्वयाप्यत्र विशेषार्थं कर्तव्यं स्याद्विशेषणम् ॥

५९. अक्रियैव विशेषोत्र सानुबन्धो विशेषवान् ।
पाश्यायां ते कथं नन स्यादेको मे स्याद्विशेषणम् ॥ ७ ॥

६०. अन्यस्मिन् सूत्रभेदः स्यात् षिति लिङ्गं प्रसज्यते ।
ङिति चेक्रीयिते दोषो व्यवधानान्न दुष्यति ॥ ८ ॥

६१. योऽनन्तरो न धातुः स यो धातुः सोऽनन्तरः ।
न चेदुभयतः साम्यमुभयत्र प्रसज्यते ॥ ९ ॥

६२. यङा विशेष्येत यदीह धातुर्यङ् धातुना वा यदि तुल्यमेतत् ।
उभौ प्रधानं यदि नात्र दोषस्तथा प्रसार्येत तु वाक्पतिस्ते ॥ १० ॥

६३. धातुप्रकरणस्येह न स्थानमिति निश्चयः ।
आत्त्वार्थं यदि कर्तव्यं तत्रैवैतत् करिष्यते ॥ ११ ॥ड

६४. उपदेसे यदजन्तं तस्य चेदात्त्वमिष्यते ।
उद्देशो रूढिशशब्दानां तेन गौर्न भविष्यति ॥ १२ ॥

गोत्रेऽलुगचि ॥ ४.१.८९ ॥

६५. भूम्नीति च लुक् प्राप्तो बाह्ये चार्थे विधीयतेऽजादिः ।
बहिरङ्गमन्तरङ्गाद्विप्रतिषेधादयुक्तं स्यात् ॥ १ ॥

६६. भूम्नि प्राप्तस्य लुको यदजादौ तद्धितेऽलुकं शास्ति ।
एतद्ब्रवीति कुर्वन् समानकालावलुग्लुक् च ॥ २ ॥

६७. यदि वा लुकः प्रसङ्गे भवत्यलुक् छस्तथा प्रसिद्धोऽस्य ।
लुग्वालुकः प्रसङ्गं प्रतीक्षते छेऽलुंगस्य तथा ॥ ३ ॥

यूनि लुक् ॥ ४.१.९० ॥

६८. [१]राजन्याद्बुञ् मनुष्याच्च ज्ञापकें लौकिकं परम् ॥

तस्यापत्यम् ॥ ४.१.९२ ॥

६९. तस्येदमित्यपत्येऽपि बाधनार्थं कृतं भवेत् ।
उत्सर्गः शेष एवासौ वृद्धान्यस्य प्रयोजनम् ॥

एको गोत्रे ॥ ४.१.९३ ॥

७०. अपत्यं समुदायश्चेन्नियमोऽत्र समीक्षितः ।
तस्मिन् सुबहवः प्राप्ता नियमोऽस्य भविष्यति ॥

स्त्रीभ्यो ढक् ॥ ४.१२० ॥

७१. वडवाया वृषे वाच्ये अणा क्रुञ्चाकोकिलात् स्मृतः ।
आरक् पुंसि ततोऽन्यत्र गोधाया ढ्रग्विधौ स्मृतः ॥

मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च ॥ ४.१.१६१ ॥

७२. अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः ।
नकारस्य च मूर्धन्यस्तेन सिध्यति माणवः ॥

वान्यस्मिन् सपपिण्डे स्थवितरे जीवति ॥ ४.१.१६५ ॥

७३. गोत्रयूनोः समावेशे को दोषस्तत्कृतं भवेत् ।
यस्कादिंषु न दोषोऽस्ति न यूनीत्यनुवर्तनात् ॥ १ ॥

७४. दोषोऽत्रिबिदपञ्चाला न यूनीत्यनुवर्तनात्
कण्वादिषु न दोषोऽस्ति न यून्यस्ति ततः परम् ॥ २ ॥

७५. एको गोत्रे प्रतिपदं गोत्राद् यूनि च तत स्मरत् ।
[२]राजन्याद्बुञ् मनुष्याच्च ज्ञापकं लौकिक परम् ॥ ३ ॥

दृष्टं साम ॥ ४.२.७ ॥

---

१ पूर्वार्धं त्वस्य ४.१.१६५ सूत्रे द्रष्टव्यम् ।
२ इदं ४.१.९० सूत्रेऽप्यस्ति ।

७६. दृष्टे समनि जाते चाप्यण् डिद्वद्विर्वा विधीयते
तीयादींकग् न विद्याया गोत्रादङ्कवदिष्यते ॥

वामदेवाड्ड्यड्यौ ॥ ४.२.९ ॥

७७. सिद्धे यस्येति लोपेन किमर्थं ययतौ डितौ ।
ग्रहणं मातदर्थे भूद् वामदेवस्य नञ्स्वरे ॥

कौमारापूर्ववचने ॥ ४.२.१३ ॥

७८. कौमारापूर्ववचने कुमार्या अण विधीयते ।
अपूर्वत्वं यदा तस्याः कुमार्यां भवतीति वा ॥

खण्डिकादिभ्यश्च ॥ ४.२.४५ ॥

७९. अञ्सिद्धिरनुदात्तादेः कोऽर्थः क्षुद्रकमालवात् ।
गोत्राद्वुञ् न च तद्गोत्रं तदन्तान्न स सर्वतः ॥ १ ॥

८०. ज्ञापकं स्यात्तदन्तत्वे तथा चापिशलेर्विधिः ।
सेनायां नियमार्थं वा यथा बाध्येत वाञ् वुञा ॥ २ ॥

क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक् ॥ ४.२.६० ॥

८१. अनुसूर्लक्ष्यलक्षणे सर्वसादेर्द्विगोश्व ल ।
इकन् पदोत्तरपदात् शतषष्टेः षिकन् पथः ॥

कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलङ्कारेषु ॥ ४.२.९६ ॥

८२. ....कुक्षिग्रीवात्तु कन् ढञ् ।

अव्ययात्त्यप् ॥ ४.२.१०४ ॥

८३. अमेहक्वतसित्रेभ्यस्त्यब्विधिर्योऽव्ययात् स्मृतः ।

अन्तःपूर्वपदाट्ठञ् ॥ ४.३.६० ॥

८४. समानस्य तदादेश्च अध्यात्मादिषु चेष्यते ।
ऊर्ध्वं दमाच्च देहाच्च लोकोत्तरपदस्य च ॥ १ ॥

८५. मुखपार्श्वतसोरीयः कुग्जनस्य परस्य च ।
ईयः कार्योऽथ मध्यस्य मण्मीयौ चापि प्रत्ययौ ॥ २

८६. मध्यो मध्यं दिनण् चास्मात् स्थाम्नो लुगजिनात्तथा ।
बाह्यो दैव्यः पाञ्चजन्यो गाम्भीर्यं च ञ्य इष्यते ॥ ३ ॥

विदूराञ्ञ्यः ॥ ४.३.८४ ॥

८७. वालवायो विदूरं च प्रकृत्यन्तरमेव वा ।
न वै तत्रेति चेद्ब्रूयाज्जित्वरीवदुपाचरेत् ॥

तस्य विकारः ॥ ४.३.१३३ ॥

८८. [१] ....बाधनार्थं कृतं भवेत् ।
उत्सर्गः शेष एवासौ............ ॥

आकर्षात् ष्ठल् ॥ ४.४.९ ॥

८९. आकर्षात् पर्पादेर्भस्त्रादिभ्यः कुसीदसूत्राच्च ।
आवसथात् किसरादेः षितः षडेते ठगधिकारे ॥

॥ चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक् ॥ ५.१.१९ ॥

१. ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणां तु सर्वतः ।
आयामस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या बाह्या तु सर्वतः ॥ १ ॥

२. भेदमात्रं ब्रवीत्येषा नैषा मानं कुतश्चन ॥

प्रमाणे द्वयसज्दघ्नज्मात्रचः ॥ ५.२.३७ ॥

३. प्रमाणं प्रत्ययार्थो,न, तद्वति, अस्येति वर्तनात् ।
प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतौ मम ॥ १ ॥

४. प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यं डट्स्तोमे शच्शनोर्डिनिः ।
प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये ॥ २ ॥

यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ॥ ५.२.३९ ॥

---

१ कृत्स्नं तु ४.१.९२ सूत्रे द्रष्टव्यम् ।

५. डावतावर्थवैशेष्यान्निर्देशः पृथगुच्यते ।
मात्राद्यप्रतिघाताय भावः सिद्धश्च डावतोः ॥

तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः ॥ ५.२.४५ ॥

६. अधिके समानजाताविष्टं शतसहस्त्रयोः ।
यस्य संख्या तदाधिक्ये डः कर्तव्यो मतो मम ॥

संख्याया गुणस्य निमाने मयट् ॥ ५.२.४७ ॥

७. ....निमेये चापि दृश्यते ।

तस्य पूरणे डट् ॥ ५.२.४८ ॥

८. प्रकृत्यर्थाद्बहिः सर्वा वृत्तिः प्रायेण लक्ष्यते ।
पूरणे स्यात् कथं वृत्तिर्वचनादिति लक्ष्यताम् ॥ १ ॥

९. तस्याः पूर्वा तु या संख्या तस्या भवतु तद्धितः ।
आदेशश्चोत्तरा संख्या तथा न्याय्या भविष्यति ॥ २ ॥

१०. न्यूने वा कृत्स्नशब्दोऽयं पूर्वस्यामुत्तरा यदि ।
सामर्थ्यं च तया तस्यास्तथा न्याय्या भविष्यति ॥ ३ ॥

११. अन्योऽन्यं वा व्यपाश्रित्य सर्वस्मिन् द्वयादयो यदि ।
प्रवर्तन्ते तथा न्याय्या वृत्तिर्भवति पूरणे ॥ ४ ॥

१२. बहूनां वाचिका संख्या पूरणश्चैक इष्यते ।
अन्यत्वादुभयोर्न्याय्या वाक्षीं शाखा निदर्शनम् ॥ ५ ॥

तदस्यास्त्यास्मिन्निति मतुए ॥ ५.२.९४ ॥

१३. शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थिकः ।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सनन्तान्न सनिष्यते ॥ १ ॥

१४. भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥ २ ॥

१५. ....सन्मात्रे चर्षिदर्शनात् ।

अत इनिठनौ ॥ ५.२.११५ ॥

१६. एकाक्षरात् कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ ।

व्रीह्यादिभ्यश्च ॥ ५.२.११६ ॥

शिखादिभ्य इनिर्वाच्य इकन् यवखदादिषु ॥

अतिशायने तमबिष्ठनौ ॥ ५.३.५५ ॥

१७. शैत्यर्थः कारितार्थो वा निर्देशोऽयं समीक्षितः ।
शैत्यर्थे नास्ति वक्तव्यं कारितार्थं ब्रवीमि ते ॥ १ ॥

१८. गुणी वा गुणसंयोगादद् गुणो वा गुणिना यदि ।
अभिव्यज्येत संयोगात् कारितार्थो भविष्यति ॥ २ ॥

१९. पूर्वेण स्पर्धमानोऽयं मध्यमो लभते सितः ।
परस्मिन् न्यूनतामेति न च न्यूनः प्रवर्तते ॥ ३ ॥

२०. अपेक्ष्य मध्यमः पूर्वमाधिक्यं लभते सितः ।
परस्मिन् न्यूनतामेति यथाऽमात्यः स्थिते नृपे ॥ ४ ॥

२१. अस्तु वापि तरस्तस्मान्नापशब्दो भविष्यति ।
वाचकश्चेत् प्रयोक्तव्यो वाचकश्चेत् प्रयुज्यताम् ॥ ५ ॥

कुत्सिते ॥ ५.३.७४ ॥

२२. स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम् ।
समवेतस्य च वचने लिङ्गं वचनं विभक्तिं च ॥ १ ॥

२३. अभिधाय तान् विशेषानपेक्षमाणश्च कृत्स्नमात्मानम् ।
प्रियकुत्सनादिषु पुनः प्रवर्ततेऽसौ विभक्त्यन्तः ॥ २ ॥

ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः ॥ ५.३.८३ ॥

२४. चतुर्थादनजादौ च लोपः पूर्वपदस्य च ।
अप्रत्यये तथैवेष्ट उवर्णाल्ल इलस्य च ॥

पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

एकाचो द्वे प्रथमस्य ॥ ६.१.१ ॥

२५. तावेव सुप्तिङौ यौ ततः परौ सैव च प्रकृतिराद्या ।
आदिग्रहणं प्रकृतं समुदायपदत्वमेतेन ॥

बन्धुनि बहुव्रीहौ ॥ ६.१.१४ ॥

२६. मातृज्मातृकमातृषु ष्यङ् प्रसार्यो विभाषया ।

इको यणचि ॥ ६.१.७७ ॥

२७. जश्त्वं न सिद्धं यणमत्र पश्य यश्चापदान्तो हलचश्च पूर्वः ।
दीर्घस्य यण ह्रस्व इति प्रवृत्तं सम्बन्धवृत्त्या गुणवृद्धिबाध्यः । १ ।

२८. नित्ये च यः शाकलभाक् समासे तदर्थमेतद् भगवांश्चकार ।
सामर्थ्ययोगान्न हि किञ्चिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात् । २ ।

आद् गुणः ॥ ६.१.८७ ॥

२९. आदेकश्चेद्गुणः केन स्थानेऽन्तरतमो हि सः ।
ऐदौतौ नैचि तावुक्तावृकारो नोभयान्तरः ॥ १ ॥

३०. आकारो नर्ति धातौ स प्लुतश्च विषये स्मृतः ।
आन्तर्यात् त्रिचतुर्मात्रास्तपरत्वान्न ते स्मृताः ॥ २ ॥

तस्माच्छसो न पुंसि ॥ ६.१.१०३ ॥

३१. नत्वं पुंसां बहुत्वे चेत् पुंशब्दादिष्यते स्त्रियाम् ।
नपुंसके तथैवेष्टं स्त्रीशब्दाच्च प्रसज्यते ॥ १ ॥

३२. पुंशब्दादिति चेदिष्टं स्थूरापत्यं न सिध्यति ।
कुण्डिन्या अररकायाः पुंस्प्राधान्यात् प्रसिध्यति ॥ २ ॥

३३. पुंस्प्राधान्ये त एव स्युर्ये दोषाः पूर्वचोदिताः ।
तस्मादर्थे भवेन्नत्वं वध्रिकादिषु युक्तवत् ॥ ३ ॥

दिव उत् ॥ ६.१.१३१ ॥

३४. ....तदर्थं तपरः कृतः[१] ।

अनुदात्तं पदमेकवर्जम् ॥ ६.१.१५८ ॥

३५. आगमस्य विकारस्य प्रकृतेः प्रत्ययस्य च ।
पृथक्स्वरनिवृत्त्यर्थमेकवर्जं पदस्वरः ॥ १ ॥

३६. यौगपद्यं तवै सिद्धं पर्यायो रिक्तशासनात् ।
[२]उदात्ते ज्ञापकं त्वेतत् स्वरितेन समाविशेत् ॥ २ ॥

बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ ६.२.१ ॥

३७. बहुव्रीहिस्वरं शास्ति समासान्तविधेः सुकृत् ।
नञ्सुभ्यां नियमार्थं तु परस्य शितिशासनात् ॥ १ ॥

३८. क्षेपे विधिर्नञोऽसिद्धः परस्य नियमो भवेत् ।
अन्तश्च वाप्रिये सिद्धः सम्भवात् प्रकृताद्विधेः ॥ २ ॥

३९. बहुव्रीहावृते सिद्धमिष्टतश्चावधारणम् ।
द्विपाद्दिष्टैर्वितस्तेश्च पर्यायो न प्रकल्पते ॥ ३ ॥

४०. [३]उदात्ते ज्ञापकं त्वेतत् स्वरितेन समाविशेत् ॥

परादिश्छन्दसि बहुलम् ॥ ६.२.१९९ ॥

४१. परादिश्च परान्तश्च पूर्वान्तश्चापि दृश्यते ।
पूर्वादयश्च दृश्यते व्यत्ययो बहुलं स्मृतः ॥

आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ॥ ६.३.४६ ॥

४२. अन्यप्रकृतिस्त्वमहान् भूतप्रकृतौ महान् महत्येव ।
तस्मादात्त्वं न स्यात् पुंवत्तु कथं भवेदत्र ॥ १ ॥

४३. अमहति महान् हि वृत्तस्तद्वाची चात्र भूतशब्दोऽयम् ।
तस्मात् सिध्यति पुंवत् निवर्त्यमात्त्वं त्तु मन्यन्ते ॥ २ ॥

---

१ सम्पूर्णं तु ६.४.१९ सूत्रे द्रष्टव्यम् ।
२ इदं ६.२.१ सूत्रेऽपि विद्यते ।
३ इदं ६.१.१५८ सूत्रेऽपि विद्यते ।

४४. यस्तु महतः प्रतिपदं समास उक्तस्तदाश्रयं ह्यात्त्वम् ।
कर्तव्यं मन्यन्ते न लक्षणेन लक्षणोक्तश्चायम् ॥ ३ ॥

४५. शेषवचनात्तु योऽसौ प्रत्यारम्भात् कृतो बहुव्रीहिः ।
तस्मात् सिध्यति तस्मिन् प्रधानतो वा यतो वृत्तिः ॥ ४ ॥

नामि ॥ ६.४.१३ ॥

४६. नामि दीर्घ आमि चेत्स्यात् कृते दीर्घे न नुड्भवेत् ।
वचनाद्यत्र तन्नास्ति नोपधायाश्च चर्मणाम् ॥

सौ च ॥ ६.४.१३ ॥

४७. दीर्घविधिर्य इहेन्प्रभृतीनां तं विनियम्य सुटीति सुविद्वान् ।
शौ नियमं पुनरेव विदध्याद् भ्रूणहनीति तथास्य न दुष्येत् ॥ १ ॥

४८. शास्मि निवर्त्य सुटीत्यविशेषे शौ नियमं कुरू वाप्यसंमीक्ष्य ।
दीर्घविधेउपधानियमान्मे हन्त यि दीर्घविधौ च न दोषः ॥ २ ॥

४९. सुट्यपि वा प्रकृतेऽनवकाशः शौ नियमोऽप्रकृतप्रतिषेधे ।
यस्य हि शौ नियमः सुटि नैतत्तेन न तत्र भवेद्विनियम्यम् ॥ ३ ॥

च्छ्वोः शूडनुनासिके च ॥ ६.४.१९ ॥

५०. शूट्त्वे क्ङिदधिकारश्चेच्छः षत्वं तुक्प्रसङ्गश्च ।
निवृत्ते दिव ऊड्भावस्तदर्थं तपरः कृतः[1] ॥

असिद्धवदत्राभात् ॥ ६.४.२२ ॥

५१. उत्तु कृञः कथमोर्विनिवृत्तौ णोरपि चेटि कथं विनिवृत्तिः ।
अब्रुवतस्तव योगमिमं स्याल्लुक् च चिणो नु कथं न तरस्य ॥ १ ॥

५२. चं भगवान् कृतवांस्तु तदर्थं तेन भवेदिटि णोर्विनिवृत्तिः ।
म्वोरपि ये च तथाप्यनुवृत्तौ चिणलुकि च क्ङित एव हि लुक्स्यात् ।

---

१ चतुर्थश्चरणः ६.१.१३१ सूत्रेऽप्यस्ति ।

आर्धधातुके ॥ ६.४.४६ ॥

५३. अतो लोपो यलोपश्च णिलोपश्च प्रयोजनम् ।
आल्लोप ईत्त्वमेत्वं च चिणवद्भावश्च सीयुटि ॥

स्यसिच्सीयुट्तासिषु........चिणवदिट् च ॥ ६.४.६२ ॥

५४. वृद्धिश्चिणवद्युक् च हन्तेश्च घत्वं दीर्घश्चोक्तो यो मितां वा चिणीति ।
इट् चासिद्धस्तेन मे लुप्यते णिर्नित्यश्चायं वल्निमित्तो विघाती ॥

न माङ्योगे ॥ ६.४.७४ ॥

५५. अजादीनामटा सिद्धं वृद्ध्यर्थमिति चेदटः ।
अस्वपो हसतीत्यत्र धातौ वृद्धिमटः स्मरेत् ॥ १ ॥

५६. पररूपं गुणे नाट ओमाङोरूसि तत्समम् ।
छन्दोऽर्थं बहुलं दीर्घमिणस्त्योरन्तरङ्गतः ॥ २ ॥

अत उत्सार्वधातुके ॥ ६..४.११० ॥

५७. अनुप्रयोगे तु भुवास्त्यबाधनं स्मरन्ति कर्तुर्वचनान्मनीषिणः ।
लोपे द्विर्वचनासिद्धिः स्थानिवदिति चेत् कृते भवेद्द्वित्वे ॥ १ ॥

५८. नैवं सिध्यति कस्मात्प्रत्यङ्गत्वाद्भवेद्धि पररूपम् ।
तस्मिंश्च कृते लोपो दीर्घत्वं बाधकं भवेत्तत्र ॥ २ ॥

इद्दरिद्रस्य ॥ ६.४.११४ ॥

५९. न दरिद्रायके लोपो दरिद्राणे च नेष्यते ।
दिदरिद्रासतीत्येके दिदरिद्रिषतीति वा ॥

अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ॥ ६.४.१२० ॥

६०. नशिमन्योरलिट्येत्त्वं छन्दस्यमिपचोरपि ।
अनेशं मेनकेत्येतद्व्येमानं लिडि पेचिरन् ॥ १ ॥

६१. यज् आयेजे वप् आवेपे दंम्भ एत्त्वमलक्षणम् ।
श्नसोरत्त्वे तकारेण ज्ञाप्यते त्वेत्तवशासनम् ॥ २ ॥

अर्वणस्त्रसावनञः ॥ ६.४.१२७ ॥

मघवा बहुलम् ॥ ६.४.१२८ ॥

६२. अर्वणस्तृ मघोनश्च न शिष्यं छान्दसं हि तत् । मतुब्वन्योर्विधानाच्च छन्दस्युभयदर्शनात् ॥

सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः ॥ ६.४.१४९ ॥

६३. तसीत्येष न वक्तव्यो दृष्टो दाशतयेऽपि हि ।
घौ लोपोऽन्तिषदित्य तथाऽघौ येऽन्त्यथर्वसु ॥

षष्ठोध्यायः समाप्तः ।

सप्तमोऽध्यायः

अतो भिस् ऐस् । ७.१.९

१. एत्वं भिसि परत्वाच्चैदत ऐस् क्व भविष्यति ।
कृते एत्वे औतपूर्व्यादिस्तु नित्यस्तथा सति ॥

अष्टाभ्य औश् । ७.१.२१.

२. औशभावस्तु लुक्तत्र षड्भ्योऽप्येवं प्रसज्यते ।
अपवादो यस्य विषये यो वातस्मादनन्तरः ॥

३. आत्वं यत्र तु तत्रौश्त्वं तया ह्यस्याः ग्रहः कृतः ।
स्वमोर्लुक्य ह्यादादीनां कृते ह्यत्वे न लुग्भवेत् ॥

युष्मदस्मदभ्यांसौ स् । ,७.१.२७

४. सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वंनोपपद्यते ॥

अमो मश् । ७.१.४०

५. अमो मश् न मकारस्य वचनादन्यबाधनम् ।
द्वियकार ईडपृक्ते, मकारादौ न दुष्यति ॥

इकोऽपि विभक्तौ । ७.१.७३.

६. इकोऽपि व्यञ्जने मा भूदस्तु लोपः स्वरः कथम् ।
स्वरो वै श्रूयमाणेऽपि लुप्ते किं न भविष्यति ॥

७. रायात्वं तिसृभावश्च व्यवधानान्नुमा अपि ।
नड्वाच्य उत्तरार्थ तु किंचित्रपो इति ॥

त्यदादीनामः । ७.२.१०२.

८. त्यदादीनामकारेण सिद्धत्वाद्युष्मदस्मदोः ।
सैष लोपस्य लोपेन ज्ञायते प्राक्त्तोऽदिति ॥

९. अपि बोधसमस्तार्थमत्वाभावात्कृतं भवेत् ।
टिलोपष्टाबभावार्थः कर्त्तव्यः इति तत्स्मृतम् ॥

१०. अथवा शेषसप्तम्यां शेषे लोपो विधीयते ।
लुप्ते विनष्टे हि तस्याऽहु कार्यसिद्धिं मनीषिणा ॥

शाच्छोरन्यतरस्याम् । ७.४४१.

११. देवत्रातो गलो ग्राह इतियोगे च सिद्धिधिः ।
मिथस्ते न विभाव्यन्ते गवाक्षः संशितवृतः ॥

ऋतश्च ।.........७.४.९२.

१२. किरति चर्करीतान्तं पचतीत्यत्र यों नयेत् ।
प्राप्तिज्ञं तमहं मन्ये प्रारब्धस्तेन संङ्ग्रहः ॥

अष्टमोऽध्यायः

कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ । ८.१.६९.

१. सुपि कुत्सने क्रियायाः मकारलोपो तिङीति चोक्तार्थम् ।
पूतिश्चानुबन्धो विभाषितं चापि बहवर्थम् ॥

गतिर्गतौ । ८.१.७०.

२. गतिना तु विशिष्टस्य गतिरेव विशेष्यकः ।
साधने केन तु स्याद्बाह्यमाभ्यन्तरो हि सः ॥

धि च । ८.२.२५.

३. धि सकारे सिचो लोपश्चकाद्धि प्रयोजनम् ।
आशाध्वं तु कथं ते स्याज्जश्त्वं सस्य भविष्यति ॥

४. सर्वत्रमेव प्रसिद्धं स्याधृतिश्चापि न भिद्यते ।
लुङ्श्यापि व मूर्धन्ये ग्रहणं स्तरे दुष्यति ॥

५. धसिभस्योर्न सिधोत् तस्मात्सि ग्रहणं न तत् ।
छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्छतारंभमध्वरे ॥

अनुपसर्गातिफुल्लक्षीबकृशोल्लाकाः । ८.२.५५.

६. कृषे क एषः विहितादुगुपधात्, स्वरे हि दोषो भवति परिकृशे ।
पदस्य लोपो विहित इति मतं जगत्यनूना भवति हि रूचिरा ॥

भितं शकलम् । ८.२५९.

७. तत्वमभिधायकं चेच्छकलस्याऽनर्थकः प्रयोगः स्यात् ।
शकलेन चाप्यभिहिते न भवति तत्त्वं निगमयामः ॥

क्विन्प्रत्मयस्य कुः । ८.२.६२.

८. क्विन् कुरितिवक्तव्ये प्रत्ययग्रहणं कृतम् ।
क्विन् प्रत्ययस्य सर्वत्र पदन्ति कुत्वमिष्येत ॥

अदसोऽसेददि दोमः । ८.२.८०.

९. अदसो द्रे पृथक्मुत्वं केचिदिच्छन्ति तत्ववत् ।
केचिदन्त्यसंदेशस्य नेत्येकं सेर्हि हश्यते ॥

द्विस्त्रिश्यतुरिात कृत्वोर्थे । ८.३.४३.

१०. कृत्वसुजर्थे षत्वं ब्रवीति, कस्माच्चतुष्कपाले मा ।
षत्वं विभाषया भून्तु, सिद्धं तत्र पूर्वेण ॥

११. सिद्धे ह्यं विधत्ते चतुरः, षत्वं यदापि कृत्वोर्थे ।
लुप्ते कृत्वोऽर्थो ये रेफस्य विसर्जनीयो हि ॥

१२. एवं सति त्विदानीं द्वित्रिश्छतुरित्यने न किं कार्यम् ।
अन्यो हि नैदुदुपधः कृत्वोऽर्थे कश्चिदप्यस्ति ॥

१३. अक्रियमाणे ग्रहणे विसर्जनीयस्तदा विशेष्येत ।
चतुरो न सिध्यति तदा रेफस्य विसर्जनीयो हि ॥

१४. तस्मिंस्तु गृह्यमाणे युक्तं चतुरो विशेषणं भवति ।
प्रकृतं पदं तदन्तं तस्यापि विशेषणं न्यायम् ॥

नित्यं समासे नुत्तरपदस्थस्य । ८.३४५.

१५. नानापदार्थयोर्वर्तमानयोः ख्यायते यदा योगः ।
तस्मिन् षत्वं कार्यं तद्युक्तं तच्च मे नेह ॥

१६. ऐकार्थ्ये सामर्थ्ये वाक्ये षत्वं मे न प्रसज्येत ।
तस्मादिह व्यपेक्षां सामर्थ्यं साधु मन्यन्ते ।

१७. अथ चेत्कृदन्तमेतत्ततोऽधिकेनैव मे भवेत्प्राप्तिः ।
वाक्ये च मे विभाषा प्रतिषेधो न प्रकल्पेत ॥

१८. अथ चेत्संज्ञाविधानं नित्ये षत्वे ततो विभाषेयम् ।
सिद्धं च मे समासे प्रतिषेधार्थस्तु यत्नोऽयम् ॥

सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमा । ८.३.८८.

१९. सुपेः षत्वं स्वपेर्मा भूद्विसुष्वापेति केन न ।
हलादि शेषान्न सुपरिष्टं पूर्वं सम्प्रसारणम् ॥

२०. स्यादीनां नियमोनाऽत्र प्राक्सितप्दुसरा सुपि ।
अनर्थके विषुषुपुः सुपिभूतो द्विरूच्यते ॥

अ.अ । ८.४.६८.

२१. आदेशार्थं सवर्णार्थमकारो विवृतः स्मृतः ।
आकारस्य तथा ह्रस्वस्तदर्थं पाणिनेर अ ।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

मूल ग्रन्थ (संस्कृत)

अभिज्ञानशाकुन्तलम् -- डा. शिवराज शास्त्री, लीलाकमल प्रकाशन, मेरठ,

काशिकावृत्तिः भाग १-६ — स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, पं. कालिका-प्रसाद शुक्ल, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९६७.

काशिकावृत्तिः भाग १-२ — श्री नारायण मिश्र, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी-१, १९७२.

किरातार्जुनीयम् — पं. दुर्गाप्रसाद तथा काशीनाथ पाण्डुरंग, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १८९५ परब.

निरुक्तम् — मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, अध्यक्ष, संस्कृत पुस्तकालय, कूचा चेली, दरियागंज, दिल्ली, १९६४.

परिभाषेन्दुशेखर — डा.सी.आर. स्वामिनाथन, श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, १९७८.

प्रक्रियाकौमुदी भाग १-२ — कमलाशंकर, संस्कृत प्राकृत ग्रन्थ माला, प्रक्रिया कोश भाग २, १९२५.

महाभाष्य प्रदीपव्याख्यानानि भाग १-५

माधवीया धातुवृत्तिः — स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, प्राच्य भारती प्रकाशन, वाराणसी, १९६४.

मीमांसा-कोश भाग २ — प्राज्ञ पाठशाला मण्डल, १९५३.

लघुशव्देन्दुशेखरः भाग १-२ — पं. नन्दकिशोर शास्त्री, भार्गव पुस्तकालय, गायघाट,-काशी, १९३६.

वाक्यदीपयम् — काशीनाथ वासुदेव अभ्यंकर, विष्णु प्रभाकर लिमये, पूना, १९६५.

व्याकरण-महाभाष्यम् भाग १-८ — वेदव्रत स्नातक, हरियाणा साहित्य संस्थानम्, गुरुकुल झज्जर रोहतक, १९६४.

व्याकरण महाभाष्यम् (संदर्भ के लिये प्रयुक्त) भाग ५ - भूमिका — पं. भार्गव शास्त्री जोशी, सत्याभामा भाई पाण्डुरंग निर्वाण सागर प्रेस, बम्बई, १९४५.

व्याकरण-महाभाष्यम् (संदर्भ के लिये प्रयुक्त) भाग १-३ — प्रो. कीलहार्न-भण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट प्रेस, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इनस्टीट्यूट, पूना, १९७२.

व्याकरण महाभाष्यम् (नवा.) — चारूदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, संवत् २०२५.

व्याकरण महाभाष्यम् भाग २ — युधिष्ठिर मीमांसक, श्री प्यारेलाल द्रक्षा देवी न्यास, संवत् २०२९.

व्याकरण-महाभाष्यम् — काशीनाथ वासुदेव अभ्यंकर, डेक्कन ऐज्यूकेशन सोसायटी, पुणे-४, २०१५.

वैयाकरणभूषणसारः — सदाशिव शास्त्री जोशी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ आफिस, बनारस सिटी, १९३९.

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी भाग - १ — श्री बालकृष्ण शर्मा पंचोली, मोतीलाल बनारसीदास, १९६६.

शब्दकौस्तुभः — गोपालशास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ आफिस, विद्या विलास प्रेस, बनारस, १९२९.

सांख्यकारिका — पाण्डुरङ्ग जावजी, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९४०.

सिद्धान्त कौमुदी — क्षेमराज श्रीकृष्ण दास, बम्बई, १९५९.

सिद्धान्त कौमुदी लक्ष्मी टीका-उत्तरार्ध

सहायक ग्रन्थ — हिन्दी

अग्निहोत्री प्रभुदयाल — पतञ्जलिकालीन भारत, बिहार राष्ट्रभाषा प्रकाशन, १९६३.

अग्रवाल वासुदेवशरण — पाणिनिकालीन भारतवर्ष

भट्टाचार्य रमाशंकर — पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन, इण्डोलोजिक्ल बुक हाउस, १९६६.

मिश्र वेदपति — व्याकरण वार्त्तिक एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृथिवी प्रकाशन, १९७०.

मीमांसक युधिष्ठिर — संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र का इतिहास १-३, रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ सोनीपत, संवत् २०२३.

वर्मा सत्यकाम — संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७५.

शर्मा वेणीराम — यज्ञ-मीमांसा भाग-१, प्रकाश वैदिक, पुस्तकालय वाराणसी,

पत्रिका

प्राच्य प्रज्ञा — रामसुरेश त्रिपाठी, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, १९६९, अंक १, २.

English Books

Belvelkar, S.K. — Systems of Sanskrit Grammar] Bhartiya Vidya Prakashan Delhi, 1976.

Bothlingk otto — Paninis Grammatik, Georg olmss Verlag. Hildessheim New York. 1977.

Joshi. S.D. — Vayaarana Mahabhashya, University of Poons 1969.

Ladd. S.D. — Evolution of the Sansrit Language from Panini to Patanjali. Centre of Advaanced Studies in Sanssrit, 1974.

Limye. V.P. — Critical Studdies on the Mahabhasya, vishveshvaranand Institute Publications, 1974.

Sarma K.M.K. — Panini Katyayana and Patanjali
— Shri Lal Bahadur Shastri Rashriya Sanskkkrit Vidyapeeth, 1968.

Sastri P.S.S. — Lectures on Patanjali's Mahabhashya Vol. I-6, Annamalai University Sanskrit Series IV Annamalai, 1956.

Shastri S.N. — Panini - His place in Sansrit Literature (T.Goldstucker) Chowkamba sanskrit Series, offices, Varanasi, 1965.

Varma S.K. — Studies in Indology, Bhartiya Prakashan, 1976.

Vasu S.C. — Astadhyayi o Panini - Vol. I.II - Motilal Banarsidasa, Delhi, 1962.

Articles

Kielhorn F. — On The Mahabhashya, Vol.15. Indian Antiquary, March 1886.

Kielhorn F. — On the Mahabhashya - Indian Antiquary Vol.16. August 1886.

Kielhorn F. — Katyayana and Patanjali (Their relation to each other and to Panini) kliene Schrifton Tell I Frans Steiner Verlag Ombb Wiespaden - 1969.
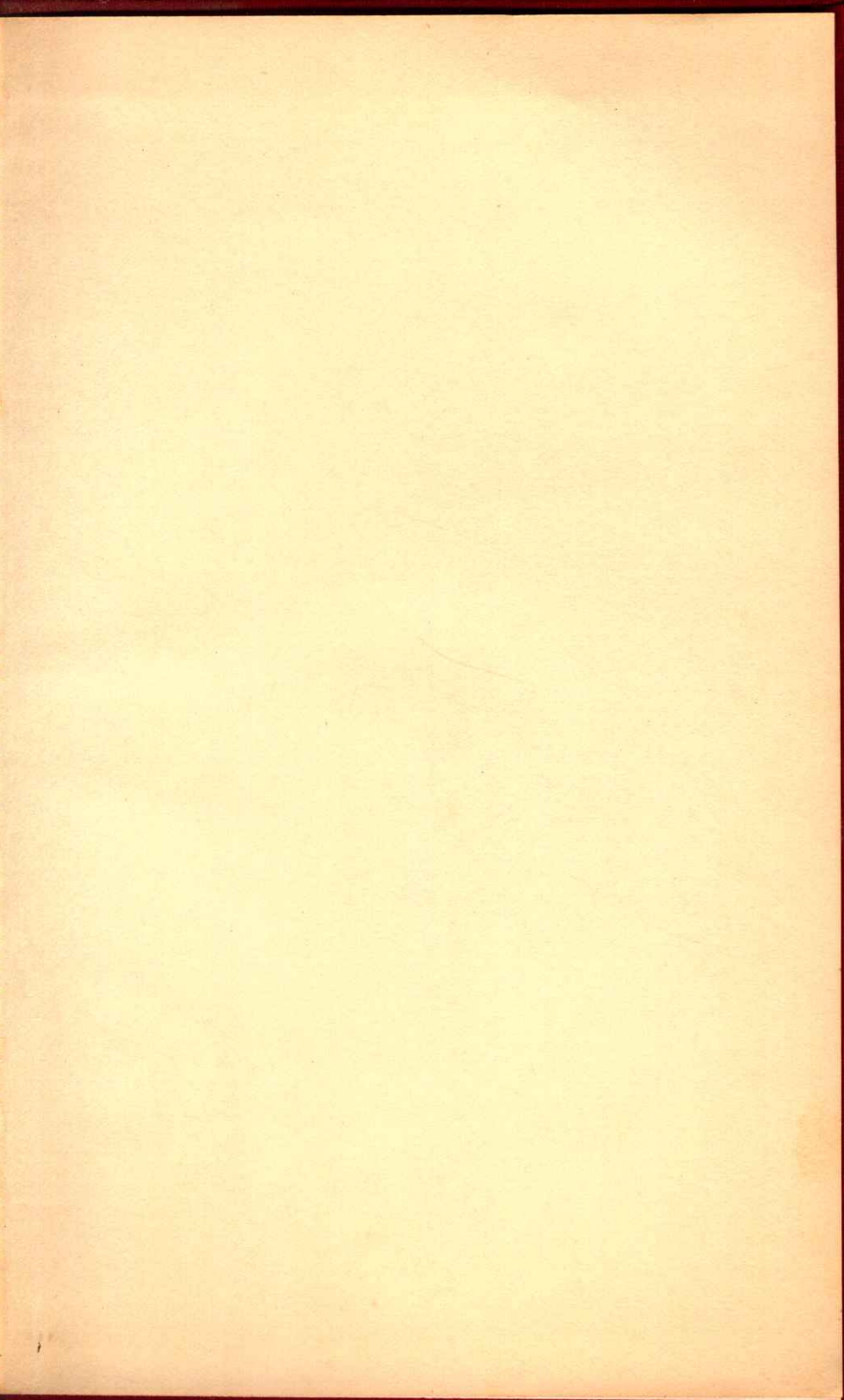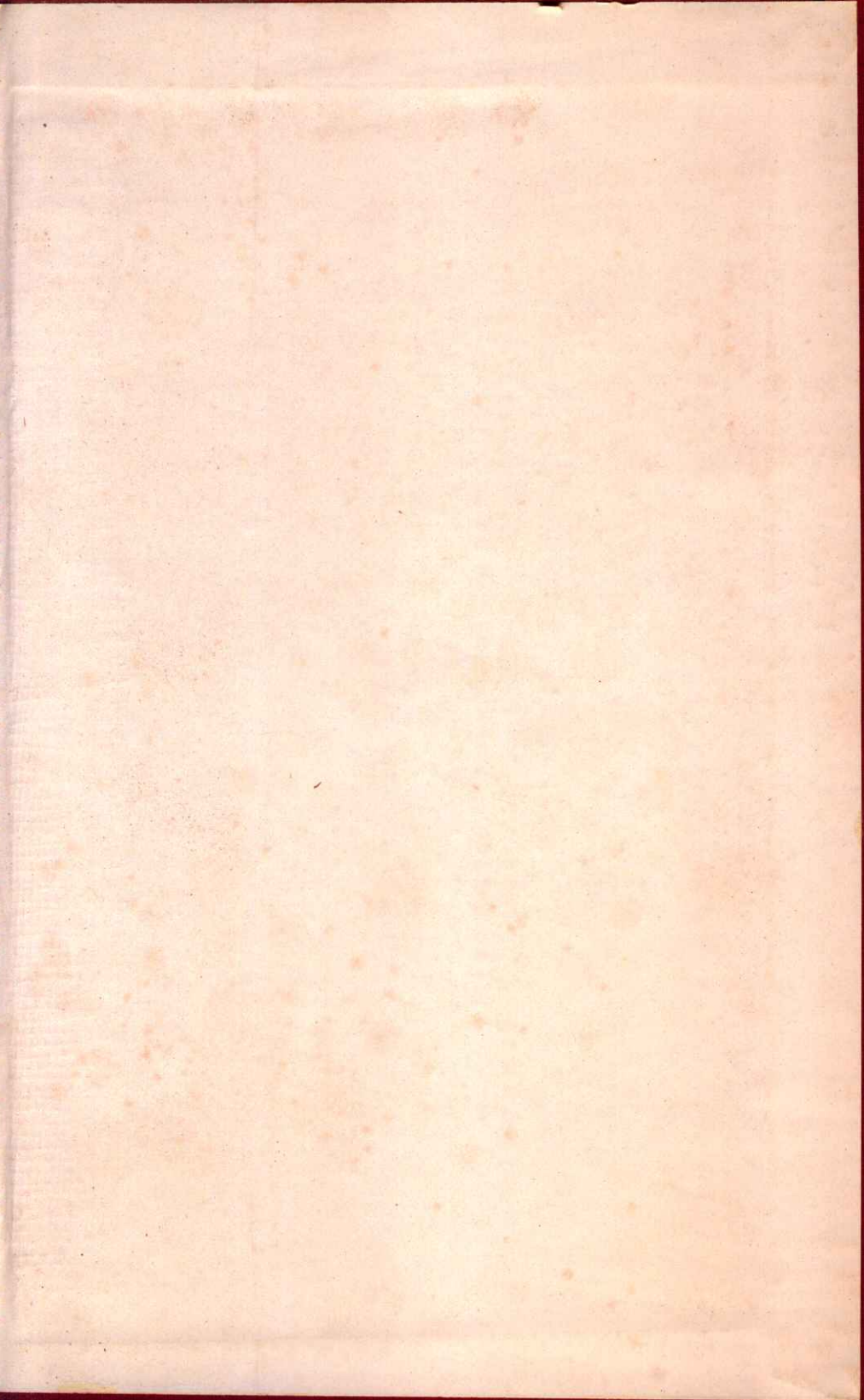
प्रस्तुत कृति डा० कमला भारद्वाज द्वारा रचित है। लेखिका का जन्म ३ मार्च १९५५ को दिल्ली में हुआ। दिल्ली विश्वविद्यालय से १९७७ में संस्कृत में एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। संस्कृत व्याकरण में १९७८ में दिल्ली विश्वविद्यालय से एम फिल् तथा १९८४ में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। भारतीय विद्या भवन, बम्बई से कोविद की उपाधि भी प्राप्त की।

१९८० से १९८८ तक दिल्ली स्थित श्री महावीर विश्व विद्यापीठ में संस्कृत व्याकरण के सफल एवं प्रभावोत्पादक अध्यापन के पश्चात् १९८८ से निरंतर श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय) दिल्ली में वरिष्ठ व्याख्याता व्याकरण के पद पर अध्यापनरत हैं।

पाणिनीय व्याकरण को संगणक यन्त्र के माध्यम से सामान्य छात्रों के अध्ययनार्थ प्रस्तुत करने के लिए श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ तथा जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्वा-धान में तैयार किये गये "CASTLE" प्रोजेक्ट में संस्कृत विशेषज्ञ के रूप में कार्य किया।

"बिम्ब" पत्रिका के वार्षिक अंकों का सफल सम्पादन किया है। विभिन्न पत्रिकाओं एवं शोध पत्रिकाओं (विश्व हिन्दू संस्कृति, शोधप्रभा दिनमान, बिम्ब आदि) में शास्त्रीय विषयों से सम्बद्ध लेख प्रकाशित हैं।